प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

संक्षिप्त संस्करण : १९५४

मूल्य
पाँच रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय

प्रकाशकीय

पं० जवाहरलाल नेहरू की सुविख्यात पुस्तक 'दी डिस्कवरी ऑव इंडिया' कई वर्ष पूर्व सम्पूर्ण रूप में हिन्दी में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी के पाठकों ने उसे काफ़ी पसंद किया। बाद में यह अनुभव किया गया कि यदि उसका संक्षिप्त संस्करण निकाल दिया जाता तो हिन्दी के सामान्य पाठक, विशेषकर विद्यार्थी इस उपयोगी पुस्तक का विशेष लाभ उठा सकते थे। पाठकों ने भी इस प्रकार की माँग की।

हमें हर्ष है कि इस पुस्तक द्वारा पाठकों की और हमारी इस इच्छा की पूर्ति हो रही है। श्री रामचंद्रजी टण्डन ने यह कार्य बड़ी जिम्मेदारी के साथ किया है। वह स्वयं अच्छे लेखक और कुशल सम्पादक हैं। अतः उन्होंने संक्षेपीकरण में जहां आकार को कम किया है, वहां लेखक की मूल भावना को सुरक्षित रक्खा है।

इस पुस्तक की उपयोगिता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। यह हिंदुस्तान का सामान्य इतिहास नहीं है; बल्कि एक ऐसा इतिहास है, जो तिथिक्रम से इतिहास की घटनाओं पर प्रकाश न डालकर अपने देश के प्राचीन और नवीन रूप को देखने की एक दृष्टि प्रदान करता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से लेकर सन् १९४२ तक भारतीय संस्कृति की धारा को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक वर्त्तमान रूप में विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी बन गई है। आशा है, शिक्षा-संस्थाएँ तथा सामान्य पाठक इसका अधिक-से-अधिक लाभ लेंगे।

—मंत्री

प्रस्तावना

यह किताब मैंने अहमदनगर किले के जेलखाने में, अप्रैल से सितम्बर १९४४ के पाँच महीनों में लिखी थी। मेरे कुछ जेल के साथियों ने इसकी सामग्री पढ़ने और उसके बारे में कई कीमती सुझाव देने की मेहरबानी की थी। जेलखाने में किताब को दोहराते हुए मैंने इन सुझावों से लाभ उठाया और कुछ बातें और जोड़ दीं।........

अहमदनगर किले में मेरे ग्यारह साथी हिन्दुस्तान के जुदे-जुदे भागों का एक दिलचस्प नमूना पेश करते थे। वह न केवल राजनीति की नुमाइंदगी करते थे, बल्कि हिन्दुस्तानी ज्ञान की, पुराने और नये ज्ञान की, और आजकल के हिन्दुस्तान के जुदे-जुदे पहलुओं का भी प्रतिनिधित्व करते थे। लगभग सभी खास-खास जीती-जागती हिन्दुस्तानी भाषाओं के बोलने वाले वहाँ मौजूद थे। उस पुरानी भाषाओं के जानने वाले भी थे, जिन्होंने हिन्दुस्तान पर पुराने या नये ज़माने में असर डाला है और अक्सर हमें ऊँचे दर्जे की योग्यता मिलती थी। पुरानी भाषाओं में संस्कृत और पाली, अरबी और फारसी थी; मौजूदा ज़बानों में हिन्दी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तैलुगू, सिंधी और उड़िया थी। मेरे सामने इतनी दौलत थी, जिससे मैं फायदा उठा सकता था।........

मैं नहीं जानता कि दूसरे लेखक अपनी रचनाओं के बारे में कैसा खयाल करते हैं, लेकिन जब मैं अपनी किसी पुरानी चीज़ को पढ़ता हूँ तो हमेशा एक अजीब-सा अहसास मुझे होता है। इस अहसास में और भी अनोखापन उस समय आ जाता है जब कि रचना जेल की बंधी हुई और गैर-मामूली आबोहवा में हुई हो और पढ़ने का मौका बाहर आने पर मिला हो।........

इसी तरह का खयाल इस किताब के बारे में भी मुझमें पैदा हुआ है।....यह मेरे किसी पुराने व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है, जो कि उन व्यक्तियों के लम्बे सिलसिले में शामिल हो चुका है, जो कुछ समय तक कायम रह कर मिट गये हैं और अपनी केवल एक याद छोड़ गये हैं।

—जवाहरलाल नेहरू

संपादक का निवेदन

लगभग ९ वर्ष पहले जब यह पुस्तक अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई थी तो इसने सारे संसार का ध्यान आकृष्ट किया था। इसके अनुवाद न केवल अपने देश की कई भाषाओं में हुए, अपितु अनेक विदेशी भाषाओं में भी हुए और पुस्तक के पढ़ने का चाव आज भी लोगों में कम नहीं हुआ है।

इस पुस्तक में हिंदुस्तान की कहानी उस रूप में नहीं मिलेगी जैसी कि साधारण इतिहास-ग्रंथों में मिलती है। इस देश के इतिहास को हममें से प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से पढ़ सकता है और हरएक की प्रतिक्रिया अलग-अलग हो सकती है। अपने युग के एक अत्यंत सजग व्यक्ति की प्रतिक्रिया उसके विषय में क्या हुई है, इसे जानने के लिए हमें यह पुस्तक पढ़नी चाहिए।

इस पुस्तक के लिखने के बाद पिछले १० वर्षों में समय का प्रवाह बहुत आगे बढ़ चुका है। हमारा देश स्वतंत्र ही नहीं हुआ है, बल्कि उसने प्रगति के सात वर्ष देखे हैं। यही नहीं, संसार में न जाने कितनी घटनाएं घटी हैं। फिर भी कदाचित् यह कहना बहुत ठीक न होगा कि पुस्तक की बातें पुरानी पड़ गई हैं। यह ठीक है कि कुछ जगहों पर वर्तमानकालिक क्रिया को भूतकालिक क्रिया में बदल देने की आवश्यकता है, लेकिन इससे अधिक परिवर्तन अनावश्यक होगा। इस संक्षिप्त संस्करण में लेखक के शब्दों में कहीं भी हेर-फेर नहीं किया गया है। केवल कुछ अंशों को काट कर आकार छोटा कर दिया गया है।

इस पुस्तक में सिंधु सभ्यता के युग से, जब कि हमारे सांस्कृतिक इतिहास का पहला पन्ना खुलता है, अगस्त १९४२ तक की कहानी आ गई है जब कि कांग्रेस ने अंग्रेज़ी सरकार के विरुद्ध 'भारत छोड़ो' का नारा उठाया। इसके बाद हमारे सभी नेता जेलों में गये। यद्यपि बाद के दो वर्षों के विषय में भी मूल पुस्तक में कुछ बातें आ गई हैं, तथापि संपादक ने कहानी को यहीं तक लेना उचित समझा क्योंकि हमारे स्वतंत्रता-संग्राम में १९४२ का साल एक बड़ा मील-का-पत्थर है और वस्तुतः यहीं से हमारी कहानी एक बिलकुल नया मोड़ लेती है।

मूल पुस्तक का अनुवाद श्री सुरेश शर्मा के सहयोग से संपादक को १९४७ में प्रस्तुत करने का सुयोग मिला था। तब से अनुवाद की भाषा में बहुत परिमार्जन हुआ है। पुस्तक के संक्षेपीकरण का पूरा दायित्व संपादक पर ही है। उद्देश्य यह है कि पुस्तक विद्यार्थियों के विशाल समुदाय तक पहुँच सके और इस संस्करण से वे लोग भी लाभ उठा सकें, जो बड़े संस्करण से लाभ उठाने में असमर्थ रहे हैं।

इलाहाबाद
सितम्बर १९५४

रामचंद्र टंडन

विषय-सूची

हिंदुस्तान की कहानी

[संक्षिप्त]

: १ :

हृदय-मंथन

१ : हिंदुस्तान के अतीत का विशाल दृश्य

यह हिंदुस्तान क्या है, जो मुझपर छाया हुआ है और मुझे बराबर अपनी तरफ़ बुला रहा है, और अपने दिल की किसी अस्पष्ट और गहराई के साथ अनुभव की हुई इच्छा को हासिल करने के लिए काम करने का उत्साह दिला रहा है। मैं ख़याल करता हूं कि शुरू में यह प्रेरणा निजी और राष्ट्रीय गर्व के कारण पैदा हुई, और सब लोगों में मिलने वाली इस इच्छा का परिणाम थी कि दूसरों की हुकूमत का सामना किया जाय और अपनी पसंद के अनुसार ज़िंदगी बिताने की आज़ादी हासिल की जाय। यह बात मुझे बड़ी भीषण जान पड़ी कि हिंदुस्तान जैसा मुल्क, जिसका इतना पुराना और शानदार इतिहास है, हाथ-पैर से जकड़ा हुआ, एक सुन्दूर टापू के बस में हो और वह उसपर अपनी मनमानी कर रहा हो। इससे भी अधिक भीषण यह बात थी कि इस ज़बर्दस्ती के मेल का नतीजा हमारी गरीबी और गिरी हुई हालत हो। यह काफ़ी वजह थी कि मैं और दूसरे लोग काम में लगें।

लेकिन जो सवाल मेरे मन में उठ रहे थे, उनके समाधान के लिए इतना काफ़ी न था। अगर हम उसके भौतिक और भौगोलिक पहलुओं को छोड़ दें तो आख़िर यह हिंदुस्तान है क्या? गुज़रे हुए ज़माने में इसके सामने क्या आदर्श थे; कौन-सी ऐसी चीज़ थी जिससे इसे शक्ति प्राप्त होती थी? किस तरह वह अपनी पुरानी शक्ति खो बैठा? और क्या उसने यह शक्ति पूरी तौर पर खो दी है? और सिवा

इसके कि वहुत वड़ी संख्या में लोग यहां वसते हैं, क्या कोई ऐसी जीवित वस्तु है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है ? आज की दुनिया में उसकी ठीक जगह क्या है ?

ज्यों-ज्यों मैंने इस वात का अनुभव किया कि हिंदुस्तान का और मुल्कों से अलग-थलग होकर रहना अनुचित है और असंभव भी, मेरा ध्यान इस प्रश्न के अंतर्राष्ट्रीय पहलू की ओर वरावर जाता रहा। आने वाले ज़माने की जो तस्वीर मेरे सामने वनती वह ऐसी होती जिसमें हिंदुस्तान और दूसरे मुल्कों के वीच राज-नीति, व्यवसाय और संस्कृति का गहरा मेल और संवंध होता। लेकिन आनेवाले ज़माने की वात तो वाद में उठती थी, पहले तो हमारे सामने वर्तमान समय था, और इस वर्तमान काल के पीछे एक लंवा और उलझा हुआ अतीत था, जिसने कि वर्तमान काल की रूपरेखा वनाई थी। इसलिए, वातों को समझ पाने के उद्देश्य से मैंने अतीत का सहारा लिया।

हिंदुस्तान मेरे खून में समाया हुआ था और उसमें वहुत कुछ ऐसी वात थी जो स्वभाव से मुझे उकसाती थी। यह सही है कि हमारे सामने वहुत कुछ ऐसा था जिसे कि मिटा देना ही उचित था, लेकिन अगर हिंदुस्तान में कोई ऐसी वस्तु न होती जो कि वनाए रहने के योग्य और सजीव थी, और जिसकी सचमुच क़ीमत थी, तो यह निश्चय है कि हज़ारों साल तक वह अपनी संस्कृति और अस्तित्व की रक्षा न कर सकता था। यह वस्तु क्या थी ?

उत्तर-पच्छिमी हिंदुस्तान की सिंध-घाटी में, मोहेनजोदड़ो के एक टीले पर मैं खड़ा हुआ। मेरे चारों ओर इस प्राचीन नगर के मकान थे और गलियां थीं। कहा जाता है कि यह शहर पाँच हज़ार साल पहले मौजूद था और उस समय भी यहां एक पुरानी और विकसित सभ्यता मिलती थी। प्रोफ़ेसर चाइल्ड लिखते हैं:—"सिंध-सभ्यता, एक विशेष वातावरण में मनुष्य के जीवन का पूरा संगठन प्रकट करती है, और यह अनेकानेक वर्षों के प्रयत्नों का ही परिणाम हो सकती है। यह एक टिकाऊ सभ्यता थी; उस समय भी उसपर हिंदुस्तान की अपनी छाप पड़ चुकी थी और यह आज की हिंदुस्तानी संस्कृति का आधार है।" यह एक वड़े अचरज की वात है कि किसी भी तहज़ीव का, इस तरह पाँच या छः हजार वरसों का अटूट सिलसिला वना हो और वह भी इस रूप में नहीं कि वह स्थिर और गतिहीन हो, क्योंकि हिंदु-स्तान वरावर वदलता और उन्नति करता रहा है। ईरानियों, मिस्त्रियों, यूनानियों, चीनियों, अरवों, मध्य-एशियायियों और भूमध्यसागर के लोगों से इसका गहरा

संबंध रहा है। लेकिन बावजूद इस बात के कि उसने इनपर असर डाला और इनसे असर लिया, उसकी सांस्कृतिक नींव इतनी दृढ़ थी कि वह क़ायम रह सकी। इस दृढ़ता का रहस्य क्या है? यह आई कहां से?

मैंने हिंदुस्तान का इतिहास पढ़ा और उसके विशाल प्राचीन साहित्य का एक अंश भी देखा। उस विचार-शक्ति का, साफ़-सुथरी भाषा का, और ऊँचे दिमाग़ का, जो कि इस साहित्य के पीछे था, मुझपर बड़ा गहरा असर हुआ। चीन के और पश्चिमी और मध्यएशिया के उन महान् यात्रियों के साथ जो बहुत पुराने समय में यहां आये और जिन्होंने अपने यात्रा-वृत्तांत लिखे हैं, मैंने हिंदुस्तान की सैर की। पूर्वी एशिया, अंकोर, बोरोबुदुर और बहुत-सी जगहों में हिंदुस्तान ने जो कर दिखाया था उसपर मैंने मनन किया; मैं हिमालय में भी घूमा, जिसका कि हमारी उन पुरानी कथाओं और उपाख्यानों से संबंध रहा है जिन्होंने कि हमारे विचार और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला है। पर्वतों से प्रेम और काश्मीर से अपने संबंध ने मुझे विशेष रूप से पहाड़ों की तरफ़ खींचा और वहां मैंने न केवल आज के जीवन और उसकी शक्ति और सौंदर्य को देखा, बल्कि बीते हुए युगों की यादगारें भी देखीं। उन उन्मादिनी नदियों ने, जो कि इस पहाड़ी सिलसिले से निकलकर हिंदुस्तान के मैदानों में बहती हैं, मुझे अपनी तरफ़ खींचा और अपने इतिहास के अनगिनित पहलुओं की याद दिलाई; सिंधु, जिससे कि हमारे देश का नाम हिंदुस्तान पड़ा, और जिसे पार करके हज़ारों बरसों से न जाने कितनी जातियां, फ़िरके, क़ाफ़िले और फ़ौजें आती रही हैं; ब्रह्मपुत्रा, जो कि इतिहास की धारा से तनिक अलग रही है, लेकिन जो पुरानी कथाओं में जीवित है और पूर्वोत्तर पहाड़ों के गहरे दरारों के बीच से रास्ता बनाकर हिंदुस्तान में आती है और फिर शांति-पूर्वक और मनोहारी प्रवाह के साथ पहाड़ों और जंगलों के बीच के भाग से बहती है; जमुना, जिसके नाम के साथ रास-नृत्य और क्रीड़ा की अनेक दंत-कथाएं जुड़ी हुई है, और गंगा, जिससे बढ़कर कि हिंदुस्तान की कोई दूसरी नदी नहीं; जिसने हिंदुस्तान के हृदय को मोह लिया है, और जो इतिहास के आरंभ से न जाने कितने करोड़ लोगों को अपने तट पर बुला चुकी है। गंगा की, जिसके उदगम से लेकर सागर में मिलने तक की, कहानी, पुराने ज़माने से लेकर आज तक की हिंदुस्तान की संस्कृति की, साम्राज्यों के उठने और नाश होने की, विशाल और शानदार नगरों की, आदमी के साहस और साधना की, जीवन की पूर्णता की और साथ-ही-साथ त्याग और वैराग्य की,

अच्छे और बुरे दिनों की, विकास और ह्रास की, जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैंने अजंता, एलौरा, एलिफैंटा और और जगहों के स्मारकों, खंडहरों, पुरानी मूर्त्तियों और दीवारों पर वनी चित्रकारी को देखा, और आगरा और दिल्ली की, पुरानी इमारतें भी देखीं, जिनके एक-एक पत्थर हिंदुस्तान के वीते हुए युग की कहानी कहते हैं।

अपने ही नगर, इलाहावाद में, या हरिद्वार के स्नानों में, या कुंभ मेले में मैं जाता और देखता कि वहां लाखों आदमी गंगा में नहाने के लिए आते हैं, उसी तरह जिस तरह कि उनके पुरखे सारे हिंदुस्तान से हज़ारों वरस पहले से आते रहे हैं। चीनी यात्रियों के और औरों के, तेरह सौ साल पहले के, इन मेलों के वृत्तांतों को याद करता। उस समय भी यह मेले वड़े प्राचीन माने जाते थे और कव से इनका आरंभ हुआ यह कहा नहीं जा सकता। मैंने सोचा, यह भी कितना गहरा विश्वास है, जो हमारे देश के लोगों को अनगिनित पीढ़ियों से इस प्रसिद्ध नदी की ओर खींचता रहा है।

मेरी इन यात्राओं ने—और इनके साथ वह सभी वातें थीं, जिन्हें कि मैंने पढ़ रखा था—मुझे वीते हुए युग की झाँकी दिखाई। अव तक जो एक कोरी मानसिक जानकारी थी, उसमें हृदय का समर्थन मिला और क्रमशः हिंदुस्तान का मेरा कल्पित चित्र वास्तविक लगने लगा और मुझे अपने पुरखों की भूमि जीते-जागते लोगों से वसी हुई दिखाई पड़ी, ऐसे लोगों से वसी हुई, जो हँसते भी थे और रोते भी, जो प्रेम करना जानते थे और दुःख सहना भी; और उनमें ऐसे थे जो कि जीवन का अनुभव रखने वाले, और उसे समझने वाले थे, और उन्होंने अपनी वुद्धि के द्वारा एक ऐसी इमारत तैयार की थी जिसने कि हिंदुस्तान को एक सांस्कृतिक दृढ़ता प्रदान की और वह हज़ारों साल तक वनी रही। इस वीते हुए समय की सैकड़ों जीती-जागती तस्वीरें मेरे मस्तिष्क में फिर रही थीं और जव मैं किसी खास जगह जाता, जिससे कि उनका संवंध होता, तो वह मेरे सामने आ जातीं। वनारस के पास, सारनाथ में, मैं वुद्ध को अपना पहला उपदेश देते हुए प्रायः देख सका, और मुझे उनके वह शव्द, जो कि लिखे जा चुके हैं, ढाई हजार साल वाद एक दूर की प्रतिध्वनि की तरह सुनाई दिये। अशोक की लाटें जिन पर लेख खुदे हुए हैं, अपनी शानदार भाषा में, एक एसे आदमी का हाल वताती हैं, जो कि, यद्यपि वह वादशाह था, फिर भी किसी

भी राजा या वादशाह से ऊँची हैसियत रखता था। फ़तहपुर-सीकरी में, अकवर, अपनी सल्तनत की शान को भूलकर, सभी मज़हवों के आलिमों से कुछ नई वात सीखने और इंसान की हमेशा-हमेशा की पहेली का हल पाने की ग़रज़ से वहस करने वैठता।

सिर्फ़ चीन ऐसा मुल्क है जहां कि ऐसी अटूट परंपरा और सांस्कृतिक जीवन दिखाई देते हैं। फिर अतीत की यह विशाल तस्वीर धीरे धीरे वर्तमान समय की वदनसीवी में वदल जाती है, जव कि हिंदुस्तान अपने वीते दिनों के वड़प्पन के वावजूद एक गुलाम मुल्क है, और इंगलिस्तान का पुछल्ला वना हुआ है, और सारी दुनिया एक भयानक और विध्वंसकारी लड़ाई के शिकंजे में है, और इंसान को जंगली वनाये हुए है। लेकिन पाँच हज़ार वर्षों की इस कल्पना ने मुझे एक नई दृष्टि दी और वर्तमान का वोझ कुछ हल्का जान पड़ने लगा। अंग्रेज़ी सरकार की एक सौ-अस्सी साल की हुकूमत हिंदुस्तान की लंवी कहानी की केवल एक दुखदायी घटना जैसी जान पड़ी।

२ : जातीयता और अंतर्जातीयता

सारी दुनिया में होने वाली हाल की घटनाओं ने इसे सिद्ध कर दिया है कि यह विचार ग़लत है कि अंतर्जातीयता और जनता के आंदोलनों के आगे जातीयता समाप्त हो रही है। सच यह है कि जातीयता की भावना लोगों में अव भी एक प्रवल भावना है और इसके साथ परंपरा, और मिल-जुलकर रहने की भावनाएं जुड़ी हुई हैं। जव कि वीच के वर्ग के विचारशील लोग, क्रमशः जातीयता की भावना से अलग हट रहे हैं, या कम-से-कम समझते हैं कि हट रहे हैं, मज़दूर-पेशा लोगों के और जनता के आंदोलन, जोकि जान-वूझकर अंतर्जातीयता की नींव पर क़ायम हुए थे, अव जातीयता की तरफ़ झुकते आ रहे हैं। पुरानी परंपराओं को वहुत हद तक स्वीकार करना पड़ता है और उन्हें नए विचारों और नई हालतों के अनुरूप लाने के लिए उनमें हेर-फेर करना पड़ता है। साथ ही नई परंपराओं का वना रहना भी ज़रूरी है। जातीयता का आदर्श एक गहरा और दृढ़ आदर्श है और यह वात नहीं कि इसका समय वीत चुका हो और आगे के लिए इसका महत्व न रह गया हो। लेकिन और भी आदर्श, जैसे अंतर्जातीयता और श्रमजीवी वर्ग के आदर्श, जो कि वर्तमान की वास्तविकता की नींव पर अधिक स्थित हैं, उठ खड़े हुए हैं, और

अगर हम दुनिया की कशम-कश को वंद कर शांति स्थापित करना चाहते हैं तो हमें इन भिन्न-भिन्न आदर्शों के वीच एक समझौता स्थिर करना होगा।

अगर उन देशों में भी, जहां कि नए विचारों और अंतर्जातीय शक्तियों का प्रवल प्रभाव पड़ा है, जातीयता की भावना इतनी व्यापक है तो हिंदुस्तान के लोगों के मन पर उसका कितना अधिक प्रभाव होना निश्चय है। फिर भी, यहां जातीयता की भावना चाहे जितनी गहरी हो, सच्ची अंतर्जातीयता को स्वीकार करने में, और संसार-व्यापी संगठन और राष्ट्रीय संगठन के वीच मेल कराने, वल्कि राष्ट्रीय संगठन को संसार-व्यापी संघटन के अधीन रखने के विषय में, हिंदुस्तान वहुत-से और राष्ट्रों की अपेक्षा आगे वढ़ गया है।

३ : हिंदुस्तान की शक्ति और निर्वलता

हिंदुस्तान की शक्ति और उसके ह्रास के कारणों की खोज एक लंवी और टेढ़ी खोज है। फिर भी इस ह्रास के कारण पर्याप्त रूप में स्पष्ट हैं। यंत्र-कला की दौड़ में वह पीछे पड़ गया, और यूरोप, जो कि वहुत ज़माने से कई वातों में पिछड़ा हुआ था, यंत्रों की उन्नति में नेता वन वैठा। यंत्रों की इस उन्नति के पीछे विज्ञान की भावना थी और थी एक खुदवुदाती हुई ज़िदगी, जिसने अपने को वहुत से क्षेत्रों में और खोज की साहसी यात्राओं में प्रकट किया था। नए-नए यंत्रों की जानकारी ने यूरोप के देशों की फ़ौजी शक्ति को वहुत वढ़ाया और उनके लिए यह संभव हो गया कि पूरव में फैलकर वह वहां के मुल्कों पर अधिकार कर सकें। यह केवल हिंदुस्तान की ही नहीं वल्कि सारे एशिया की कहानी है।

ऐसा हुआ कैसे, इसका वता सकना कुछ कठिन है, क्योंकि मानसिक स्फूर्ति में और यंत्रों के हुनर में, पुराने ज़माने में, हिंदुस्तानी पिछड़े न थे। ज्यों-ज्यों सदियां वीतती हैं हम इस हुनर का क्रमशः ह्रास देखते हैं। ज़िदगी और वड़े-वड़े कारनामों के लिए उमंग घट जाती है; रचनात्मक शक्ति का लोप होता है और उसकी जगह पर नक़्क़ाली आ जाती है। जहां कि विजयी और क्रांतिकारी विचारों ने प्रकृति और संसार के रहस्यों को भेदने की कोशिशें की थीं, वहां अव शब्दाडंवर वाले टीकाकार अपनी टीकाओं को लेकर आते हैं। शानदार कला और मूर्तियों की जगह पर अव हमें मिलते हैं पेचीदा खुदाई के काम; जिनमें विस्तार तो वहुत है लेकिन कल्पना या कौशल की शान नहीं दिखाई देती। भाषा की शक्ति,

संपन्नता, और सादगी जाती रहती है और उनकी जगह बहुत संवारी हुई और जटिल साहित्यिक रचनाएं ले लेती हैं। वह उत्साही जीवन और साहस के लिए उमंग, जिसके बूते पर लोग दूर-दूर के देशों में हिंदुस्तानी संस्कृति के स्थापित करने की योजना किया करते थे, एक संकीर्ण कट्टरता बनकर रह जाती है जो कि समुद्र की यात्रा तक की मनाही कर देती है। जिज्ञासा की तर्क-पूर्ण भावना, जिसे हम पुराने समय में बराबर पाते हैं, और जिसकी वजह से विज्ञान की और भी उन्नति हो सकती थी, तर्कहीनता और अंध-विश्वास में बदल जाती है। हिंदुस्तानी जीवन की धार मंद पड़ जाती है, मुर्दा सदियों के बोझ को जैसे-तैसे ढोते हुए लोग मानो अतीत काल में ही रहते हैं। बीते हुए काल का भारी बोझ उसे कुचल देता है और उस पर एक तरह की बेहोशी छा जाती है। मानसिक मूढ़ता और शारीरिक थकान की ऐसी हालत में हिंदुस्तान का ह्रास हुआ, यह कोई अचरज की बात नहीं। और इस तरह वह जहां-का-तहां रह गया, जब कि दुनिया के और भाग आगे बढ़ गये।

फिर भी यह पूरा या सोलह आने सच्चा नक़शा नहीं है। अगर बीच में कोई ऐसा लंबा समय आया होता जब कि घोर जड़ता या गतिहीनता छा गई होती, तो बहुत संभव है कि इसका परिणाम यह होता कि बीते हुए ज़माने से हमारा संबंध बिलकुल टूट गया होता, एक युग का अंत हो जाता और उसके खंडहरों पर कोई नई चीज़ तैयार हो गई होती। इस तरह का बिलगाव कभी नहीं हुआ और निश्चय ही एक सिलसिला जारी है। साथ ही समय-समय पर पुनर्जागृति की कौंधें उठी हैं और इनमें से कुछ बड़ी चमकदार और देर तक बनी रहनेवाली रही हैं। सदा इस बात की कोशिश दिखाई दी है कि नए का समन्वय पुराने से किया जाय, कम-से-कम पुराने के उन भागों से, जो कि इस योग्य हैं कि उनकी रक्षा की जाय। अक्सर वह, जो पुराना दिखता है, केवल बाहरी रूप-रेखा में पुराना है, एक तरह का प्रतीक है, और भीतरी वस्तु बदल गई है। लेकिन कोई शक्तिशाली और जीवित वस्तु ऐसी है जो बनी रही है, कोई प्रेरणा ऐसी है जो कि लोगों को ऐसी वस्तु के पीछे ले जाती रही है, जिसे कि प्राप्त करना शेष है और जो हमेशा नए और पुराने के बीच समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न में रही है। यही प्रेरणा और इच्छा थी जो उन्हें आगे बढ़ाती रही, और उन्हें इस योग्य बनाती रही कि पुराने विचारों को न छोड़ते हुए भी नए विचारों को अपना सकें। जीते-जागते और जीवन से भरे-पूरे या कभी-कभी परेशान नींद की बड़बड़ाहट जैसे इन युगों में, क्या कोई ऐसी वस्तु

रही है जिसे हिंदुस्तान का स्वप्न कहा जा सके, मैं नहीं जानता। हर एक जाति और हर एक राष्ट्र के लोगों का अपने होनहार के संबंध में कोई विश्वास या कल्पना रही है, और शायद हर एक में यह विश्वास कुछ हद तक उसके लिए अच्छा भी है। हिंदुस्तानी होने के नाते स्वयं मुझ पर इस कल्पना या वास्तविकता का प्रभाव रहा है कि हिंदुस्तान को किसी एक उद्देश्य को पूरा करना है। मैं समझता हूँ कि जिस वस्तु में सैकड़ों पीढ़ियों को निरंतर ढालने की शक्ति रही है, उसने अपनी यह स्थिर रहनेवाली शक्ति, शक्ति के किसी गहरे कुएं से हासिल की होगी और उसमें यह सामर्थ्य होगा कि इसे हर युग में नई कर ले।

कोई राष्ट्र, कोई जाति ऐसी नहीं जो बदलती न रहती हो। बराबर वह औरों में घुलती-मिलती और बदलती रहती है। ऐसा हो सकता है कि वह क़रीब-क़रीब मुर्दा दिखाई दे और फिर इस तरह उठ खड़ी हो जैसे कि कोई नई जाति, या पुरानी जाति का नया रूप हो। पुराने और नए लोगों में बिलकुल संबंध टूट सकता है या यह भी हो सकता है कि विचार और आदर्शों की नई और दृढ़ कड़ियां उन्हें जोड़ती रहें।

इतिहास में न जाने कितनी ऐसी मिसालें हैं कि पुरानी और अच्छी तरह से स्थापित संस्कृतियां क्रमशः या यकायक मिट गई हैं, और उनकी जगह नई और शक्तिशाली संस्कृतियों ने ले ली है। या यह कोई जीवनी-शक्ति है, शक्ति का कोई भीतरी सोता है, जो किसी संस्कृति या राष्ट्र को जीवन देता रहता है, और उसके बिना सारे प्रयत्न व्यर्थ हैं और ऐसे हैं जैसे कि कोई बुड्ढा आदमी किसी युवक का अभिनय कर रहा हो?

आज की दुनिया के लोगों में, मैंने तीन में इस जीवनी-शक्ति का अनुमान किया है—अमरीकी, रूसी और चीनी लोगों में, और इनका एक अजीब मेल है। अमरीका के लोग, यद्यपि उनकी जड़ें पुरानी दुनिया में मिलती हैं, नए लोग हैं और उनकी नई क़ौम है, और इसमें संदेह नहीं कि वे पुरानी क़ौमों के बोझों और जटिल विचारों से बचे हुए हैं और उनका अपार उत्साह सहज में समझ में आ जाता है। कैनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के लोगों की भी यही स्थिति है। यह सभी बहुत कुछ पुरानी दुनिया से अलग-थलग हैं और एक नई ज़िंदगी उनके सामने है।

रूसी नए लोग नहीं हैं, फिर भी उन्होंने बीते हुए युग से पूरी तरह से अपना नाता तोड़ लिया है, उस तरह से जैसे कि मौत नाता तोड़ देती है। उनका नया जन्म

हुआ है—इस रूप में कि उसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं। वह फिर जवान हो गए हैं, और उनमें एक अद्‌भुत शक्ति और स्फूर्ति आ गई है। वह अपनी कुछ पुरानी जड़ों को खोजने लगे हैं, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से वह नए लोग हैं और उनकी एक नई क़ौम और नई तहज़ीव है।

रूस की मिसाल यह दिखाती है कि अगर कोई क़ौम पूरा-पूरा मूल्य चुकाने के लिए और जनता की दबी हुई शक्ति को उकसाने के लिए तैयार हो, तो वह किस तरह फिर से अपने में नई शक्ति पैदा कर सकती है।

चीनी लोग इन सबसे अलग हैं। उनकी कोई नई क़ौम नहीं, न उन्हें ऊपर से लेकर नीचे तक परिवर्तन का धक्का सहना पड़ा है। यह सही है कि सात साल की खूंखार लड़ाई ने उन्हें बदल दिया है। कहां तक यह इस युद्ध का नतीजा है या दूसरे स्थायी कारणों का या दोनों का मिला-जुला हुआ, मैं नहीं जानता। लेकिन चीनी लोगों की जीवनी-शक्ति मुझे आश्चर्य में डाल देती है। मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि कोई राष्ट्र, जिसकी नींव इतनी दृढ़ हो, मर सकता है।

जो जीवनी-शक्ति मैंने चीन में देखी वैसी ही कुछ मैंने कभी-कभी हिंदुस्तान के लोगों में महसूस की है। ऐसा हमेशा नहीं हुआ है; और हर हालत में मेरे लिए तटस्थ होकर विचार करना मुश्किल है। शायद मेरी इच्छाएं मेरे विचारों को टेढ़ा-मेढ़ा रूप दे देती हैं, लेकिन हिंदुस्तान के लोगों के बीच घूमते-फिरते हुए, मैं बराबर इस चीज की तलाश में रहा हूं। अगर हिंदुस्तानियों में यह जीवनी-शक्ति है, तो उनका कुछ नहीं बिगड़ा है; वह अपना काम पूरा करके रहेंगे। अगर उनमें इसकी कमी है तो हमारे सारे राजनीतिक प्रयत्न और हंगामे केवल अपने को भुलावे में डालनेवाली वस्तुएं हैं, और यह हमें बहुत दूर न ले जा सकेंगी। मेरी रुचि इस बात में नहीं है कि हम कोई ऐसी राजनीतिक व्यवस्था पैदा करें जिससे कि हमलोग अपना काम कमो-बेश पहले जैसा, केवल कुछ अधिक अच्छी तरह चला सकें। मैंने अनुभव किया है कि हमारे लोगों में एक दबी हुई शक्ति और योग्यता का बड़ा भंडार है और मैं चाहता हूं कि यह खुल जावे और हिंदुस्तानी अपने में नए जोश और नई फ़ुर्ती का अनुभव करें। हिंदुस्तान ऐसा देश है कि वह दुनिया में दूसरे दर्जे का काम नहीं कर सकता। या तो वह बहुत बड़ा काम करेगा या उसकी कोई पूछ न होगी।

४ : हिंदुस्तान की खोज

यद्यपि पुस्तकों और पुराने स्मारकों और बीते हुए ज़माने के सांस्कृतिक कारनामों ने हिंदुस्तान की कुछ जानकारी मुझमें पैदा की, फिर भी उनसे मेरा संतोष न हुआ और जिस बात की मुझे खोज थी उसका पता न चला। और उनसे मिल भी कैसे सकता था, क्योंकि उनका संबंध बीते हुए ज़माने से था और मैं यह जानने की कोशिश में था कि आया उस बीते हुए ज़माने का हाल के ज़माने से कोई सच्चा संबंध है भी या नहीं। मेरे लिए, और मेरे जैसे बहुतों के लिए वर्तमान कुछ ऐसा था, जिसमें मध्य-युग की बातों की, हद दर्जे की ग़रीबी और दुःख की और बीच के वर्गों की कुछ हद तक सतही आधुनिकता की एक अजीब खिचड़ी थी। मैं अपने जैसे या अपने वर्ग के लोगों का सराहनेवाला नहीं था, लेकिन मुझे आशा थी कि हो-न-हो वही हिंदुस्तान की रक्षा की लड़ाई में आगे आवेंगे। बीच का वर्ग अपने को क़ैद और जकड़ा हुआ पाता था, और स्वयं बढ़ना और उन्नति करना चाहता था, और चूंकि अंग्रेज़ी हुकूमत के चौखटे में गिरफ़्तार रहते हुए उसके लिए ऐसा संभव न था, इस हुकूमत के विरुद्ध उसमें एक विद्रोही भावना पैदा हो गई। फिर भी यह भावना उस ढड्ढे के विरुद्ध नहीं थी जो कि हमें पीसे डाल रहा था। वास्तव में यह केवल अंग्रेज़ी बागडोर को बदलकर, उसे बनाये रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढाँचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यह संभव न था कि उसे ललकारे और उखाड़कर फेंक दे।

नई शक्तियों ने सिर उठाया और इन्होंने हमें गाँवों की जनता की ओर ढकेला और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखों के सामने, एक नए और दूसरे ही हिंदुस्तान की तस्वीर आई, जिसके अस्तित्व को वह क़रीब-क़रीब भुला चुके थे, या जिसे वह अधिक महत्व नहीं देते थे। यह एक विचलित कर देनेवाला दृश्य था, न केवल इस ख़याल से कि हमें हद दरजे की ग़रीबी और उसके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था, बल्कि इसलिए भी कि उसने हमारे मूल्यांकन को और उन नतीजों को, जिन पर हम अब तक पहुँचे थे, बिलकुल पलट दिया था। इस तरह हमारे लिए असली हिंदुस्तान की खोज शुरू हुई और इसने जहां एक तरफ़ हमें बहुत सी जानकारी प्राप्त कराई, दूसरी तरफ़ हमारे भीतर एक द्वंद भी पैदा कर दिया। अपने पुराने रहन-सहन और अनुभवों के अनुसार हमारी प्रतिक्रियाएं जुदा-जुदा थीं। कुछ लोग तो

गाँवों की इस बड़ी जनता से पहले से काफ़ी परिचित थे, इसलिए उनमें कोई नई सनसनी नहीं पैदा हुई, उन्होंने जैसी भी हालत थी पहले से ही मान रक्खी थी। लेकिन मेरे लिए यह सचमुच एक खोज की यात्रा सिद्ध हुई, और जहां मैं अपने लोगों की कमियों और कमज़ोरियों को दुःख के साथ समझता था, वहीं मुझे हिंदुस्तान के गाँवों में रहनेवालों में कुछ ऐसी विशेषता मिली, जिसको शब्दों में बताना कठिन था, और जिसने मुझे अपनी तरफ़ खींचा। यह विशेषता ऐसी थी जिसका मैंने अपने यहां के बीच के वर्ग में बिलकुल अभाव पाया था।

आम जनता की मैं आदर्शवादी कल्पना नहीं करता हूँ, और जहां तक हो सकता है अमूर्त रूप में उसका ख़याल करने से बचता हूँ। हिंदुस्तान की जनता इतनी विविध और विशाल होते हुए भी मेरे लिए बड़ी वास्तविक है। मैं उसकी कल्पना अस्पष्ट गुट्टों के रूप में नहीं बल्कि व्यक्तियों के रूप में करना चाहता हूँ। यह हो सकता है कि चूंकि उनसे मैं बड़ी उम्मीदें नहीं रखता था इसलिए मुझे कोई मायूसी नहीं हुई। जितनी मैंने आशा कर रखी थी, उससे मैंने उन्हें बढ़कर पाया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उनमें जो दृढ़ता और भीतरी शक्ति है उसकी वजह यह है कि वह अपनी पुरानी परंपरा अब भी अपनाए हुए हैं। पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो चोटें खाई हैं उनसे इस परंपरा का बहुत-कुछ तो जा चुका है; फिर भी कुछ बच रहा है, जिसका मूल्य है; साथ ही बहुत-कुछ ऐसा है जो कि बुरा और निकम्मा है।

मैंने संयुक्त-प्रांत के ४८ ज़िलों में—गाँवों और शहरों में—लंबी यात्राएं कीं, और मैं काफ़ी घूमा। यह प्रदेश बहुत समय से हिंदुस्तान का हृदय समझा जाता रहा है और प्राचीन और बीच के, दोनों ही कालों की संस्कृतियों का केंद्र रहा है। यहां कितनी ही संस्कृतियां और क़ौमें आपस में मिली-जुली हैं। यह वह भाग है जहां कि १८५७ में क्रांति की आग भड़की थी और जिसका कि बाद में बड़ी बेरहमी से दमन हुआ था। रफ़्ता-रफ़्ता मेरा परिचय उत्तरी और पश्चिमी ज़िलों के जाटों से हुआ जो कि धरती के सच्चे बेटे हैं, जो बहादुर और आज़ाद दिखाई देते हैं और औरों की अपेक्षा ख़ुशहाल हैं। राजपूत किसानों और छोटे जमींदारों से मेरी जान-पहिचान हुई और मैंने जाना कि उन्हें अब भी अपनी जाति का और पुरखों का गुमान है—उन्हें भी, जिन्होंने कि इस्लाम मज़हब अख़्तियार कर लिया है। मैंने गुनी कारीगरों और घरेलू धंधों में लगे हुए लोगों से, हिंदुओं और मुसलमानों

से परिचय किया, और बड़ी संख्या में जानकारी हासिल की उन ग़रीब रिआया और किसानों से, विशेष कर अवध में और पूर्वी ज़िलों में, जो कि पीढ़ियों के दमन और ग़रीबी से पिस रहे थे और जिन्हें यह आशा करने का साहस नहीं होता था कि उनके दिन फिरेंगे, लेकिन फिर भी जो आशा लगाए बैठे थे और जिनके मन में विश्वास था।

बंगाल के देहातों को छोड़कर, जहां दुर्भाग्य से मुझे जाने का बहुत कम अवसर मिला, मैंने हर-एक सूबे का दौरा किया और मैं गाँवों में पैठा। हिंदुस्तान की धरती और उसके लोग मेरे सामने फैले हुए थे, और मैं एक बड़ी खोज की यात्रा पर था। हिंदुस्तान, जिसमें इतनी विविधता और मोहिनी शक्ति है, मुझ पर एक धुन की तरह सवार था, और यह धुन बढ़ती ही गई। जितना ही मैं उसे देखता था उतना ही मुझे इस बात का अनुभव होता था कि मेरे लिए या किसी के लिए भी, जिन विचारों का वह प्रतीक था, उन्हें समझ पाना कितना कठिन था। उसके बड़े विस्तार से या उसकी विविधता से मैं नहीं घबड़ाता था, लेकिन उसकी आत्मा की गहराई ऐसी थी जिसकी थाह मैं न पा सकता था—अगर्चे कभी-कभी उसकी झलक मुझे मिल जाती थी। यह किसी प्राचीन ताल-पत्र जैसा था, जिस पर विचार और चिंतन की तहें, एक-पर-एक जमी हुई थीं, और फिर भी किसी बाद की तह ने पहले से आँके हुए लेख को पूरी तरह से मिटाया न था। उनका हमें भान हो चाहे न हो, यह सब एक साथ हमारे चेतन और अचेतन दिमाग़ में मौजूद हैं और यह सब मिलकर हिंदुस्तान के पेचीदा और भेदभरे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। वह स्फिक्स जैसा चेहरा, अपनी भेद-भरी और कभी-कभी व्यंग भरी-मुसकराहट के साथ सारे हिंदुस्तान में दिखाई देता था। यद्यपि ऊपरी ढंग से हमारे देश के लोगों में विविधता और विभिन्नता दिखाई देती थी, लेकिन सभी जगह वह समानता और एकरूपता भी मिलती थी जिसने कि, हमारे दिन चाहे जैसे बीते हों, हमें एक साथ रखा। हिंदुस्तान की एकता, मेरे लिए अब एक कल्पित बात न रह गई। यह एक आंतरिक अनुभव था और मैं इसके बस में आ गया।

५ : भारतमाता

प्राय: जब मैं एक जलसे से दूसरे जलसे में जाने में लगा होता और इस तरह चक्कर काटता रहता, तो इन जलसों में मैं अपने सुननेवालों से अपने इस हिंदुस्तान

या भारत की चर्चा करता। भारत एक संस्कृत शब्द है और इस जाति के परंपरागत संस्थापक के नाम से निकला हुआ है। मैं शहरों में ऐसा बहुत कम करता क्योंकि वहां के सुननेवाले कुछ अधिक सयाने थे और उन्हें दूसरे ही प्रकार के भोजन की आवश्यकता थी। लेकिन किसानों से, जिनका कि दृष्टिकोण सीमित था, मैं इस बड़े देश की चर्चा करता, जिसकी स्वतंत्रता के लिए हमलोग प्रयत्न कर रहे थे, और बताता कि किस तरह देश का एक हिस्सा दूसरे से जुदा होते हुए भी हिंदुस्तान एक था। मैं उन मसलों का ज़िक्र करता जो कि उत्तर से लेकर दक्खिन तक, और पूरब से लेकर पच्छिम तक किसानों के लिए यकसां थे, और स्वराज्य का भी ज़िक्र करता, जो थोड़े लोगों के लिए नहीं बल्कि सभी के फ़ायदे के लिए हो सकता था। मैं उत्तर-पश्चिम में ख़ैबर के दर्रे से लेकर धुर दक्खिन में कन्याकुमारी तक की अपनी यात्रा का हाल बताता और यह कहता कि सभी जगह किसान मुझसे एक-से सवाल करते, क्योंकि उनकी तकलीफ़ें एक-सी थीं—यानी ग़रीबी, क़र्ज़, पूंजीवादियों के शिकंजे, ज़मींदार, महाजन, कड़े लगान और सूद, पुलिस के जुल्म, और यह सभी बातें गुंथी हुई थीं उस ढड्ढे के साथ जिसे कि एक विदेशी सरकार ने हम पर लाद रखा था, और इनसे छुटकारा भी सभी को हासिल करना था। मैंने इस बात की कोशिश की कि लोग सारे हिंदुस्तान के बारे में सोचें और कुछ हद तक इस बड़ी दुनिया के बारे में भी, जिसके कि हम एक अंश हैं। मैं अपनी बात चीत में चीन, स्पेन, एबीसीनिया, मध्य यूरोप, मिस्र और पश्चिमी एशिया में होनेवाली कशमकशों का ज़िक्र भी ले आता। मैं उन्हें सोवियत यूनियन में होनेवाले अचरज-भरे परिवर्तनों का हाल भी बताता और कहता कि अमरीका ने कैसी उन्नति की है। यह काम आसान न था, लेकिन जैसा मैंने समझ रखा था वैसा मुश्किल भी न था। इसी की वजह यह थी कि हमारे पुराने महाकाव्यों ने और पुराणों की कथा-कहानियों ने, जिन्हें कि वह खूब जानते थे, उन्हें इस देश की कल्पना करादी थी, और हमेशा कुछ लोग ऐसे मिल जाते थे जिन्होंने हमारे बड़े-बड़े तीर्थों की यात्रा कर रखी थी, जो कि हिंदुस्तान के चारों कोनों पर हैं। या हमें पुराने सिपाही मिल जाते जिन्होंने कि पिछली बड़ी जंग में या और धावों के सिलसिले में विदेशों में नौकरियां की थीं। सन् तीस के बाद जो आर्थिक मंदी पैदा हुई थी उसकी वजह से दूसरे मुल्कों के बारे में मेरे हवाले उनकी समझ में आ जाते थे।

कभी ऐसा भी होता कि जब मैं किसी जलसे में पहुँचता तो मेरा स्वागत "भारतमाता की जय !" इस जोर के नारे से किया जाता। मैं लोगों से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब है, यह भारतमाता कौन है जिसकी वह जय चाहते हैं ? मेरे सवाल से उन्हें कुतूहल और आश्चर्य होता और फिर कुछ जवाब न बन पड़ने पर वह एक-दूसरे की तरफ़ या मेरी तरफ़ देखने लग जाते। मैं सवाल करता ही रहता। अंत में एक हट्टे कट्टे जाट ने, जो कि अनगिनत पीढ़ियों से किसानी करता आया था, जवाब दिया कि भारतमाता से उनका मतलब धरती से है। कौन-सी धरती ? खास उनके गाँव की धरती, या ज़िले की, या सूबे की, या सारे हिंदुस्तान की धरती से उनका मतलब है ? इस तरह सवाल-जवाब चलते रहते, यहां तक कि वह ऊबकर मुझसे कहने लगते कि मैं ही बताऊँ। मैं इसकी कोशिश करता, और बताता कि हिंदुस्तान वह सब कुछ है जिसे कि उन्होंने समझ रखा है, लेकिन वह इससे भी बहुत अधिक है। हिंदुस्तान के नदी और पहाड़, जंगल और खेत, जो हमें अन्न देते हैं, यह सभी हमें प्रिय हैं। लेकिन अंत में जिनकी गिनती है वह हैं हिंदुस्तान के लोग, उनके और मेरे जैसे लोग, जो कि इस सारे देश में फैले हुए हैं। भारतमाता दर-अस्ल यही करोड़ों लोग हैं, और "भारतमाता की जय !" से मतलब हुआ इन लोगों की जय का। मैं उनसे कहता, कि तुम इस भारतमाता के अंश हो, एक तरह से तुम ही भारतमाता हो, और जैसे-जैसे यह विचार उनके मन में बैठते, उनकी आँखों में चमक आ जाती, इस तरह मानो उन्होंने कोई बड़ी खोज कर ली हो।

६ : हिंदुस्तान की विविधता और एकता

हिंदुस्तान में अपार विविधता है; यह प्रकट-सी वस्तु है; यह इस तरह सतह पर है कि कोई भी इसे देख सकता है। इसका संबंध उन भौतिक वस्तुओं से भी है जिन्हें हम ऊपर-ऊपर देखते हैं और कुछ मानसिक अभ्यासों और स्वभाव से भी है। बाहरी ढंग से देखें तो उत्तर-पच्छिम के पठान में और धुर दक्खिन के तमिल में बहुत कम ऐसी बातें हैं जो आपस में समान कही जायँगी। नस्ल की दृष्टि से यह जुदा-जुदा हैं, यद्यपि हो सकता है कि दोनों के बीच कुछ ऐसे धागे हों जो एक दूसरे को जोड़ रहे हों; सूरत-शक्ल में, खाने-पीने और पोशाक में यह जुदा-जुदा हैं और भाषा में तो है ही। उत्तर-पच्छिम के सरहदी सूबे में मध्य-एशिया की हवा पहुँची हुई है

और यहां के रीति-रिवाज हमें हिमालय के परली तरफ़ के देशों की याद दिलाते हैं। पठानों के देहाती नाचों में और रूस के कज़्ज़ाकों के नाचों में अद्भुत समानता है। लेकिन इन भेदों के रहते हुए भी इस बात में शक नहीं हो सकता कि पठान पर हिंदुस्तान की छाप है, उसी तरह जिस तरह कि हम तमिल पर यह छाप साफ़ तौर पर देखते हैं। इसमें अचरज की कोई बात नहीं, क्योंकि यह सरहदी देश और सच पूछिए तो अफ़ग़ानिस्तान भी, हज़ारों बरस तक हिंदुस्तान से मिले रहे हैं। अफ़ग़ानिस्तान में बसनेवाली पुरानी तुर्की क़ौमें, इस्लाम के आने से पहले अधिकतर बौद्ध थीं, और उससे भी पूर्व रामायण और महाभारत के समय में हिंदू थीं। सर-हदी प्रदेश पुरानी हिंदुस्तानी संस्कृति का एक केंद्र था और आज भी न जाने कितने मठों और इमारतों के खंडहर हमें वहां दिखाई देते हैं, विशेष-रूप से तक्षशिला के विश्वविद्यालय के, जो कि दो हज़ार बरस पहले प्रसिद्ध हो चुका था और जहां कि हिंदुस्तान भर से और मध्य-एशिया से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। धर्म के परिवर्तन ने अंतर अवश्य उत्पन्न किया था, लेकिन उस हिस्से के लोगों की जो मानसिक पृष्ठ-भूमि तैयार हो चुकी थी, उसे बदलने में यह असफल रहा।

पठान और तमिल, दो अलग-अलग छोर की मिसालें हैं; और लोग इनके बीच में आते हैं। सभी के रूप जुदा हैं, लेकिन जो बात सबसे बढ़कर है वह यह है कि सभी पर हिंदुस्तान की अपनी छाप है। यह एक दिलचस्प बात है कि बंगाली, मराठी, गुजराती, तमिल, आंध्र, उड़िया, असमी, मलयाली, सिंधी, पंजाबी, पठान कश्मीरी, राजपूत और बीच के लोगों का एक बड़ा टुकड़ा जो कि हिंदुस्तानी भाषा बोलता है—इन सबने, सैकड़ों वर्षों से, अपनी ख़ासियतें क़ायम रक्खी हैं, और अब भी उनमें वही गुण या दोष मिलते हैं जिनका कि पता परंपरा और पुराने लेखों से मिलता है। फिर भी इन युगों में वह बराबर हिंदुस्तानी बने रहे हैं, राष्ट्रीय बपौती के रूप में उन्हें जो कुछ प्राप्त है और उनके आचार-विचार के आदर्श एक-से हैं। इस बपौती में कुछ ऐसी जीती-जागती बात है, जिसका पता हमें जीवन के प्रश्नों के प्रति उनके दर्शन से लगता है। पुराने चीन की तरह, पुराना हिंदुस्तान, एक अलग दुनिया थी, वहां की संस्कृति हर वस्तु को एक विशेष रूप दे देती थी। विदेशी प्रभाव आते और प्रायः इस संस्कृति पर अपना प्रभाव डालते थे, और बाद में उसी में समा जाते थे। जहां फूट की प्रवृत्तियां दिखाई दीं वहां समन्वय के प्रयत्न होने लगते थे। सभ्यता के उषा-काल से लेकर आजतक, हिंदुस्तान के मस्तिष्क में, एकता का

एक स्वप्न बराबर रहा है। इस एकता की कल्पना इस तरह से नहीं की गई कि मानो वह बाहर से आरोपित वस्तु हो, या बाहरी बातों या विश्वासों तक में एकरूपता आ जाय। यह कुछ और ही गहरी वस्तु थी;—इसके क्षेत्र के भीतर रीति-रिवाजों और विश्वासों की ओर अधिक से अधिक सहिष्णुता बरती गई है और उनके सभी अलग-अलग रूपों को स्वीकार किया गया है और उन्हें बढ़ावा दिया गया है।

एक राष्ट्र के लोगों के अंदर भी, वह आपस में चाहे जितने निकट क्यों न हों, छोटे या बड़े भेद सदा देखने को मिल सकते हैं। किसी गिरोह की एकता का अनुमान तब होता है जब हम उसकी बराबरी दूसरे राष्ट्रीय गिरोह से करते हैं। अगर दो गिरोह पास-पास के देशों के हुए तो सरहदी हिस्सों में उनके भेद-भाव कम और नहीं के बराबर मालूम देते हैं। यों भी इस काल में, राष्ट्रीयता का यह विचार जिससे हम परिचित हैं, मौजूद न था। जागीरदारी, धर्म, जाति और संस्कृति के संबंधों को अधिक महत्व दिया जाता था। फिर भी मैं समझता हूँ कि हिंदुस्तान के किसी भी समय में, जिसका कि इतिहास लिपिबद्ध हो चुका है, एक हिंदुस्तानी अपने को हिंदुस्तान के किसी भी भाग में अजनबी न समझता, और वही हिंदुस्तानी किसी भी दूसरे देश में अपने को अजनबी और विदेशी अनुभव करता; हां, निश्चय ही वह अपने को उन देशों में कम अजनबी पाता, जिन्होंने कि उसकी संस्कृति और धर्म को अपना लिया था। हिंदुस्तान से बाहर के देशों में उत्पन्न होनेवाले धर्मों के अनुयायी, हिंदुस्तान में आने और यहां पर बसने के कुछ ही पीढ़ियों के भीतर स्पष्ट-रूप से हिंदुस्तानी बन जाते थे, जैसे ईसाई, यहूदी, पारसी और मुसलमान। ऐसे हिंदुस्तानी, जिन्होंने इनमें से किसी एक धर्म को स्वीकार कर लिया, एक क्षण के लिए भी इस धर्मपरिवर्तन के कारण ग़ैर-हिंदुस्तानी न हो गए। दूसरे देशों में इन्हें हिंदुस्तानी और विदेशी समझा जाता रहा, चाहे इनका धर्म वही रहा हो जो कि इन दूसरे देशवालों का था।

आज भी, जब कि राष्ट्रीयता का विचार बहुत बदल गया और उन्नति कर गया है, विदेशों में हिंदुस्तानियों का गिरोह एक अलग गिरोह समझा जाता है, और अपने भीतरी भेदों के बावजूद उन्हें एक गिना जाता है। हिंदुस्तानी ईसाई चाहे जहां जाय हिंदुस्तानी ही समझा जाता है, और हिंदुस्तानी मुसलमान चाहे तुर्की में हो, चाहे ईरान और अरब में, सभी मुसलमानी मुल्कों में वह हिंदुस्तानी ही समझा जाता है।

मैं समझता हूँ कि हममें से सभी ने, अपनी जन्म-भूमि की अलग-अलग तस्वीर बना रखी होगी, और कोई दो आदमी एक-सा विचार न रखते होंगे। जब मैं हिंदुस्तान के बारे में सोचता हूँ तो कई बातों का ध्यान आता है—दूर तक फैले हुए मैदानों का, जिन पर अनगिनत छोटे-छोटे गाँव बसे हुए हैं; उन शहरों और क़स्बों का, जहां मैं हो आया हूँ; बरसात के मौसम के जादू का, जो कि सूखे और जले हुए मैदानों में जीवन बिखेरता है और उन्हें अचानक हरियाली और सौंदर्य का और बड़ी, और ज़ोर-शोर से बहनेवाली नदियों का प्रदेश बना देता है; खैबर के सुनसान दर्रे का, हिंदुस्तान के दक्खिनी छोर का, और सबसे बढ़कर बर्फ़ से ढके हुए हिमालय का, या कश्मीर में, वसंत ऋतु में, किसी पहाड़ी घाटी का, जिसमें कि नए-नए फूल फूल रहे हैं, और जिसमें पानी के सोते फूटकर गुनगुना रहे हैं, हम लोग अपने पसंद की तस्वीरें बनाते हैं और उनकी रक्षा करते हैं। इसलिए बजाय गर्म मैदानी हिस्सों के, जो ज़्यादा आम हैं, मैंने पहाड़ी मंज़र पसंद किया है। दोनों तस्वीरें ठीक हैं, क्योंकि हिंदुस्तान उष्ण-कटिबंध से लेकर सम-शीतोष्ण कटि-बंध तक और भू-मध्य-रेखा से लेकर एशिया के ठंडे प्रदेश तक फैला है।

७ : जनता की संस्कृति

मैं आज के हिंदुस्तान की जनता का मार्मिक नाटक देखता था, और अक्सर मैं उन धागों का पता लगा पाता था जो कि उनके जीवन को बीते हुए ज़माने से जोड़ रहे थे, जब कि उनकी निगाहें आनेवाले समय की तरफ़ लगी हुई थीं। मैं पाता था कि संस्कृति की एक पृष्ठभूमि है जो उनके जीवन पर गहरा असर डाल रही है। यह पृष्ठभूमि साधारणतः दर्शन, परंपरा, इतिहास, पुराण की और कल्पित कथाओं के मेलजोल से तैयार हुई थी और इन विविध अंगों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। जो लोग बिलकुल अनपढ़ और अशिक्षित थे, उनकी भी यही पृष्ठभूमि थी। अपने पुराने महाकाव्यों, रामायण और महाभारत से, और दूसरे ग्रंथों से, सुगम अनुवादों या संक्षेपों के द्वारा जनता अच्छी तरह परिचित थी। एक-एक घटना और उपदेश उनके मन में टँके हुए थे और इस तरह उनके दिमाग़ भरे-पूरे थे। अनपढ़ देहातियों को भी सैकड़ों पद्य ज़बानी याद थे और उनकी बातचीत में इनके या किसी प्राचीन कथा या उपदेश के हवाले आते रहते थे। मुझे इस बात पर अचरज होता था कि गाँव के लोग आजकल की साधारण बातों को साहित्यिक

पैराया देते थे। अगर मेरे दिमाग में लिखे हुए इतिहास और कमोवेश जाने हुए वाक्यों के चित्र भरे हुए थे, तो मैंने अनुभव किया कि अनपढ़ किसान के दिमाग़ में भी एक चित्रशाला थी; हां, इसका आधार परंपरा, पुराण की कथाएं, और महाकाव्य के नायक और नायिकाओं के चरित्र थे। इसमें इतिहास कम था, फिर भी चित्र काफ़ी सजीव थे।

मैं उनके शरीरों और उनकी सूरतों की तरफ़ देखता और उनके रहने-सहने के ढंग पर ग़ौर करता। उनमें बहुत-सी सूरतें ऐसी थीं जो बातों का जल्द असर लेने वाली थीं, उनमें हट्टे-कट्टे, सीधे और साफ़ अंगवाले लोग मिलते, और औरतों में अदा और लोच तथा शान और सम-तौल होती और बहुत अक्सर उनके चेहरों पर उदासी दिखाई पड़ती। आम तौर पर ऊँची ज़ात के लोगों में, जिनकी आर्थिक दशा दूसरों की अपेक्षा कुछ अच्छी होती, अच्छे शरीर वाले मिलते। कभी-कभी जब मैं किसी देहाती सड़क या गाँव से होकर गुज़रता तो मुझे किसी अच्छे बदन के आदमी को देखकर या रूपवाली स्त्री को देखकर अचरज होता और मुझे पुराने जमाने के दीवाल पर बने चित्रों की याद हो आती। युगों की यातना और मुसीबत के बाद भी हिंदुस्तान में आज ऐसे नमूने किस तरह मिल जाते हैं, इस बात पर मुझे आश्चर्य होता। अच्छी स्थिति में, और अच्छे अवसर मिलने पर ये लोग क्या न कर सकते थे?

ग़रीबी और ग़रीबी से उपजी हुई अनगिनित बातें सभी जगह दिखाई पड़ती थीं, और इसके हैवानी पंज़े के निशान हर एक माथे पर लगे हुए थे। जीवन इस तरह कुचल और मरोड़ दिया गया था कि एक पाप बन गया था और दमन और अरक्षा की स्थिति ने बहुतेरी बुराइयां पैदा कर दी थीं। यह बातें, देखने में खुशगवार नहीं हो सकती थीं फिर भी हिंदुस्तान में बुनियादी वास्तविकता यही थी। लोग आवश्यकता से अधिक भाग्य पर भरोसा करते थे और जैसी भी बीतती उसे स्वीकार करते थे। साथ ही उनमें एक नर्मी और भलमनसी थी, जो कि हज़ारों वर्ष की संस्कृति का परिणाम थी, और जिसे कठोर से कठोर दुर्भाग्य नहीं मिटा पाया था।

: २ :

हिंदुस्तान की खोज

१ : सिंध घाटी की सभ्यता

हिंदुस्तान के बीते हुए युग की सबसे पहली तस्वीर हमें सिंध घाटी की सभ्यता में मिलती है, जिसके प्रभावशाली खँडहर सिंध में, मोहन-जो-दड़ो में और पश्चिमी पंजाब में हड़प्पा में मिले हैं। यहां पर जो खुदाइयां हुई हैं, उन्होंने प्राचीन इतिहास के बारे में, हमारे विचारों में क्रांति पैदा कर दी है। दुर्भाग्य से इन जगहों में खुदाई का काम आरंभ होने के कुछ साल बाद ही, वह बंद कर दिया गया। मैं मोहन-जो-दड़ो दो बार गया हूँ—१९३१ में और १९३६ में। अपनी दूसरी यात्रा में मैंने देखा कि बरसात ने और खुश्क रेगिस्तानी हवा ने, बहुत सी इमारतों को, जिनकी कि खुदाई हो चुकी है, अभी ही नुक़सान पहुँचा दिया है। बालू और मिटटी के अंदर पाँच हज़ार बरसों तक हिफ़ाज़त से पड़े रहने के बाद, खुली हवा के असर से वह बड़ी तेज़ी से नष्ट हो रही थीं, और प्राचीन काल के इन मूल्यवान खँडहरों के बचाने का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा था।

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा एक दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं। इन दो जगहों के खँडहरों की खोज एक आकस्मिक बात थी। इसमें शक नहीं कि बहुत से ऐसे, मिट्टी में दबे हुए शहर और पुराने ज़माने के आदमियों के कारनामे इन दो जगहों के बीच पड़े होंगे, और यह कि यह संस्कृति हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों में, और निश्चय ही उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थी। ऐसा समय आ सकता है जब कि हिंदुस्तान के प्राचीन काल के ऊपर से परदा उठाने का काम फिर हाथ में लिया जाय और मार्के की खोजें हों। अभी ही इस सभ्यता के चिह्न हमें इतनी दूर फैली हुई जगहों में मिले हैं जैसे पच्छिम में काठियावाड़ और पंजाब में अंबाला ज़िला और ऐसा विश्वास करने के कारण है कि यह सभ्यता गंगा-घाटी तक फैली हुई थी।

इस तरह यह सभ्यता सिंध-घाटी की सभ्यता से बढ़कर थी। मोहन-जो-दड़ो में मिले हुए लेख अभी तक ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सके हैं।

लेकिन जो भी हम अब तक जान सके हैं, वह बड़े महत्त्व की बातें हैं। सिंध घाटी की सभ्यता, जैसा कि हम उसे जान सके हैं, एक बड़ी उन्नत सभ्यता थी और उसे इस दर्जे तक पहुँचाने में हज़ारों साल लगे होंगे। यह काफ़ी अचरज की बात है कि यह सभ्यता लौकिक और दुनियावी सभ्यता है और यद्यपि इसमें धार्मिक अंश भी मौजूद थे, वह इस पर हावी न थे। यह भी स्पष्ट है कि यह सभ्यता हिंदुस्तान के अन्य सांस्कृतिक युगों की पूर्व-सूचक थी।

सर जान मार्शल हमें बताते हैं—"मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा इन दोनों जगहों में, एक बात तो स्पष्ट है और इसके बारे में कोई धोखा नहीं हो सकता। वह यह है कि इन दोनों जगहों में जो सभ्यता हमारे सामने आई है वह कोई प्रारंभिक सभ्यता नहीं है, बल्कि ऐसी है जो उस समय ही युगों पुरानी पड़ चुकी थी, हिंदुस्तान की धरती पर पुष्ट हो चुकी थी और उसके पीछे मनुष्य का कई हज़ार वर्ष पुराना कारनामा था। इस तरह अबसे मानना पड़ेगा कि ईरानी, मेसोपोटामिया और मिस्र की तरह हिंदुस्तान उन सबसे प्रमुख प्रदेशों में एक है, जहां कि सभ्यता का आरंभ और विकास हुआ था।" और फिर वह कहते हैं कि "पंजाब और सिंध में, अगर हम हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों में भी न मानें, एक बहुत उन्नत, और अद्भुत रूप से आपस में मिलती-जुलती हुई सभ्यता का प्रचार था, जो कि उसी काल की मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यताओं से पृथक् होते हुए भी, कुछ बातों में उससे ज़्यादा उन्नत थी।"

सिंध घाटी के इन लोगों के, उस काल की सुमेर सभ्यता से बहुत से संपर्क थे, और इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि अक्काद में हिंदुस्तानियों की, संभवतः व्यापारियों की एक बस्ती थी। "सिंध घाटी के शहरों की बनी हुई चीज़ें दजला और फ़रात के बाज़ारों में बिकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ रूप, मेसोपोटामिया के सिंगार के सामान, और एक बेलन के आकार की मुहर की नक़ल सिंधवालों ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल और विलास की चीज़ों तक सीमित न था। अरब सागर के किनारों से लाई गई मछलियां, मोहन-जो-दड़ो की खाने की चीज़ों में सम्मिलित थीं।"[1]

---

[1]गार्डन चाइल्ड, "व्हाट हेपेन्ड इन हिस्टरी" (पेलिकन बुक्स), पृ. ११२

इतने पुराने जमाने में भी हिंदुस्तान में रुई कपड़ा बनाने के काम में लाई जाती थी। मार्शल सिंध घाटी की सभ्यता का, समकालीन मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यता से तुलना करते हैं:—"इस तरह, कुछ मुख्य मुख्य बातें यह हैं कि इस काल में रुई का कपड़ा बनाने के काम में उपयोग केवल हिंदुस्तान में होता था और पच्छिमी दुनिया में २००० या ३००० साल बाद तक यह नहीं फैला। इसके अतिरिक्त मिस्र या मेसोपोटामिया या पच्छिमी एशिया में कहीं भी हमें वैसे अच्छे बने हुए हम्माम या विस्तृत घर नहीं मिलते, जैसे कि मोहन-जो-दड़ो के नागरिक अपने उपयोग में लाते थे। उन देशों में देवताओं के शानदार मंदिरों और राजाओं के लिए महलों और समाधियों के बनाने पर अधिक ध्यान दिया जाता था और धन खर्च किया जाता था। लेकिन जान पड़ता है कि जनता को मिट्टी की छोटी झोंपड़ियों से संतोष करना पड़ता था। सिंध घाटी में इससे उल्टी ही तस्वीर दिखाई देती है और अच्छी-से-अच्छी इमारतें वहाँ मिलती हैं जिनमें नागरिक रहा करते थे।" निजी या आम लोगों के लिए खुले हम्मामों का और नालियों के जरिये गंदगी निकालने का जो इंतज़ाम हम मोहन-जो-दड़ो में पाते हैं वह अपने ढंग का पहला है, जो कहीं भी नहीं मिलता है। हमें रहने के दो मंज़िले घर भी मिलते हैं जो कि पकी हुई मिट्टी के बने होते थे जिनमें हम्माम, चौकीदार के घर, और अलग-अलग घरानों के रहने के लिए हिस्से होते थे।

मार्शल से, जो कि सिंध घाटी की सभ्यता के नाते हुए विशेषज्ञ हैं और जिन्होंने खुद खुदाई कराई थी, एक और उद्धरण दूंगा। वह कहते हैं—"सिंध घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं, और उन पर एक अपनी विशेष छाप है। इस काल के दूसरे देशों की हम कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो शैली की दृष्टि से यहां की चीनी-मिट्टी की बनी भेड़ों, कुत्तों या और जानवरों की मूर्त्तियों से मिलती हो, या उन खुदी हुई मुहरों से, विशेषकर जिन पर छोटी सींगों के कूबड़ वाले बैलों की नक्क़ाशी है, और जो बनाने के कौशल और सुडौलपन की दृष्टि से अनुपम हैं। न यही संभव होगा कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी मूर्तियों की तुलना, बनावट की सुघराई के विचार से किन्हीं और मूर्तियों से कर सकें सिवाय इसके कि जब यूनान की सभ्यता के प्रौढ़काल के कारनामे देखें।...सिंध घाटी के लोगों के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती हुई बातें हमें और देशों में मिल सकती हैं, और यह बात सभी पूर्व-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के बारे में सच ठहरेगी।

लेकिन सब कुछ लेकर, उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ हिंदुस्तानी है कि आजकल के प्रचलित हिंदूधर्म से उसका भेद मुश्किल से किया जा सकता है।"

इस तरह से हम देखते हैं कि सिंध घाटी की सभ्यता, ईरान, मेसोपोटामिया और मिस्र की उस काल की सभ्यताओं के संपर्क में रही है, इसके और उनके लोगों में आपस में व्यापार होता रहा है और कुछ बातों में यह उनसे बढ़कर रही है। यह एक नागरिक सभ्यता थी, जहां के व्यापारी मालदार और प्रभावशाली लोग थे। सड़कों पर दूकानों की क़तारें होतीं, और ऐसी इमारतें, जो कि शायद छोटी-छोटी दुकानें थीं, आजकल के हिंदुस्तानी बाज़ार जैसी लगती हैं। प्रोफ़ेसर चाइल्ड कहते हैं—"इससे स्पष्ट रूप से यह परिणाम निकलता है कि सिंध के शहरों के कारीगर बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने कोई सिक्कों का चलन और क़ीमतों की माप स्वीकार की थी या नहीं, और अगर की थी तो वह क्या थी, इसका ठीक पता नहीं। बहुत से बड़े और विस्तृत मकानों के साथ लगे हुए सुरक्षित गोदामों से पता लगता है कि इन घरों के मालिक लोग सौदागर थे। इन घरों की गिनती और आकार यह बताते हैं कि यहां पर सुदृढ़ और ख़ुशहाल व्यापारियों की बस्ती थी। इन खँडहरों में सोने, चाँदी, क़ीमती पत्थरों और चीनी मिट्टी के ज़ेवर, पिटे हुए ताँबे के बरतन, धातु के बने औज़ार और हथियार इतनी बहुतायत से मिले हैं कि अचरज होता है।" चाइल्ड साहब यह भी कहते हैं कि "गलियों की सुंदर तरतीब और नालियों की बहुत बढ़िया व्यवस्था, और उनकी बराबर सफ़ाई इस बात का संकेत देते हैं कि यहां कोई नियमित नागरिक शासन था और वह अपना काम मुस्तैदी से करता था। इसका शासन इतना काफ़ी दृढ़ था कि बाढ़ों की वजह से बार-बार बनी इमारतों की तैयारी के वक़्त भी नगर-निर्माण के और सड़कों की क़तारों की रक्षा करने के नियमों का पालन होता था।"[1]

सिंध घाटी की सभ्यता और आज के हिंदुस्तान के बीच की बहुत-सी कड़ियां ग़ायब हैं और ऐसे समय आये है जिनके बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। एक काल को दूसरे काल से जोड़ने वाली कड़ियां अकसर प्रकट भी नहीं हैं और इस बीच न जाने कितनी घटनाएं घटी हैं और कितने परिवर्तन हुए हैं। फिर

---

[1]गार्डन चाइल्ड, "ह्वाट हेपेन्ड इन हिस्टरी" (पेलिकन बुक्स), पृ० ११३-११४

भी ऐसा मालूम देता है कि एक सिलसिला बना रहा है और एक साबित ज़ंजीर है जो आज के हिंदुस्तान को उस छः-सात हज़ार साल पुराने काल से, जब कि सिंध घाटी की सभ्यता शायद आरंभ हुई थी, बाँध रही है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की कितनी चीज़ें हमें चली आती हुई परंपरा की, रहन-सहन की, लोगों के पूजा-पाठ, कारीगरी, यहां तक कि पोशाक के ढंगों की याद दिलाती रहती हैं, इस पर अचरज होता है। इन में से बहुत-सी बातों ने पच्छिमी एशिया पर प्रभाव डाला था।

यह एक रोचक बात है कि हिंदुस्तान की कहानी के इस उषा-काल में हम उसे एक नन्हे बच्चे के रूप में नहीं देखते हैं, बल्कि इस समय भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था। वह जीवन के साधनों से अनजान नहीं है, वह किसी धुंधली और न प्राप्त होनेवाली दूसरी दुनिया के सपनों में खोया हुआ नहीं है; बल्कि उसने जीवन की कला में, रहन-सहन के साधनों में काफ़ी उन्नति कर ली है, और न केवल सुंदर वस्तु की रचना की है, बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगी और विशेष चिह्नों—अच्छे हम्मामों और नालियों—को भी तैयार किया है।

२ : आर्यों का आना

सिंध घाटी की सभ्यता वाले यह लोग कौन थे और कहां से आए थे, इसका हमें अब तक पता नहीं है। यह बहुत मुमकिन, बल्कि संभावित है कि इनकी संस्कृति इसी देश की संस्कृति थी, और उसकी जड़ें और शाखाएं दक्खिन हिंदुस्तान तक में मिलती हैं। कुछ विद्वान् इन लोगों में और दक्खिन हिंदुस्तान के द्राविड़ों में क़ौम और संस्कृति की विशेष रूप से समानता पाते हैं। और अगर बहुत प्राचीन समय में हिंदुस्तान में बाहरी लोग आए थे तो इसका इतिहास मोहन-जो-दड़ो से हज़ारों बरस पुराना है। व्यवहार के विचार से हम उन्हें हिंदुस्तान के ही निवासी मान सकते हैं।

सिंध घाटी की सभ्यता का क्या हुआ और वह कैसे समाप्त हो गई? कुछ लोगों का कहना है कि इसका अंत अचानक और किसी ऐसी दुर्घटना के कारण हुआ जिसको बताया नहीं जा सकता। सिंध नदी अपनी बहुत बड़ी बाढ़ों के लिए मशहूर है, जो शहरों और गाँवों को बहा ले जाती रही है। या बदलती हुई जल-वायु के कारण धीरे-धीरे ज़मीन खुश्क हो गई हो और खेतों के ऊपर बालू छा गयी

हो। मोहन-जो-दड़ो के खँडहर खुद इस वात का सवूत हैं कि नगर पर तह-की-तह वालू जमती रही है, जिसकी वजह से नागरिकों को विवश होकर पुरानी नीवों पर और ऊँची सतहों पर इमारतें वनवानी पड़ी हैं। हम जानते हैं कि प्राचीन काल में सिंध-प्रदेश वड़ा उपजाऊ और हरा-भरा था, लेकिन मध्य-काल के वाद से यह अधिकतर रेगिस्तान ही रहा है।

जहां एक तरफ़ इस वात का आभास होता है कि सिंध की सभ्यता का अटूट सिलसिला वाद के कालों से वना रहा, वहां दूसरी तरफ़ इस सिलसिले के टूटने और वीच में खाई पड़ जाने का अनुमान होता है और यह खाई न केवल समय का अंतर वताती है वल्कि यह भी कि जो सभ्यता वाद में आई वह एक दूसरे प्रकार की थी। पहली वात तो यह है कि यद्यपि नगर तव भी थे और किसी-न-किसी प्रकार का नागरिक जीवन भी था फिर भी यह वाद की सभ्यता पहले की अपेक्षा अधिक कृषकों, खेतिहरों की सभ्यता थी। हो सकता है कि खेती पर विशेष ज़ोर डाला हो उन लोगों ने जो वाद में आए, अर्थात् आर्यों ने, जो कई गिरोहों में पच्छिमोत्तर से हिंदुस्तान में उतरे।

यह खयाल किया जाता है कि आर्यों का यहां आना, सिंध घाटी की सभ्यता के एक हज़ार साल वाद हुआ, लेकिन यह भी संभव है कि काल की इतनी वड़ी खाई दोनों के वीच न रही हो और जातियां और क़वीले पच्छिमोत्तर से वरावर थोड़े-थोड़े समय वाद आते रहे हों, जैसा कि वह वाद में आए, और आने पर हिंदुस्तान में घुल-मिल जाते रहे हों। हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों का पहला वड़ा समन्वय और मेल-जोल आनेवाले आर्यों और द्राविड़ों में, जो कि संभवतः सिंध घाटी की सभ्यता के प्रतिनिधि थे, हुआ। इस समन्वय और मेल-जोल से हिंदुस्तान की जातियां वनीं और एक वुनियादी हिंदुस्तानी संस्कृति तैयार हुई जिसमें दोनों के अंश थे। वाद के युगों में और वहुत-सी जातियां आती रहीं, जैसे ईरानी, यूनानी, पार्थियन, वैक्ट्रियन, सिदियन, हूण, तुर्क (इस्लाम से पहले के), क़दीम ईसाई, यहूदी, और पारसी। यह सभी लोग आए, इन्होंने अपना प्रभाव डाला और वाद में यहां के लोगों में घुल-मिल गए। डाडवेल के कथनानुसार, हिंदुस्तान में 'समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति थी।' यह कुछ अजव-सी वात जान पड़ती है कि हिंदुस्तान में, जहां कि ऐसी वर्ण-व्यवस्था है और अलग वने रहने की भावना है, विदेशी जातियों और संस्कृतियों को जज़्व कर लेने की इतनी समाई रही हो।

शायद यही वजह है कि उसने अपनी जीवनी-शक्ति क़ायम रखी है और समय-समय पर वह अपना काया-कल्प करता रहा है। जब मुसलमान यहां आए तो उन पर भी उसका असर पड़ा। विंसेंट स्मिथ का कहना है कि "विदेशी (मुसलमान तुर्क) अपने पूर्वजों, शकों और युई-ची, की तरह हिंदूधर्म की सोख लेने की अद्भुत शक्ति के वश में हुए और तेजी के साथ उनमें 'हिंदूपन' आ गया।"

३ : हिंदूधर्म क्या है ?

इस उद्धरण में विंसेंट स्मिथ ने 'हिंदूधर्म' और 'हिंदूपन' शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी समझ में इन शब्दों का इस तरह प्रयोग करना ठीक नहीं। अगर इनका प्रयोग हिंदुस्तानी संस्कृति के विस्तृत अर्थ में किया जाय तो दूसरी बात है। आज इन शब्दों का प्रयोग जब कि यह बहुत संकुचित अर्थ में लिये जाते हैं और इनसे एक विशेष धर्म का ख़याल होता है, भ्रांति पैदा कर सकता है। हमारे पुराने साहित्य में तो हिंदू शब्द कहीं आता ही नहीं। मुझे बताया गया है कि इस शब्द का हवाला हमें जो किसी हिंदुस्तानी पुस्तक में मिलता है वह है आठवीं सदी ईस्वी के एक तांत्रिक ग्रंथ में, और वहां हिंदू का मतलब किसी विशेष धर्म से नहीं बल्कि विशेष लोगों से है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह शब्द बहुत पुराना है और अवेस्ता में और पुरानी फ़ारसी में आता है। उस समय, और उस समय से हज़ार साल बाद तक पच्छिमी और मध्य-एशिया के लोग इस शब्द का प्रयोग हिंदुस्तान के लिए, बल्कि सिंधु नदी के इस पार बसने वाले लोगों के लिए करते थे। यह शब्द साफ़-साफ़ 'सिंधु' से निकला है और यह 'इंडस' का पुराना और नया नाम है। इस 'सिंधु' शब्द से हिंदू और हिंदुस्तान बने हैं और 'इंडोस' और 'इंडिया' भी। प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्-सिंग ने, जो कि हिंदुस्तान में सातवीं सदी ईस्वी में आया था, अपनी यात्रा के वर्णन में लिखा है कि 'उत्तर की जातियां', यानी मध्य-एशिया के लोग हिंदुस्तान को हिंदू (सीन्-तु) कहते हैं, लेकिन उसने यह भी लिखा है कि "यह आम नाम नहीं है. . .हिंदुस्तान का सबसे उचित नाम आर्य-देश है।" एक विशेष धर्म के अर्थ में 'हिंदू' शब्द का प्रयोग बहुत बाद का है।

हिंदुस्तान में धर्म के लिए पुराना व्यापक शब्द 'आर्यधर्म' था। वास्तव में धर्म का अर्थ 'मज़हब' या 'रेलिजन' से ज़्यादा विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई है उसके मानी हैं एक साथ पकड़ना। यह किसी वस्तु की भीतरी

1926

प्रकृति, उसके आंतरिक जीवन के विधान के अर्थ में आता है। इसके अंदर नैतिक विधान, सदाचार और आदमी की सारी ज़िम्मेदारियां और कर्त्तव्य आ जाते हैं। आर्यधर्म के भीतर वह सभी मत आ जाते हैं जिनका आरंभ हिंदुस्तान में हुआ है, वह मत चाहे वैदिक हों चाहे अ-वैदिक। इसका व्यवहार बौद्धों और जैनों ने भी किया है और उन लोगों ने भी जो वेदों को मानते हैं। बुद्ध अपने बनाए मोक्ष के मार्ग को हमेशा 'आर्य-मार्ग' कहते थे।

पुराने समय में 'वैदिकधर्म' शब्द का प्रयोग विशेषरूप से दर्शनों, नैतिक शिक्षाओं, कर्मकांड और व्यवहारों के लिए होता था, जिनके बारे में समझा जाता था कि वे वेद पर अवलंबित हैं। इस तरह से, वह सभी लोग जो कि वेदों को आम तौर पर प्रमाण मानते थे, वैदिकधर्म वाले कहलाए।

सभी प्राचीन हिंदुस्तानी मतों के लिए—और इनमें बुद्धमत और जैनमत भी शामिल हैं—'सनातनधर्म' यानी प्राचीन धर्म का प्रयोग हो सकता है, लेकिन इस पर आजकल हिंदुओं के कुछ कट्टर दलों ने एकाधिकार कर रक्खा है, जिनका दावा है कि वह इस प्राचीन मत के अनुयायी हैं।

बौद्धधर्म और जैनधर्म निश्चय ही हिंदूधर्म नहीं हैं और न वैदिक धर्म ही हैं। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिंदुस्तान में ही हुई और यह हिंदुस्तानी जीवन, संस्कृति और दर्शन के अंग हैं। हिंदुस्तान में बौद्ध और जैनी, हिंदुस्तानी विचार-धारा और संस्कृति की सौ प्रतिशत उपज हैं, फिर भी इनमें से कोई भी मत के ख़याल से हिंदू नहीं है। इसलिए हिंदुस्तानी संस्कृति को हिंदू संस्कृति कहना एक सरासर भ्रांति फैलाने वाली बात है। बाद के समयों में, इस संस्कृति पर इस्लाम के संपर्क का बड़ा प्रभाव पड़ा, लेकिन यह फिर भी बुनियादी तौर पर और साफ़-साफ़ हिंदुस्तानी ही बनी रही। आज यह सैकड़ों तरीक़ों पर पच्छिम की व्याव-सायिक सभ्यता के प्रबल प्रभाव का अनुभव कर रही है, और यह ठीक-ठीक बता सकना कठिन है कि इसका क्या परिणाम होकर रहेगा।

हिंदूधर्म जहां तक कि वह एक मत है, अस्पष्ट है, इसकी कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं; इसके कई पहलू हैं और ऐसा है कि जो चाहे इसे जिस तरह का मान ले। इसकी परिभाषा दे सकना या निश्चित रूप में कह सकना कि साधारण अर्थ में यह एक मत है, कठिन है। अपने वर्तमान रूप में, बल्कि बीते हुए काल में भी इसके भीतर बहुत से विश्वास और कर्मकांड आ मिले हैं, ऊँचे-से-ऊँचे और गिरे-

से-गिरे, और प्रायः इनमें आपस का विरोध भी मिलता है। इसकी मुख्य भावना यह जान पड़ती है कि, अपने को जीवित रखो और दूसरे को भी जीने दो। महात्मा गांधी ने इसकी परिभाषा देने का प्रयत्न किया है : "अगर मुझसे हिंदूमत की परिभाषा देने को कहा जाय तो मैं केवल यह कहूँगा कि 'यह अहिंसात्मक साधनों से सत्य की खोज है।' आदमी चाहे ईश्वर में विश्वास न रक्खे। फिर भी वह अपने को हिंदू कह सकता है। हिंदूधर्म सत्य की अनथक खोज है. . .हिंदूधर्म सत्य को मानने वाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इन्कार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।" गांधीजी इसे सत्य और अहिंसा बताते हैं, लेकिन बहुत से प्रमुख लोग, जिनके हिंदू होने में कोई संदेह नहीं, यह कहते हैं कि अहिंसा—जैसा उसे गांधीजी समझते हैं—हिंदूमत का आवश्यक अंग नहीं है। तो फिर हिंदूमत का अकेला सूचक-चिह्न सत्य रह जाता है। स्पष्ट है यह कोई परिभाषा न हुई। इसलिए 'हिंदू' और 'हिंदूधर्म' शब्दों का हिंदुस्तानी संस्कृति के लिए प्रयोग किया जाना न तो शुद्ध है और न उचित ही है।

'हिंदुस्तानी' के लिए ठीक शब्द 'हिंदी' होगा, चाहे हम उसे मुल्क के लिए, चाहे संस्कृति के लिए और चाहे अपनी भिन्न परंपराओं के इतिहास क्रम के लिए प्रयोग करें। यह शब्द हिंद से बना है, जो कि हिंदुस्तान का छोटा रूप है। अब भी हिंदुस्तान के लिए हिंद शब्द का आम तौर पर प्रयोग होता है। पच्छिमी एशिया के मुल्कों में, ईरान और तुर्की में, ईराक़, अफ़ग़ानिस्तान, मिस्र और दूसरी जगहों में हिंदुस्तान के लिए बराबर हिंद शब्द का प्रयोग किया जाता है और इन सभी जगहों में हिंदुस्तानी को 'हिंदी' कहते हैं। 'हिंदी' का धर्म से कोई संबंध नहीं और हिंदुस्तानी मुसलमान और ईसाई उसी तरह से 'हिंदी' हैं जिस तरह कि एक हिंदू मत का मानने वाला। अमरीका के लोग, जो कि सभी हिंदुस्तानियों को हिंदू कहते हैं, बहुत ग़लती नहीं करते। अगर वह 'हिंदी' शब्द का प्रयोग करें तो उनका प्रयोग बिल्कुल ठीक होगा। दुर्भाग्य से 'हिंदी' शब्द, हिंदुस्तान में, एक ख़ास लिपि के लिए प्रयोग होने लगा है—यह भी संस्कृत की देवनागरी लिपि के लिए—इसलिए इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थ में प्रयोग करना कठिन हो गया है। शायद जब आजकल के विवाद ख़तम हो लें तो हम फिर इस शब्द का प्रयोग उसके मौलिक अर्थ में कर सकें और वह अधिक संतोषजनक होगा।

अपनी सांस्कृतिक परंपरा के लिए हम 'हिंदी' या 'हिंदुस्तानी' जो शब्द भी प्रयोग करें, हम यह देखेंगे कि पुराने समय में समन्वय के लिए यहां एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी संस्कृति और राष्ट्र के विकास का आधार, विशेषकर हिंदुस्तान का दार्शनिक दृष्टिकोण रहा है। विदेशी तत्त्वों के हमले इस संस्कृति पर हुए हैं और वह इसके लिए चुनौती की तरह रहे हैं। उनका सामना इसने हरबार एक नए समन्वय के द्वारा, उन्हें अपने में समोख कर किया है। इस प्रकार उसका कायाकल्प भी होता रहा है और यद्यपि पृष्ठभूमि वही रही है और बुनियादी बातों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए हैं, इस समन्वय के कारण संस्कृति के नए-नए फूल खिले हैं। सी० ई० एम० जोड ने इसके बारे में लिखा है:—"इसकी वजह जो कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तान की दुनिया को विशेष देन यह रही है कि उसने विचारों और क़ौमों के जुदा-जुदा तत्त्वों के समन्वय की और विभिन्नता से एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।"

४ : सब से पुराने लेख : धर्मग्रंथ और पुराण

सिंध घाटी की सभ्यता की खोज से पहले यह खयाल किया जाता था कि हिंदुस्तानी संस्कृति के सब से पुराने प्रमाण-लेख जो हमें मिले हैं, वह वेद हैं। वेदों के काल-निर्णय के बारे में बड़ा मत-भेद रहा है, यूरोपीय विद्वान् इसे इधर खींचते रहे हैं और हिंदुस्तानी विद्वान् और पीछे ले जाते रहे हैं। यह एक विचित्र बात है कि अपनी पुरानी संस्कृति को महत्त्व देने के लिए हिंदुस्तानी उसे अधिक-से-अधिक पुरानी प्रमाणित करने के प्रयत्न में रहे हैं। प्रोफ़ेसर विंटरनीज़ का खयाल है कि वैदिक साहित्य का आरंभ ईसा से २०००, बल्कि २५०० वर्ष पहले होता है। यह हमें मोहन-जो-दड़ो के समय के बहुत निकट पहुँचा देता है।

आज के अधिकतर विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के संबंध में जो प्रमाण माने हैं वह उसे ईसा से १५०० वर्ष पुराना बताते हैं, लेकिन मोहन-जो-दड़ो की खुदाई के बाद इन धर्म-ग्रंथों को और पुराना प्रमाणित करने की तरफ़ रुझान रहा है। इस साहित्य की ठीक तिथि जो भी हो, यह संभावित है कि यह यूनान या इसराइल के इतिहास से पुराना है और सच बात तो यह है कि मनुष्यमात्र के मस्तिष्क की सबसे पुरानी कृतियों में है। मैक्समूलर ने कहा है कि "आर्यजाति के मनुष्य द्वारा कहा गया यह पहला शब्द है।"

वेद आर्यों के उस समय के भावोद्‌गार हैं जब कि वह हिंदुस्तान की हरी-भरी भूमि पर आए। वह अपने कुल के विचारों को अपने साथ लाए, उस कुल के जिसने ईरान में "अवेस्ता" की रचना की, और हिंदुतान की धरती पर उन्होंने अपने विचारों को विस्तार दिया। वेदों की भाषा भी अवेस्ता की भाषा से अद्‌भुत रूप में मिलती-जुलती है, और यह बताया जाता है कि वेद अवेस्ता के जितना निकट हैं उतना स्वयं इस देश के महाकाव्यों की संस्कृत के निकट नहीं हैं।

मैंने धार्मिक किताबों के पढ़ने में हमेशा संकोच किया है। उनके बारे में जो इस तरह के दावे किये जाते हैं कि इनमें अंतिम बातें लिख दी गई हैं मुझे पसंद नहीं आते। इन धर्मों को लोग जैसा बर्तते हैं, इसके बारे में जो ऊपरी प्रमाण मेरे सामने आये हैं, उन्होंने मुझे उनके मूल आधारों तक पहुँचने का उत्साह नहीं दिलाया है। फिर भी मुझे इन किताबों तक भटक कर पहुँचना पड़ा है, इसलिए कि अज्ञान स्वयं कोई गुण नहीं हैं और बहुधा एक कमी सिद्ध होता है। मैं जानता रहा हूं कि इनमें से कुछ ने मनुष्य पर गहरा प्रभाव डाला है, और जिस वस्तु का ऐसा प्रभाव पड़ सकता है उस में कोई भीतरी गुण और शक्ति, शक्ति का कोई जीवित स्रोत अवश्य है। उनके बहुत से अंशों को पढ़ने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई है, क्योंकि बारबार प्रयत्न करने पर भी मैं अपने में काफ़ी दिलचस्पी नहीं पैदा कर सका हूँ; साथ ही ऐसे टुकड़े भी मिले हैं जिनकी निपट सुंदरता ने मुझे मोह लिया है। और उस समय ऐसा हुआ है किसी वाक्य ने या वाक्य के एक टुकड़े ने अचानक मुझ में बिजली पैदा कर दी है कि और मुझे यह अनुभव हुआ है कि मेरे सामने सचमुच बहुत बड़ी चीज़ है। बुद्ध या मसीह के कुछ शब्द अपने गहरे अर्थ के साथ मुझ पर प्रकट हो गए हैं और मुझे ऐसा जान पड़ा है कि आज भी वह उसी तरह लागू हैं जिस तरह कि वह २००० या उससे ज़्यादा साल पहले लागू थे। उनमें एक बेबस कर देने वाली सचाई है, एक ऐसी टिकाऊ बात है जिसे कि देश और काल छू नहीं सकते। ऐसा ही ख्याल मुझे सुकरात का हाल या चीनी दार्शनिकों की रचनाओं को पढ़ कर हुआ है और उपनिषदों और भगवद्‌गीता को पढ़कर भी। मुझे अध्यात्म और कर्मकांड की व्याख्या और बहुत-सी और बातों में, जिनका कि उन मसलों से कोई संबंध नहीं जो कि मेरे सामने हैं, रुचि नहीं रही है। मैं इन पुस्तकों को, या किन्हीं पुस्तकों को ईश्वर-वाक्य की तरह नहीं मान सका हूं। मुझे इस बात में हमेशा अधिक सम्मान और भव्यता जान पड़ी है कि एक मनुष्य

मस्तिष्क और आत्मा की ऊँचाई पर पहुँचे और दूसरों को भी उठाने का प्रयत्न करे, न कि इसमें कि वह किसी बड़ी शक्ति या ईश्वर की तरफ़ से बोलनेवाला बने। धर्मों के कुछ संस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गए हैं—लेकिन अगर उनकी कल्पना मनुष्यों के रूप में न करूं तो उनकी सारी शान मेरी दृष्टि में जाती रहती है।

पुराण की गाथाओं का भी मुझ पर कुछ ऐसा ही प्रभाव पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं तो यह बिल्कुल बेतुकी और हँसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो वह एक नए ही प्रकाश में दिखाई पड़ने लगते हैं, उनमें एक नया सौंदर्य जान पड़ता है, ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊँची कल्पना ने अचरज भरे फूल खिलाए हैं और इनमें मनुष्य के लिए शिक्षा लेने की बहुत-सी बातें हैं। यूनान के देवी-देवताओं की कहानियों में अब कोई विश्वास नहीं करता, इसलिए बिना किसी कठिनाई के हम उनकी प्रशंसा कर सकते हैं, वह हमारे मानसिक दाय का अंग बन गई हैं। लेकिन अगर हमें उनमें विश्वास करना पड़े तो हम पर कितना बोझ आ पड़ेगा, और विश्वास के इस बोझ से दब कर हम अकसर उनका सौंदर्य खो देंगे। हिंदुस्तान की पुराण-गाथाएं कहीं अधिक और भरी-पूरी हैं, और बड़ी ही सुंदर और अर्थ-भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बात पर अचरज किया है कि वे मनुष्य और स्त्रियां, जिन्होंने कि ऐसे सजीव सपनों और सुंदर कल्पनाओं को रूप दिया है, कैसे रहे होंगे, और विचार और कल्पना की किस सोने की खान में से उन्होंने खोद कर ऐसी वस्तुएं निकाली होंगी!

५ : वेद

बहुत से हिंदू वेदों को श्रुतिग्रंथ मानते हैं। यह मुझे विशेषरूप से एक दुर्भाग्य की बात मालूम पड़ती है, क्योंकि इस तरह हम उनके सच्चे महत्त्व को खो बैठते हैं। वह यह है कि विचार की प्रारंभिक अवस्था में, मनुष्य के मस्तिष्क ने अपने को किस रूप में प्रकट किया था। और वह कैसा अद्भुत मस्तिष्क था। वेद शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से है जिसका अर्थ जानना है, और वेदों का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उनमें बहुत सी चीजें मिली-जुली हैं: स्तुतियां हैं, प्रार्थनाएं हैं, यज्ञ की विधियां हैं, जादू-टोना है, और बड़ी-ऊँची

प्रकृति-संबंधी कविता है। उनमें मूर्तिपूजा नहीं है, देवताओं के मंदिरों की चर्चा नहीं है। जो जीवनी शक्ति और ज़िंदगी के लिए उत्साह उनमें समाया हुआ है, वह असाधारण है। आरंभ के वैदिक आर्य लोगों में जीवन के लिए इतनी उमंग थी कि वह आत्मा के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं देते थे। एक अस्पष्ट ढंग से उन्हें इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।

पहला वेद, ऋग्वेद, शायद मनुष्य मात्र की पहली पुस्तक है। इसमें हमें मानवीय मस्तिष्क के सब से पहले उद्गार मिलते हैं, काव्य की छटा मिलती है और मिलती है प्रकृति की सुंदरता और रहस्यमय आनंद की भावना। इन प्राचीन ऋचाओं में, जैसा कि डाक्टर मैकनिकोल कहते हैं, हमें पहला सूत्र मिलता है "उन लोगों के साहसी कारनामों का, जिन्होंने कि हमारे संसार के, और उसमें रहने वाले मनुष्य के, जीवन के महत्त्व की खोज करने के प्रयत्न किये और जो इतने दिन हुए किये गए और यहां अंकित हैं—यहां से हिंदुस्तान एक खोज पर निकला है और उसकी यह खोज अब तक जारी है।"

लेकिन स्वयं ऋग्वेद के पीछे विचार और सभ्यता के जीवन के कई युग रहे हैं जिनमें कि सिंध घाटी की, मेसोपोटामिया की, और दूसरी संस्कृतियां पनपी थीं। इसलिए यह उचित ही है कि ऋग्वेद में "अपने पूर्वजों, ऋषियों और पहले के मार्ग-प्रदर्शकों" के नाम पर किया गया समर्पण मिलता है।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने इन ऋचाओं के बारे में कहा है कि "जीवन के अचरज और भय की तरफ़, एक जन-समाज की मिली-जुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरंभ में ही एक जोरदार और अछूती कल्पना वाले लोग जीवन के अपार रहस्य को भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास द्वारा उन्होंने हरेक तत्त्व में, प्रकृति की हर एक शक्ति में देवत्व देखा। उनका जीवन आनंदमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनकी ज़िंदगी में एक टोना पैदा कर दिया था। मन में एक जातिगत विश्वास था जिस पर विश्व की द्वंद्वमयी विविधता के चिंतन का बोझ नहीं पड़ा था, यद्यपि उस पर जब-तब सहज अनुभव का प्रकाश इस रूप में पड़ा था कि 'सत्य एक है, (यद्यपि) विप्र उसे अनेक नामों से पुकारते हैं'।"

लेकिन चिंतन की यह भावना धीरे-धीरे आती गई; यहां तक कि वेद का रचयिता यही पुकार उठा कि, "हे धर्म, हमें विश्वास प्रदान करो" और उसने

'सृष्टि का गीत' नामक ऋचा में, जिसे कि मैक्समूलर ने 'अज्ञात ईश्वर के प्रति' शीर्षक दिया है, गहरे सवाल उठाए हैं:

१. तब न सत् था न असत् : न वायु मंडल था और न उसके परे आकाश था। क्या और कहां व्याप्त था? और किसने आश्रय दिया? क्या वहां जल था, अथाह जल?

२. तब न मृत्यु थी न कोई अमर था : न दिन और रात को विभाजित करने का कोई निशान था।
वही एक श्वास-रहित, अपनी प्रकृति द्वारा साँस लेता था : उसको छोड़ कर और कुछ नहीं था।

३. वहां अंधकार था : पहले अधंकार में छिपी हुई घोर अस्तव्यस्तता थी। उस समय जो कुछ था वह शून्य और निराकार था : तेज की शक्ति से उस इकाई का जन्म हुआ।

४. उसके बाद आरंभ में इच्छा उत्पन्न हुई, इच्छा जो कि आत्मा का बीज है। ऋषियों ने अपने हृदय में विचारा तो पाया कि सत् का संबंध असत् से है।

५. अलग करने वाली रेखा आरपार फैली : उसके ऊपर क्या था, और क्या उसके नीचे था?
जन्म देने वाले थे, महान शक्तियां थी; स्वतंत्र कर्म था यहां, और उधर क्रिया-शक्ति थी।

६. कौन वास्तव में जानता है और कौन कह सकता है कि इसका जन्म कहां हुआ और यह सृष्टि कहां से आई?
इस पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद देवता हुए, इसलिए कौन कह सकता है कि कब इसकी सृष्टि हुई?

७. वह इस सृष्टि का आदि पुरुष है, चाहे उसने इस सब को बनाया हो चाहे नहीं।
जिसकी दृष्टि इस पृथ्वी पर सब से ऊँचे आकाश से शासन करती है; वही वास्तव में जानता है, या शायद वह भी नहीं जानता।[1]

---

[1]एव्रीमैन लाइब्रेरी में प्रकाशित 'हिंदू स्क्रिप्चर्स' में प्रकाशित अनुवाद के आधार पर।

६ : ज़िंदगी से इक़रार और इन्कार

ऋग्वेद की ऋचाओं के समय से हम जीवन और विचार की दोनों धाराओं का विकास बराबर देखते हैं। आरंभ की ऋचाओं में बाहरी दुनिया की बातें भरी पड़ी हैं; प्रकृति की सुंदरता और रहस्य, और जीवन के आनंद का वर्णन है और जीवन-बल भर-पूर देखने को मिलता है। देवी-देवता, ऑलिंपस (यूनान) के देवी-देवताओं की तरह मनुष्यों जैसे हैं; ऐसा खयाल किया जाता है कि वह अपनी जगहों से उतर कर मनुष्यों और स्त्रियों के बीच हिलते-मिलते हैं और दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। इसके बाद विचार आता है और खोज की भावना उपजती है और इस लोक से परे जो लोक है, उसका रहस्य गहराई पकड़ता है। जीवन अब भी भरा-पूरा बना रहता है, लेकिन बाहरी रूपों की तरफ़ से मुड़ने की प्रवृत्ति भी आ जाती है, और ज्यों-ज्यों आँखें अदृश्य चीज़ों की तरफ़ टिकती हैं—उन चीज़ों की तरफ़ जिन्हें कि साधारण ढंग से देखा या सुना या अनुभव नहीं किया जा सकता, त्यों-त्यों इन सबसे वैराग्य का भाव बढ़ता जाता है। इन सबका उद्देश्य क्या है? क्या इस विश्व का कोई उद्देश्य है? और अगर है, तो आदमी के जीवन का इससे सामंजस्य कैसे हो सकता है? क्या हम देखी और अनदेखी दुनिया के बीच एक मधुर संबंध पैदा कर सकते हैं और इस तरह जीवन में सदाचार का सही ढंग ढूंढ़ निकाल सकते हैं?

इसलिए हम पाते हैं कि हिंदुस्तान में, उसी तरह जिस तरह कि और जगहों में, विचार और काम की यह दो धाराएं—एक जोकि जीवन को स्वीकार करती है, और दूसरी जो उससे बच निकलना चाहती है—साथ-ही-साथ विकसित होती हैं; हां, भिन्न समयों में, कभी एक और कभी दूसरे पर अधिक बल दिया गया है। फिर भी इस संस्कृति की पृष्ठभूमि पारलौकिक या इस संसार को हेच समझने वाली नहीं थी। उस समय भी, जबकि दर्शन की भाषा में, यह इस विषय पर बहस होती थी कि संसार माया है, यह विचार कोई अंतिम विचार न होता था।

हम पाते हैं कि हिंदुस्तान में, हर काल में जब कि उसकी संस्कृति ने फूल खिलाए हैं, लोगों ने जीवन और प्रकृति में गहरा रस लिया है, जीने की क्रिया में ही उन्होंने आनंद का अनुभव किया है; साहित्य, संगीत और कला का विकास हुआ है; गाने नाचने, चित्रकला और नाटकों में उनकी रुचि रही है; यहां तक कि यौनिक संबंधों

के वारे में वड़ी पेचीदा क़िस्म की जाँचें हुई हैं। यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि एक ऐसी संस्कृति या जीवन का ऐसा दृष्टिकोण जिसकी वुनियाद में पारलौकिकता हो या जो जीवन को हेच समझता हो, इस तरह के विविध और प्रवल विकास का प्रवर्तक होगा।

फिर भी कुछ लोगों का विचार है कि हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति, जीवन से इन्कार करने के सिद्धांत के सूचक हैं, जीवन के स्वीकार के सिद्धांत के नहीं। मेरा विचार है कि दोनों ही सिद्धांत, कमोवेश, सभी पुरानी संस्कृतियों और पुराने धर्मों में मौजूद हैं। लेकिन मैं तो इस परिणाम पर पहुँचूंगा कि सव कुछ देखते हुए, हिंदुस्तानी संस्कृति ने जिंदगी से इन्कार करने पर कभी ज़ोर नहीं दिया है, यद्यपि यहां के कुछ दर्शनों ने ऐसा अवश्य किया है। वल्कि ईसाई-धर्म के मुक़ावले में इसने जीवन से जो इन्कार किया है, वह वहुत कम है। वौद्ध-धर्म और जैन-धर्म ने अवश्य जीवन से अलग रहने पर कुछ ज़ोर दिया है, और हिंदुस्तान के इतिहास के कुछ कालों में एक वड़े पैमाने पर जीवन से दूर रहने की प्रवृत्ति रही है, उदाहरण के लिए उस समय जव कि वहुत अधिक संख्या में लोग वौद्ध विहारों या मठों में सम्मिलित हुए। इसका क्या कारण था, मैं नहीं जानता। इसी तरह की, वल्कि इससे भी वढ़ी हुई मिसालें हमें यूरोप के मध्य-काल में मिल सकती हैं, जव कि इस तरह का विश्वास फैला हुआ था कि दुनिया का अंत होनेवाला है। कदाचित् त्याग और जीवन से इन्कार करने के विचार लोगों में उस समय पैदा होते हैं जव कि राजनैतिक या आर्थिक विवशता का उन्हें सामना करना पड़ता है।

वौद्धधर्म; वीच के रास्ते के सिद्धांत का माननेवाला है। यहां तक कि 'निर्वाण' के वारे में जो खयाल है वह भी ऐसा नहीं कि उसे एक तरह की शून्यता समझें, जैसा कि कभी-कभी समझा जाता है। यह एक निश्चित स्थिति है, लेकिन चूंकि यह मनुष्य के विचारों से परे की वस्तु है इसलिए इसके वर्णन में नकारात्मक शव्द प्रयोग किये गए हैं। अगर वौद्धधर्म, जो कि हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति की उपज का एक नमूना है, एक नकारात्मक या ज़िंदगी से इन्कार करने वाला सिद्धांत होता, तो ज़रूर ही उसका इस तरह का प्रभाव उन करोड़ों लोगों पर पड़ा होता, जो कि उसके मानने वाले हैं। लेकिन, वास्तव में, वौद्धधर्मवाले देशों में हमें इसके विरुद्ध प्रमाण मिलते हैं, और चीनी लोग इस वात की जीती-जागती मिसाल है कि जीवन को स्वीकार करना किसे कहते हैं।

७ : समन्वय और समझौता : वर्ण-व्यवस्था का आरंभ

आर्यों के हिंदुस्तान में आने ने नए प्रश्न खड़े किए, जो राष्ट्रीय और राजनीति, दोनों ही थे। हारी हुई जाति, यानी द्रविड़ों के पीछे सभ्यता की एक लंबी पृष्ठ-भूमि थी लेकि इसमें ज़रा भी शक नहीं कि आर्य लोग अपने को उनसे बहुत ही ऊँचा समझते थे, और दोनों के बीच एक चौड़ी खाई थी। फिर कुछ पिछड़ी हुई आदिम जातियां भी थीं जोकि या तो जंगलों में रहा करती थीं या खाना-बदोश थीं। जातियों की इस कशमकश और आपस की प्रतिक्रिया से ही वर्ण-व्यवस्था का आरंभ हुआ और बाद की सदियों में इसने हिंदुस्तानियों के जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। शायद यह न आर्यों की चीज़ थी न द्रविड़ों की। यह अलग अलग जातियों को एक सामाजिक संगठन के अंदर ले आने की कोशिश थी; उस समय की जो भी स्थिति थी उसे एक संगत रूप देने का प्रयास था। बाद में इसकी वजह से बड़ी पस्ती आई और आज भी यह एक बोझ और शाप के रूप में मौजूद है। लेकिन बाद की कसौटियों और विकास के आधार पर इसके बारे में निर्णय करना उचित न होगा।

ज़ात या वर्ण का आरंभ आर्यों और अनार्यों के भेद से हुआ। अनार्यों में भी दो भेद थे, एक तो द्रविड़ जातियां थीं; दूसरे यहां की आदिम जातियां थीं। आरंभ में आर्यों में केवल एक वर्ग था और धंधों का शायद ही बटवारा रहा हो। 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी धातु से है जिसका अर्थ 'धरती का जोतना' है। और सभी आर्य खेतिहर थे, खेती एक सम्मानित धंधा समझा जाता था। धरती के जोतनेवाले पुरोहित, सिपाही, व्यापारी सभी होते, और पुरोहितों को कोई विशेष अधिकार नहीं हासिल थे। वर्ण-भेद, जिसका उद्देश्य आर्यों को अनार्यों से अलग करना था, अब अपना यह प्रभाव लाया कि स्वयं आर्यों में, ज्यों-ज्यों धंधे बढ़े और इनका आपस में बटवारा हुआ, त्यों-त्यों नए वर्गों ने वर्ण या जाति का रूप ले लिया।

इस तरह, ऐसे काल में जब कि विजेताओं का यह नियम था कि हारे हुए लोगों को या तो दास बना लेते, या उन्हें बिल्कुल मिटा देते थे, वर्ण-व्यवस्था ने एक शांतिपूर्ण हल पेश किया और बढ़ते हुए धंधों के बटवारे की आवश्यकता ने इसमें मदद पहुँचाई। समाज में दर्जे स्थापित हो गए; किसान जनता में से वैश्य बने, जिनमें किसान, कारीगर और व्यापारी लोग थे; क्षत्रिय हुए, जोकि शासन करते थे या युद्ध करते थे; ब्राह्मण बने, जोकि पुरोहिती करते थे, विचारक थे, जिनके

हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह आशा की जाती थी कि वह जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्णों से नीचे शूद्र थे जो कि मजदूरी करते थे और ऐसे धंधे करते थे जिनमें विशेष जानकारी की आवश्यकता नहीं होती और जो कि किसानों से अलग थे। आदिम निवासियों में से भी बहुत से इस समाज में मिला लिये गए और उन्हें शूद्रों के साथ इस सामाजिक व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया। यह मिला लेने का काम बराबर जारी रहा। इस वर्ण-विभाजन में अदला-बदली होती रही और सख्ती के साथ तो भेद बाद में स्थापित हुए। शायद शासन करने वाले वर्ण को हमेशा बड़ी स्वतंत्रता रही, और कोई भी व्यक्ति, जो लड़कर या दूसरी तरह शक्ति अपने हाथ में कर लेता था, वह यदि चाहे तो क्षत्रियों में सम्मिलित हो सकता था, और पुरोहितों द्वारा अपनी वंशावली तैयार करा सकता था जिसमें कि उसका संबंध किसी प्राचीन आर्य शूर-वीर से दिखा दिया जाता।

आर्य शब्द का क्रमशः कोई जातीय अभिप्राय न रह गया और इसके अर्थ 'कुलीन' के हो गए। इसी तरह अनार्य के अर्थ यह हुए कि जो कुलीन न हो, और यह शब्द आम तौर पर जंगल में रहने वालों और खानाबदोश जातियों के लिए प्रयोग में आता।

हिंदुस्तानियों में विश्लेषण करने की एक अद्भुत बुद्धि रही है और इसने न केवल विचारों बल्कि जीवन के कामों को अलग-अलग टुकड़ों में बाँटने के लिए उत्साह दिखाया है। आर्यों ने समाज को तो चार मुख्य हिस्सों में बाँटा ही, वैयक्तिक जीवन का भी इसने चार टुकड़ों या अवस्थाओं में बटवारा किया है : पहली अवस्था ब्रह्मचर्य की है, जब कि आदमी बढ़ कर युवा होता है, विद्या सीखता है, ज्ञान हासिल करता है और आत्म-संयम का अभ्यास करता है; दूसरी अवस्था गृहस्थ की है, जब कि वह दुनियादारी में लगता है। तीसरी अवस्था बड़े-बूढ़े व्यवहार-कुशल वाणप्रस्थ की है, जिसमें कि उसने तटस्थता और सम-तौल प्राप्त कर लिया है और अपने को समाज-सेवा के कामों में, बिना निजी लाभ की इच्छा के, वह लगा सकता है; अंतिम अवस्था संन्यास की है, जिसमें वह दुनिया से बिलकुल अलग-थलग हो जाता है और दुनिया के धंधों को छोड़ देता है। इस तरह से आर्यों ने, आदमी में साथ-साथ रहने वाली दो विरोधी प्रवृत्तियों में भी समझौता क़ायम किया—अर्थात् उस प्रवृत्ति में जो कि जीवन के प्रति प्रवृत्त होती है और उसमें जो निवृत्ति के उन्मुख है।

हिंदुस्तान में, ब्राह्मण वर्ग ने, विचारकों और दार्शनिकों को उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्वयं शक्ति प्राप्त कर ली थी, इस तरह अपने को सुरक्षित करके, पुरोहितों ने अपनी जायदादों की रक्षा करने की ठान ली थी। लेकिन यह सिद्धांत भिन्न-भिन्न रूप में हिंदुस्तानी जीवन पर गहरा प्रभाव डालता रहा और आदर्श हमेशा यह रहा कि विद्वान् और दयावान्, भले और संयमी, और दूसरों के लिए आत्म-त्याग करने वालों का आदर किया जाय। ब्राह्मण-वर्ग में, अतीतकाल में, अधिकारी-वर्ग की सभी बुराइयां रही हैं और इसमें से बहुतेरे न योग्य हुए हैं न भले। फिर भी आम लोगों में उनका आदर बना रहा है, इसलिए नहीं कि उनके पास धन इकट्ठा हो गया था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहुत से योग्य लोगों को उत्पन्न किया था, जिन्होंने अपने त्याग द्वारा जनता की और समाज की सेवाएं की थीं। अपने विशेष लोगों के कारनामों से पूरे वर्ग ने हर युग में लाभ उठाया है, लेकिन जनता ने आदर किया है गुणों का न कि पदों का। परंपरा यह रही है कि भलाई और विद्या का आदर हो, वह चाहे जिस व्यक्ति में हों। बहुत-से उदाहरण हैं इस बात के कि ब्राह्मणों से अतिरिक्त लोगों का यहां तक कि दलित-वर्ग के लोगों का इतना आदर हुआ है कि उन्हें संतों का पद तक दिया गया है। सरकारी पद और फ़ौजी शक्ति का उतना आदर नहीं किया गया है, इनका भय चाहे लोगों ने माना हो।

आज भी, इस पैसों के युग में, इस परंपरा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, और इसीकी वजह से गांधीजी (जो कि ब्राह्मण नहीं हैं) आज हिंदुस्तान के सबसे बड़े नेता बन गये हैं और बिना किसी सरकारी पद के या धन के ज़ोर के, आज करोड़ों दिलों पर उनका सिक्का जमा हुआ है। शायद एक राष्ट्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और चेतन या अचेतन उद्देश्य की यह एक अच्छी कसौटी है, अर्थात् किस तरह के नेता को वह स्वीकार करती है।

पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता, या भारतीय आर्य-संस्कृति में धर्म का विचार एक केंद्रीय विचार था। और धर्म के अर्थ मत या मज़हब से कुछ अधिक थे। इसमें दूसरों के प्रति अपने कर्तव्य के पालन का भी विचार रहा है। यह धर्म स्वयं 'ऋत' का अंग था, अर्थात् उस बुनियादी नैतिक नियम का, जिसके अंतर्गत सारा विश्व, और उसकी सभी वस्तुएं हैं।

८ : हिंदुस्तानी संस्कृति का अटूट क्रम

इस तरह, आरंभ के दिनों में, हम एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का उदय देखते हैं, जो बाद के युगों में बहुत फली-फूली और पनपी और जो अनेक परिवर्तनों के उपस्थित होने पर भी बनी रही। बुनियादी आदर्श और मुख्य विचार अपना रूप ग्रहण करते हैं और साहित्य और दर्शन, कला और नाटक और जीवन के और धंधे इन आदर्शों से और लोकमत से प्रभावित होते हैं जो बाद में उगकर बढ़ते ही रहे और आजकल की वर्ण-व्यवस्था के रूप में उन्होंने सारे समाज और सभी चीजों को जकड़ लिया। यह व्यवस्था एक विशेष युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें सम-तौल पैदा करना था, लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और मानवी मस्तिष्क के लिए बंदीघर बन गई। अंत में उन्नति का मूल्य चुकाकर संरक्षा खरीदी गई।

फिर भी बहुत दिनों तक यह व्यवस्था बनी रही, और सभी दिशाओं में उन्नति करने की प्रेरणा इतनी प्रबल थी कि उस व्यवस्था के चौखटे के भीतर भी यह सारे हिंदुस्तान में और पूर्वी समुद्रों तक फैली और इसकी पायदारी ऐसी थी कि यह आक्रमणों के धक्के बार-बार सहकर भी जीवित रही। प्रोफ़ेसर मैकडानेल अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में हमें बताते हैं कि "हिंदुस्तानी साहित्य का महत्त्व, समग्र रूप से, उसकी मौलिकता में है। जब कि यूनानियों ने, ईसा से पहले की चौथी सदी के अंत में पच्छिमोत्तर में आक्रमण किया, उस समय हिंदुस्तानी अपनी राष्ट्रीय संस्कृति स्थापित कर चुके थे और इस पर विदेशी प्रभाव नहीं पड़े थे। और बावजूद इसके कि ईरानियों, यूनानियों, सिदियनों और मुसलमानों के हमलों की लहरें एक के बाद एक आती रहीं और यह लोग विजय पाते रहे, भारतीय आर्यजाति के जीवन और साहित्य का विकास, अंग्रेज़ों के अधिकार के समय तक बिना रुकावट और अटूट क्रम से चलता रहा। इंडो-यूरोपियन जाति की किसी शाखा ने, अलग रहते हुए, ऐसे विकास का अनुभव नहीं किया। चीन को छोड़कर कोई ऐसा देश नहीं जो कि अपनी भाषा और साहित्य, अपने धार्मिक विश्वास और कर्म-कांड, और अपने सामाजिक रीति-रिवाजों का तीन हज़ार वर्षों से अधिक का अटूट विकास प्रस्तुत कर सके।"

लेकिन इतिहास के इस लंबे समय में हिंदुस्तान बिल्कुल अलग-थलग नहीं रहा है और उसका निरंतर और जीता-जागता संपर्क ईरानियों, यूनानियों, चीनियों,

मध्य-एशियायिओं और औरों से रहा है। अगर उसकी बुनियादी संस्कृति इन संपर्कों के बाद भी बनी रही तो निश्चय ही स्वयं इस संस्कृति में कोई बात—कोई भीतरी शक्ति और जीवन की समझ-बूझ—रही है जिसने कि इसे इस प्रकार जीवित रक्खा है। क्योंकि यह तीन चार हज़ार वर्षों का, संस्कृति का विकास और अटूट क्रम एक अद्भुत बात है। प्रसिद्ध विद्वान् और प्राच्यविद् मैक्समूलर ने इस पर ज़ोर दिया है और लिखा है "वास्तव में हिंदू विचार के सबसे हाल के और सबसे पुराने रूपों में एक अटूट क्रम मिलता है और यह तीन हज़ार साल से अधिक समय तक बना रहा है।" बहुत जोश के साथ उन्होंने (१८८२ में) कहा था: "अगर हम सारे संसार की खोज करें, ऐसे देश का पता लगाने के लिए जिसे कि प्रकृति ने सबसे संपन्न, शक्तिशाली और सुंदर बनाया है—जो कुछ हिस्सों में धरती पर स्वर्ग की तरह है—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूँगा। अगर मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले मनुष्य के मस्तिष्क ने अपने कुछ सब से चुने हुए गुणों का विकास किया है, जीवन के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सब से अधिक गहराई के साथ सोच-विचार किया है, और उनमें से कुछ के ऐसे हल प्राप्त किये हैं जिन पर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए जिन्होंने कि अफ़लातून और कांट को पढ़ा है—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूँगा। और अगर मैं अपने से पूछूं कि कौनसा ऐसा साहित्य है जिससे हम यूरोप वाले, जो कि बहुत कुछ केवल यूनानियों और रोमनों और एक सेमेटिक जाति के, यानी यहूदियोंके, विचारोंके साथ-साथ पले हैं, वह सुधार प्राप्त कर सकते हैं जिसकी कि हमें अपने जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक विस्तृत और अधिक व्यापक बनाने के लिए आवश्यकता है, न केवल इस जीवन की दृष्टि से, बल्कि एक एकदम बदले हुए और सदा बने रहनेवाले जीवन की दृष्टि से—तो मैं हिंदुस्तान की ओर संकेत करूँगा।

लगभग आधी सदी बाद, रोम्यां रोलां ने उसी स्वर में लिखा है: "अगर संसार की सतह पर कोई एक देश है जहां कि जीवित लोगों के सभी स्वप्नों को, उस प्राचीन काल से स्थान मिला है जब से कि मनुष्य ने अस्तित्व का स्वप्न आरंभ किया, तो वह हिंदुस्तान है।"

९ : उपनिषद्

उपनिषद्, जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले से लेकर है, हमें भारतीय-आर्यों के विचार के विकास में एक पग आगे ले जाते हैं, और यह बड़ा लंबा पग है।

आर्य लोगों को बसे हुए अब काफ़ी समय वीत चुका है और एक पायदार और सु-संपन्न सभ्यता, जिसमें कि पुराने और नए का मेल हो चुका है, वन गई है। इसमें आर्यों के विचार और आदर्श प्रभाव रखते हैं, लेकिन इनकी पृष्ठभूमि में पूजा के जो रूप हैं वह और भी पहले के तथा आदिम हैं।

वेदों का नाम आदर से, लेकिन एक मीठे व्यंग के भाव से लिया जाता है। वैदिक देवताओं से अव संतोष नहीं रह जाता और पुरोहितों के कर्म-कांड की हँसी उड़ाई जाती है। लेकिन अतीत से नाता तोड़ लेने का प्रयास नहीं होता; उसे वह स्थान समझा जाता है जहां से उन्नति की मंज़िल आरंभ होती है।

उपनिषद् छान-बीन की, मानसिक साहस की और सत्य की खोज के उत्साह की भावना से भर-पूर हैं। यह सही है कि यह सत्य की खोज वर्तमान काल के विज्ञान के प्रयोग के ढंग से नहीं हुई है, फिर भी जो ढंग ग्रहण किया गया है उसमें वैज्ञानिकता का एक अंश है। हठवाद को दूर कर दिया गया है। उनमें वहुत कुछ ऐसा है जो कि साधारण है और जिसका कि आजकल हम लोगों के लिए कोई अर्थ या प्रसंग नहीं। विशेष वल आत्म-वोध या आत्मा और परमात्मा के ज्ञान पर दिया गया है और इन दोनों को मूल में एक ही वताया गया है। वाहरी दुनिया या वस्तु-जगत को असत् नहीं वताया गया है, वल्कि सापेक्ष-रूप में सत् और भीतरी सत्य का एक पहलू वताया गया है।

उपनिषदों में वहुत-सी अस्पष्ट वातें हैं और उनकी विविध टीकाएं हुई हैं। लेकिन यह दार्शनिकों और विद्वानों के जाँच करने की चीज़ें हैं। साधारण प्रवृत्ति अद्वैतवाद की ओर है और इस सारे दृष्टिकोण का प्रकट उद्देश्य यह जान पड़ता है कि उस काल के जो आपस के कड़े विवाद और भेद-भाव रहे हैं, उन्हें कम किया जाय। यह समन्वय का रास्ता रहा है। जादू-टोने में दिलचस्पी को, और इसी तरह दैवी वातों के ज्ञान को वढ़ावा देने से रोका गया है, और विना सच्चे ज्ञान के पूजा-पाठ और कर्म-कांड को व्यर्थ वताया गया है। कहा गया है, "इनमें लगे हुए लोग, अपने को समझदार और विद्वान् मानते हुए, इस तरह भटकते रहते हैं जैसे कि अंधे को अंधा रास्ता दिखा रहा हो, और यह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते।" वेदों तक को नीचे दर्जे का ज्ञान वताया गया है; भीतरी मन के प्रकाश को ऊँचा ज्ञान कहा है। विना संयम के, दार्शनिक ज्ञान की ओर से सतर्क किया गया है। और समाज के धंधों और आत्मासंवंधी वातों में सामंजस्य पैदा करने का वरावर प्रयत्न

हुआ है। जीवन ने जो कर्तव्य ऊपर डाले हैं उनका पालन होना ही चाहिए, लेकिन तटस्थता का भाव रखते हुए, ऐसा कहा गया है।

व्यक्तिगत पूर्णता की नीति पर कदाचित् इतना अधिक ज़ोर दिया गया कि सामाजिक दृष्टिकोण को क्षति पहुँची। उपनिषदों में कहा गया है कि "आत्मा से बढ़कर कोई वस्तु नहीं।" यह समझा गया होगा कि समाज में पायदारी आ गई है, इसलिए मनुष्य का मस्तिष्क व्यक्तिगत पूर्णता का बराबर ध्यान किया करता था और इसकी खोज में उसने आकाश और हृदय के अंतस्तम कोनों को छान डाला। यह पुराना हिंदुस्तानी दृष्टिकोण कोई संकुचित राष्ट्रीय दृष्टिकोण न था, यद्यपि इस बात का अवश्य ध्यान रहा होगा कि हिंदुस्तान सारे संसार का केंद्र है, उसी तरह जिस तरह कि चीन, यूनान और रोम ने अपने बारे में भिन्न समयों में विचार किया है। महाभारत में कहा गया है—"यह सारा मर्त्यलोक एक परस्पर-आश्रित संगठन है।"

जिन प्रश्नों पर उपनिषदों में विचार किया गया है, उनके आधिभौतिक पहलुओं को समझना मेरे लिए कठिन है, लेकिन इन प्रश्नों पर मनन करने का जो ढंग है, उसने मुझ पर प्रभाव डाला है, क्योंकि यह हठवाद या अंधविश्वास का ढंग नहीं है। यह ढंग धार्मिक न होकर दार्शनिक है। विचारों के कस-बल को, जाँच की भावना को, और तर्क की पृष्ठ-भूमि को मैं पसंद करता हूं। वर्णन के ढंग में कसाव है। यह प्रायः गुरु और चेले के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में मिलता है, और यह अनुमान किया गया है कि उपनिषद् व्याख्यानों के एक तरह के स्मृति-पत्र हैं, जिन्हें कि गुरु ने तैयार किया है या चेलों ने टाँक लिया है। प्रोफ़ेसर एफ़० डब्ल्यू० टामस अपनी किताब 'दि लेगेसी आव् इंडिया' ('हिंदुस्तान की देन') में कहते हैं: "उपनिषदों का जो विशेष गुण है और जिसके कारण से उनमें मानवी आकर्षण है, वह यह है कि उनके स्वर में बड़ी निष्कपटता है, वह इस तरह का है मानो मित्र आपस में किसी गहरे प्रश्न पर सोच-विचार कर रहे हैं।" और चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य उनके बारे में इस तरह उत्साह के साथ कहते हैं: "प्रशस्त कल्पना, विचारों की शानदार उड़ान, जाँच-पड़ताल की बेधड़क भावना, जिसके पीछे सचाई तक पहुँचने की गहरी प्यास है—इनसे प्रेरित होकर, उपनिषदों में, गुरु और चेले विश्व के 'खुले हुए रहस्य' में पैठते हैं, और यह बात दुनिया की इन सबसे पुरानी पवित्र पुस्तकों को सबसे आधुनिक और संतोष देनेवाली बना देती है।"

उपनिषदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सचाई पर बड़ा बल दिया गया है। "सचाई की सदा जीत होती है, झूठ की नहीं। सचाई के रास्ते से ही हम परमात्मा तक पहुँच सकते हैं।" और उपनिषदों में आई हुई यह प्रार्थना प्रसिद्ध है : "असत् से मुझे सत् की ओर ले चल! अंधकार से मुझे प्रकाश की ओर ले चल! मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चल!"

हमें बार-बार एक बेचैन मस्तिष्क की झाँकी मिलती है, ऐसे मस्तिष्क की जो जिज्ञासा और छान-बीन में लगा हुआ है। "किसकी आज्ञा से मन अपने विषय पर उतरता है? किसकी आज्ञा से जीवन, जो सबसे पहली वस्तु है, आगे बढ़ता है? किसकी आज्ञा से मनुष्य यह वचन कहते हैं? किस देवता ने आँख और कान दिये हैं?" और फिर, "वायु शांत क्यों नहीं रहती? आदमी के मन को चैन क्यों नहीं मिलता? क्यों और किसकी खोज में जल बहता रहता है और एक क्षण नहीं ठहरता?" आदमी बराबर एक साहसपूर्ण यात्रा में लगा हुआ है, उसके लिए न कहीं दम लेना है और न उसकी यात्रा का अंत है। ऐतरेय ब्राह्मण में हमारी इस अनंत यात्रा के बारे में एक मंत्र है और इसके हर श्लोक के अंत में है, 'चरैवेति, चरैवेति"—'इसलिए, हे यात्री चलते रहो, चलते रहो।'

इस खोज के बारे में कोई विनय की भावना नहीं हैं, वैसा विनय जैसा कि धर्मों में एक सर्व-शक्तिमान् परमात्मा के प्रति दिखाया जाता है। यहां हमें मन की परिस्थिति के ऊपर विजय मिलती है। "मेरा शरीर राख हो जायगा और मेरी साँस इस चंचल और अमर वायु में मिल जायगी, लेकिन मैं और मेरे कर्मों का यह अंत नहीं। हे मन, इस बात का सदा ध्यान रख!" सवेरे की एक प्रार्थना में सूर्य को इस तरह संबोधन किया गया है: "हे देदीप्यमान सूर्य, मैं वही पुरुष हूं जो तुझे ऐसा बनाता हूं!" कितना ऊँचा आत्म-विश्वास है!

आत्मा क्या है? इसका वर्णन या इसकी परिभाषा केवल नकारात्मक ढंग से हो सकती है: "वह यह नहीं है, यह नहीं है।" या, एक प्रकार से स्वीकारात्मक ढंग से: "तू वह है!" व्यक्तिगत आत्मा परमात्मा के महत् ज्वाल की एक चिनगारी है जो कि उससे निकलकर उसी में समा जाती है। "जिस प्रकार अग्नि अखंड होते हुए भी, संसार में आकर, जिन वस्तुओं को जलाती है उन्हीं के अनुसार अलग-अलग रूप ले लेती है, इसी तरह से अंतरात्मा जिस वस्तु में प्रवेश करती है उसीके अनुसार अलग रूप ग्रहण कर लेती है, लेकिन वह स्वयं बिना किसी

रूप के हैं।" यह अनुभूति कि सब वस्तुओं के भीतर एक ही तत्त्व है, हमारे और उनके बीच के भेद ही हटा देती है और हम में यह भावना पैदा करती है कि मनुष्य और प्रकृति के बीच एकता है, और यह एकता बाहरी दुनिया की विविधता और अनेकरूपता की तह में है। "जो जानता है कि सभी वस्तुएं आत्मरूप हैं, उसके लिए क्या शोक, क्या भ्रम रह जाते हैं, जब कि वह इस एकता को देखता है?" "हां, जो सभी वस्तुएं उस आत्मा में देखता है और सभी वस्तुओं में आत्मा को देखता है; उससे (आत्मा) वह फिर न छिपेगा।"

उपनिषदों में एक प्रश्न है जिसका कि बहुत अनोखा लेकिन मार्के का उत्तर दिया गया है। प्रश्न है कि 'यह विश्व क्या है? यह कहां से उत्पन्न होता है और कहां जाता है?' और उत्तर है, 'स्वतंत्रता से इसका जन्म है, स्वतंत्रता में ही वह टिका है और स्वतंत्रता में ही वह लय हो जाता है।' इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है, मैं नहीं समझ सकता, सिवाय इसके कि उपनिषदों की रचना करने वालों में स्वतंत्रता के विचार के लिए बड़ा उत्साह था और वह सब कुछ उसीके पैराये में देखना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद इस पक्ष पर सदा बल दिया करते थे।

ब्लूमफ़ील्ड का कहना है कि "विरोधी बौद्धमत को लिये-दिये, हिंदू विचार का कोई ऐसा मुख्य रूप नहीं है जिसकी जड़ उपनिषदों में न हो।"

"प्राचीन हिंदुस्तानी विचार ईरान के रास्ते यूनान तक पहुँचा था और इसने वहां के कुछ विचारकों और दार्शनिकों पर प्रभाव डाला था। बहुत बाद में, प्लोटिनस, ईरानी और हिंदुस्तानी दर्शन को पढ़ने के लिए पूरब में आया और उस पर विशेषकर उपनिषदों के रहस्यवाद का प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि इन विचारों में से बहुत से प्लोटिनस से संत अगस्टाइन तक पहुँचे थे, और उसके द्वारा इन्होंने आज के ईसाईधर्म पर प्रभाव डाला है।"

पिछली डेढ़ सदी में हिंदुस्तानी दर्शन को जो यूरोप ने फिर से खोज निकाला, उसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के दार्शनिकों और विचारकों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इस सिलसिले में, निराशावादी शोपेनहार का कथन प्रायः उद्धृत किया जाता है: "(उपनिषदों के) हर एक शब्द से गहरे, मौलिक और ऊँचे विचार उठते हैं, और इन सब पर एक ऊँची, पवित्र और उत्सुक भावना छाई हुई है... सारे संसार में कोई ऐसी रचना नहीं जिसका पढ़ना....इतना उपयोगी, इतना ऊँचा उठानेवाला हो जितना कि उपनिषदों का...(यह) सबसे ऊँचे ज्ञान की

उपज है...एक-न-एक दिन सारी दुनिया का इन पर विश्वास होकर रहेगा।" और फिर वह लिखता है : "उपनिपदों के पढ़ने से मेरे जीवन को शांति मिली है; यही मेरी मृत्यु के समय की सांत्वना वनेगा।" इस पर लिखते हुए मैक्समूलर कहते हैं : "शोपेनहार कदापि ऐसा आदमी न था कि वहकी हुई वातें लिखे, या तथा-कथित रहस्यवादी या अवकचरे विचारों पर वाहवाह करने लगे। और यह कहते हुए न मुझे लज्जा या डर मालूम पड़ता है कि वेदांत के वारे में उसका जो उत्साह था उसमें मैं शरीक हूं और अपने जीवन में वहुत कुछ मुझे इससे मदद मिली है और मैं इसका ऋणी हूं।"

एक दूसरी जगह मैक्समूलर लिखते हैं : "उपनिपद वेदांत दर्शन का स्रोत है जिसमें कि मानवी चिंतन अपने शिखर पर पहुँच गया जान पड़ता है।" "मेरी सवसे आनंद की घड़ियां वेदांत की पुस्तकों के पढ़ने में वीतती हैं। मेरे लिए वह सवेरे के प्रकाश जैसी, पहाड़ों की स्वच्छ वायु जैसी हैं—एक वार समझ में आ जाने पर उनमें कितनी सादगी, कितनी सचाई मिलती है!"

लेकिन शायद उपनिपदों की और उसके वाद की पुस्तक भगवद्गीता की मुक्तकंठ से जैसी तारीफ़ आइरिश कवि ए० ई० (जी० डब्ल्यू० रसेल) ने की है वैसी दूसरे ने नहीं की : "इस काल के लोगों में, गेटे, वर्डसवर्थ, इमर्सन और थोरो में यह ज्ञान और जीवनी शक्ति कुछ अंशों में मिलेगी, लेकिन जो कुछ भी इन्होंने कहा है, और उससे वहुत अधिक हमें पूरव के महान और पवित्र ग्रंथों में मिलेगा। भगवद्गीता और उपनिषदों में, सभी वातों के वारे में, ज्ञान की ऐसी दिव्य पूर्णता मिलती है कि मुझे खयाल होता है कि उनके रचने वालों ने हज़ारों भावभरे पुराने जन्मों में पैठ कर ही, उन जन्मों में जिनमें कि छाया के लिए और छाया के साथ संघर्ष होता रहा है—इतने अधिकार के साथ उन वातों को लिखा है जिन्हें आत्मा निश्चित समझती है।"

१० : व्यक्तिवादी दर्शन से लाभ और हानियां

यह स्पष्ट है कि उपनिषदों की रचना करनेवालों के विचार, और वह ऊँचे दर्जे का मानसिक वातावरण जिसमें कि वह रहते थे, एक छोटे, चुने हुए लोगों के दायरे तक सीमित थे। आम जनता की समझ से यह विल्कुल वाहर थे। ऐसे लोगों की संख्या, जो रचनात्मक काम करते हैं, हमेशा थोड़ी ही होती है। लेकिन

अगर बड़ी संख्या के लोगों से उनके विचार मिलते रहे और यह छोटा दल बड़े दल को ऊपर उठाने और उसे बढ़ाने कोशिश में लगा रहे, इस तरह कि दोनों के बीच-की खाई कम हो जाय, तो एक पायदार और उन्नतिशील संस्कृति पैदा होती है।

मेरे लिए, और अधिकतर औरों के लिए भी, उपनिषदों के ज़माने की तस्वीर सामने लाना, और उस समय क्या-क्या शक्तियां काम कर रही थीं, इनकी जाँच पड़ताल करना, कठिन है। फिर भी मैं विचार करता हूं कि मुट्ठी भर विचारकों और आँख मूंद कर चलनेवाली बहुत बड़ी जनता के बीच गहरे मानसिक भेद के बावजूद, उन दोनों के बीच एक लगाव था, कम-से-कम कोई दिखने वाली खाई नहीं थी। जिस तरह से उस वक़्त के समाज में अलग-अलग दर्जे थे उसी तरह मानसिक दर्जे भी थे और इन्हें स्वीकार कर लिया गया था और उसकी व्यवस्था भी कर दी गई थी। इससे समाज में कुछ मेल पैदा हो गया था और झगड़े-फ़िसाद से बचत हो गई थी। उपनिषदों के नए विचार को भी, आम लोगों के लिए इस तरह से समझाया जाता था कि वह प्रचलित विचारों से और अंध विश्वासों से मिल-जुल जाता था, और इस तरह वह अपने विशेष अर्थ को बहुत कुछ खो बैठता था। समाज में जो दर्जे क़ायम हो चुके थे उन्हें नहीं छोड़ा जाता था। बल्कि उनकी रक्षा की जाती थी। अद्वैतवाद ने, धार्मिक विषयों में एकेश्वरवाद का रूप ले लिया था, और इससे भी नीचे स्तर के विश्वासों और पूजा के प्रकारों को, न केवल गवारा किया जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि विकास की एक विशेष सीढ़ी के लिए यह उचित भी हैं।

इस तरह उपनिषदों की विचारधारा, जनता में बहुत ज़्यादा फैली नहीं और चंद विचारकों और आम लोगों के बीच मानसिक भेद और भी स्पष्ट हो गया। समय पाकर इसने नए आंदोलन उत्पन्न किये। जड़वादी दर्शन को, बुद्धिवाद को और अनीश्वरवाद की प्रबल लहरें उठीं। और फिर इसके भीतर से बौद्धधर्म और जैनधर्म पैदा हुए, और 'रामायण' और 'महाभारत', जैसे प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य रचे गए, और इनमें एक बार फिर इस बात की कोशिश की गई कि विरोधी मतों और विचार के प्रकारों में समन्वय स्थापित हो। लोगों की सृजन-शक्ति, बल्कि सृजन-बुद्धि वाले थोड़े से लोगों की सृजन-शक्ति, इन कालों में, बहुत साफ़ ढंग से सामने आती है, और फिर इन थोड़े से लोगों में और बड़ी जनता के बीच एक लगाव स्थापित हो गया जान पड़ता है। कुल मिला कर, दोनों मिल-जुलकर आगे बढ़ते हैं।

इस तरह से, एक-एक करके कई ज़माने आते हैं जबकि विचारों और कार्य के क्षेत्र में, साहित्य में, नाटक में, मूर्तिकला में, इमारतों के तैयार करने में, और हिंदुस्तान की सीमा से दूर संस्कृति, धर्म और उपनिवेशों के फैलाने के साहसी कामों में, रचनात्मक प्रयास फूट पड़ते हैं। इन कालों में झगड़े-फ़िसाद के समय आते हैं और इनके कारण कुछ भीतरी बातें होती हैं और कुछ बाहर से होने वाली छेड़-छाड़ भी। लेकिन अंत में यह स्थिति वश में आती है और रचनात्मक स्फूर्ति का ज़माना फिर लौटता है। ऐसा अंतिम समय, जिसमें कि बहुत तरह के काम हुए, वह शानदार समय था जो ईसा से बाद की चौथी सदी में शुरू हुआ। ईसा के १००० वर्ष बाद तक, या पहले ही, हिंदुस्तान में भीतरी ह्रास के चिह्न प्रकट हो जाते हैं, यद्यपि पुरानी कलात्मक लहर जारी रहती है और बहुत सुंदर चीज़ें तैयार होती रहती हैं। नई जातियां आती हैं, जिनकी भूमिका दूसरी ही होती है, और यह हिंदुस्तान के थके हुए दिल और दिमाग के लिए एक नया शौक़ ले आती हैं; और इस टक्कर का नतीजा यह भी होता है कि नए मसले उठते हैं और उनके हल के उपाय किये जाते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय-आर्यों के गहरे व्यक्तिवाद ने, अंत में अच्छे और बुरे दोनों ही परिणाम दिखाये, जो उनकी संस्कृति से उपजे। इसने बहुत ऊँचे टप्पे के लोग पैदा किये, और यह बात इतिहास के किसी एक विशेष समय तक सीमित न रही, बल्कि हर एक युग में और बार-बार ऐसा होता रहा। इसने पूरी संस्कृति को एक आदर्शवादी और नैतिक पृष्ठभूमि दी, जो बनी रही और अभी बनी हुई है, चाहे हमारे व्यवहार पर अधिक प्रभाव न डाल रही हो। इस पृष्ठ-भूमि की मदद से, और ऊँचे लोगों के उदाहरणों के बल पर उन्होंने समाज की बना-वट को स्थिर रक्खा, और जब-जब उसके टूटने का भय हुआ तब-तब उसे सँभाला। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के अचरज पैदा करने वाले फूल खिलाए, और यद्यपि वह ऊँचे दायरों तक सीमित थे, फिर भी, हो-न-हो, वह कुछ हद तक जनता में भी फैले। दूसरे मतों और रास्तों के लिए हद दर्जे की रवादारी दिखाकर वह उन झगड़ों को बचाते रहे, जिन्होंने अक्सर समाज को टूक-टूक कर डाला है, और इस तरह उन्होंने, बराबर किसी-न-किसी तरह का सम-तौल बनाए रक्खा। एक बड़े संगठन के भीतर, लोगों को अपने पसंद की ज़िंदगी बसर करने की स्वतंत्रता देकर, उन्होंने एक प्राचीन और तजुर्बेकार जाति के लोगों की बुद्धिमानी दिखाई है। यह सभी कारनामें बड़े मार्के के रहे हैं।

लेकिन इसी व्यक्तिवाद का यह नतीजा हुआ कि मनुष्य के समाजी पहलू पर और समाज के प्रति मनुष्य के कर्तव्य पर, कम ध्यान दिया जाने लगा। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन बट और बंध गया था और दर्जों में बँटे हुए समाज में अपने तंग दायरे के अंदर वह कर्तव्यों और दायित्वों की एक गठड़ी बन कर रह गया था। पूरे समाज की न उसे कल्पना थी, न इस समाज के प्रति उसका कोई कर्तव्य शेष रहा था, और इस बात की कोई कोशिश न की गई कि वह समाज से अपना बल प्राप्त करे।

एक और अजीब बात सामने आती है। सभी तरह के विश्वासों और व्यवहारों, अंध-विश्वासों और मूर्खताओं के प्रति जो रवादारी दिखाई गई थी, उसके हानि-कारक, पहलू भी थे, क्योंकि इसने बहुत-सी बुरी रस्मों को जड़ पकड़ लेने दी और परंपरा के उस बोझ को उखाड़ कर फेंकने से रोका जो कि हमारी बाढ़ को रोक रहा था। पुरोहितों के बढ़ते हुए दल ने इस हालत से अपना अलग ही फ़ायदा उठाया और आम लोगों के अंध-विश्वास की नींव पर अपने स्वार्थों के गढ़ बना लिये। इस पुरोहित-वर्ग की शायद उतनी शक्ति कभी नहीं रही जितनी की ईसाई-धर्म की कुछ शाखों के पुरोहित-वर्ग की रही, क्योंकि यहां हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसे विचार-वान नेता रहे हैं जिन्होंने इन व्यवहारों की निंदा की है। इसके अतिरिक्त इतने अलग-अलग मत रहे हैं कि लोग अपना मत बदल सकते थे। फिर भी यह पुरोहित-वर्ग इतना बलशाली था कि वह जनता को अपने वश में रख सके और उसके अंध-विश्वासों से लाभ उठाता रह सके।

११ : जड़वाद

हमारे बड़े दुर्भाग्यों में एक यह है कि हम यूनान में, हिंदुस्तान में, और सभी जगह, दुनिया के पुराने साहित्य का एक बड़ा हिस्सा खो बैठे हैं। शायद यह होना ही था, क्योंकि आरंभ में पुस्तकें ताड़पत्रों पर या भोजपत्र पर, लिखी जाती थीं और इनके छिलके बहुत आसानी से उचड़ जाते थे, और काग़ज़ पर लिखने की प्रथा बाद में हुई। किसी भी पुस्तक की चंद प्रतियों से अधिक न होतीं, और अगर वह नष्ट हो जातीं तो वह रचना ही गुम हो जाती, और उसका पता हमें केवल उन हवालों या उद्धरणों से मिलता जो कि उनके बारे में और पुस्तकों में होते। फिर भी पचास-साठ हजार संस्कृत की हाथ की लिखी पुस्तकों या उनके रूपांतरों

का पता लग चुका है और उनकी सूची वन चुकी है, और नए-नए ग्रंथ वरावर मिलते जा रहे हैं। हिंदुस्तान की वहुत-सी पुरानी पुस्तकें अवतक हिंदुस्तान में मिली ही नहीं हैं, लेकिन उनके अनुवाद चीनी या तिव्वती भाषा में मिले हैं। हाथ की लिखी पुरानी पुस्तकों की, धार्मिक संस्थाओं के भंडारों में, मठों में और निजी संग्रहों में अगर संगठित रूप में खोज की जाय, तो शायद वहुत अच्छा परिणाम निकले। वार-वार की वरवादी के वावजूद और विना किसी विशेष संगठित प्रयत्न के पचास हज़ार से अधिक हाथ की लिखी पुस्तकों का पता लग जाना इस वात को वताता है कि साहित्य, नाटक, दर्शन और और विपयों में पुराने ज़माने में कितनी अद्भुत और प्रचुर रचनाएं हुई थीं। वहुत-सी पांडुलिपियों की, जिनका कि पता लगा है, अभी ठीक तरह से जाँच तक नहीं हुई है।

उन पुस्तकों में जो विल्कुल खो गई हैं, जड़वाद का पूरा साहित्य है, जो कि शुरू के उपनिषदों के ज़माने से ठीक वाद रचा गया था। इस साहित्य के जो हवाले अव मिलते हैं, वह केवल उन पुस्तकों में हैं जिनमें कि उनपर टीका-टिप्पणी की गई है और जिनमें जड़वादी सिद्धांतों के खंडन के लंवे प्रयत्न हैं। इसमें तो कोई शक ही नहीं है कि जड़वादी दर्शन का हिंदुस्तान में सदियों तक चलन रहा है, और अपने समय में इसका लोगों पर गहरा असर रहा है। ईसा से पहले की चौथी सदी में राजनैतिक और आर्थिक संगठन के वारे में कौटिल्य की जो प्रसिद्ध पुस्तक, अर्थशास्त्र, है उसमें इसकी चर्चा हिंदुस्तान के विशिष्ट दर्शनों में की गई है।

इसलिए इस दर्शन के वारे में जानने के लिए हमें उन आलोचकों और व्यक्तियों पर भरोसा करना पड़ता है जिनकी रुचि इसे गिराने में रही है, और उन्होंने इसकी हँसी उड़ाई है और वताया है कि यह कैसी वेतुकी वस्तु है। यह दर्शन था क्या, इसे जानने का यह वड़ा अनुचित ढंग है। फिर भी इसके खंडन में जो उत्साह और जोश इन नुक्ताचीनों ने दिखाया है, उसीसे पता चलता है कि उन लोगों की दृष्टि में इसका कितना महत्त्व था। संभव जान पड़ता है कि जड़वाद के साहित्य का अधिक अंश, वाद के कालों में, पुरोहितों ने या कट्टरधर्मावलंवियों ने नष्ट कर दिया हो।

जड़वादियों ने विचार, धर्म और अध्यात्म में, प्रमाण का और सभी स्थापित स्वार्थ का विरोध किया। उन्होंने वेदों की, पुरोहिताई की, परंपरा से आये हुए विश्वासों की, निंदा की और यह घोपित किया कि विश्वास स्वतंत्र होना चाहिए

और उसे पहले से मान ली गई बातों या केवल पुराने ज़माने के प्रमाण का भरोसा न कर लेना चाहिए। सभी तरह के मंत्र-तंत्र और अंध-विश्वास की उन्होंने बुराई की। उनका आम रवैया बहुत-कुछ आज के जड़वादियों जैसा था : यह अपने को बीते हुए ज़माने की ज़ंजीरों और बोझ से, जो चीज़ें नहीं दिखाई देतीं उनकी कल्पना से, और ख़याली देवताओं की पूजा से मुक्त करना चाहते थे। केवल उसका अस्तित्व तो माना जा सकता था, जिसे कि सीधे-सीधे देखा जा सके। इसके अलावा और सभी अनुमानों के सच होने की उतनी ही संभावना थी जितनी कि झूठ होने की। इसलिए अपने विभिन्न रूपों में पदार्थ के, और दुनिया के ही अस्तित्व को माना जा सकता था। मन और बुद्धि और और सभी चीज़ें इन्हीं बुनियादी तत्त्वों से बनी हैं। प्रकृति के व्यापार आदमी के द्वारा स्थापित क़ीमतों की परवा नहीं करते, और अच्छे या बुरे से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। नैतिक मान, आदमियों द्वारा स्थापित रिवाज़ हैं।

इन सब विचारों को हम समझते हैं; यह दो हज़ार वर्ष पुराने नहीं, बल्कि कुछ विचित्र रूप से हमारे ज़माने के विचार जान पड़ते हैं। इस तरह के तर्क-वितर्क, ऐसा संघर्ष, मानवी मस्तिष्क की परंपरा के विरुद्ध यह विद्रोह आख़िर आया कहां से ? हम उस काल की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति ठीक तौर पर नहीं जानते, लेकिन यह बात अच्छी तरह प्रकट है कि यह ज़माना राजनीतिक संघर्ष और समाजी उथल-पुथल का रहा है, जिसका नतीजा यह हुआ है कि धर्म से विश्वास उठ गया है और लोग दिमाग़ी जाँच-पड़ताल में लगे हैं और खोज किसी ऐसे रास्ते की हुई है जिससे मन को संतोष मिले। इसी दिमाग़ी उथल-पुथल और समाजी अवतरी से नए रास्ते निकले हैं और नए दर्शनों ने रूप ग्रहण किये हैं। उपनिषदों के सहज-ज्ञान से भिन्न, व्यवस्थित दर्शनों का दिखाई पड़ना शुरू होता है, और यह अनेक रूपों में जैन, बौद्ध, और जिसे हम दूसरे शब्द के अभाव से हिंदू कहेंगे—सामने आते हैं। इसी ज़माने के महाकाव्य हैं और भगवद्गीता भी इसी काल की वस्तु है। इस ज़माने का काल-क्रम ठीक-ठीक निश्चित कर सकना कठिन है, चूंकि विचार और सिद्धांत एक-दूसरे पर छाये हुए थे और आपस में उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती थी। बुद्ध, ईसा से पहले की छठी सदी में हुए हैं। इनमें से कुछ का विकास उनसे पूर्व हुआ, कुछ का बाद में, या अक्सर इन दोनों के विकास साथ-साथ चलते रहे।

१२ : महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और कहानी-क़िस्से

प्राचीन हिंदुस्तान के दो बड़े महाकाव्य—रामायण और महाभारत—शायद कई सदियों में तैयार हुए, और बाद में भी उनमें नए टुकड़े जोड़े जाते रहे। उनमें भारतीय आर्यों के आरंभ के दिनों का हाल है—उनकी विजयों का, उनकी आपस की उस समय की लड़ाइयों का जब कि वह फैल रहे थे और अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहे थे—लेकिन इन महाकाव्यों की रचना और संग्रह बाद की बातें हैं। मैं कहीं किसी ऐसे ग्रंथ को नहीं जानता, जिसने कि आम जनता के मस्तिष्क पर इतना लगातार और व्यापक असर डाला हो, जितना कि इन दो ग्रंथों ने डाला है। इतने प्राचीन काल में तैयार किये गए होते हुए भी, वे हिंदुस्तानियों के जीवन में आज भी अपना जीता-जागता प्रभाव रखते हैं। मूल संस्कृत में तो थोड़े-बहुत विद्वानों तक ही ये पहुँचते हैं, लेकिन अनुवादों और बहुत से और तरीक़ों से जिनसे कि परंपरा और क़िस्से-कहानियां फैलती हैं और आम लोगों की ज़िंदगी का ताना-बाना बन जाती हैं, ये जनता तक पहुँचे हुए हैं।

इनमें हमें वह ख़ास हिंदुस्तानी ढंग मिलता है, जिसमें कि अलग-अलग सांस्कृतिक विकास के लोगों के लिए एक साथ सामग्री प्रस्तुत की जाती है, अर्थात् ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे के विद्वानों से लेकर अनपढ़ और अशिक्षित देहाती तक के लिए। इनके द्वारा हमें प्राचीन हिंदुस्तानियों का वह गुर कुछ-कुछ समझ में आ जाता है, जिससे वह एक पँचमेल और ज़ात-पाँत में बँटे हुए समाज को इकट्ठा बनाए रखने में, उनके झगड़ों को सुलझाते रहने में, उन्हें वीर-परंपरा और नैतिक रहन-सहन की समान भूमिका देने में सफल हुए हैं। उन्होंने कोशिश कर के लोगों में एक आम दृष्टिकोण स्थापित किया ; और यह सब भेद-भावों से ऊपर था और बना रहा।

मेरे बचपन की सब से पहली यादों में इन महाकाव्यों की उन कहानियों की यादें हैं जिन्हें कि मैंने अपनी मां से और और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों से उसी तरह सुना था जिस तरह कि यूरोप या अमरीका में बच्चे परियों की या दूसरी साहस की कहानियां सुनते हैं। इन कहानियों में मेरे लिए, परियों की कहानियों, और साहस की कहानियों, दोनों ही के तत्त्व मौजूद थे। और फिर मैं हर साल खुले मैदान में होने वाले उन लोकप्रिय नाटकों में ले जाया जाता था, जहां कि रामायण की कथा का अभिनय होता था और बहुत बड़े मजमे उसे देखने के लिए इकट्ठा होते थे। यह सब बातें बड़े भद्दे ढंग से हुआ करती थीं, लेकिन इससे कोई अंतर न

पड़ता था, क्योंकि कहानी तो सभी लोगों की जानी हुई थी, और त्यौहार के आनंद के दिन होते थे।

हिंदुस्तान की दंत-कथाएं महाकाव्यों तक सीमित नहीं हैं, वे वैदिक काल तक पहुँचती हैं और अनेक रूपों और पोशाकों में संस्कृत साहित्य में आती हैं। कवि और नाटककार इनसे पूरा लाभ उठाते हैं और अपनी कथाएं और सुंदर कल्पनाएं इनके आधार पर बनाते हैं। कहा जाता है कि अशोक का वृक्ष एक सुंदरी स्त्री के पैरों से छुआ जाकर फूल उठता है। हम कामदेव की और उसकी स्त्री रति की कथाएं पढ़ते हैं, और उनके मित्र वसंत की। कामदेव दुस्साहस करके अपना पुष्पबाण स्वयं शिव पर चलाता है और शिव के तीसरे नेत्र से निकली हुई ज्वाला में भस्म हो जाता है। लेकिन वह अनंग अर्थात् बिना शरीर का होकर ज़िंदा रहता है।

इन पुराणों की कथाओं और वीरगाथाओं में सचाई पर अड़े रहने और चाहे जैसा जोखिम होने पर भी अपने वचन का पालन करने, मृत्यु तक और उसके बाद भी वफ़ादारी न छोड़ने, साहसी और अच्छे काम करने, और लोकहित के लिए त्याग करने की शिक्षाएं दी गई हैं। कभी-कभी तो ये कहानियां बिलकुल ख़याली होती हैं, कभी उनमें घटनाओं और कल्पनाओं का मेल-जोल रहता है, किसी ऐसी घटना का, जिसे परंपरा ने सुरक्षित रक्खा है, बढ़ा-चढ़ा वर्णन होता है। सच्ची घटनाएं और गढ़े हुए क़िस्से इस तरह एक में मिल गए हैं कि दोनों अंशों को अलग करना असंभव है, और इस तरह का गड्ड-मड्ड ख़याली इतिहास की जगह ले लेता है, जो चाहे हमें यह न बता सके कि वास्तव में हुआ क्या, लेकिन जो हमें उतनी ही महत्त्व की दूसरी सूचना देता है, यानी लोग क्या हुआ समझते रहे हैं। उनकी समझ में उनके वीर पूर्वज कैसे-कैसे काम कर सकते थे, और उनके क्या आदर्श थे। इस तरह यह चाहे सच्ची घटनाएं हों चाहे गढ़े हुए क़िस्से, यहां के रहने वालों के जीवन के यह जीते-जागते अंग बन जाते हैं, और उन्हें अपने दैनिक जीवन की नीरसता और कुरूपता से बचा कर ऊँची दुनिया की तरफ़ खींचते रहे हैं और आदर्श तक पहुँचना चाहे जितना भी कठिन रहा हो, हमेशा कर्त्तव्य और सही जीवन का रास्ता दिखाते रहे हैं।

कहा जाता है कि गेटे ने उन लोगों की मलामत की है जिन्होंने कि लूक्रिशिया की और दूसरी पुरानी रोमन वीर-गाथाओं को गढ़ंत और झूठी बताया है। उसने कहा है कि जो वस्तु वास्तव में जाली और झूठी होगी, वह भद्दी और निकम्मी भी

होगी, कभी सुंदर और रूह फूंकने वाली नहीं हो सकती, और यह कि "अगर रोमन लोग इतने बड़े थे कि इस तरह की चीज़ें गढ़ सके, तो हमें कम-से-कम इतना बड़ा होना चाहिए कि उनमें विश्वास कर सकें।"

इसलिए यह कल्पित इतिहास, जो कि घटनाओं और गढ़ंत का मेल है, या जो कि कभी-कभी बिलकुल गढ़ंत है, एक प्रतीक के रूप में सत्य बन जाता है और हमें उस खास ज़माने के लोगों के दिल और दिमाग़ और उद्देश्यों के बारे में बताता है।

यूनानियों, चीनियों और अरब वालों की तरह प्राचीन हिंदुस्तानी इतिहासकार नहीं थे। यह एक दुर्भाग्य की बात है और इसके कारण आज हमारे लिए तिथियां या काल-क्रम निश्चित करना मुश्किल हो गया है। घटनाएं एक-दूसरे से गुथ जाती हैं और बड़ा उलझाव पैदा हो जाता है। बहुत धीरज के साथ मेहनत करके ही विद्वानों ने हिंदुस्तानी इतिहास की भूल-भुलैयां के बीच से कुछ अता-पता लगाया है। सच पूछा जाय तो केवल एक पुस्तक है, अर्थात् कल्हण की 'राजतरंगिणी', जो कि ईसा की बारहवीं सदी में लिखा हुआ कश्मीर का इतिहास है, जिसे हम इतिहास कह सकते हैं। शेष इतिहास के लिए हमें महाकाव्यों के कल्पित इतिहास की, या पुस्तकों की मदद लेनी पड़ती है, या शिलालेखों, कला के कारनामों या इमारतों के खँडहरों, सिक्कों, या विस्तृत संस्कृत साहित्य से जहां-तहां संकेत मिल जाते हैं। हां, विदेशी यात्रियों के यात्रा-वृत्तांतों से भी मदद मिलती है, विशेष कर यूनानियों, चीनियों और, बाद के समय के लिए, अरबों के यात्रा वृत्तांतों से।

ऐतिहासिक बुद्धि की इस कमी से जनता की कोई हानि नहीं हुई थी; क्योंकि जैसा और जगह होता है, बल्कि और जगह से ज्यादा, यहां जनता ने अतीत के बारे में अपने विचार परंपरागत वार्ताओं, पुराण की कहानियों और गाथाओं की नींव पर जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती हैं, बनाए थे। यह काल्पनिक इतिहास या घटनाओं और कहानियों की मिलावट ऐसी थी जिससे लोग खूब परिचित हो गए थे और इस तरह जनता की एक पक्की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। लेकिन इतिहास की ओर से लापरवाही के बुरे नतीजे भी हुए और यह अब तक हमारा पीछा कर रहे हैं। इसने हमारा दृष्टिकोण धुंधला कर दिया, जीवन से एक तरह का बिलगाव पैदा किया, हमें झट विश्वास कर लेने वाला बना दिया और जहां तक घटनाओं का संबंध था, हमारे मस्तिष्क में उलझाव डाल दिया।

विज्ञान और आजकल की दुनिया से वास्ता पड़ने की वजह से अब घटनाओं की समझ-बूझ पैदा हुई है, जाँच-पड़ताल की और प्रमाणों के तौलने की वृद्धि उपजी है, और परंपरा को ज्यों-का-त्यों स्वीकार करने से इन्कार भी हुआ है। बहुत से विद्वान् इतिहासज्ञ आजकल काम में लगे हुए हैं, लेकिन वह बहुधा उलटी ही भूल करते हैं, अर्थात् घटनाओं के काल-क्रम की तो बहुत छान-बीन करते हैं लेकिन जीवित इतिहास को छोड़ देते हैं। लेकिन आजकल भी हम पर परंपरा का कितना असर होता है, यह एक आश्चर्य की बात है, और बुद्धिमान् आदमी की विवेचना-बुद्धि भी जाती रहती है। मुमकिन है, यह इस वजह से हो कि हम अपनी मौजूदा हालत में जातीयता के खयाल में डूबे हैं। जब हमें राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता हासिल हो जायगी तभी हमारा मस्तिष्क व्यवस्थित और ठीक ढंग से काम करेगा।

जाँच-पड़ताल के दृष्टिकोण राष्ट्रीय और परंपरा के बीच टक्कर की एक बहुत हाल की, महत्वपूर्ण और भेद प्रकट करने वाली मिसाल है। हिंदुस्तान के बहुत बड़े हिस्से में विक्रम संवत् चलता है। इसका आधार सौर गिनती पर है, लेकिन महीने चाँद के अनुसार गिने जाते हैं। अप्रैल १९४४ में, इस संवत् के हिसाब से, दो हज़ार साल पूरे हुए, और एक नई सहस्राब्दी आरंभ हुई। इस अवसर पर सारे हिंदुस्तान में उत्सव मनाये गए, और यह उत्सव मनाया जाना उचित था, क्योंकि एक तो काल-गणना के खयाल से यह बहुत बड़ा मौका था, दूसरे विक्रम या विक्रमादित्य, जिसके नाम से यह संवत् चलता है, बहुत पुराने समय से लोक-परंपरा का एक प्रधान-पुरुष रहा है। उसके नाम के साथ अनगिनित कहानियां गुँथी हुई हैं और उनमें से बहुत-सी, मध्य-युग में, अलग-अलग पोशाकों में, एशिया के विभिन्न हिस्सों में पहुँची हैं और बाद में यूरोप में भी।

विक्रम, बहुत काल से एक राष्ट्रीय सूरमा और आदर्श राजा समझा जाता रहा है। उसकी याद एक ऐसे शासक के रूप में की जाती है जिसने कि विदेशी आक्रमणकारियों को मार भगाया। लेकिन उसकी कीर्ति का मुख्य कारण उसके दरबार की साहित्यिक और सांस्कृतिक चमक-दमक है, जहां कि उसने कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों, कलावंतों और गवैयों को इकट्ठा किया था और यह उसके दरबार के 'नवरत्न' कहलाते थे। उसके बारे में जो कथाएं हैं, अधिकतर ऐसी हैं जिनसे उसकी अपनी प्रजा की भलाई करने की इच्छा प्रकट होती है, और यह कि वह

तनिक-सी आवश्यकता पड़ने पर दूसरे को लाभ पहुँचाने के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करता था। वह अपनी उदारता, दूसरों की सेवा, साहस और निरभिमानिता के लिए प्रसिद्ध है। वह विशेषकर इस कारण से लोकप्रिय है कि वह एक अच्छा आदमी, कलाओं का समर्थक और संरक्षक समझा जाता था। वह सफल योद्धा या विजेता था, यह बात कहानियों में नहीं प्रकट की गई है। भलाई और आत्म-त्याग पर यह बल, हिंदुस्तानी मस्तिष्क और हिंदुस्तानी आदर्शों की विशेषता है। सीज़र की तरह विक्रमादित्य का नाम, एक तरह की पदवी और प्रतीक बन गया और बाद के बहुत से शासकों ने इसे अपने नामों के साथ जोड़ लिया। इस वजह से गड़बड़ी पैदा हो गई, क्योंकि बहुत से विक्रमादित्यों का वर्णन इतिहास में आता है।

लेकिन यह विक्रम था कौन? और वह कब हुआ? इतिहास की दृष्टि से यह बात बिल्कुल अस्पष्ट है। ईसा से ५७ वर्ष पहले जब कि इस संवत् का आरंभ होता है, इस तरह के किसी शासक का पता नहीं है। हां, उत्तर हिंदुस्तान में, चौथी सदी ईस्वी में एक विक्रमादित्य था, जो हूणों के साथ लड़ा था और जिसने उन्हें मार भगाया था। यही वह व्यक्ति है जिसके दरबार में 'नवरत्नों' का होना समझा जाता है, और जिसके गिर्द यह कहानियां बनी हैं। अब प्रश्न यह होता है कि चौथी सदी ईस्वी के इस विक्रमादित्य का संबंध उस संवत् से कैसे हो सकता है जिसका आरंभ इससे ५७ वर्ष पहले होता है? शायद इसकी व्याख्या इस तरह है कि मध्य भारत की मालवा रियासत में ५७ ई० से आरंभ होने वाला एक संवत् चला आ रहा था, विक्रम के बहुत बाद यह संवत् उसके नाम के साथ किसी तरह जुड़ गया और उसका नया नामकरण हुआ। लेकिन यह सभी बातें अस्पष्ट और अनिश्चित हैं।

जो सबसे अचरज की बात है वह यह है कि पर्याप्त समझ-बूझ के हिंदुस्तानियों ने, परंपरा के इस वीर पुरुष विक्रम के नाम के साथ जैसे भी हो, २००० वर्ष पुराने इस संवत् को जोड़ने के लिए इतिहास के साथ किस तरीक़े कर खिलवाड़ किया है। यह बात भी दिलचस्प है कि विदेशी के विरुद्ध लड़ाई करने पर और एक राष्ट्रीय शासन के अंतर्गत हिंदुस्तान की एकता स्थापित करने की इच्छा पर बल दिया गया है। वास्तव में विक्रम का राज्य उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान तक ही सीमित था।

हिंदुस्तानी ही अकेले नहीं हैं, जिन पर इतिहास के लिखने या उस पर विचार करने में, राष्ट्रीय भावनाओं और राष्ट्रीय समझी गई दिलचस्पियों का प्रभाव पड़ता हो। हर क़ौम और सभी लोगों में बीते हुए युग को अधिक अच्छा करके

दिखलाने और चमकाने तथा अपने पक्ष में तोड़ने-मरोड़ने की इच्छा रहती है। हिंदुस्तान के जिन इतिहासों को हम में से बहुतों को पढ़ना पड़ा है, वह अधिकतर अंग्रेजों के लिखे हुए हैं और जो आम तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के पक्ष में या तो सफ़ाइयां पेश करते हैं या उसके गुण गाते हैं। और उसके साथ-साथ यहां की हजारों वर्ष पहले होने वाली घटनाओं का प्रकट तिरस्कार के साथ वर्णन है। वास्तव में उनके लिए मतलब का इतिहास तो हिंदुस्तान में अंग्रेजों के आने के साथ आरंभ होता है; उसके पहले जो कुछ हुआ वह किसी भेदभरे ढंग से, इस दैवी उत्कर्ष की तैयारी में हुआ है। ब्रिटिश जमाने के इतिहास का भी, अंग्रेजों के गुणों और अंग्रेजी हुकूमत का बड़प्पन प्रकट करने के लिए, तोड़-मरोड़ किया गया है। बहुत धीरे-धीरे एक अधिक सही दृष्टिकोण अब बन रहा है। फिर भी यह सच है कि हिंदुस्तान के लोगों में परंपरा और चली आई बात को, बिना पूरी-पूरी जाँच-परख के इतिहास के रूप में मान लेने की आदत है।

लेकिन मैं देवताओं और देवियों की, और उन दिनों की चर्चा कर रहा था जब कि पुराण के क़िस्सों और कथाओं का आरंभ हुआ था, और इस चर्चा से बहुत दूर हट आया। वे ऐसे दिन थे, जब कि जीवन भरा-पूरा था और प्रकृति के साथ उसका तार-तार मिला हुआ था, जब आदमी का मस्तिष्क विश्व के रहस्यों पर अचरज और आनंद से दृष्टि डालता था, जब स्वर्ग और धरती एक-दूसरे के बहुत निकट जान पड़ते थे, और देवता लोग तथा देवियां कैलास से, या हिमालय में स्थित अपने धामों से, आलिंपस के देवताओं की तरह, पुरुषों और स्त्रियों के बीच खेल करने या कभी-कभी उन्हें दंड देने के लिए उतर आते थे। इस भरी-पूरी जिंदगी और शानदार कल्पना से, कथा-कहानियों का, और बली तथा सुंदर देवताओं एवं देवियों का, जन्म हुआ, क्योंकि यूनानियों की तरह हिंदुस्तानी भी जीवन और सौंदर्य के प्रेमी थे।

धीरे-धीरे वैदिक और दूसरे देवी-देवताओं के दिन हटकर पीछे पहुँच गए और उसकी जगह कठिन दर्शन ने ले ली। लेकिन लोगों के मस्तिष्कों में सुख के संगियों और दुख के साथियों की तरह उनकी अपनी आकांक्षाओं और अस्पष्ट रूप से अनुभव किये गए आदर्शों के रूप में वह मूरतें फिर भी तिरती रहीं। और इनके गिर्द कवियों ने अपनी कल्पनाएं लपेटीं, और अपने सपनों के घर बनाए और उन्हें अच्छी तरह सजाया। इनमें से बहुत-सी कथाओं और कवियों की कल्पनाओं

को एफ० डब्ल्यू० बेन ने सुंदर ढंग से, हिंदुस्तानी कथाओं संबंधी अपनी किताबों में उतारा है। इनमें से एक 'डिजिट आव् दि मून' में हमें यह बताया गया है कि स्त्री की सृष्टि कैसे हुई। "आरंभ में जब त्वश्त्रि (विश्वकर्मा) स्त्री की रचना पर आया तो उसने पाया कि वह अपनी सारी सामग्री आदमी की बनावट में खर्च कर चुका है और ठोस तत्त्व बच नहीं रहा है। इस पशो-पेश में उसने गहरा सोच-विचार किया और जो किया वह यह था : उसने चाँद की गोलाई, लताओं की भंगिमा, लता-तंतुओं का चिपटना, दूब का कंपन, नरकुल की सुकुमारता, फूलों का खिलाव, पत्तियों का हल्कापन, हाथी के सूंड का सुडौलपन, हिरनों की दृष्टि, मक्खियों का एकत्र होना, सूरज की किरनों की प्रसन्नता, बादलों का रोना, हवा की चंचलता, शशक का डर, और मोरों का घमंड लिया; फिर सुग्गे की छाती से कोमलता और वज्र से कठोरता, शहद की मिठास, चीते की निर्दयता, आग की धधक और बर्फ़ की ठंड, चिटचिटे की चहचहान, और कोयल की कूक, सारस का छल, और चकवे की वफ़ादारी ली और इन सबको मिला कर स्त्री को रचा और फिर उसे मनुष्य को दे दिया।"

१३ : महाभारत

महाकाव्यों का समय बताना कठिन है। इनमें उस प्राचीनकाल का हाल है जब कि आर्य हिंदुस्तान में बस रहे थे और अपनी जड़ जमा रहे थे। स्पष्ट है, इन्हें बहुत से लेखकों ने लिखा है या इनमें भिन्न समयों में विस्तार किया है। रामायण ऐसा महाकाव्य है, जिसमें वर्णन में थोड़ी-बहुत एकता है; महाभारत प्राचीन ज्ञान का एक बड़ा और फुटकर संग्रह है। दोनों ही बौद्ध-काल से पहले बन गए होंगे, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि इनमें बाद में भी हिस्से जोड़े गए हैं।

फ्रांसीसी इतिहासकार मिशले, १८६४ में, विशेपकर रामायण के प्रसंग में लिखते हुए कहता है : "जिस किसी ने भी बड़े काम किये हैं या बड़ी आकांक्षाएं की हैं, उसे इस गहरे प्याले से जीवन और यौवन की एक लंबी घूंट पीनी चाहिए.... पश्चिम में सभी चीज़ें सकरी और तंग हैं—यूनान एक छोटी जगह है और उसका विचार कर के मेरा दम घुटता है; जूडिया खुश्क जगह है और मैं हाँफ जाता हूं। मुझे विशाल एशिया और गहन पूर्व की ओर तनिक देर को देखने दो। वहां मिलता है मेरे मन का महाकाव्य—हिंदुस्तान-सागर जैसा विस्तृत, मंगलमय, सूर्य के

प्रकाश से चमकता हुआ, जिसमें दैवी संगीत है, और जहां कोई वेसुरापन नहीं। वहां एक गहरी शांति का राज्य है, और संघर्ष के बीच भी वहां बेहद मिठास और चरम सीमा का भाई-चारा है, जो कि सभी जीवित वस्तुओं पर छाया हुआ है; प्रेम, दया, क्षमा का अपार और अथाह समुंदर है।"

महाकाव्य की हैसियत से रामायण एक बहुत बड़ा ग्रंथ अवश्य है और उससे लोगों को बहुत चाव है लेकिन यह महाभारत है जो कि, वास्तव में दुनिया की सब से प्रमुख पुस्तकों में से एक है। यह एक विराट् कृति है; परंपरा और कथाओं का, और हिंदुस्तान की प्राचीन राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं का यह एक विश्व-कोष है। दस साल से अधिक से, बहुत से अधिकारी हिंदुस्तानी विद्वान् मिल कर, उन पाठों की जाँच-पड़ताल में लगे हुए हैं, जो कि अब तक प्राप्त हुए हैं, जिसमें कि एक प्रामाणिक संस्करण छपाया जा सके। कुछ हिस्से उन्होंने छाप कर प्रकाशित भी कर दिये हैं, लेकिन काम अब भी अधूरा है और चल रहा है। यह एक रोचक बात है कि इस भयानक और व्यापक युद्ध के दिनों में भी, रूस के पूर्वी विद्याओं के जानने वाले विद्वानों ने, महाभारत का रूसी अनुवाद प्रस्तुत किया है।

शायद यह वह समय था, जब कि विदेशी लोग हिंदुस्तान में आ रहे थे और अपने साथ अपने रीति-रिवाजों को ला रहे थे। इनमें से बहुत से रीति-रिवाज आर्यों के रीति-रिवाजों से भिन्न थे, और इस तरह विरोधी विचारों और रीति-रिवाजों की एक अजीब खिचड़ी हमें देखने में आती है। आर्यों में एक स्त्री के कई पति होने का चलन नहीं था, फिर भी हम पाते हैं कि महाभारत की एक प्रमुख पात्री के पाँच पति हैं, जो आपस में भाई-भाई हैं। क्रमशः पहले के आदिम निवासी और नए आनेवाले लोग दोनों ही आर्यों में घुल-मिल कर एक हो रहे थे, और वैदिक धर्म में भी इसी के अनुसार परिवर्तन आ रहा था। यह वह व्यापक रूप ग्रहण कर रहा था जिससे कि वर्तमान हिंदूधर्म निकला है। यह संभव इसलिए हो सका कि बुनियादी दृष्टिकोण यह जान पड़ता है कि सचाई पर किसी एक का अधिकार नहीं हो सकता, और उसे देखने और उस तक पहुँचने के बहुत से रास्ते हैं। इस तरह सभी तरह के, यहां तक कि विरोधी, विश्वासों को गवारा किया जाता था।

महाभारत में, हिंदुस्तान (या जिसे गाथाओं के अनुसार जाति के आदि-पुरुष भरत के नाम पर भारतवर्ष कहा जाता था) की बुनियादी एकता पर जोर देने की बहुत निश्चित कोशिश की गई है। इसका एक और पहले का नाम आर्यावर्त्त,

या आर्यों का देश, था। लेकिन यह मध्य-हिंदुस्तान के विंध्य पहाड़ तक फैले हुए, उत्तरी हिंदुस्तान तक, सीमित था। शायद उस समय तक आर्य इस पहाड़ के सिल-सिले के पार नहीं पहुँचे थे। रामायण की कथा, आर्यों के दक्खिन में पैठने का इति-हास है। वह बड़ा गृह-युद्ध जो बाद में हुआ और जिसका कि महाभारत में वर्णन है, मोटे ढंग से अनुमान किया जाता है, कि ईसा से पूर्व चौदहवीं सदी में हुआ। यह लड़ाई हिंदुस्तान (या शायद उत्तरी हिंदुस्तान) पर सब से ऊँचा अधि-कार हासिल करने के लिए हुई थी, और इससे सारे हिंदुस्तान के, भारतवर्ष के रूप में, कल्पना किये जाने का आरंभ होता है। भारतवर्ष की जो यह कल्पना थी, उसमें आजकल के अफ़ग़ानिस्तान का ज्यादा हिस्सा, जिसे उस समय गांधार कहते थे (और जिससे कंदहार शहर का नाम पड़ा है) शामिल था और इस देश का अपना अंग समझा जाता था। सच तो यह है कि मुख्य शासक की स्त्री का नाम गांधारी, या गांधार की लड़की, था। दिल्ली इसी समय हिंदुस्तान की राजधानी बनती है—वर्तमान शहर नहीं, बल्कि इसके पास के, इससे मिले हुए पुराने शहर, जो कि हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ कहलाते थे।

भगिनी निवेदिता (मार्गरेट नोबुल) ने, महाभारत के बारे में लिखते हुए बताया है: "विदेशी पाठक पर. . .दो मुख्य बातों का असर पड़ता है। पहली बात तो यह है कि विविधता में यहां एकता मिलती है; दूसरी यह कि, सुनने वालों पर एक ऐसे केंद्रीय हिंदुस्तान के खयाल को बिठाने का लगातार प्रयत्न है, जिसकी अपनी वीरता की परंपरा है, जो एकता के भाव को जगाने वाली है।"

महाभारत में कृष्ण की कथाएं हैं, और भगवद्गीता नाम का प्रसिद्ध काव्य भी है। गीता के दर्शन के अलावा भी, इस ग्रंथ में आमतौर पर जीवन में, और रियासती मामलों में नीति और संस्कृति के सिद्धांतों पर जोर दिया गया है। धर्म की इस बुनियाद के बिना सच्चा सुख नहीं मिल सकता, और न समाज ही स्थायी रह सकता है। समाज की भलाई इसका उद्देश्य है, किसी एक गिरोह की भलाई नहीं, बल्कि सारी दुनिया का हित। लेकिन धर्म स्वयं सापेक्ष है और सचाई, अहिंसा आदि बुनियादी सिद्धांतों के अतिरिक्त यह समय और परिस्थिति पर निर्भर करता है। ये सिद्धांत सदा स्थिर रहते हैं और इनमें परिवर्तन नहीं होते, मगर इनके अतिरिक्त धर्म, जोकि कर्त्तव्यों और जिम्मेदारियों का गड्ड-मड्ड है, बदलते हुए जमाने के साथ बदलता रहता है। यहां और-और जगहों पर

अहिंसा पर जो ज़ोर दिया गया है वह दिलचस्प है, क्योंकि इसमें और किसी अच्छे उद्देश्य के लिए लड़ाई करने में, कोई व्यक्त विरोध नहीं माना गया है। सारा महाकाव्य एक बड़े युद्ध की घटनाओं को लेकर रचा गया है। जान पड़ता है कि अहिंसा की कल्पना का संबंध अधिकतर उद्देश्य से था, यानी मन में हिंसा का भाव न रखना चाहिए, आत्म-संयम करना चाहिए और क्रोध और घृणा पर वश पाना चाहिए; इसका मतलब यह नहीं था, कि अगर ज़रूरी हो और किसी तरह बचत न हो सके तो भी शरीर से कोई हिंसा का काम न बन पड़ना चाहिए।

महाभारत एक ऐसा मूल्यवान् भंडार है कि हमें उसमें बहुत तरह की क़ीमती चीज़ें मिल सकती हैं। यह रंग-बिरंगी, घनी और खुदबुदाती हुई ज़िंदगी से भरपूर है, और इस बात में यह हिंदुस्तानी विचार-धारा के दूसरे पहलू से बहुत हटकर है, जिसमें कि तपस्या और जीवन से इन्कार पर ज़ोर दिया गया है। यह केवल नीति की शिक्षा देने वाली पुस्तक नहीं है, यद्यपि नीति और संस्कृति की शिक्षा इसमें काफ़ी मिलेगी। महाभारत की शिक्षा का सार एक वाक्य में रख दिया गया है: "दूसरे के लिए तू ऐसी बात न कर जो तुझे खुद अपने लिए नापसंद हो।" ज़ोर समाज की भलाई पर दिया गया है, और यह बात मार्के की है; क्योंकि खयाल यह किया जाता है कि हिंदुस्तानी मस्तिष्क की रुझान निजी कमाल हासिल करने की दिशा में रही है न कि समाज की भलाई की तरफ़। इसमें कहा है: "जिससे समाज की भलाई नहीं होती, या जिसे करते हुए तुम्हें शर्म आती है, उसे न करो।"

फिर कहा है, "सचाई, अपने को बस में रखना, तपस्या, उदारता, अहिंसा, धर्म पर डटे रहना—इनसे सफलता प्राप्त होती है, ज़ात और कुल से नहीं।" "जीवन और अमरता से धर्म बढ़कर है।" "सच्चे आनंद के लिए कष्ट उठाना आवश्यक है।" धन कमाने के पीछे पड़े रहने वाले पर एक व्यंग है: "रेशम का कीड़ा, अपने धन के कारण मरता है।" और, अंत में, एक जीती-जागती और उन्नति करती हुई जाति के लोगों के उपयुक्त यह आदेश है: "असंतोष उन्नति के लिए उकसाने वाला है।"

१४ : भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत का अंश है; एक बहुत बड़े नाटक की एक घटना है। लेकिन उसकी अपनी अलग जगह है, और वह अपने में संपूर्ण है। यों यह ७००

श्लोकों का छोटा-सा काव्य है, लेकिन विलियम वॉन हम्वोल्ट ने इसके वारे में लिखा है कि "यह सवसे सुंदर, शायद अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है, जोकि किसी भी जानी हुई भाषा में मिलता है।" वौद्ध-काल से पहले जव इसकी रचना हुई, तव से आजतक इसकी लोकप्रियता और प्रभाव घटे नहीं हैं, और आज भी इसके लिए हिंदुस्तान में पहले जैसा आकर्षण वना हुआ है। विचार और दर्शन का हर एक संप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है, और अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या करता है। संकट के समय, जव कि आदमी का मन संदेह से सताया हुआ होता है, और अपने कर्तव्य के वारे में उसे दुविधा दो ओर खींचती होती है, यह प्रकाश और मार्ग प्रदर्शन के लिए गीता की तरफ़ और भी भुकता है। क्योंकि यह संकट-काल के लिए लिखी गई कविता है—राजनीतिक और सामाजिक संकटों के अवसर के लिए, और उससे भी अधिक मनुष्य की आत्मा के संकट-काल के लिए। गीता की अनगिनित व्याख्याएं निकल चुकी हैं, और अव भी वरावर निकलती रहती हैं। विचार और काम के मैदान के आजकल के नेताओं—तिलक, अरविंद घोष, गांधीजी—ने भी इसके संवंध में लिखा है और अपनी-अपनी व्याख्याएं दी हैं। गांधीजी ने इसे अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास का आधार वनाया है; और लोगों ने इसे हिंसा और धर्म-कार्य के लिए युद्ध का।

यह काव्य, घोर युद्ध आरंभ होने से पहले, ठीक लड़ाई के मैदान में, अर्जुन और कृष्ण की वातचीत के रूप में आरंभ होता है। अर्जुन विचलित है, उसकी अंतरात्मा लड़ाई और उससे होनेवाले वड़े संहार का, मित्रों और वंधुओं के संहार का, खयाल करके सहम उठती है। आखिर यह सव किस लिए? कौन से ऐसे लाभ की कल्पना हो सकती है, जो इस क्षति का, इस पाप का, परिहार कर सके? उसकी सभी पुरानी कसौटियां जवाव दे देती हैं, वह सभी मूल्य, जिन्हें उसने आँक रक्खा था, वेकार हो जाते हैं। अर्जुन मनुष्य की पीड़ित आत्मा का प्रतीक वन जाता है, ऐसी आत्मा का, जो सभी काल में, कर्तव्य और सदाचार के तक़ाजों की वजह से दुविधा में पड़ी रही है। इस निजी वातचीत से होते-होते हम आदमी के कर्तव्य और सामाजिक आचरण, इंसानी ज़िंदगी और सदाचार, और हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए, इन व्यापक विचारों तक पहुँच जाते हैं। इसमें वहुत कुछ ऐसा है जो आध्यात्मिक है; और इस वात की कोशिश की गई है कि मानवी उन्नति के तीन रास्तों—ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग—का इसके द्वारा समन्वय

हो। शायद भक्ति पर औरों की अपेक्षा ज़्यादा जोर दिया गया है, और एक व्यक्तिगत ईश्वर का रूप भी इसमें दीखता है, हालाँकि यह कहा गया है कि वह पूर्णरूप परमेश्वर का ही एक अवतार है। गीता में खास तौर पर मनुष्य के जीवन की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि दिखाई गई है, और इसी भूमिका में नित्य के जीवन के व्यावहारिक मसले हमारे सामने आते हैं। यह हमें जीवन के कर्त्तव्यों का सामना करने के लिए पुकारती है, लेकिन हमेशा इस तरह कि इस आध्यात्मिक भूमि और विश्व के बड़े उद्देश्य को दृष्टि से अलग न किया जाय। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहने की बुराई की गई है और यह बताया गया है कि काम और जीवन को युग के सबसे ऊँचे आदर्शों के अनुसार होना चाहिए, क्योंकि हर एक युग में स्वयं आदर्श बदलते रहते हैं। एक विशेषकाल के आदर्श, युगधर्म, का सदा ध्यान रखना चाहिए।

गीता का सँदेसा सांप्रदायिक या किसी एक विशिष्ट विचार के लोगों के लिए नहीं है। क्या ब्राह्मण और क्या अजात, यह सभी के लिए है। यह कहा गया है कि "सभी रास्ते मुझ तक पहुँचाते हैं।" ढाई हज़ार बरसों में, जो इसके लिखे जाने के बाद बीते हैं, हिंदुस्तान के लोगों ने न जाने कितने परिवर्तन देखे हैं और चढ़ाव-उतार भी देखे हैं; अनुभव पर अनुभव हुए हैं; ख़याल-पर-ख़याल उठे हैं, लेकिन उन्हें हमेशा गीता में कोई जीवित वस्तु मिली है, जोकि उनके उन्नति करते हुए विचार से मेल खा गई है, जिसमें ताजगी रही है, और मस्तिष्क को छेड़ने वाले आध्यात्मिक प्रश्नों पर जो लागू रही है।

१५ : प्राचीन हिंदुस्तान में जीवन और व्यवसाय

विद्वानों और दार्शनिकों ने प्राचीन हिंदुस्तान के दर्शन और अध्यात्म के विकास को जाँचने के लिए बहुत कुछ किया है; ऐतिहासिक घटनाओं का काल-क्रम निश्चित करने के लिए भी बहुत कुछ किया गया है। लेकिन उन कालों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को मालूम करने के लिए अभी विशेष काम नहीं हुआ है—यह कि किस तरह लोग रहते-सहते थे और अपना धंधा करते थे, क्या चीज़ें और किस तरह पैदा करते थे और व्यापार किस ढंग से होता था। इन बहुत महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अब अधिक ध्यान दिया जा रहा है। महाभारत स्वयं समाज-शास्त्र संबंधी और और सूचनाओं का भंडार है और निश्चय ही दूसरी बहुत-सी पुस्तकों से हमें जानकारी प्राप्त हो सकती है। लेकिन उनकी इस दृष्टि से, ध्यानपूर्वक जाँच-पड़ताल करना

ज़रूरी है। एक पुस्तक, जिसका कि इस विचार से वहुत मूल्य है, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है, जोकि ईसा से पूर्व चौथी सदी में लिखा गया था, और जिसमें कि राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक वातों और मोर्चों के फ़ौजी संगठन के वारे में वहुत-सी व्यौरेवार जानकारी मिलती है।

इससे भी पहले का एक वर्णन, जोकि हमें वुद्ध से भी पूर्व के समय तक पहुँचाता है, हमें जातक-कथाओं में मिलता है। इन जातक-कथाओं का वर्तमान रूप वुद्ध के समय से वाद का है। इनमें वुद्ध के पहले के जन्मों का हाल लिखा हुआ ख़याल किया जाता है और यह वौद्ध साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग वन गई हैं। लेकिन स्पष्ट है कि ये कहानियां और भी पुरानी हैं और इनमें वौद्ध-काल से पूर्व का चर्चा है। इनसे हमें उस ज़माने के हिंदुस्तान के जीवन के वारे में वहुत-सी सूचना मिलती है। प्रोफ़ेसर रीज़ डेविड्स ने इन्हें लोक-कथाओं का सवसे पुराना, सवसे पूर्ण और सवसे महत्त्व का संग्रह वताया है।

जातकों में उस काल का चर्चा है जव कि हिंदुस्तान की दो मुख्य जातियों का, यानी द्रविड़ों और आर्यों का, अंतिम मेल-मिलाप हो रहा था। उनसे एक "विविध और अस्त-व्यस्त समाज का पता लगता है, जिसके वर्गीकरण के सभी प्रयत्न निरर्थक होंगे और जिसके वारे में उस ज़माने की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार संगठन की कोई वात ही नहीं हो सकती।" यह कहा जा सकता है कि जातकों में हमें व्राह्मणों और क्षत्रियों की परंपरा के विरोध में जन-साधारण की परंपरा मिलती है।

जुदा-जुदा राज्यों और शासकों के काल-क्रम और वंशावलियां हमें मिलती हैं। आरंभ में राजा चुना जाता था; वाद में राजे वंश-गत होने लगे और सवसे जेठा लड़का राज्य का अधिकारी होता। स्त्रियां उत्तराधिकार से अलग रक्खी गई हैं, लेकिन इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। जैसा कि चीन में रहा है, शासक सभी दुर्भाग्यों के ज़िम्मेदार ठहराए जाते थे।

अगर कोई वात विगड़ती है तो दोप राजा पर आता है। मंत्रियों की समितियां हुआ करती थीं, और एक तरह की राज्य-परिपद् के भी प्रसंग मिलते हैं। फिर भी राजा स्वायत्त हुआ करता था, हालाँकि उसे कुछ स्थापित मान्यताओं के अनुसार चलना पड़ता था। दरवार में पुरोहित का पद वड़ा ऊँचा माना जाता था; वह सलाहकार भी होता था और धार्मिक रसूमों को अदा करने वाला भी। अन्यायी

राजाओं के विरुद्ध जनता के विद्रोह के भी हवाले मिलते हैं, और ऐसे राजाओं को उनके अपराधों के लिए जानें तक गँवानी पड़ी हैं।

गाँव की पंचायतों को एक हद तक ख़ुदमुख़्तारी प्राप्त थी। जमीन के लगान से मुख्य आमदनी थी। यह खयाल किया जाता था कि ज़मीन पर लगाया गया कर राजा के हिस्से का है; आमतौर पर यह ग़ल्ले या उपज के रूप में अदा किया जाता था, लेकिन हमेशा ऐसा न होता था। यह खासकर किसानों की सभ्यता थी और इसकी बुनियादी इकाई यही स्वायत्त गाँव हुआ करते थे। इन्हीं गाँवों की जनता के आधार पर राजनीतिक और आर्थिक संगठन होता था; दस-दस और सौ-सौ गाँवों के गिरोह बना दिये जाते थे। बाग़बानी, पशु-पालन और ग्वालों का धंधा बहुत बड़े पैमाने पर होता था। बाग़ और उद्यान बहुतायत से थे और फूलों और फलों की क़द्र की जाती थी। जिन फूलों का चर्चा है उनकी एक लंबी सूची तैयार होगी; जो फल पसंद किये जाते थे वह आम, अंजीर, अंगूर, केला और खजूर हैं। तरकारी और फल बेचने वालों की, और मालियों की शहरों में बहुत-सी दुकानें हुआ करती थीं। आज की तरह उस ज़माने में भी फूलों की मालाओं की बड़ी क़द्र थी।

शिकार एक नियमित धंधा था, विशेषकर इसलिए कि उसके द्वारा खाना प्राप्त होता था। मांसाहार साधारण-सी बात थी, और इसमें मुर्ग़ और मछलियां शामिल थीं; हिरन के मांस की बड़ी क़द्र होती थी। मछुओं का अलग धंधा था, और क़साई-खाने भी थे। लेकिन खाने की खास चीज़ें चावल, गेहूं, बाजरा और मक्का थीं। ईख से शक्कर बनाई जाती थी। आज की तरह उस ज़माने में भी दूध और उससे बनी दूसरी चीज़ों की बड़ी क़द्र थी। शराब की दुकानें भी थीं; और शराब जान पड़ता है कि चावल, फल और ईख से तैयार की जाती थी।

धातुओं और क़ीमती पत्थरों की खानें थीं। जिन धातुओं का चर्चा आया है, वे हैं सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा, सीसा, टिन, पीतल। क़ीमती पत्थरों में हीरा, लाल, मूँगा हैं; मोतियों का भी ज़िक्र है। सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्कों के हवाले हैं। व्यापार के लिए साझे हुआ करते थे और सूद पर क़र्ज़ दिया जाता था।

तैयार किये गए माल में रेशम, ऊन और रुई के कपड़े; लोइयां, कंबल, और क़ालीन हैं। कताई, बुनाई, रंगाई के धंधे ख़ूब फैले हुए और नफ़े के धंधे थे।

धातुओं के व्यवसाय से लड़ाई के हथियार तैयार होते थे। इमारत के धंधे में पत्थर, लकड़ी और ईंटें काम में आती थीं। बढ़ई लोग तरह-तरह के सामान तैयार करते थे, जैसे गाड़ियां, रथ, पलँग, कुरसियां, बेंचें, पेटियां, खिलौने आदि। बेंत का काम करने वाले चटाई, टोकरियां, पंखे और छाते तैयार करते थे। कुम्हार हर एक गाँव में होते थे। फूलों और चंदन की लकड़ी से कई तरह की सुगंधियां, तेल और सिंगार की चीज़ें तैयार की जाती थीं, इसमें चंदन की बुकनी भी होती थी। कई तरह की दवाइयां और आसव तैयार होते थे और कभी-कभी मरे हुए आदमी के शरीर को मसाला लगाकर सुरक्षित रक्खा जाता था।

बहुत तरह के कारीगरों और दस्तकारों के अलावा, जिनका कि चर्चा हुआ है, कई और पेशेवरों के हवाले मिलते हैं। यह हैं: अध्यापक, वैद्य, जर्राह, व्यापारी, दुकानदार, गवैये, ज्योतिषी, कुँजड़े, भाँड, बाज़ीगर, नट, कठपुतली का तमाशा करने वाले और फेरी वाले।

घरों में दासों का होना काफ़ी मामूली बात थी, लेकिन खेती के काम और दूसरे कामों के लिए मज़दूर लगाए जाते थे। उस समय भी थोड़े से अछूत थे—यह चांडाल कहलाते थे और इनका खास काम था मुर्दों को फेंकना या जलाना।

व्यापारियों के संगठनों और कारीगरों के संघों का महत्त्व माना जा चुका था। जातकों में लिखा है कि कारीगरों के अठारह संघ थे, लेकिन उनमें केवल चार नाम से बताये गए हैं, अर्थात् बढ़इयों और थवइयों के, सुनारों के, चमड़े का काम करने वालों के और रंगसाज़ों के। महाकाव्यों में भी व्यापारी और कारीगरों के संगठनों के हवाले हैं। महाभारत में लिखा है: "संघों की रक्षा एकता से है।" कहा जाता है कि व्यापारियों के संघों का ऐसा ज़ोर था कि राजा भी इनके विरुद्ध कोई क़ानून नहीं बना सकता था। पुरोहितों के बाद इन संघों के मुखियों को बताया गया है, जिनका कि राजा को खास ध्यान रखना चाहिए। व्यापारियों का मुखिया श्रेष्ठ (आजकल का सेठ) बहुत काफ़ी महत्त्व रखता था।

जातकों के बयान से एक कुछ असाधारण विकास का पता लगता है। यह है खास-खास धंधा करने वालों के अलग गाँव या बस्तियों का होना। जैसे एक बढ़इयों का गाँव था, जिसमें कि कहा जाता है एक हज़ार घर थे। एक सुनारों का गाँव था, और उसी तरह और भी थे। इस तरह के खास पेशेवरों के गाँव आम तौर पर शहरों के क़रीब होते थे, जहां कि उनकी बनाई चीज़ों की खपत होती थी और जहां

कि उन्हें अपनी ज़रूरत की और चीज़ें प्राप्त हो जाती थीं। जान पड़ता है कि सारा गाँव सहकारिता के सिद्धांतों पर काम करता था और बड़े-बड़े ठेके लिया करता था। शायद इस अलहदा संगठन और रहने की वजह से ज़ातों का विकास हुआ और वह फैलीं। ब्राह्मणों और कुलीनों की मिसालें क्रमशः व्यापारियों के संघों और कारीगरों की सभाओं ने अपनाईं।

बड़ी-बड़ी सड़कें, जिनके किनारे यात्रियों के आराम के लिए घर बने थे, और कहीं-कहीं अस्पताल भी, सारे उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थीं और दूर-दूर की जगहों को मिलाती थीं। ईसा के पूर्व की पाँचवीं सदी में, मिस्र में, मेम्फ़ीज़ नाम की जगह पर, हिंदुस्तानी व्यापारियों की एक बस्ती थी, जैसा कि वहां पाई गई हिंदुस्तानियों के सिरों की मूर्तियों से पता चलता है। शायद हिंदुस्तान और दक्खिन-पूर्वी एशिया के टापुओं के बीच भी व्यापार हुआ करता था। समुद्र पार के व्यापार के लिए जहाज़ों की ज़रूरत थी और यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तान में देश के भीतर नदियों पर चलने के लिए ही नहीं, बल्कि समुद्र पर चलने वाले जहाज़ भी बनते थे। महाकाव्यों में, दूर से आने वाले व्यापारियों से जहाज़ की चुंगी लिये जाने के प्रसंग हैं।

जातकों में व्यापारियों की समुद्र-यात्राओं के हवाले भरे पड़े हैं। खुश्की के रास्ते से, रेगिस्तानों को पार करके भड़ोंच के पच्छिमी बंदरगाह तक और उत्तर में गांधार और मध्य-एशिया तक कारवां जाया करते थे। भड़ोंच से जहाज़ बैबिलन (बावेरू) के लिए फ़ारस की खाड़ी को जाया करते थे। नदियों के रास्ते बड़ी आमद-रफ़्त हुआ करती थी और जातकों के अनुसार बेड़े बनारस, पटना, चंपा (भागलपुर) और दूसरे जगहों से समुंदर को जाया करते थे और वहां से दक्खिनी बंदरगाहों और लंका और मलय टापू तक। पुराने तमिल काव्यों में कावेरीपट्टनम नाम के बंदरगाह का हाल मिलता है, जोकि दक्खिन में कावेरी नदी के किनारे पर था और जो कि अंतर्जातीय व्यापार का केंद्र था। यह जहाज़ काफ़ी बड़े होते होंगे, क्योंकि जातकों में बताया गया है कि एक जहाज़ पर 'सैकड़ों' व्यापारी और यात्री सवार हुए।

'मिलिंद' में (यह ईसा से बाद की पहली सदी की रचना है। मिलिंद उत्तरी हिंदुस्तान का यूनानी बाख्त्री राजा था, जो कि कट्टर बौद्ध बन गया था) यह लिखा है: "जिस तरह कि एक जहाज़ का मालिक, जिसने किसी समुद्री बंदरगाह के

शहर में, माल के भाड़े से खूब धन कमा लिया है, समुद्र-यात्रा करके वंग (वंगाल), या तक्कोल, या चीन, या सोविर, या इस्कंदरिया या कारोमंडल तट पर, या हिंदुस्तान से पूर्व, या किसी ऐसी जगह जहां जहाज़ इकट्ठा होते हैं, जा सकता है।'

"हिंदुस्तान से वाहर जाने वाले माल में रेशम के कपड़े, मलमल, और महीन कपड़े, छुरियां, ज़िरह-वख्तर, कमखाव, ज़रदोज़ी के काम, लोइयां, इत्र-फुलेल, दवाइयां, हाथी-दाँत और हाथी-दाँत की वनी चीज़ें, ज़ेवर और सोना (चाँदी वहुत कम)—यह खास चीज़ें होती थीं, जिन्हें कि व्यापारी भेजा करते थे।'

हिंदुस्तान, वल्कि उत्तरी हिंदुस्तान अपने लड़ाई के हथियारों के लिए मशहूर था, खास तौर पर अपने लोहे की उत्तमता के लिए और तलवारों और कटारों के लिए। ईसा से पूर्व की पाँचवीं सदी में, हिंदुस्तानी सिपाहियों की एक वड़ी टुकड़ी पैदल और घुड़सवार दोनों की, ईरानी फ़ौज के साथ यूनान गई थी। जव वि सिकंदर ने ईरान पर आक्रमण किया, तो (यह फ़िरदौसी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'शाहनामा' में लिखा है) हिंदुस्तान से ईरानियों ने जल्दी-जल्दी से तलवारें और और हथियार मँगाए। तलवार के लिए पुराना (इस्लाम से पूर्व का) अरवी शब्द है 'मुहन्नद', जिसके मानी हैं 'हिंद से आया हुआ' या हिंदुस्तानी। यह शब्द आजकल भी आम तौर पर प्रयोग में आता है।

प्राचीन हिंदुस्तान में, जान पड़ता है कि, लोहे के तैयार करने में वड़ी उन्नति हो गई थी। दिल्ली के पास एक वहुत वड़ा लोहे का खंभा है जिसने आजकल के वैज्ञानिकों को भी दंग कर दिया है, और वह नहीं पता लगा सके हैं कि यह किस तरह वना होगा, क्योंकि इस पर न ज़ंग लग सका है और न दूसरे मौसमी परिवर्तनों का असर पहुँचा है। इस पर जो लेख खुदा हुआ है वह गुप्त ज़माने की लिपि में है जो कि ईसा से वाद की चौथी सदी में प्रचलित थी। लेकिन कुछ विद्वानों का यह कहना है कि खंभा खुद इस लेख से पूर्व का है और यह लेख वाद में जोड़ा गया है।

ईसा से पूर्व की चौथी सदी में, सिकंदर का हिंदुस्तान पर हमला, फ़ौजी दृष्टि से एक छोटी-सी वात थी। यह एक सरहदी धावे के ढंग का हमला था और वह भी वहुत कामयाव हमला नहीं था। एक सरहदी सरदार ने उससे ऐसा कड़ा मोर्चा लिया कि खास हिंदुस्तान पर वढ़कर आने के अपने विचार को उसे पलटना पड़ा। अगर सरहदी इलाक़े का एक छोटा-सा हाकिम इस तरह लड़ सकता था, तो और दक्खिन के ज़्यादा वलशाली राज्यों का क्या कहा जा सकता है? शायद यही

वजह थी कि उसकी फ़ौज ने और आगे बढ़ने से इन्कार किया और वापस लौटने का आग्रह किया।

हिंदुस्तान की फ़ौजी शक्ति का अनुमान सिकंदर के वापस जाने और उसकी मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद मिला जब कि सिल्यूकस ने दूसरा हमला करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे हराकर पीछे भगा दिया। उस ज़माने में हिंदुस्तानी फ़ौजों को एक ऐसी सुविधा थी जो दूसरों को नहीं प्राप्त थी; यह सिखाये हुए हाथियों की सुविधा थी, जिन्हें कि आजकल के टैंकों से मिलाया जा सकता है। सिल्यूकस निकाटोर ने हिंदुस्तान से ऐसे ५०० लड़ाई के हाथी हासिल किये और ३०२ ई० पू० में एशिया माइनर में, ऐंटिगोनस के खिलाफ़ लड़ाई में इन्हें लगाया। फ़ौजी मामलों के जानकार इतिहासकारों का कहना है कि ऐंटिगोनस मारा गया और उसका बेटा दिमित्रियस भाग गया तो इसका मुख्य कारण यह हाथी थे।

हाथियों को सिखाने, घोड़ों की नस्ल तैयार करने, आदि विषयों पर पुस्तकें लिखी गई हैं; इनमें हर एक को शास्त्र कहा गया है। अब इस शब्द का अर्थ धर्म-ग्रंथों के लिए लिया जाने लगा है, लेकिन इसका प्रयोग गणित से लेकर नृत्य तक किसी भी तरह की विद्या के लिए बिना भेद-भाव के किया जाता था। वास्तव में धर्म और सांसारिक ज्ञान के बीच में कोई विभाजक लकीर नहीं खींची गई थी। यह आपस में इस तरह सटे हुए थे कि एक-दूसरे के ऊपर आ जाते थे और हर एक बात जिसकी कि जीवन के लिए उपयोगिता होती, जाँच का विषय बन जाती।

हिंदुस्तान में लिखने का रिवाज बहुत ही पुराना है। बाद के पाषाण युग के मिट्टी के बरतनों पर ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अक्षर मिले हैं। मोहन-जो-दड़ो में ऐसे लेख मिले हैं जिन्हें अभी तक पूरी तरह नहीं पढ़ा जा सका है। ब्राह्मी लेख जो हिंदुस्तान में सभी जगह मिले हैं, ऐसे हैं जिनकी लिपि पूरी तरह देवनागरी लिपि की बुनियाद में है, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता। अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी में हैं, पच्छिमोत्तर के और लेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

ईसा से पूर्व छठी या सातवीं सदी में पाणिनि ने अपना संस्कृत-व्याकरण तैयार किया। उन्होंने और भी व्याकरणों का चर्चा किया है, और उस ज़माने में भी संस्कृत का रूप स्थिर हो चुका था और यह एक बराबर बढ़ते हुए साहित्य की भाषा बन चुकी थी।

पाणिनि की पुस्तक को केवल व्याकरण न समझना चाहिए। लेनिनग्राड के सोवियत प्रोफ़ेसर टी० शेरवात्सकी ने उसका बयान करते हुए उसे "मानवी मस्तिष्क की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक" बताया है । आज भी पाणिनि संस्कृत व्याकरण पर प्रमाण माने जाते हैं, हालाँकि बाद के वैयाकरणों ने उसमें और बातें जोड़ी हैं और उसकी अपने ढंग से व्याख्यायें की हैं। यह एक रोचक बात है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि की चर्चा किया है । इससे पता चलता है कि हिंदुस्तान और यूनान के बीच, सिकंदर के पूरब आने से पहले ही, किसी-न-किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

ज्योतिष का विशेष रूप से अध्ययन होता था और अक्सर यह अध्ययन फलित ज्योतिष की तरफ़ झुकता था। औषध-शास्त्र की पाठ्यपुस्तकें बनी थीं और अस्पताल भी थे। हिंदुस्तानी औषध-शास्त्र का संस्थापक धन्वंतरि था, ऐसी परंपरा है। लेकिन सबसे मशहूर पुरानी पाठ्यपुस्तकें ईस्वी सन् की शुरू की सदियों में रची गई। इनमें औषध पर चरक की और शल्य या जर्राही पर सुश्रुत की पुस्तकें हैं। यह ख़याल किया जाता है कि कनिष्क (जिस की राजधानी पश्चिमोत्तर में थी) के दरबार का राजवैद्य चरक था। इन पुस्तकों में बहुत से रोगों का वर्णन है और उनके निदान और उपचार बताये गए है। इनमें जर्राही, दाइयों का काम, स्नान, खान-पान, सफ़ाई, बच्चों को खिलाने के ढंग और चिकित्सा संबंधी शिक्षा, यह बातें बताई गई हैं। हम प्रयोग की ओर प्रवृत्ति देखते हैं और मुर्दों के ऊपर चीर-फाड़, जर्राही की शिक्षा के साथ-साथ, कराई जाती थी। सुश्रुत ने बहुत से जर्राही के औज़ारों का जिक्र किया है और चीर-फाड़ का भी, जिसमें कि अंगों को काटने, पेट चीरने, पेट चीरकर बच्चा निकालने, मोतियाबिंद की जर्राही आदि हैं। घावों के कीड़ों को बफारा देकर मारा जाता था। ईसा से पूर्व की तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। यह शायद जैनियों और बौद्धों के धर्मों के प्रभाव से बने थे, जिनमें कि अहिंसा पर ज़ोर दिया गया है।

गणित में प्राचीन हिंदुस्तानियों ने कुछ क्रांतिकारी आविष्कार किये थे—ख़ास तौर पर शून्य के चिह्न, दशमलव प्रणाली, ऋण के चिह्न, और बीजगणित में अज्ञात राशियों के लिए अक्षरों का प्रयोग । इन आविष्कारों का समय बताना मुश्किल है, क्योंकि सिद्धांत की स्थापना और उसके व्यवहार के बीच बड़े लंबे ज़माने का अंतर आ जाता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि अंकगणित, बीजगणित

और रेखागणित का आरंभ सबसे प्राचीनकाल में हो चुका था। ऋग्वेद के ज़माने में भी गिनती के लिए दहाई का प्रयोग किया जाता था। इन प्राचीन हिंदुस्तानियों में गिनती और समय का असाधारण ज्ञान था। बहुत बड़ी राशियों के नामों की एक लंबी सूची उन्होंने बना रक्खी थी। यूनानियों, रोमनों, ईरानियों और अरबों के यहां हज़ार या ज़्यादा-से-ज़्यादा दस हज़ार ($१०^४$ = १०,०००) की संख्या से आगे के नाम न थे। हिंदुस्तान में १८ निश्चित नामकरण ($१०^{१८}$) तो थे ही; और इससे भी लंबी सूचियां बन गई थीं। बुद्ध की आरंभ की शिक्षा के वर्णन से हमें मालूम होता है कि $१०^{५०}$ तक की संख्याओं के अलग-अलग नाम वह ले सकते थे।

दूसरी तरफ़ काल का बड़ा सूक्ष्म विभाजन हो गया था, और इसकी सब से छोटी इकाई लगभग एक सेकंड का सत्रहवां हिस्सा थी। लंबाई की सबसे छोटी माप क़रीब-क़रीब १.३×७^{-१०} इंच थी। यह सब बड़ी और छोटी राशियां केवल काल्पनिक थीं, और इनका प्रयोग दर्शन के विचारों में हुआ करता था। फिर भी प्राचीन हिंदुस्तानियों की देश-काल की कल्पना और प्राचीन क़ौमों के मुक़ाबले कहीं बढ़ी-चढ़ी थी। उनका चिंतन बहुत बड़े पैमाने पर होता था। उनकी पुराण की कथाओं में अबों-खबों साल के युगों का बयान है। आजकल के भूगर्भशास्त्र के विशद युगों की गिनतियां और नक्षत्रों की दूरी की बहुत बड़ी मापें उनके लिए अचरज की चीज़ें न होतीं। इस पृष्ठभूमि की वजह से डार्विन के और इसी तरह के दूसरे सिद्धांतों ने हिंदुस्तान में वह उथल-पुथल और भीतरी संघर्ष नहीं पैदा किया जो कि उन्नीसवीं सदी के बीच के ज़माने में उठा था। यूरोप की साधारण जनता के मस्तिष्क में जो समय का पैमाना आमतौर पर आता था, वह कुछ हज़ार सालों से आगे का नहीं था।

'अर्थशास्त्र' में उत्तरी हिंदुस्तान में ईसा से पूर्व की चौथी सदी में बरती जाने वाली मापें और तौलें मिलती हैं। बाज़ार में तौल के बटखरों की कड़ी जाँच हुआ करती थी।

पुराणों के ज़माने में अक्सर वन के आश्रमों का चर्चा है जो कि एक तरह के विश्वविद्यालय होते थे। यह शहरों से बहुत दूर पर नहीं होते थे और यहां प्रसिद्ध विद्वानों के पास शिक्षा-दीक्षा के लिए विद्यार्थी इकट्ठा हुआ करते थे। यह शिक्षा कई विषयों की होती थी, इसमें फौजी शिक्षा भी सम्मिलित थी। इन आश्रमों

को इसलिए पसंद किया जाता था कि विद्यार्थी लोग यहां शहर के शोर-गुल और आकर्षणों से दूर रहते हुए, संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन विता सकते थे। यहां कुछ साल शिक्षा प्राप्त करके वह वापस जाकर गृहस्थी का और नागरिक जीवन विताते थे। शायद इन आश्रमों या गुरुकुलों में छोटे-छोटे गुट्ट इकट्ठा हुआ करते थे, यद्यपि इस वात के संकेत मिलते हैं कि लोकप्रिय गुरुओं के यहां, वड़ी संख्या में विद्यार्थी खिचकर पहुँचा करते थे।

वनारस हमेशा से विद्या का एक केंद्र रहा है, और वुद्ध के ज़माने में भी यह प्रसिद्ध था और प्राचीन माना जाता था। वनारस के पास मृगदाव में वुद्ध ने सवसे पहले उपदेश दिया था, लेकिन वनारस किसी ज़माने में ऐसे विश्वविद्यालय का केंद्र रहा हो, जैसे कि उस समय और वाद में और जगहों में थे, यह नहीं जान पड़ता। वहां पर गुरुओं और शिष्यों के वहुत से अलग-अलग समुदाय थे, और अक्सर विरोधी समुदायों में तीखे शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

लेकिन पच्छिमोत्तर में, वर्तमान पेशावर के पास, एक प्राचीन और प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला में था। यह ख़ास तौर पर विज्ञान, चिकित्सा शास्त्र और कलाओं के लिए मशहूर था और हिंदुस्तान के दूर-दूर के हिस्सों से यहां लोग आया करते थे। जातक कथाओं में ऐसी वहुत-सी मिसालें हैं उन कुलीनों और ब्राह्मणों के वेटों की, जो तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने के लिए, अकेले और विना किसी रक्षा के अस्त्र के जाया करते थे। इसकी स्थिति ऐसी थी कि वहुत करके यहां मध्य-एशिया और अफ़ग़ानिस्तान से भी विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आया करते थे। तक्षशिला का स्नातक होना एक प्रतिष्ठा की वात समझी जाती थी। जो वैद्य यहां से चिकित्सा-शास्त्र सीखकर निकलते थे, उनकी वड़ी क़द्र होती थी, और इसका वर्णन मिलता है कि जव कभी वुद्ध वीमार पड़ते थे, तव उनके भक्त ऐसे मशहूर वैद्य को वुलाते थे जो कि तक्षशिला का स्नातक होता था। ईसा से पूर्व की छठी-सातवीं सदी के वैयाकरण पाणिनि ने यहीं शिक्षा पाई थी।

इस तरह तक्षशिला वौद्ध ज़माने से पहले का, ब्राह्मणों का विद्यापीठ था। वौद्ध काल में यहां वौद्ध विद्यार्थी भी, सारे हिंदुस्तान से और सीमा-पार से खिच-कर आते थे, इसलिए यह वौद्ध-ज्ञान का भी केंद्र वन गया था। यह मौर्य साम्राज्य के पच्छिमोत्तरी प्रांत की राजधानी भी थी।

कानून की दृष्टि से स्त्रियों का दर्जा, सबसे पहले स्मृतिकार मनु के अनुसार, निश्चितरूप से, गिरा हुआ था। वह हमेशा किसी-न-किसी के सहारे पर रहती थीं, वह चाहे बाप का हो,चाहे पतिका, चाहे बेटेका। क़ानून की दृष्टि में उन्हें चल-संपत्ति जैसा ख़याल किया जाता था। फिर भी, महाकाव्यों की बहुत-सी कथाओं से पता चलता है कि इस क़ानून का कड़ा बरताव नहीं होता था और उन्हें समाज में और घरों में आदर का पद मिलता था। पुराने स्मृतिकार मनु स्वयं लिखते हैं: "जहां औरतों का आदर होता है, वहां देवता लोग आकर बसते हैं।" तक्षशिला या किसी पुराने विद्यापीठ के सिलसिले में विद्यार्थिनियों का चर्चा नहीं मिलता। लेकिन उनमें से कुछ कहीं-न-कहीं शिक्षा ज़रूर पाती रही हैं, क्योंकि विदुषी और पढ़ी-लिखी स्त्रियों का बार-बार चर्चा हुआ है। बाद के युगों में भी प्रसिद्ध विदुषी स्त्रियां हुई हैं। स्त्रियों का क़ानूनी दर्जा प्राचीन हिंदुस्तान में, गिरा हुआ ज़रूर था, लेकिन आज की कसौटी से जाँचा जाय तो प्राचीन यूनान, रोम, आरंभ के ईसाई मत वाले देशों और मध्ययुग के बल्कि और हाल के, अर्थात् उन्नीसवीं सदी के आरंभ के, यूरोप में, उनका जैसा दर्जा था, उससे यहां कहीं अच्छा था।

मनु और उनके बाद के स्मृतिकार, व्यापार में साझे के चलन का हाल बताते हैं। मनु ने ख़ास तौर पर ब्राह्मणों की बातें कही हैं; याज्ञवल्क्य ने व्यापारी वर्ग और किसानों के बारे में भी लिखा है। एक बाद के लिखने वाले, नारद, ने कहा है: "हर एक हिस्सेदार का घाटा, ख़र्च, और लाभ उसकी लगाई पूंजी के अनुसार कम या अधिक होता है। गोदाम, खाने का, चुंगी का, हानि का, किराये-भाड़े का और रक्षा का ख़र्चा हर हिस्सेदार को क़रार के अनुसार देना चाहिए।"

राज्य की जो कल्पना मनु ने की है, वह स्पष्टरूप से एक छोटे राज्य की है। लेकिन इस कल्पना में विकास और परिवर्तन हो रहे थे, यहां तक कि इसके अंदर ईसा से पहले की चौथी सदी के विशाल मौर्य साम्राज्य और यूनानियों से अंतर्जातीय संपर्क तक आगए।

ईसा से पूर्व की चौथी सदी में, हिंदुस्तान में रहने वाले, यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने, हिंदुस्तान में, किसी तरह की भी ग़ुलामी के रिवाज के होने से इन्कार किया है। लेकिन ऐसा करने में उसने भूल की है, क्योंकि इसी काल की हिंदुस्तानी पुस्तकों में दासों की दशा के सुधारने के प्रसंग मिलते हैं। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि यहां बड़े पैमाने पर दासता नहीं थी, और जैसा कि बहुत से दूसरे

देशों में इस समय में एक आम बात थी, यहां मज़दूरी करने वाले ग़ुलामों के गिरोह नहीं थे। शायद इसीसे मेगस्थनीज़ ने समझा हो कि ग़ुलामी यहां बिल्कुल थी ही नहीं। यह लिखा गया था कि " 'आर्य' कभी दास नहीं बनाया जा सकता।" ठीक तौर पर कौन 'आर्य' था और कौन नहीं था, यह बताना कठिन है; लेकिन आर्यों के क्षेत्र में उस समय बहुत-कुछ चारों ही मुख्य वर्ण, जिनमें शूद्र भी थे, आ जाते थे; केवल अछूत नहीं आते थे।

चीन में भी आरंभ के हान वंश के समय में, दास, ख़ासकर घरेलू सेवा के लिए, हुआ करते थे। खेती या बड़े पैमाने पर मज़दूरी में उनका ज़्यादा काम न होता था। चीन और हिंदुस्तान दोनों ही जगह इस तरह के घरेलू दास गिनती में बहुत थोड़े थे, और इस विशेष विषय में हिंदुस्तानी और चीनी समाज और समकालीन यूनानी और रोमन समाज में बड़ा अंतर था।

उस काल के हिंदुस्तानी कैसे थे? हमारे लिए इतने पुराने और इस ज़माने से इतने भिन्न काल के बारे में अनुमान करना कठिन है; फिर भी जो फुटकर जानकारी हमें है उससे एक धुंधली तस्वीर हमारे सामने आती ही है। वह खुले दिल के, अपने में भरोसा रखने वाले, अपनी परंपरा पर गर्व करने वाले लोग थे; रहस्य की खोज में हाथ पैर फेंकने वाले, प्रकृति और मानवी जीवन के बारे में बहुत से प्रश्न करने वाले, अपनी बनाई मर्यादा और स्थापित मूल्यों के बारे में सावधान रहने वाले थे, लेकिन जीवन में आनंद के साथ हिस्सा लेने वाले और मौत का लापरवाही से सामना करने वाले थे। सिकंदर के उत्तरी हिंदुस्तान के आक्रमण के यूनानी इतिहासकार, एरियन पर आर्य जाति की इस उमंग का असर हुआ था। वह लिखता है : "कोई जाति गाने और नाचने की इतनी शौक़ीन नहीं, जितना कि हिंदुस्तानी हैं।"

१६ : महावीर और बुद्ध : वर्ण-व्यवस्था

महाकाव्यों के समय से लेकर आरंभिक बौद्ध-काल तक, उत्तरी हिंदुस्तान की कुछ इस तरह की भूमिका रही है जैसी कि ऊपर बताई गई है। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से यह बराबर बदलती रही है, और मिलने-जुलने और समन्वय का और धंधों के विशिष्ट होकर बँट जाने का क्रम जारी रहा है। विचार के क्षेत्र में बराबर विकास होता रहा है और प्रायः संघर्ष रहा है। आरंभ के उपनिषदों के बाद

के काल में, बहुत-सी दिशाओं में विचार और कार्य में उन्नति हुई है, और यह कर्म-कांड और पुरोहिताई के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में रही है। लोगों का मस्तिष्क, जो कुछ वह देखते थे, उसके विरुद्ध विद्रोह करता था, और इस विद्रोह का नतीजा था जोकि शुरू के उपनिषदों में, और कुछ समय वाद, जड़वाद, जैनधर्म और बौद्धधर्म के रूप में, और भगवद्गीता में पाए जाने वाले सब धर्मों के समन्वय में हमें मिलता है। फिर इन सबके भीतर से हिंदुस्तानी दर्शन की छः पद्धतियां निकलती हैं। लेकिन इस सब मानसिक संघर्ष और विद्रोह के पीछे एक जीता-जागता और उन्नति करता हुआ राष्ट्रीय जीवन था।

जैनधर्म और बौद्धधर्म, वैदिक धर्म और उसकी शाखाओं से हटकर थे, यद्यपि एक अर्थ में यह स्वयं उसीसे निकले थे। यह वेदों को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं, और जो बात सबसे बुनियादी है वह यह है कि यह आदि कारण के बारे में या तो मौन हैं या उससे इन्कार करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर ज़ोर देते हैं और ब्रह्म-चारी भिक्खुओं और पुरोहितों के संघ बनाते हैं। उनका दृष्टिकोण एक हद तक यथार्थवादी और बुनियादी दृष्टिकोण है, हालाँकि जब अनदेखी दुनिया पर विचार करना हो तो लाज़िमी तौर पर यह दृष्टिकोण हमें बहुत आगे नहीं ले जाता। जैन धर्म का एक बुनियादी सिद्धांत है कि सत्य हमारे विचारों से सापेक्ष है। यह एक कठोर नीतिवादी और अपरोक्षवादी विचार-पद्धति है; और इस धर्म में जीवन और विचार में तपस्या के पहलू पर ज़ोर दिया गया है।

जैनधर्म के संस्थापक महावीर और बुद्ध समकालीन थे। दोनों ही क्षत्रिय वर्ण के थे। बुद्ध का ८० वर्ष की उम्र में, ईसा से ५४४ वर्ष पहले निर्वाण हुआ। तभी से बौद्ध संवत् शुरू होता है। बौद्ध साहित्य में यह लिखा है कि बुद्ध का जन्म वैशाख (मई-जून) महीने की पूर्णिमा को हुआ था, इसी तिथि को उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था और इसी तिथि को उनका निर्वाण भी हुआ था।

बुद्ध में प्रचलित धर्म, अंध-विश्वास, कर्म-कांड और यज्ञ आदि की प्रथा पर और इनके साथ जुड़े हुए स्थापित स्वार्थों पर हमला करने का साहस था। उन्होंने आधिभौतिक और परमार्थी दृष्टिकोण का, करामातों, अलौकिक व्यापार आदि का विरोध किया। पर उनका तर्क, बुद्धि और अनुभव पर आग्रह था, और उन्होंने नीति या सदाचार पर ज़ोर दिया। उनका ढंग था मनोवैज्ञानिक विश्लेपण का और इस मनोविज्ञान में आत्मा को जगह नहीं दी गई थी। उनका दृष्टिकोण

आधिभौतिक कल्पनो की वासी हवा के वाद पहाड़ की ताज़ी हवा के हल्के थपेड़े-सा जान पड़ता है।

बुद्ध ने वर्णव्यवस्था पर कोई सीधा वार नहीं किया, लेकिन अपने संघ मे उन्होंने इसे जगह नहीं दी और इसमें शक नहीं कि उनका सारा रुख और काम करने का ढंग ऐसा रहा कि उससे वर्ण-व्यवस्था को धक्का पहुंचा। शायद उनके समय में और कुछ सदियों वाद तक ज़ात या वर्ण-व्यवस्था वहुत तरल दशा में थी। यह स्पष्ट है कि जिस समाज में ज़ात-पाँत के वंधन हों, वह विदेशों से व्यापार में, या दूसरे साहसी कामों में वहुत हिस्सा नहीं ले सकता, और फिर भी बुद्ध के पंद्रह सौ वरस वाद तक हम देखते हैं कि हिंदुस्तान और पड़ोसी मुल्कों के वीच व्यापार उन्नति कर रहा था, और हिंदुस्तानी उपनिवेशों की भी अच्छी स्थिति थी। पच्छिमोत्तर से विदेशी लोगों के आने का ताँता वँधा रहा और यह लोग यहां की जनता में समाविष्ट होते रहे।

समाविष्ट होने की इस गति पर विचार करना मनोरंजक है। यह गति दोनों सिरों पर काम करती रही। नीचे की तरफ़ तो नई ज़ातें वनती गई; दूसरी तरफ़ जितने सफल आक्रमणकारी होते, सव क्षत्रिय वन जाते। ईसाई सन् से ठीक पहले और वाद की सदियों के सिक्के दो-तीन पीढ़ियों के भीतर-भीतर तेज़ी के साथ होने वाले इस परिवर्तन को स्पष्ट करते हैं। पहले शासक का नाम विदेशी है; उसके वेटे या पोते का नाम संस्कृत का है, और उसे गद्दी पर विठाने के वक़्त वही परंपरागत विधि वरती जाती है, जो कि क्षत्रियों के लिए वनाई गई थी।

वहुत से राजपूत क्षत्रिय वंश उस समय से आरंभ होते हैं, जव कि शकों या सिदियनों के हमले, ईसा से पूर्व की दूसरी सदी में होने लगे थे, या जव कि वाद में श्वेत हूणों के हमले हुए। इन सवों ने देश में प्रचलित धर्म को और संस्थाओं को स्वीकार कर लिया, और वाद में उन्होंने महाकाव्यों के वीर-पुरुषों से संवंध जोड़ना आरंभ किया। क्षत्रिय वर्ण अधिकतर अपने पद और प्रतिष्ठा के कारण वना था, न कि जन्म की वजह से; इसलिए विदेशियों के लिए इसमें सम्मिलित हो जाना वड़ा आसान था।

यह एक विचित्र लेकिन मार्के की वात है कि हिंदुस्तानी इतिहास की लंवी मुद्दत में वड़े लोगों ने पुरोहितों और वर्ण-व्यवस्था की कठोरताओं के विरुद्ध वार वार आवाज़ उठाई है, और इनके विरुद्ध प्रवल आंदोलन हुए हैं, फिर भी क्रमशः,

क़रीव-क़रीव इस तरह कि पता भी नहीं चलता, मानो भाग्य का कोई न टलने वाला चक्र हो, ज़ात-पाँत का ज़ोर वढ़ा है और उसने फैलकर हिंदुस्तानी जीवन के हर एक पहलू को अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। ज़ात के विरोधियों का वहुत लोगों ने साथ दिया है और अंत में इनकी खुद अलग ज़ात वन गई है। जैनधर्म, जो स्थापित धर्म से विद्रोह करके उठा था, और वहुत तरह से उससे भिन्न था, ज़ात की ओर सहिष्णुता दिखाता था और स्वयं उससे मिल-जुल गया था। यही कारण है कि यह आज भी जीवित है और हिंदुस्तान में जारी है। यह हिंदूधर्म की क़रीव-क़रीव एक शाखा वन गया है। वौद्ध-धर्म, वर्ण-व्यवस्था न स्वीकार करने के कारण अपने विचार और रुख में अधिक स्वतंत्र रहा। अठारह सौ साल हुए ईसाई मत यहां आता है, और वस जाता है, और क्रमशः अपनी अलग ज़ातें वना लेता है। मुसलमानी समाजी संगठन, वावजूद इसके कि उसमें इस तरह के भेदों का ज़ोरदार विरोध हुआ है, इससे कुछ हद तक प्रभावित हुए विना न रह सका।

हमारे ही ज़माने में, ज़ात-पाँत की कठोरता को तोड़ने के लिए, वीच के वर्ग वालों में वहुत-से आंदोलन हुए हैं और उनसे कुछ अंतर भी पैदा हुआ है, लेकिन जहां तक आम जनता का संवंध है कोई विशेष अंतर नहीं हुआ है। इन आंदोलनों का क़ायदा यह रहा है कि सीधे-सीधे हमला किया जाय। इसके वाद गांधीजी आए और उन्होंने इस मसले को हिंदुस्तानी तरीक़े पर हाथ में लिया—यानी घुमाव के तरीक़े से—और उनकी निगाह आम जनता पर रही। उन्होंने काफ़ी सीधे तरीके पर भी वार किये हैं, काफ़ी छेड़-छाड़ की है, काफ़ी आग्रह के साथ इस काम में लगे रहे हैं, लेकिन उन्होंने चार वर्णों के मूल और वुनियाद में काम करने वाले सिद्धांत को चुनौती नहीं दी। इस व्यवस्था के ऊपर और नीचे जो झाड़-झंखाड़ उग आई है, उस पर उन्होंने हमला किया और यह जानते हुए कि इस तरह पर वह ज़ात-पाँत के समूचे ढड्ढे की जड़ काट रहे हैं। इसकी वुनियाद को उन्होंने अभी ही हिला दिया है और आम जनता पर गहरा असर पड़ा है। उनके लिए तो ऐसा है कि या तो सारा ढड्ढा क़ायम रहे, या सारा-का-सारा टूट जाय। लेकिन गांधीजी की शक्ति से भी वड़ी शक्ति काम कर रही है, और वह हमारे वर्तमान जीवन की परिस्थितियां हैं—और ऐसा जान पड़ता है कि अंततः प्राचीन काल के इस चिमटे रहने वाले निशान का भी अंत होने वाला है।

बुद्ध से पहले, ईसा से ७०० साल पूर्व बताया जाता है कि महर्षि और स्मृतिकार, याज्ञवल्क्य ने यह कहा था : "अपने धर्म और वर्ण से हममें गुण नहीं उपजता; गुण अभ्यास से आता है। इसलिए यह उचित है कि कोई आदमी दूसरे के लिए कोई भी ऐसी बात न करे, जिसे वह अपने लिए किया जाना पसंद न करेगा।"

१७ : चंद्रगुप्त और चाणक्य : मौर्य साम्राज्यकी स्थापना

बौद्ध-धर्म हिंदुस्तान में क्रमशः फैला; यद्यपि मूल में यह क्षत्रियों का आंदोलन था और हुकूमत करने वाले वर्ग और ब्राह्मणों के बीच के झगड़े को स्पष्ट करता था, फिर भी इसके सांस्कृतिक और जनतंत्री पहलू, और विशेषकर पुरोहिताई और कर्म-कांड के विरोध, आम लोगों को पसंद आए। इसका विकास एक आमपसंद सुधार के आंदोलन के रूप में हुआ और कुछ ब्राह्मण विचारक भी इसमें खिचकर आ गए। लेकिन आम तौर पर ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया और बौद्धों को नास्तिक और स्थापित धर्म के विरुद्ध विद्रोह करने वाला बताया। ढाई सदी बाद सम्राट् अशोक ने इस धर्म में दीक्षा ली और शांति के साथ इस धर्म का हिंदुस्तान में और बाहर प्रचार करने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी।

इन दो सदियों में हिंदुस्तान में बहुत-से परिवर्तन हुए। जातियों में मेल-जोल बढ़ाने की और छोटी-छोटी रियासतों को गणतंत्र का रूप देने की बहुत-सी क्रियाएं बहुत दिनों से जारी थीं; और एक मिला-जुला केंद्रीय राज्य स्थापित करने की पुरानी प्रेरणा भी काम कर रही थी, और इन सब का परिणाम यह हुआ कि एक शक्तिशाली और शानदार साम्राज्य स्थापित हो गया। पच्छिमोत्तर में होने वाले, सिकंदर के आक्रमण ने, इस विकास को और भी आगे ढकेलने में मदद दी, और दो ऐसे मार्के के आदमी सामने आए जिन्होंने कि इस बदलती हुई हालत से लाभ उठाया और उसे अपनी इच्छा के अनुकूल ढाल लिया। यह लोग थे चंद्रगुप्त मौर्य और उनके मित्र, मंत्री और सलाहकार ब्राह्मण चाणक्य। इनके मेल से खूब काम चला। दोनों ही नंदों के मगध राज्य से जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना थी) निकाले हुए थे; दोनों ही पच्छिमोत्तर से तक्षशिला पहुँचे और वहां सिकंदर के नियुक्त यूनानियों के संपर्क में आए। चंद्रगुप्त सिकंदर से स्वयं मिला; उसकी विजयों और शान-शौकत का हाल सुना, और उसी की बराबरी करने का उसके मन में हौसला पैदा हुआ। दोनों देख-भाल और तैयारी में लगे रहे।

उन्होंने बड़े ऊँचे मनसूबे बाँधे और अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में रहे।

जल्द ही उन्हें बैबिलन से, सिकंदर के (३२३ ई० पू० में) मरने की खबर मिली, और तुरंत चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राष्ट्रीयता का पुराना और सदा नया नारा बुलंद किया। यूनानियों की संरक्षक सेना तक्षशिला से भगा दी गई। राष्ट्रीयता की पुकार ने चंद्रगुप्त को बहुत से साथी दिए और उन्हें साथ लेकर, उत्तरी हिंदुस्तान पार करते हुए, उसने पाटलिपुत्र पर धावा कर दिया। सिकंदर की मृत्यु के दो साल भीतर ही उसने इस शहर पर और राज्य पर अधिकार कर लिया और मौर्य साम्राज्य की स्थापना हो गई।

सिकंदर के सेनापति सिल्यूकस ने, जिसने कि अपने स्वामी की मृत्यु के बाद एशिया माइनर से लेकर हिंदुस्तान तक के प्रदेश पर उत्तराधिकार पाया था, पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान पर फिर से हुकूमत क़ायम करना चाहा और उसने अपनी फ़ौज लेकर सिंध् नदी पार कर ली। वह परास्त हुआ, और काबुल और हिरात तक अफ़ग़ानिस्तान का एक हिस्सा उसे चंद्रगुप्त को देना पड़ा, और उसने अपनी लड़की भी चंद्रगुप्त के साथ व्याह दी। दक्खिन हिंदुस्तान को छोड़ कर, सारे हिंदुस्तान पर, अरब समुद्र से लेकर बंगाल की खाड़ी तक, चंद्रगुप्त का साम्राज्य फैला हुआ था, और उत्तर में यह काबुल तक पहुँचता था। लिखित इतिहास में यह पहला अवसर था कि हिंदुस्तान में एक केंद्रीय शासन इतने बड़े पैमाने पर बना। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

यह नया शासन था कैसा ? सौभाग्य से इसके पूरे-पूरे हाल हमें मिलते हैं, हिंदुस्तानियों के लिखे हुए भी और यूनानियों के भी। मेगास्थनीज़ ने, जोकि सिल्यूकस का भेजा हुआ एलची था, वृत्तांत लिखा है और उससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जोकि राजनीति-विद्या पर एक पुस्तक है, हमें उसी काल का लिखा हुआ हाल मिलता है। कौटिल्य चाणक्य का ही दूसरा नाम है, और इस तरह हमें एक ऐसी पुस्तक देखने को मिलती है, जिसका लिखने-वाला न केवल एक विद्वान् था, बल्कि जिसने साम्राज्य के स्थापित करने, उसे उन्नति देने और उसकी रक्षा में बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। चाणक्य को हिंदुस्तान का मैकियाविली कहा गया है, और कुछ हद तक यह तुलना उचित भी है। लेकिन हर अर्थ में वह उसकी बराबरी में बहुत बड़ा आदमी था—मस्तिष्क में भी और

काम में भी। वह एक राजा का केवल समर्थक अथवा एक शक्तिशाली सम्राट् का दीन सलाहकार न था। हिंदुस्तान के एक पुराने नाटक—मुद्राराक्षस में, जो उस समय का हाल वर्णन करता है, उसका चित्र हमें मिलता है। साहसी और षड्यंत्री, गर्वीला और वदला लेने वाला, अपमान को कभी न भूलने वाला, अपने उद्देश्य पर वरावर डटा रहने वाला, दुश्मन को धोखे में डालने और हराने की सभी तरह की तरकीवों को काम में लाने वाला—इस रूप में हम उसे एक साम्राज्य की वागडोर को हाथ में लिये देखते हैं; और वह सम्राट् को अपने मालिक की तरह नहीं, वल्कि एक प्रिय शिष्य की तरह देखता है। अपने जीवन में सीधा-सादा और तपस्वी, ऊँचे पद की शान-शौकत में रुचि न लेने वाला है; और जव उसका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है तो वह काम से छुट्टी पा लेना चाहता है और व्राह्मण की तरह, मनन का जीवन विताना चाहता है।

अपना उद्देश्य प्राप्त करने के लिए, शायद ही कोई वात हो, जिसे करने में चाणक्य को पसोपेश होता। वह स्पष्टवक्ता था, साथ ही वह काफ़ी वुद्धिमान भी था और यह समझता था कि ग़लत साधनों से उद्देश्य को ही हानि पहुँच सकती है। क्लौसविट्ज़ से वहुत पहले, कहा जाता है कि उसने वताया था, कि युद्ध शासन-नीति का ही सिलसिला है, दूसरे ज़रियों से। लेकिन उसने यह भी वताया है कि युद्ध का उद्देश्य इस नीति के व्यापक उद्देश्यों का पूरा करना होना चाहिए, और उसे स्वयं एक उद्देश्य वन कर न रह जाना चाहिए। राजनीतिज्ञ का उद्देश्य हमेशा यह होना चाहिए कि युद्ध के फल-स्वरूप राज्य की उन्नति हो, न केवल यह कि वैरी हार जाय और नष्ट हो जाय। अगर युद्ध से दोनों पक्ष नष्ट हो जाते हैं तो इसे राज-नीतिज्ञता का दिवाला समझना चाहिए। लड़ाई के लिए हथियारवंद फौज की जरूरत होती है, लेकिन हथियारों के ज़ोर से कहीं ज़्यादा महत्त्व की वात है वह कूटनीति जिससे कि दुश्मन भरोसा खो वैठे और उसकी फ़ौज तितर-वितर होकर या तो नष्ट हो जाय, या हमला होने के पहले ही नाश की हालत के क़रीव पहुँच जाय। यद्यपि चाणक्य अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के विषय में वड़ा कड़ा और कुछ भी न उठा रखने वाला था, फिर भी वह यह कभी नहीं भूलता था कि वुद्धिमान वैरी को कुचलने की अपेक्षा उसे अपना पक्षपाती वना लेना कहीं अच्छा है। वैरी की फ़ौज में फूट के वीज वोना उसका आखिरी हथियार था। साथ ही, कहा यह जाता है कि, ठीक उस समय जव कि जीत होने वाली थी, उसने चंद्रगुप्त को, अपने वैरी की

तरफ़, उदारता दिखाने पर तत्पर किया। यह भी कहते हैं कि चाणक्य ने, अपने ऊँचे पद की मुहर को, स्वयं भी उस विपक्षी के मंत्री के सिपुर्द कर दिया, जिसकी वुद्धिमानी और राजभक्ति का चाणक्य पर वड़ा असर पड़ा था। इस तरह से यह कथा हार और अपमान की कड़ुवाहट के साथ नहीं, वल्कि समझौते के साथ और राज्य की दृढ़ और वनी रहने वाली वुनियाद के रखने के साथ, समाप्त होती है, जिसमें कि वैरी की हार ही नहीं होती है, वल्कि उसे दिल से भी अपने में मिला लिया जाता है।

मौर्य साम्राज्य का यूनानी दुनिया के साथ कूटनीति का संवंध था—सिल्यूकस से भी और उसके उत्तराधिकारी टोलमी फ़िलाडेल्फ़स से भी। यह संवंध आपस के व्यापारिक हितों की दृढ़ वुनियाद पर टिका हुआ था। स्ट्रैवो कहता है कि मध्य-एशिया की आमू नदी उस महत्त्वपूर्ण सिलसिले की एक कड़ी थी, जिससे कि हिंदुस्तानी माल कास्पियन और काले समुंदरों के रास्ते यूरोप में पहुँचाया जाता था ईसा से पूर्व की तीसरी सदी में यह रास्ता वहुत चालू था। उस ज़माने में मध्य-एशिया ख़ुशहाल और उर्वर था। उससे एक हज़ार साल से कुछ वाद वह सूखने लगा। अर्थशास्त्र में लिखा है कि राजा के अस्तवल में अरवी घोड़े थे।

१८ : राज्य का संगठन

यह नया राज्य, जो कि ३२१ ई० पू० में क़ायम हुआ और हिंदुस्तान के ज़्यादातर हिस्से पर और उत्तर में ठीक कावुल तक फैला, आख़िर था कैसा राज्य? यह था एकछत्र शासन, और ऊपर के सिरे पर हम इसमें एकाधिपत्य पाते हैं, जैसा कि अधिकतर साम्राज्यों में रहा है और अव भी है। शहरों और गाँवों की इकाइयों में वहुत कुछ मुक़ामी स्वराज्य था और चुने हुए वुज़ुर्ग इन स्थानीय मामलों की देख-भाल किया करते थे। इस स्थानीय स्वराज्य की वड़ी क़द्र थी और शायद ही किसी राजा या सवसे वड़े शासक ने इसमें दख़ल दिया हो। फिर भी, केंद्रीय शासन का असर था और उसके तरह-तरह के काम सभी जगह देखने में आते थे, और कुछ अर्थों में यह मौर्य-शासन ऐसा था कि आजकल के एकाधिपत्य शासन की याद दिलाता है। उस एकमात्र किसानी के युग में राज्य व्यक्ति पर, उस तरह की वंदिशें, जैसी आजकल दिखती हैं, लगा नहीं सकता था। लेकिन सव सीमाओं के वावजूद, ज़िंदगी पर रोक लगाने की और उसे नियंत्रित करने की

कोशिशें हुईं। यह शासन एकमात्र पुलिस शासन न था जिसका कि उद्देश्य बाहरी और भीतरी शांति क़ायम रखना और लगान वसूल करना रहा हो।

एक काफ़ी फैली हुई और कड़ी नौकरशाही थी और खुफिया विभाग के वर्णन अक्सर मिलते हैं। खेती पर बहुत तरीक़ों से नियंत्रण लगे हुए थे; और यही हालत सूद के दर की थी। खाने की चीज़ों, मंडियों, कारखानों, क़साईखानों, पशुओं की नस्लकशी, पानी के हक़ों, शिकार, वेश्याओं और शराबखानों पर बंदिशें लगी हुई थीं और इनकी वक़्त पर जाँच हुआ करती थी। मापें और तौलें सब जगहों के लिए एक-सी कर दी गई थीं। खाने की चीज़ों के भरने और उनमें मिलावट करने पर कड़ी सज़ाएं मिलती थीं। व्यापार पर कर लगा हुआ था और इसी तरह धर्म के कामों पर भी। नियमों का पालन न हुआ या और कोई अपराध हुआ तो मंदिरों का धन ज़ब्त कर लिया जाता था। अगर अमीर लोग ग़बन करते या क़ौमी संकटों से फ़ायदा उठाते तो उनकी जायदाद ज़ब्त कर ली जाती। सफ़ाई का प्रबंध किया जाता था और अस्पताल खुले हुए थे और खास-खास केंद्रों पर वैद्य नियुक्त रहते थे। हुकूमत की तरफ़ से विधवाओं, यतीमों, बीमारों और कमज़ोरों को मदद दी जाती थी। अकाल से बचाने की खास ज़िम्मेदारी शासन की होती थी और हुकूमत के भंडारों में जो कुछ भी ग़ल्ला होता उसका आधा केवल इसलिए बचा रक्खा जाता था कि अकाल के ज़माने में काम आवे।

यह सब क़ानून-क़ायदे शायद ज़्यादातर शहरों पर लागू होते थे और गाँवों पर कम; यह भी मुमकिन है इनका व्यवहार में ढिलाई से इस्तैमाल किया जाता हो। लेकिन सिद्धांत के खयाल से भी यह बातें दिलचस्प हैं। गाँव के रहने वालों के लिए क़रीब-क़रीब स्वराज्य था।

चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में अनेकानेक विषयों का बयान हुआ है और यह पुस्तक शासन के सिद्धांत और व्यवहार के सभी पहलुओं पर विचार करती है। इसमें राजाओं के, उसके मंत्रियों और सलाहकारों के कर्तव्य बताए गए हैं, और राज-सभा की बैठकों, सरकारी महकमों, कूटनीति, लड़ाई और सुलह के बयान हैं। इसमें चंद्रगुप्त की बड़ी फ़ौज की तफ़सील दी गई है, जिसमें पैदल, घुड़सवार सेना, रथों और हाथियों का हाल है।[1] साथ ही चाणक्य का कहना है, गिनती से

---

[1] शतरंज का खेल, जिसका कि आरंभ हिंदुस्तान में ही हुआ, शायद सेना

कुछ होता-जाता नहीं; अगर संयम न हो और ठीक नेता न हों तो यही सेना भार हो सकती है। रक्षा और क़िलेबंदी के बारे में भी इस पुस्तक में कहा गया है।

और जिन बातों पर इस किताब में लिखा गया है वह हैं व्यापार और व्यवसाय, क़ानून और न्यायालय, शहरी व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह और तलाक़, औरतों के अधिकार, राज्यकर और लगान, खेती, खानों और कारखानों का चलाना, व्यवसायी मंडियां, बाग़बानी, उद्योग-धंधे, आबपाशी और जल के रास्ते, जहाज़ और जहाज़रानी, संघ, मर्दुमशुमारी, मछली पकड़ने का धंधा, क़साईखाने, राहदारी के पत्र, और क़ैदखाने। विधवा का फिर से ब्याहा जाना माना गया है, और किन्हीं खास हालतों में तलाक़ भी।

चीन के बने रेशमी कपड़े, चीन-पट्ट, का हवाला मिलता है और इस कपड़े में और हिंदुस्तान के बने रेशम के कपड़े में फ़र्क़ बताया गया है। शायद हिंदुस्तान का बना कपड़ा चीन के कपड़े के मुक़ाबले में ज़्यादा मोटा होता था। चीनी कपड़ों का आयात यह बताता है कि कम-से-कम ईसा से पहले की चौथी सदी में चीन के साथ हिंदुस्तान का व्यावसायिक संबंध क़ायम था।

अपनी राजगद्दी के वक़्त राजा को इस बात की शपथ लेनी पड़ती थी कि वह अपनी प्रजा की सेवा करेगा। "मैं स्वयं, ज़िंदगी और संतान से वंचित रहूं अगर मैं तुम्हें सताऊँ।" "उसका सुख उसकी प्रजा के सुख में है और उनकी ख़ैरियत में है; जो बात उसे खुद अच्छी लगती हो उसे वह अच्छा न समझे, लेकिन जो बात उसकी प्रजा को अच्छी लगे, उसे वह अच्छा समझे।" "अगर राजा में उत्साह है तो उसकी प्रजा में भी उतना ही उत्साह होगा।" "आम लोगों के हित के काम उस वक़्त तक नहीं रुके रह सकते जब तक कि राजा को फ़ुरसत न हो, उसे उनके लिए सदा तैयार रहना चाहिए। और अगर राजा अनीति करे तो उसकी प्रजा को यह अधिकार है कि उसे हटा कर उसकी जगह दूसरे को बिठा दे।"

के इन्हीं चार अंगों की कल्पना के आधार पर निकला था। यह चतुरंग कहलाता था, यानी चार अंगों वाला, जिससे शतरंज निकला। अल्बेरूनी इस खेल का हिंदुस्तान में चार आदमियों द्वारा खेले जाने का हाल लिखता है।

एक आवपाशी का महकमा था, जो कि नहरों की निगरानी किया करता था, और एक महकमा जल के यातायात का था जो बंदरगाहों, घाटों, पुलों और उन बहुत सी नावों और जहाजों की देखभाल करता था जो कि नदियों पर चला करते थे और समुद्र पर होकर वरमा या उससे भी आगे जाते थे। खुश्की पर काम करने वाली फ़ौज की तरह जान पड़ता है, एक जल-सेना भी थी।

साम्राज्य में व्यापार खूब होता था और दूर-दूर जगहों के बीच चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं, जिनके किनारे अक्सर यात्रियों के लिए आराम-घर बने हुए थे। खास सड़क को राज-पथ या राजा का रास्ता कहते थे और यह सारे देश को पार करता हुआ राजधानी से लेकर ठीक पच्छिमोत्तर सरहद तक जाता था। विदेशी व्यापारियों का खास तौर पर ज़िक्र आता है और उनके लिए अलग सुविधायें थीं, और जान पड़ता है कि उन्हें उनके आपस के व्यवहार में अपने देशों के अलग क़ानूनों का कुछ हद तक लाभ दिया जाता था। कहा जाता है कि पुराने मिस्री लोग अपने सुरक्षित शवों को हिंदुस्तान की मलमल में लपेटा करते थे और अपने कपड़ों को हिंदुस्तान के नील में रँगा करते थे। पुराने खँडहरों में एक तरह का काँच भी मिलता है। यूनानी एलची मेगास्थनीज़ कहता है कि हिंदुस्तानी सौंदर्य और नफ़ासत की चीज़ों के प्रेमी थे, और यह भी लिखता है कि ऊँचाई को बढ़ाने के लिए जूतों का इस्तेमाल किया जाता था।

मौर्य साम्राज्य में विलास की बढ़ती हुई ज़िंदगी में सादगी घटी, धंधों के बटवारे बढ़े और संगठन भी बढ़ा। "सराय, आराम-घर, खाने के घर, जुआघर, जान पड़ता है बहुत हैं; संप्रदायों और पेशेवरों की सभाओं के लिए अलग-अलग जगहें हैं, और पेशेवरों की आम दावतें भी होती हैं। मनोरंजन के धंधे से बहुत तरह के लोगों की रोज़ी चलती है, जैसे नचनियों, गवैयों और स्वाँग करने वालों की। यह लोग गाँवों तक में पहुँचते हैं और 'अर्थशास्त्र' का लेखक इन खेल-तमाशों के लिए भवन बनाए जाने के ख़िलाफ़ इसलिए है कि इससे लोगों का घर-बार और खेती के काम से जी हटता है। साथ ही सार्वजनिक मनोरंजन के कामों में हाथ बटाने से इन्कार करने के लिए दंड की भी व्यवस्था है। राजा की तरफ़ से खास तौर पर तैयार किये गए मकानों या अखाड़ों में नाटक, कुश्ती और आदमियों और पशुओं की और प्रतियोगिताओं का, और दूसरे तमाशों और विचित्र चीज़ों की तस्वीरों को दिखाने का इंतजाम है. . .बहुत करके उत्सवों के मौक़ों पर सड़कों

पर रोशनी की जाती थी।"[1] शाही जलूस भी निकला करते थे और शिकारियों के जमाव हुआ करते थे।

इस विशाल साम्राज्य में बहुत-से, बड़ी आबादी वाले शहर थे, लेकिन उन सब में बड़ा शहर पाटलिपुत्र था, जो कि राजधानी था, और यह आलीशान शहर गंगा और सोन के संगम पर (वर्तमान पटना) बसा हुआ था। मेगास्थनीज़ ने इसका यों बयान किया है: "इस नदी (गंगा) और एक दूसरी नदी के संगम पर पालिपोथ्र बसा हुआ है, जो कि अस्सी स्टेडिया (९.२ मील) लंबा और पंद्रह स्टेडिया (१७मील) चौड़ा है। इसकी शक्ल समचतुष्कोण की है और यह लकड़ी की, चारदीवारी से घिरा हुआ है, जिसमें कि तीर चलाने के लिए संदें बनी हुई हैं। सामने इसके एक खाई है, जो कि हिफ़ाजत के लिए है और जिसमें शहर का गंदा पानी पहुँचता है। यह खाई जो कि चारों तरफ़ घूमी हुई है चौड़ाई में ६०० फ़ीट है, और गहराई में ३० हाथ; और दीवाल पर ५७० बुर्ज हैं, और उसमें ६४ फाटक हैं।"

यह दीवाल ही लकड़ी की नहीं थी, बल्कि ज़्यादातर घर भी लकड़ी के थे। स्पष्ट है कि यह भूकंप से बचाव के लिए था, क्योंकि उस प्रदेश में भूकंप अकसर आते रहे हैं। सन् १९३४ के बिहार के भयानक भूकंप ने हमें इस बात को फिर याद दिला दी है। चूंकि मकान लकड़ी के होते थे, इसलिए आग लगने से बचने के लिए बहुत प्रबंध रहता था। हर एक गृहस्थ को सीढ़ियां, काँटे और पानी से भरे डोल रखने पड़ते थे।

पाटलिपुत्र में, लोगों की चुनी हुई नगर-सभा भी थी। इसके ३० सदस्य थे, और वह पाँच-पाँच की ६ समितियों में बँटे हुए थे और इनके हाथ में व्यापार, दस्तकारी, मौत और पैदाइश, उद्योग-धंधों, यात्रियों वग़ैरह के प्रबंध थे। रुपए-पैसे, सफ़ाई, पानी पहुँचाना, सार्वजनिक इमारतों और बगीचों की देख-भाल पूरी नगर-सभा के ज़िम्मे थी।

१९ : बुद्ध की शिक्षा

इन राजनीतिक और आर्थिक क्रांतियों के पीछे, जो कि हिंदुस्तान की शकल ही बदल रही थीं, बौद्धधर्म का जोश था। पुराने मतों से इसका संघर्ष और धर्म

---

[1] 'कैंब्रिज हिस्ट्री अव् इंडिया' जिल्द १, पृ० ४८० ।

के मामलों में स्थापित स्वार्थों से इसकी लड़ाई चल रही थी। तर्क-वितर्क से कहीं वढ़कर लोगों पर असर था एक ज्वलंत और वहुत वड़े व्यक्तित्व का, और उसकी याद दिलों में ताज़ा थी। उसका संदेश पुराना था, फिर भी वहुत नया था, और जो लोग कि ब्रह्म-ज्ञान की वारीकियों में उलझे हुए थे उनके लिए मौलिक था। इसने विचारशील लोगों की कल्पना पर अधिकार कर लिया था; यह लोगों के दिलों के भीतर गहरा पैठ गया। बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था : "सभी देशों में जाओ और इस धर्म का प्रचार करो। उनसे कहो कि ग़रीव और दीन, अमीर और कुलीन, सव एक हैं और इस धर्म में सभी ज़ातें इस तरह आकर मिल जाती हैं जिस तरह नदियां समुद्र में जाकर मिलती हैं।" उनका संदेश सभी के लिए दया और प्रेम का संदेश था। क्योंकि "इस दुनिया में घृणा का अंत घृणा से नहीं हो सकता; घृणा प्रेम करने से ही जायगी।"और "आदमी को चाहिए कि क्रोध को दया के द्वारा और बुराई को भलाई के द्वारा जीते।"

भले काम करने का और अपने ऊपर संयम रखने का यह आदर्श था। "आदमी लड़ाई में हज़ार आदमियों पर विजय हासिल कर सकता है; लेकिन जो अपने ऊपर विजय पाता है, वही सवसे वड़ा विजयी है।" "जन्म से नहीं वल्कि कर्म से ही आदमी शूद्र या ब्राह्मण होता है।" पापी की भी निंदा उचित नहीं, क्योंकि "जो पापियों से जान-बूझ कर कड़े शब्द कहता है वह मानो उनके पाप रूपी घाव पर नमक छिड़कता है।" दूसरे के ऊपर विजय पाना ही दुःख का कारण होता है— "विजय घृणा उपजाती है, क्योंकि विजित दुखी होता है।"

अपने इन सव उपदेशों में उन्होंने धर्म का प्रमाण नहीं दिया, न ईश्वर या किसी दूसरी दुनिया का हवाला दिया। वह वुद्धि और तर्क और अनुभव पर भरोसा करते हैं, और लोगों से कहते हैं कि सत्य को अपने मन के भीतर खोजो। कहा जाता है कि उन्होंने कहा : "किसी को मेरे वताए नियमों को आदर की वजह से न मान लेना चाहिए; उसकी परख पहले इस तरह कर लेनी चाहिए जैसे कि तपाकर सोने की परख की जाती है।" सचाई के न जानने से सभी दुःख उपजते हैं। ईश्वर या परब्रह्म है या नहीं, इसके वारे में उन्होंने कुछ नहीं वताया है। न वह उसे स्वीकार करते हैं न उससे इन्कार। जहां जानकारी संभव नहीं, वहां हमें अपना निर्णय नहीं देना चाहिए। एक प्रश्न के उत्तर में, वताया जाता है कि, बुद्ध ने यह कहा था "अगर परब्रह्म से तात्पर्य है किसी ऐसी वस्तु से, जिसका कि सभी जानी हुई वस्तुओं

से कोई संबंध नहीं, तो किसी तर्क से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह हम कैसे जान सकते हैं कि दूसरी चीजों से असंबद्ध चीज़ कोई है भी या नहीं? यह सारा विश्व—उसे हम जिस रूप में जानते हैं—संबंधों का एक सिलसिला है: हम कोई ऐसी वस्तु नहीं जानते जो बिना संबंध के है या हो सकती है।" इसलिए हमें अपने को उन वस्तुओं तक सीमित रखना चाहिए, जिनका हम अनुभव कर सकते हैं और जिनके बारे में हमें पक्की जानकारी है।

इसी तरह बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्त्व के बारे में भी कुछ नहीं कहा है। वह इसे भी न स्वीकार करते हैं और न इससे इन्कार। वह इस प्रश्न में पड़ना ही नहीं चाहते और यह एक बड़ी अचरज की बात है क्योंकि उस समय में हिंदुस्तानियों के मस्तिष्क में आत्मा और परमात्मा, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद और दूसरे आधि-भौतिक सिद्धांत समाए रहते थे। मगर बुद्ध ने सभी तरह के आधिभौतिकवादों से अपने विचारों को हटाया। लेकिन प्रकृति के नियम के स्थायित्व में, और एक व्यापक हेतुवाद में उनका विश्वास है, और इस तरह हर एक वाद की स्थिति अपने से पहले की स्थिति का नतीजा है, अच्छे काम का सुख से और बुरे काम का दुःख से स्वाभाविक संबंध है।

हम अनुभव की इस दुनिया में शब्दों या भाषा का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि "यह है" या "यह नहीं है।" लेकिन जब हम सतही पहलुओं के भीतर पैठते हैं तो इनमें से एक भी, संभव है, सही न हो, और जो कुछ हो रहा है उसका वर्णन करने में हमारी भाषा ही अपर्याप्त हो। सत्य "है" और "नहीं है" के बीच में या इनसे परे कहीं भी हो सकता है। नदी बराबर बहती है और हर क्षण एक-सी मालूम पड़ती है, फिर भी पानी बराबर बदलता रहता है। इसी तरह आग है। लौ जलती रहती है और अपना आकार भी बनाए रखती है, फिर भी वही लौ हमेशा नहीं रहती, बल्कि क्षण-क्षण में बदलती रहती है। इस तरह जीवन बराबर बदलता रहता है और अपने सभी रूपों में वह एक धारा की तरह है जिसे हम 'होने की प्रक्रिया' कह सकते हैं। वास्तविकता कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो कि बनी रहने वाली और न बदलने वाली हो, बल्कि वह एक प्रकाशवान शक्ति है, जिसमें कि तीक्ष्णता है और गति है, और जो नतीजों का एक सिलसिला है। समय की धारणा "केवल एक कल्पना है, जो जिस-किसी घटना के आधार पर व्यवहार के लिए बना ली गई है।" हम यह नहीं कह सकते कि कोई एक चीज़ किसी दूसरी चीज़ का कारण

है क्योंकि 'होने की प्रक्रिया' में कोई अंश ऐसा नहीं है जो कि स्थायी हो या न बदलने वाला हो। किसी वस्तु का तत्त्व, उसमें निहित नियम में है जोकि उसे किसी दूसरी कहलाई जाने वाली वस्तु से जोड़ता है। हमारे शरीर और हमारी आत्माएं क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं; उनका अंत हो जाता है और उनकी जगह पर कोई दूसरी चीज़, जो उन्हीं जैसी, लेकिन उनसे भिन्न होती है, यह स्थान ले लेती है, और फिर वह भी चली जाती है। एक अर्थ में हम प्रतिक्षण मर रहे हैं और प्रतिक्षण फिर से जन्म ले रहे हैं,और यह क्रम एक अटूट अस्तित्व का आभास देता है। यह "एक सतत परिवर्तनशील अस्तित्व का सिलसिला" है। प्रत्येक वस्तु बस एक बहाव, मत और परिवर्तन है।

हम लोग भौतिक घटनाओं को एक बँधे-तुले ढंग से देखने और उनकी व्याख्या करने के इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि हमारे मस्तिष्कों के लिए यह सब समझ सकना मुश्किल है। लेकिन यह बड़ी मार्के की बात है कि बुद्ध का यह दर्शन हमें आजकल के पदार्थ-ज्ञान की धाराओं और दार्शनिक विचारों के इतना निकट ले आता है।

बुद्ध का ढंग मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ढंग था, और यहां भी यह देखकर अचरज होता है कि आज के विज्ञान की नई-से-नई खोजों के कितने निकट उनकी सूझ-बूझ थी। आदमी के जीवन पर विचार और जाँच बिना किसी स्थायी आत्मा को माने हुए होती है; क्योंकि अगर किसी ऐसी आत्मा की सत्ता है भी तो वह हमारी समझ से परे है: मन को शरीर का अंग, मानसिक शक्तियों का एक मिलावट समझा जाता था। इस तरह से व्यक्ति मानसिक स्थितियों की एक गठरी बन जाता है; "आत्मा विचारों का केवल एक प्रवाह है।" "जो कुछ भी हम हैं, वह जो कुछ भी हमने सोचा है, इसका परिणाम है।"

जीवन में जो दुःख और व्यथा है, उस पर जोर दिया गया है, और बुद्ध ने जिन "चार बड़े सत्यों" का बखान किया है, उनमें यह दुःख, उसके कारण, उसे समाप्त करने की संभावना और उसके लिए उपाय बताए गए हैं। अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए, कहा जाता है कि बुद्ध ने कहा था: "जब कि तुमने युगों के दौर में इस (दुःख) का अनुभव किया, तुम्हारी आँखों से इतना पानी बहा है; जब कि तुम इस (जीवन की) यात्रा में भटके हो, और तुमने शोक किया है, या तुम रोये हो क्योंकि जिस वस्तु से तुम घृणा करते रहे हो वह तुम्हें मिली है, और जिस चीज़

की तुम इच्छा करते रहे हो वह तुम्हें नहीं मिली है, वह सब तुम्हारे आँसुओं का पानी चारों बड़े समुद्रों के पानी से अधिक रहा है।"

दुःख की इस हालत का अंत कर देने से 'निर्वाण' प्राप्त हो सकता है। 'निर्वाण' है क्या ? इसके बारे में लोगों में बड़ा मत-भेद रहा है, क्योंकि एक ऐसी हालत का जो कि अनुभव से परे है किस तरह से हमारे सीमित मस्तिष्क की भाषा में वर्णन हो सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल विनाश हो जाना है, बुझ जाना है। लेकिन बुद्ध ने, कहा जाता है कि, इससे इन्कार किया है; और यह बताया है कि यह एक अत्यंत क्रियाशीलता की अवस्था है। यह झूठी इच्छाओं के मिट जाने की हालत है, न कि अपने मिट जाने की, लेकिन इसका वर्णन केवल नकारात्मक शब्दों में किया जा सकता है।

बुद्ध का बताया हुआ रास्ता मध्यम मार्ग है, और यह अपने को यातना देने और विलास में डुबा देने के बीच का रास्ता है। शरीर को कष्ट देने के अनुभव के बाद उन्होंने कहा है कि जो आदमी अपनी शक्ति खो बैठता है वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकता। यह मध्यम मार्ग आर्यों का अष्टांग मार्ग कहलाया। इसके अंग हैं: ठीक विश्वास; ठीक आकांक्षा; ठीक वचन; ठीक कर्म; ठीक आचार; ठीक प्रयत्न; ठीक वृत्ति और ठीक आनंद। इसमें अपने विकास का सवाल है, किसी की कृपा का नहीं। और अगर आदमी इस दिशा में अपना विकास करने में सफल होता है, तो उसके लिए कभी हार नहीं—"जिसने अपने को वस में कर लिया है, उसकी जीत को देवता भी हार में नहीं बदल सकते।"

बुद्ध ने अपने शिष्यों को वह बातें बताई जो कि, उनके विचार में, वह लोग समझ सकते थे और जिस पर वह आचरण कर सकते थे। उनके उपदेशों का यह उद्देश्य नहीं था कि जो कुछ भी है उसकी व्याख्या की जाय, जो कुछ भी है उसका पूरा-पूरा दिग्दर्शन कराया जाय। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने हाथ में कुछ सूखी पत्तियां लेकर अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछा कि हाथ की इन पत्तियों के अतिरिक्त क्या और भी कहीं पत्तियां हैं। आनंद ने जवाब दिया: "पतझड़ की पत्तियां सभी तरफ़ गिर रही हैं, और वह इतनी हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।" तब बुद्ध ने कहा: "इसी तरह मैंने तुम्हें मुट्ठी भर सत्य दिए हैं, लेकिन इनके अलावा कई हज़ार और सत्य हैं, इतने कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।"

२० : बुद्ध की कहानी

बुद्ध की कहानी ने मुझे शुरू बचपन में ही आकर्षित किया था और मैं युवा सिद्धार्थ की तरफ़ खिचा था, जिसने कि बहुत से अंतर्द्वंद्वों, दुःख, और यातना के बाद बुद्ध का पद प्राप्त किया था। एडविन आर्नल्ड की किताब 'लाइट अव् एशिया' मेरी एक प्रिय पुस्तक बन गई। बाद में जब मैंने अपने प्रांत में बहुत से दौरे किए, तब मैं बुद्ध की कथा से संबंध रखने वाली बहुत-सी जगहों पर, अपने यात्रा-मार्ग से हटकर भी, जाना पसंद करता था। इनमें से अधिक स्थान या तो मेरे ही सूबे में हैं या उसके निकट हैं। यहीं (नेपाल की सरहद पर) बुद्ध का जन्म हुआ, यहीं वह घूमते-फिरते रहे, यहीं (गया बिहार में) उन्होंने बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया, यहीं उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया, यहीं वह मरे।

जब मैं उन देशों में गया, जहांकि बौद्ध-धर्म अब भी एक जीता-जागता और खास धर्म है, तब मैंने जाकर मंदिरों और मठों को देखा और भिक्षुओं और आम लोगों से मिला, और यह जानने की कोशिश की कि बौद्ध-धर्म ने जनता के लिए क्या किया। बौद्ध-धर्म के बुद्धिवादी नैतिक सिद्धांतों पर इतना कूड़ा करकट जमा हो गया है, इतने कर्म-कांड, इतने विधि-विधान, और बुद्ध की शिक्षा के बावजूद, इतने आधिभौतिक सिद्धांत और जादू-टोने तक इकट्ठा हो गए हैं कि क्या कहा जाय। और बुद्ध के सतर्क कर देने पर भी उन्हें ईश्वर माना गया है, और उनकी बड़ी-बड़ी मूर्तियां बन गई हैं, जिन्हें कि मैंने मंदिरों में और और जगहों में, अपने सिर की उँचाई से भी ऊपर स्थापित देखा है। बहुत से भिक्षु अनपढ़ लोग हैं, बल्कि घमंडी हैं क्योंकि वह यह चाहते हैं कि उनके सामने माथा झुकाया जाय, अगर उनके सामने नहीं तो उनके भेस के सामने।

लेकिन मैंने बहुत-कुछ ऐसा भी देखा जिसे कि मैंने पसंद किया। कुछ मठों में और उनसे लगे हुए विद्यालयों में ध्यान और शांति से अध्ययन करने का वातावरण था। बहुत से भिक्षुओं के चेहरों पर शांति और सौम्यता मिली, और ओज और दया और तटस्थता का भाव मिला, और संसार की चिंताओं से मुक्ति दिखाई दी।

क्या बौद्ध-धर्म निष्क्रियता और निराशावाद सिखाता है? इसकी व्याख्या करने वाले ऐसा कह सकते हैं, इस धर्म के बहुत से अनुयायियों ने यही अर्थ निकाला है। मुझमें उसकी बारीकियों पर विचार करने, या उसकी बाद की जटिलताओं और

आधिभौतिक विकास पर निर्णय देने की योग्यता नहीं है। लेकिन जब मैं बुद्ध का ध्यान करता हूं तो इस तरह के विचार मेरे मन में नहीं उठते, न मैं यही समझता हूं कि निष्क्रियता और निराशावाद की बुनियाद पर ठहरे हुए किसी धर्म का आदमियों की इतनी बड़ी संख्या पर जिसमें क़ाबिल-से-क़ाबिल लोग हो गए हैं, इतना गहरा असर पड़ सकता है।

जान पड़ता है कि बुद्ध की वह कल्पना, जिसे कि अनगिनित प्रेमपूर्ण हाथों ने, पत्थर और संगमरमर और काँसे में, गढ़कर साकार किया है, हिंदुस्तानियों के विचारों और भावों की प्रतीक है, या कम-से-कम उसके एक ज़िंदा पहलू की प्रतीक है। कमल के फूल पर शांत और धीर, वासनाओं और इच्छाओं से परे, इस दुनिया के तूफ़ान और कशमकश से दूर, वह इतने ऊपर, इतने दूर मालूम पड़ते हैं कि जैसे पहुँच से बाहर हों। लेकिन जब फिर उन्हें देखते हैं, तो उस शांत अडिग आकृति के पीछे एक आवेग और मनोभाव जान पड़ता है, जो कि अनोखा है और उन आवेगों और मनोभावों से जिनसे हम परिचित हैं ज्यादा ज़ोरदार है। उनकी आँखें मुँदी हुई हैं, लेकिन चेतना की कोई शक्ति उनके भीतर से दिखाई देती है और शरीर में एक जीवन-शक्ति भरी हुई जान पड़ती है। युग-पर-युग बीतते हैं, फिर भी बुद्ध इतने दूर के नहीं जान पड़ते; उनकी वाणी हमारे कानों में कुछ धीमे स्वर से कहती जान पड़ती है और यह बताती है कि हमें संघर्ष से भागना नहीं चाहिए, बल्कि धीर नेत्रों से उसका सामना करना चाहिए, और ज़िंदगी में विकास और तरक़्क़ी और, और भी बड़े अवसरों को देखना चाहिए।

सदा की तरह आज भी व्यक्तित्व का असर है, और जिस व्यक्ति ने इन्सान के विचारों पर अपनी वह छाप डाली हो जो कि बुद्ध ने डाली, जिसमें कि आज भी हम उनकी कल्पना में कोई जीती-जागती, थर्राहट पैदा करने वाली चीज़ पाते हैं, वह व्यक्ति बड़ा ही अद्‌भुत रहा होगा—ऐसा आदमी, जो कि बार्थ के शब्दों में, "शांत और मधुर प्रभुता की सजी हुई मूर्त्ति था, जिसमें सभी प्राणियों के लिए अपार करुणा थी, जिसे पूरी नैतिक स्वतंत्रता मिली हुई थी और जो सभी तरह के पक्षपात से अलग था।" और उस क़ौम और जाति में, जो कि ऐसे विशाल नमूने पेश कर सकती है, बुद्धिमानी और भीतरी ताक़त का कैसा गहरा संचय होगा।

२१ : अशोक

हिंदुस्तान और पच्छिमी दुनिया से जो संपर्क चंद्रगुप्त मौर्य ने क़ायम किये थे, वह उसके बेटे बिंदुसार के लंबे राज्य-काल में बने रहे। पाटलिपुत्र के दरबार में, मिस्र के टोलमी और पच्छिमी एशिया के सेल्यूकस निकाटोर के बेटे और उत्तराधिकारी ऐंटिओकस के यहां से एलची आते रहे। चंद्रगुप्त के पोते अशोक ने यह संपर्क और भी बढ़ाया और इसके ज़माने में हिंदुस्तान एक महत्त्व का अंत-र्जातीय केंद्र बन गया—खास तौर से बौद्धधर्म के तेज़ी से बढ़ते हुए प्रचार की वजह से।

२७३ ई० पू० में अशोक इस बड़े साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इससे पहले वह पश्चिमोत्तर सूबे में, जहां की राजधानी, अपने विद्यापीठ के लिए मशहूर, तक्षशिला थी, राजा के प्रतिनिधि के रूप में रह चुका था। उस समय ही साम्राज्य के भीतर हिंदुस्तान का ज़्यादातर हिस्सा आ गया था और यह ठीक मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। सिर्फ़ दक्खिन-पूरब और दक्खिन का एक हिस्सा इनमें नहीं आ पाया था। सारे हिंदुस्तान को एक हुकूमत के मातहत ले आने के पुराने सपने ने अशोक को उकसाया और उसने पूर्वी समुद्र-तट के कलिंग प्रदेश को जीतने की ठानी। यह प्रदेश मोटे ढंग से आजकल के उड़ीसा और आंध्र देश का एक हिस्सा मिलाकर बनेगा। कलिंग के लोगों के, बहादुरी से मुक़ाबला करने के बावजूद, अशोक की सेना जीत गई। इस लड़ाई में भयानक हत्याएं हुईं और जब अशोक के पास समाचार पहुँचे तो उसे बड़ा पछतावा हुआ और युद्ध से उसका जी फिर गया। विजयी सम्राटों और इतिहास के नेताओं के बीच वह अकेला व्यक्ति है जिसने विजय के क्षण में यह निश्चय किया कि वह आगे युद्ध न करेगा। सारे हिंदुस्तान ने उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया—सिवाय धुर दक्खिन के एक टुकड़े के, जिसे कि वह इच्छा करने भर से अपने अधिकार में ला सकता था। लेकिन उसने अपने राज्य को बढ़ाया नहीं, और बुद्ध की शिक्षा के असर में उसका मन दूसरी ही तरह की विजयों और साहसी कामों की तरफ़ फिरा।

अशोक के क्या ख़याल थे, और उसने क्या किया, यह हम उसके ही शब्दों में, उन बहुत से आदेशों में जो उसने जारी किये थे और जो कि पत्थरों और धातुओं पर अंकित किये गए थे, हम जानते हैं। उसके एक आदेश में यह कहा गया है :

"परम पवित्र प्रियदर्शी सम्राट् ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में कलिंग को जीता। एक सौ पचास हज़ार आदमी वहां से क़ैदी के रूप में लाये गए; सौ हज़ार आदमी वहां पर मारे गए और इस संख्या के कई गुने लोग और मरे।

"कलिंग के साम्राज्य में मिलाए जाने के ठीक बाद ही प्रियदर्शी सम्राट् का अहिंसा-धर्म का पालन करना, उस धर्म से प्रेम और उसका प्रचार शुरू होता है। इस तरह प्रियदर्शी सम्राट् का कलिंग विजय पर पश्चात्ताप उदय होता है, क्योंकि न जीते गए देश के जीते जाने के साथ ही हत्याएं और मौतें होती हैं और लोग बंदी करके ले जाये जाते हैं। यह प्रियदर्शी सम्राट् को महान् शोक पहुँचाने वाली बात है।"

सच्ची विजय, अशोक लिखता है, लोगों के दिलों पर कर्त्तव्य और दया धर्म पालन करते हुए, विजय हासिल करना है; और इस तरह की सच्ची विजय उसने पा ली थी, न केवल अपने राज्य में, बल्कि दूर-दूर के राज्यों में। इसके अलावा आदेश में यह भी कहा है:

"इसके अतिरिक्त यह है कि अगर कोई उनके साथ बुराई करता है, तो उसे भी प्रियदर्शी सम्राट् जहां तक होगा सहन करेंगे। अपने राज्य के वन के निवासियों पर भी प्रियदर्शी सम्राट् की कृपा-दृष्टि है, और वह चाहते हैं कि ये लोग ठीक विचार वाले बनें, क्योंकि अगर ऐसा वह न करें तो प्रियदर्शी सम्राट् को पश्चात्ताप होगा। क्योंकि परम पवित्र महाराज चाहते हैं कि जीवधारी मात्र की रक्षा हो, और उन्हें आत्म-संयम, मन की शांति और आनंद प्राप्त हो।"

इस अद्भुत शासक ने, जिसे कि अबतक हिंदुस्तान में और एशिया के दूसरे हिस्सों में प्रेम के साथ याद किया जाता है, बुद्ध के सत्कर्म और सद्भाव की शिक्षा के फैलाने में, और जनता के हित के कामों में, अपने को पूरी तरह लगा दिया। "सब समय और सब तरह, चाहे मैं खाना खाता होऊं, चाहे रनिवास में होऊं, चाहे अपने शयन में रहूं, या स्नान में, सवारी पर रहूं या महल के बाग़ में, सरकारी कर्मचारी, जनता के कार्यों के बारे में मुझे बराबर सूचना देते रहें। . . .जिस समय भी हो, और जहां भी हो मैं लोक-हित के लिए काम करूंगा।"

उसके दूत और एलची सीरिया, मिस्र, मैसिडोनिया, साइरीन, और एपाइरस तक बुद्ध के संदेश और उसकी शुभ कामनाओं को लेकर पहुंचे। वह मध्य-एशिया भी गए, और बर्मा और स्याम भी, और उसने स्वयं अपने बेटे और बेटी, महेंद्र

और संघमित्रा को दक्खिन में लंका भेजा। सभी जगह मस्तिष्क और हृदय को फेरने के प्रयत्न हुए; कोई वल या ज़ोर का नहीं प्रयोग किया गया। स्वयं कट्टर वौद्ध होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के लिए आदर का भाव दिखाया। एक आदेश में उसने यह विज्ञापित किया :

"सभी मत, किसी-न-किसी कारण, आदर पाने के अधिकारी हैं। इस तरह का व्यवहार करने से आदमी अपने मत की प्रतिष्ठा को वढ़ाता है, साथ ही वह दूसरे मतों और लोगों की सेवा करता है।"

वौद्ध-धर्म, हिंदुस्तान में, काश्मीर से लेकर लंका तक, वड़ी तेज़ी के साथ फैला। यह नैपाल में भी पैठा, और वाद में तिव्वत और चीन और मंगोलिया तक पहुँचा। हिंदुस्तान में इसका एक परिणाम यह हुआ कि शाकाहार वढ़ा और शराव पीने से लोग वचने लगे। उस वक़्त तक ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मांस खाया करते थे और शराव पीते थे। पशुओं का वलिदान रोक दिया गया।

विदेशों से संपर्क होने और धर्म के प्रचारकों के वाहर जाने का नतीजा यह अवश्य हुआ होगा कि हिंदुस्तान और वाहर के मुल्कों में व्यापार वढ़ा हो। खुतन (अव मध्य-एशिया में सिन-क्यांग में) हिंदुस्तानियों के एक उपनिवेश का वर्णन हमें प्राप्त हुआ है। हिंदुस्तान के विद्यापीठों में ख़ास तौर से तक्षशिला में वाहर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

अशोक एक वड़ा निर्माता भी था, और यह कहा गया है कि उसने अपनी कुछ वड़ी-वड़ी इमारतों के वनवाने के लिए विदेशी कारीगरों को रख छोड़ा था। यह नतीजा एक जगह वने हुए कुछ-ऐसे खंभों को देखकर निकाला गया है, जो कि पर्सिपोलिस की याद दिलाते हैं। लेकिन इस शुरू की पत्थर की कारीगरी में और खँडहरों में भी हिंदुस्तानी कला की परंपरा की ख़ास वातें देखने में आती हैं।

अशोक के पाटलिपुत्र के महल की वहुत से खंभों वाली एक इमारत के कुछ हिस्सों को कोई तीस साल हुए पुरातत्त्वज्ञों ने खोदकर निकाला था। हिंदुस्तान के पुरातत्त्व विभाग के डा० स्पूनर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा है कि "ऐसी सुरक्षित हालत में पाई गई है कि विश्वास नहीं होता है। इसमें लगी हुई शहतीरें वैसी ही चिकनी और ठीक हालत में हैं जैसा कि वह उस दिन रही होंगी जव कि वह लगाई गई थीं, यानी दो हज़ार से ज़्यादा साल पहले।" आगे चलकर वह

यह भी लिखते हैं कि "पुरानी लकड़ी की ऐसी रक्षा—उनके किनारे इतने सही सही और पक्के थे, कि उनके जोड़ों की लकीरों तक का पता न चलता था—देखकर सभी देखने वालों की हैरत का ठिकाना न था। सब-की-सब चीज़ें ऐसी सच्ची और होशियारी से बनी थीं कि उनसे अच्छा काम आज भी हो सकना मुमकिन नहीं है. . .संक्षेप में यह है कि बनावट इतनी पक्की थी जितनी कि इस तरह के कामों में हो सकती है।"

पाटलिपुत्र (पटना) और गया के बीच नालंदा विद्यापीठ के खँडहर मिलते हैं जो कि बाद में मशहूर हुआ था। यह प्रकट नहीं होता कि कब से इसका प्रारंभ हुआ। अशोक के ज़माने में इसका कोई पता नहीं मिलता।

अशोक की मृत्यु ईसा से पहले २३२ वें साल में हुई, जब कि वह इकतालीस साल राज्य कर चुका था। इसके बारे में एच० जी० वेल्स ने अपनी 'आउट लाइन अव् हिस्ट्री' में लिखा है: "बादशाहों के दसियों हज़ार नामों में, जिनसे कि इतिहास के सफ़े भरे हुए हैं, जिनमें बड़े-बड़े महाराजे, और महामहिम और सम्राट् हैं, अशोक का नाम अकेला चमक रहा है और इस तरह से चमक रहा है जैसे कोई सितारा हो। वोलगा से लेकर जापान तक उसका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और हिंदुस्तान भी (जहां कि उसकी शिक्षाएँ यद्यपि त्याग दी गई हैं) उसके बड़प्पन की परंपरा की रक्षा करते हैं। आज के जितने जीवित व्यक्ति उसकी स्मृति को बनाए हुए हैं, उतने लोगों ने कांस्टैंटाइन और शार्लमेन के नाम कभी सुने भी न होंगे।"

: ३ :

युगों का चक्र

१ : गुप्तकाल में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद

मौर्य-साम्राज्य का अंत हुआ और उसकी जगह शुंगवंश ने ली। इसका राज्य उसकी अपेक्षा बहुत छोटे क्षेत्र पर था। दक्खिन में बड़े-बड़े राज्य उठ रहे थे, और उत्तर में वाख्त्रीय भारतीय-यूनानी काबुल से पंजाब तक फैल गए थे। मेनांडर के नेतृत्व में उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर हमला किया लेकिन मार भगाए गए। स्वयं मेनांडर पर हिंदुस्तान के रंग-ढंग और वातावरण का असर पड़ा और वह बौद्ध बन गया, और एक प्रसिद्ध बौद्ध हुआ। आम बौद्ध-परंपरा में यह राजा मिलिंद कहलाया और इसे प्रायः संत का पद मिला। हिंदुस्तानी और यूनानी संस्कृतियों के मेल-जोल से गंधार की अर्थात् अफ़ग़ानी सरहदी सूबे की, यूनानी बौद्ध-कला का जन्म हुआ।

एक पत्थर की लाट है, जो हैलिओडोरस की लाट के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका कि समय ईसा से पूर्व की पहली सदी है। यह मध्य हिंदुस्तान में, साँची के निकट, बेसनगर में, है और इस पर संस्कृत में एक लेख खुदा हुआ है। इससे हमें इस बात की झलक मिलती है कि किस तरह यूनानी, जोकि हिंदुस्तान की सरहद पर आए थे, हिंदुस्तानी बन रहे थे और हिंदुस्तानी संस्कृति में समाविष्ट हो रहे थे। इस लेख का अनुवाद इस तरह किया गया है:—

"देवताओं के देव वासुदेव (विष्णु) के इस गरुड़-स्तंभ को डियां के बेटे तक्षशिला निवासी विष्णु-पूजक हेलिओडोरस ने स्थापित किया, जो कि यूनान के महाराज एंटिआल्सिडास के यहां से परमरक्षक महाराज काशिपुत्र भागभद्र के यहां उसके चौदहवें राज्यकाल में राजदूत होकर आया।

"तीन शाश्वत सिद्धांत, जिनके अच्छी तरह पालन करने से स्वर्ग मिलता है, वह हैं आत्म-संयम, आत्म-त्याग (दान) और सत्यनिष्ठा।"

मध्यएशिया में शक या सिदियन लोग (सीस्तान-शकस्तान) आक्सस नदी की घाटी में बस गए थे। युइ-ची और पूरब से आए और उन्होंने इन शकों को हिंदुस्तान की तरफ़ ढकेला। ये शक बौद्ध और हिंदू बन गए। यूइ-चियों में से एक जत्था कुषाणों का था। इसने सबों के ऊपर अधिकार करके अपनी शक्ति फैलाई और उत्तरी हिंदुस्तान पर आया। शकों को कुषाणों ने हराया और दक्खिन की तरफ़ ढकेला। यह काठियावाड़ और दक्खिन में चले गए। इसके बाद कुषाणों ने सारे उत्तरी हिंदुस्तान पर और मध्यएशिया के एक बड़े हिस्से पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। उनमें से कुछ नें हिंदूधर्म ग्रहण कर लिया, लेकिन अधिकतर बौद्ध बने, और उनका सबसे प्रसिद्ध राजा कनिष्क भी बौद्ध-कथाओं का एक नायक है; और उसके बड़े-बड़े कारनामों और लोक-हित के कामों का इन कथाओं में वर्णन हुआ है। यद्यपि यह बौद्ध था, लेकिन जान पड़ता है कि राष्ट्र का धर्म मिला-जुला धर्म था, जिसमें कि जरथुष्ट्र के धर्म का भी हाथ था। यह सरहदी हुकूमत, जोकि कुषाण साम्राज्य कहलाई, और जिसकी कि राजधानी वर्तमान पेशावर और तक्षशिला के पुराने विद्यापीठ के पास ही थी, ऐसी जगह बन गई जहां कि बहुत-सी जातियों के लोग इकट्ठा हुआ करते थे। यहां पर हिंदुस्तानी लोग सिदियनों, यूइ-चियों, ईरानियों, बाख्त्री यूनानियों, तुर्कों और चीनियों से मिलते-जुलते थे और इन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का, एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता था। इनके आपस के प्रभावों का नतीजा यह हुआ कि मूर्ति-कला की एक नई शैली निकल पड़ी। इसी ज़मीन में, जहां तक इतिहास बताता है, चीन और हिंदुस्तान के बीच पहले संपर्क हुए, और ६४ ई० में चीन से यहां एलची आए। चीन से हिंदुस्तान आए उपहारों में, छोटे लेकिन बहुत पसंद आने वाले उपहार थे, आड़ू और नाशपाती के वृक्ष। ठीक गोबी के रेगिस्तान के किनारे पर, तुर्फ़ान और कूचा में, हिंदुस्तानी, चीनी और ईरानी संस्कृतियों का बहुत आकर्षक मेल स्थापित हुआ।

कुषाणों के समय में, बौद्ध-धर्म दो टुकड़ों में बँट गया—एक महायान और दूसरा हीनयान कहलाया—और दोनों में, बड़े विवाद होते थे और बड़ी सभाओं में, जिनमें कि सारे हिंदुस्तान से प्रतिनिधि इकट्ठा होते थे, झगड़े के विषयों को लेकर बहसें हुआ करती थीं। इन विवादों में एक नाम बहुत आगे आता है; वह है नागार्जुन का, जो कि पहली सदी ईसवी में हुआ था। यह बौद्ध-शास्त्रों का और हिंदुस्तानी दर्शन का बहुत बड़ा जानकर था, और इसी की वजह से हिंदुस्तान

में महायान-मत की जीत हुई। महायान के ही सिद्धांत चीन में फैले; लंका और वर्मा हीनयान के सिद्धांतों को मानते रहे।

कुपाण हिंदुस्तानी वन गये थे और हिंदुस्तानी संस्कृति के संरक्षक थे। फिर भी राष्ट्रीय विरोध की धारा भीतर-भीतर इस शासन के विरुद्ध चल रही थी और जव वाद में नई जातियां हिंदुस्तान में आई तव इस राष्ट्रीय और विदेशियों का विरोध करने वाले आंदोलन ने चौथी सदी ईसवी में एक रूप ग्रहण कर लिया। एक दूसरे वड़े शासक ने, जिसका नाम भी चंद्रगुप्त था, नए आक्रमणकारियों को मार भगाया और एक शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर लिया।

इस तरह से साम्राज्यवादी गुप्तों का समय, ३२० ई० में आरंभ होता है, जिसमें कि एक के वाद एक कई वड़े शासक पैदा होते हैं, जो कि न केवल युद्ध में विजयी होते हैं, वल्कि शांति की कलाओं में भी सफलता दिखाते हैं। वार-वार के हमलों ने विदेशियों के विरुद्ध एक दृढ़ भावना पैदा कर दी थी। और देश के पुराने व्राह्मण-क्षत्रिय इस वात पर विवश हुए कि अपने देश की और संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ करें। जो विदेशी लोग यहां मिल-जुल गए थे उनको स्वीकार कर लिया गया, लेकिन सभी आने वालों को प्रवल विरोध का सामना करना पड़ा, और इस वात की कोशिश की गई कि पुराने व्राह्मण आदर्शों की नींव पर एक संगठित शासन स्थापित किया जाय।

आरंभ में, जिस काल में कि आर्य यहां आए, उसमें हिंदुस्तान के सामने प्रश्न यह था कि इस नई जाति और संस्कृति में और इस देश की पुरानी जाति और सभ्यता में कैसे समन्वय स्थापित हो। हिंदुस्तानी मस्तिष्क ने इसके हल करने पर ध्यान दिया और मिली-जुली भारतीय आर्य संस्कृति की नींव पर टिकनेवाला एक हल पेश किया। दूसरे विदेशी लोग यहां आए और घुलते-मिलते गए। उन्होंने कुछ विशेप अंतर न पैदा किया। यद्यपि हिंदुस्तान के दूसरे देशों से व्यापार के द्वारा और दूसरी तरह के भी संवंध थे, फिर भी वह अपनी ही समस्याओं में डूवा रहा, उसने वाहर क्या हो रहा है, इस पर कम ध्यान दिया। लेकिन अव जो समय-समय पर अजनवी लोगों के हमले हो रहे थे, जिनके अनोखे रीति-रिवाज थे, उन्होंने उसे हिला दिया, और वह अव इन हमलों की तरफ़ से लापरवाह नहीं हो सकता था, क्योंकि वह केवल उसके राजनीतिक संगठन को ही नहीं तोड़ रहे थे वल्कि उसके सांस्कृतिक आदर्शों को भी संकट में डाल रहे थे, और उसकी सामाजिक व्यवस्था

को भी। इस प्रतिक्रिया ने राष्ट्रीय रूप लिया और इसके साथ राष्ट्रीय शक्ति भी थी और संकुचित दृष्टि भी। धर्म और दर्शन, इतिहास और परंपरा, रीति-रिवाज और सामाजिक व्यवस्था जोकि उस काल के हिंदुस्तान के जीवन को अपने घेरे में लिए हुए थी और जिसे ब्राह्मणधर्म या (बाद में व्यवहार में आये हुए शब्द द्वारा) हिंदूधर्म कह सकते हैं, इस राष्ट्रीयता का प्रतीक बना। यह वास्तव में एक राष्ट्रीय धर्म था और यह सब उन जातीय और सांस्कृतिक गहरी भावनाओं के अनुकूल था जोकि आज सब जगह राष्ट्रीयता की नींव में हैं। बौद्धधर्म की भी, जोकि हिंदुस्तानी विचार से उपजा था, अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि थी। उसके लिए हिंदुस्तान वह देश था जहां कि बुद्ध रहते थे, उन्होंने उपदेश दिया था और जहां वह मरे थे। लेकिन मूल में बौद्ध-धर्म अंतर्जातीय था, सारी दुनिया का धर्म था, और जैसे-जैसे इसने विकास पाया और फैला तैसे-तैसे यह अधिकाधिक अंतर्जातीय होता गया। इस तरह पुराने ब्राह्मण-धर्म के लिए यह स्वाभाविक था कि वह बार-बार राष्ट्रीय जागृतियों का प्रतीक बने।

चौथी सदी से लेकर कोई डेढ़ सौ साल तक गुप्तवंश ने, उत्तर में एक बड़े शक्तिशाली और संपन्न राज्य के ऊपर शासन किया। क़रीब डेढ़ सौ साल तक और, उनके उत्तराधिकारी यह राज्य चलाते रहे लेकिन वह अपनी रक्षा करने में लगे रहे और उनका साम्राज्य सिमटता और क्रमशः छोटा होता रहा। मध्यएशिया से नए आक्रमणकारी हिंदुस्तान में उतर रहे थे। और इस पर हमले कर रहे थे। यह लोग श्वेत हूण थे और इन्होंने देश में बड़ी लूट-मार की, उसी तरह जिस तरह कि ऐटिला यूरोप में कर रहा था। उनके बर्बर व्यवहार और पिशाची निर्दयता ने अंततः लोगों को जगाया और यशोवर्धन के नेतृत्व में, मिल-जुल कर लोगों ने उन पर हमला किया। हूणों की शक्ति तोड़ दी गई और उनके नेता मिहिरगुल को क़ैद कर लिया गया। लेकिन गुप्तों के वंशज, बालादित्य ने, अपने देश की परंपरा के अनुसार, उसके साथ उदारता का व्यवहार किया, और उसे हिंदुस्तान से वापस जाने दिया। मिहिरगुल ने इस बरताव का यह बदला दिया कि बाद में वह फिर लौटा और उसने अपने कृपैपी पर कपट से हमला किया।

लेकिन हिंदुस्तान में हूणों का राज्य थोड़े दिनों का था—कोई आधी सदी का। उनमें से बहुत से यहीं रह गए और छोटे-छोटे सरदार बन बैठे। यह प्रायः लोगों को सताते रहे, लेकिन अंत में हिंदुस्तान की जनता के समुंदर में यह भी समा गए।

इनमें से कुछ सरदार सातवीं सदी के आरंभ में वड़े उग्र हो गए। कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन ने उन्हें कुचल दिया और वाद में उसने एक शक्तिशाली राज्य का स्वयं संगठन किया, जोकि सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। वह वड़ा उत्साही वौद्ध था, लेकिन उसका मत, महायानी वौद्धधर्म था, जोकि वहुत कुछ हिंदू धर्म के निकट था। उसने वौद्धधर्म और हिंदूधर्म दोनों की ही मदद की। इसीके समय में मशहूर चीनी यात्री हुआन सांग हिंदुस्तान में (६२९ ई० में) आया था। हर्षवर्द्धन कवि और नाटककार भी था और इसके दरवार में वहुतसे कलाकार और कवि वने रहते थे और इसकी राजधानी सांस्कृतिक कामों का एक प्रसिद्ध केंद्र वन गई थी। हर्ष ६४८ ई० में मरा, यह क़रीव-क़रीव वही समय था जव कि इस्लाम अरव के रेगिस्तान में उठ रहा था जो वाद में वड़ी तेज़ी से अफ्रीका और एशिया में फैलने वाला था।

२ : दक्खिनी हिंदुस्तान

मौर्य साम्राज्य के सिमिट कर अंत हो जाने के एक हज़ार से अधिक वर्ष वाद तक, दक्खिनी हिंदुस्तान में, वड़े-वड़े राज्य पनपे। आंध्रों ने शकों को हराया था। वाद में यह कुशाणों के समकालीन रहे। इसके वाद पच्छिम में चालुक्य साम्राज्य स्थापित हुआ और इसके पीछे राष्ट्रकूट आए। धुर दक्खिन में पल्लवों का राज्य था, और यहीं से अधिकतर वह हिंदुस्तानी वाहर गए जिन्होंने कि उपनिवेश स्थापित किए। इसके वाद चोल साम्राज्य वना और यह सारे प्रायद्वीप पर छा गया और इसने लंका और वर्मा तक पर विजय प्राप्त की। अंतिम वड़ा चोल-राजा, राजेंद्र था, जिसकी कि १०४४ ई० में मृत्यु हुई।

दक्खिनी हिंदुस्तान अपने सूक्ष्म कला-कौशल और समुद्री व्यापार के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध था। इसकी समुद्री शक्तियों में गिनती थी और यहां के जहाज़ दूर देशों तक सामान पहुँचाया करते थे। यूनानियों की यहां वस्ती थी और रोम के सिक्के भी यहां पाये गए हैं। चालुक्य राज्य और ईरान के सासानी शासकों के वीच आपस में एलची आते-जाते थे।

उत्तरी हिंदुस्तान में जो वार-वार हमले होते रहते थे, उनका कोई सीधा प्रभाव दक्खिन पर नहीं पड़ता था। यह अवश्य था कि उत्तर से वहुत से लोग जिनमें कि कारीगर, थवई और शिल्पी भी थे, दक्खिन में जाकर वस जाया करते

थे। इस तरह दक्खिन पुरानी कला-परंपरा का केंद्र बन गया और उत्तर में नई-नई धारायें हमलावरों के साथ-साथ आती रहीं। यह सिलसिला बाद की सदियों में और तेज़ हो गया, यहां तक कि दक्खिन हिंदू कट्टरपन का गढ़ बन गया।

३ : आज़ादी के लिए हिंदुस्तान की उमंग

पूरब ने तूफ़ान के आगे सिर झुका लिया—
धैर्य और गहरी ला-परवाही के साथ;
उसने फ़ौजों को सिर के ऊपर से गुज़र जाने दिया,
और फिर वह विचार में डूब गया।

ऐसा कवि ने कहा है, और उसकी ये पंक्तियां अक्सर उद्धृत की जाती हैं। यह सही है कि पूरब या कम-से-कम उसका वह हिस्सा जिसे कि हिंदुस्तान कहते हैं, विचार में डूबना पसंद करता रहा है, और बहुधा उन बातों पर विचार करने की उसे रुचि रही है, जिन्हें कि कुछ ऐसे लोग जो अपने को व्यावहारिक कहेंगे बेतुकी और बेमतलब समझेंगे। उसने सदा विचारों और विचारकों का आदर किया है और तलवार चलाने वालों और पैसे वालों को इनसे ऊँचा समझने से बराबर इन्कार किया है।

लेकिन यह बात सही नहीं है कि हिंदुस्तान ने कभी भी धैर्य के साथ तूफ़ान के आगे सिर झुका लिया है या विदेशी फ़ौजों के सिर पर से गुज़रने के विषय में लापरवाह रहा है। उसने उनका हमेशा सामना किया है—कभी सफलता के साथ और कभी नाकाम होकर—और वह जब नाकाम भी रहा है, तो उसने अपनी नाकामी को याद रक्खा है, और दूसरी कोशिश के लिए अपने को तैयार करता रहा है। उसने दो ढंग ग्रहण किये हैं : एक तो यह कि वह लड़ा है और उसने आक्रमण-कारियों को मार भगाया है; दूसरा यह कि जो भगाये नहीं जा सके उनको उसने अपने में समाविष्ट कर लेने की कोशिश की है। उसने अलेक्ज़ेंडर की फ़ौज का बड़ी कामयाबी से सामना किया और उसकी मृत्यु के ठीक बाद उत्तर से उन फ़ौजियों को जिन्हें कि यूनानियों ने यहां नियुक्त कर रक्खा था, मार भगाया है। बाद में उसने भारतीय-यूनानियों और भारतीय-सिदियनों को अपने में समाविष्ट करके अंत में फिर राष्ट्रीय एकता स्थापित कर ली है। वह कई पीढ़ियों तक हूणों से लड़ता रहा है, और उन्हें अंत में मार भगाया है, जो बच रहे उन्हें उसने फिर अपने

में समाविष्ट कर लिया है। जब अरबी आये तो वह सिंधु नदी के पास रुक गए। तुर्की लोग और अफ़ग़ानी बहुत धीरे-धीरे आगे फैले। दिल्ली के तख़्त पर अपने को दृढ़ता से स्थापित करने में उन्हें सदियों लग गईं। यह एक अटूट और लंबा संघर्ष रहा है, और जहां एक तरफ़ यह संघर्ष चलता रहा था, दूसरी तरफ़ समाविष्ट करने और उन्हें हिंदुस्तानी बनाने की क्रिया भी जारी रहती थी, जिसका नतीजा यह होता था कि आक्रमणकारी वैसे ही हिंदुस्तानी बन जाते थे जैसे कि और लोग थे। अकबर भिन्न तत्वों के समन्वय के पुराने हिंदुस्तानी आदर्श का प्रतिनिधि बन गया और इस देश वालों को एक समान राष्ट्रीयता के अंदर लाने की कोशिश में लगा। चूंकि वह हिंदुस्तान का बना रहा, इसलिए हिंदुस्तान ने भी उसे अपनाया, यद्यपि वह बाहर से आया हुआ था। यही वजह थी कि वह अच्छा निर्माण कर सका और उसने एक शानदार सल्तनत की नींव डाली। जब तक कि उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति को बरता और राष्ट्रीयता की मनोवृत्ति बनाए रहे, तब तक उसकी सल्तनत क़ायम रही। जब वह इससे अलग हट गए और राष्ट्रीयता के विकास की सारी प्रवृत्ति को रोकने लगे, तब वह कमज़ोर पड़ गए और सारी सल्तनत की धज्जियां उड़ गईं। नए आंदोलन उठे जिनमें संकीर्णता थी, लेकिन जो उभरती हुई राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करते थे, और यद्यपि यह इतने दृढ़ नहीं थे कि पायदार हुकूमत स्थापित कर सकें, फिर भी वह मुग़लों की सल्तनत को नष्ट करने भर को अवश्य थे। यह कुछ समय तक सफल रहे, लेकिन उनकी निगाह बीते हुए ज़माने पर बहुत अधिक थी, और उस ज़माने को फिर से ज़िंदा करने के ख़याल में डूबे थे। उन्होंने यह नहीं अनुभव किया कि बहुत कुछ जो कि गुज़र चुका था, उसकी तरफ़ से आँखें नहीं मूँदी जा सकती थीं, और अतीत वर्तमान की जगह कदापि नहीं ले सकता था; और यह वर्तमान भी, उनके ज़माने के हिंदुस्तान में, ऐसा था जिसमें कि सड़ांध पैदा हो गई थी। यह बदलती हुई दुनिया से अलग-थलग जा पड़ा था और हिंदुस्तान बहुत पीछे पड़ गया था। उन्होंने इस बात का ठीक-ठीक अनुमान न किया कि एक नई और जीवट की दुनिया पच्छिम में उठ रही थी, जिसका दृष्टिकोण नया था और जिसके पास नई हिकमतें थीं, और यह कि एक नई शक्ति—यानी ब्रिटिश—उस नई दुनिया की, जिससे कि वह इतने बेख़बर थे, नुमाइंदगी करती थी। ब्रिटिश जीते, लेकिन मुश्किल से उन्होंने अपने को उत्तर में स्थापित किया था कि बलवा हो गया, और यह स्वतंत्रता की लड़ाई बन

गया और इसने अंग्रेज़ी हुकूमत को क़रीव-क़रीव समाप्त कर दिया। स्वतंत्रता की उमंग हमेशा रही है, और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाने से वरावर इन्कार किया गया है।

४ : उन्नति बनाम रक्षा

हम एक अलग-थलग रहने वाले लोग रहे हैं, अपने वीते हुए ज़माने और अपनी विरासत का हमें गर्व रहा है, और इनकी रक्षा करने के लिए हम दीवारें और वाढ़ें खड़ी करते रहे हैं। लेकिन जाति-चेतना के और ज़ात-पाँत की वढ़ती हुई कड़ाई के वावजूद, हम, और लोगों की ही तरह जो कि अपनी जातीय विशुद्धता का घमंड रखते हैं, अजीव वर्ण-संकर जाति वन गए हैं, जिनमें कि आर्य, द्रविड़, तूरानी, सेमेटिक, मंगोल सभी जातियों का मिश्रण है। आर्यों की यहां कई लहरें आईं और वह द्रविड़ों से मिले-जुले; हज़ारों वर्षों तक उनके वाद, एक-एक करके दूसरे पर प्रभाव छोड़ने वाले लोगों और जातियों की लहरें आती रहीं: मीडियन, ईरानी, यूनानी, वाख्त्री, पार्थियन, शक या सिदियन, कुशाण या युइ-ची, तुर्क-मंगोल और और जातियां जोकि वड़ी या छोटी संख्या में आईं और जिन्होंने हिंदुस्तान में अपना घर कर लिया। डाडवेल अपनी किताव 'इंडिया' में कहता है: "खूंख़ार और लड़ाकी जातियों ने वार-वार इस (हिंदुस्तान) के उत्तरी मैदान पर हमला किया, इसके राजाओं को परास्त किया, इसके शहरों पर अधिकार किया या उन्हें वरवाद कर दिया, नए राज्य वनाए, अपनी नई राजधानियां खड़ी कीं और फिर जनता की महान् लहर में समा गए और छोड़ गए अपनी संतान में क्षीण होता हुआ कुछ विदेशी रक्त या विदेशी रीति-रिवाज के कुछ धागे, और यह भी जल्दी ही अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के प्रवल प्रभाव से उसी के अनुरूप हो गए।"

इस प्रवल वातावरण का क्या कारण रहा है? कुछ अंश में तो यह भूगोल और मौसिम, और हिंदुस्तान की हवा का ही असर था। लेकिन निश्चय ही वहुत ज़्यादा असर था यह एक शक्तिशाली भावना का, एक गहरी प्रेरणा का, जिसने कि हिंदुस्तान की अंतर्चेतना पर अपनी छाप उस समय डाल दी थी जव कि इतिहास के उषा-काल में अभी वह ताज़ा और थोड़ी उम्र का ही था। यह छाप इतनी गहरी थी कि वरावर वनी रही, और इससे जो लोग भी संपर्क में आए उन पर भी इसने

प्रभाव डाला, और इस तरह वह चाहे जितना भिन्न रहे हों वह भी इसके घेरे में आकर इसमें मिलजुल गए।

हम युगों के साथ-साथ बराबर बदलते रहे हैं, और किसी काल में यह नहीं हुआ है कि हम अपने पुराने ज़माने जैसे बने रहे हों: आज जाति और संस्कृति दोनों ही की दृष्टि से, हम जो कुछ भी थे उससे भिन्न हैं, और अपने चारों ओर, क्या हिंदुस्तान में और क्या दूसरी जगह, मैं देखता हूं कि परिवर्तन लंबे डग भर रहा है। फिर भी इस बात को मैं दृष्टि से अलग नहीं कर सकता कि हिन्दुस्तानी और चीनी संस्कृतियों ने क़ायम रहने की और अपने को अवसर के अनुकूल ढाल लेने की, अद्‌भुत शक्ति दिखाई है; और अनेक परिवर्तनों और संकटों के रहते हुए भी, बहुत लंबे काल तक, अपनी बुनियादी विशेषता बनाए रखने में कामयाब हुए हैं। वह ऐसा न कर पाते अगर वह जीवन और प्रकृति से एक सामंजस्य न पैदा कर सके होते। वह जो कुछ भी वस्तु हो, जिसने कि इन्हें अपने पुराने लंगर से लगाए रक्खा, वह चाहे अच्छी ही हो, चाहे बुरी, चाहे मिली-जुली, अगर यह शक्तिशाली न रही होती तो इतने काल तक बनी नहीं रह सकती थी।

उन्नति और रक्षा के विचारों में शायद हमेशा कुछ आपस की अनबन रही है। दोनों एक साथ मौजूद नहीं हो पाते। इनमें से पहला परिवर्तन चाहता है, और दूसरा एक न बदलने वाली पनाह की जगह चाहता है, और यह कि चीज़ें जैसी की तैसी बनी रहें। उन्नति का खयाल नए ज़माने का है और पच्छिम में भी अपेक्षाकृत नया है। पुराने और बीच के ज़माने की संस्कृतियां अतीत की सुनहली कल्पना में डूबी रहती थीं। हिंदुस्तान में भी बीते हुए ज़माने की बड़ी सुनहली कल्पना की गई है। यहां जो सभ्यता तैयार हुई उसकी भी बुनियाद रक्षा और पायदारी के खयालों पर बनी थी, और इस दृष्टिकोण से यह उन सभी सभ्यताओं से, जो कि पच्छिम में उठीं कहीं अधिक सफल रही। ध्यान देने की यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि जहां हिंदुस्तानी दर्शन हद दर्जे का व्यक्तिवादी दर्शन रहा है और क़रीब-क़रीब पूरे तौर से व्यक्ति के विकास से उसका संबंध रहा है, वहां हिंदुस्तान का सामाजिक संगठन सांप्रदायिक था, और केवल गिरोहों पर ध्यान देता था। व्यक्ति को पूरी आज़ादी थी इस बात की कि जो चाहे सोचे, विचारे और जिस चीज़ में चाहे विश्वास करे; लेकिन उसे समाज और संप्रदाय के रीति-रिवाज़ों की कड़ी पाबंदी करनी पड़ती थी।

बावजूद इस पाबंदी के, गिरोहों के भीतर भी, सब कुछ लेकर, बहुत लचीलापन था; और कोई ऐसा क़ानून या समाज का नियम न था जो कि रीति-रिवाज से बदला न जा सके। यह भी था कि नए गिरोह अपने-अपने अलग रीति-रिवाज, विश्वास और व्यवहार रख सकते थे, और ऐसा करते हुए भी एक बड़े सामाजिक-संगठन का अंग बने रह सकते थे। यही लचीलापन और अपने को अवसर के अनुकूल ढालने की शक्ति ऐसी चीज़ें थीं, जिन्होंने कि विदेशियों को अपने में समाविष्ट करने में मदद दी।

जब तक कि पायदारी और रक्षा ख़ास ध्येय रहे, तब तक तो यह व्यवस्था ख़ूब काम देती रही; और अगर आर्थिक परिवर्तनों ने इसकी जड़ें हिलाई, फिर भी अपने को उनके अनुकूल बनाकर यह बनी रही। इसे असली चुनौती मिली, सामाजिक तरक़्क़ी की उस नई धारणा से जो कि किसी तरह पुराने, टिके हुए, विचारों से मेल नहीं खाती थी। यही कल्पना पुराने स्थापित व्यवसायों को पूरब में उखाड़ रही है, उसी तरह जिस तरह कि इसने पच्छिम में व्यवसायों को उखाड़ा है। पच्छिम में जहां अब भी तरक़्क़ी का बोलबाला है, रक्षा की माँग पेश हो गई है। हिंदुस्तान में रक्षा की कमी ने ही लोगों को मजबूर किया है कि वह पुरानी लीक छोड़कर बाहर आवें, और ऐसी उन्नति का ख़याल लावें जो कि रक्षा की हालत पैदा करेगी।

हिंदुस्तान में जो तत्त्व भी आया और यहां समाविष्ट हो गया, उसने हिंदुस्तान को अपना कुछ दिया भी और उससे उसका कुछ लिया भी; इसने अपनी और हिंदुस्तान, इन दोनों, की शक्ति में वृद्धि की। लेकिन जहां वह अलग-अलग रहा, और हिंदुस्तान के जीवन में और यहां की संपन्न और विविध संस्कृति में हिस्सा न ले सका, वहां उसका कोई स्थायी प्रभाव न हुआ और अंत में मिट गया है, और मिटते-मिटते अपने को या फिर हिंदुस्तान को कुछ हानि पहुँचा गया।

५ : हिंदुस्तान और ईरान

उन बहुत से लोगों में, जो कि हिंदुस्तान के जीवन और संस्कृति के संपर्क में आए हैं और इन पर प्रभाव डाला है, सबसे पुराने ईरानी रहे हैं। भारतीय-आर्य और ईरानी अलग होकर अपना-अपना रास्ता लेने से पहले एक ही जाति के थे। इनके पुराने धर्म और भाषा की भी एक-सी भूमिका रही है। वैदिक धर्म और

ज़रथुस्त्र के धर्म में वहुत-सी एक-सी वातें थीं, और वैदिक संस्कृति और अवस्ता की भाषा दोनों एक-दूसरे से वहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। वाद की संस्कृत और फ़ारसी के विकास अलग-अलग हुए, लेकिन दोनों के वहुत से मूल-शव्द एक ही हैं, जिस तरह कि सभी आर्य-भाषाओं के कुछ मूलशव्द समान हैं। दोनों भाषाओं पर और इनसे वढ़कर उनकी कला और संस्कृति पर, उनके अलग-अलग वातावरणों का प्रभाव पड़ा।

हिंदुस्तान की तरह, ईरान की भी सांस्कृतिक नींव इतनी दृढ़ थी कि वह अपने आक्रमणकारियों पर भी प्रभाव डाल सके और प्रायः उन्हें अपने में समाविष्ट कर ले। अरव लोग, जिन्होंने कि सातवीं सदी ईस्वी में ईरान विजय किया इस प्रभाव में आ गए, और अपने सीधे-सादे रेगिस्तानी रहन-सहन को छोड़कर उन्होंने ईरान की रँगी-चुनी तहज़ीव ग्रहण कर ली। जिस तरह फ्रांसीसी भाषा यूरोप में है, उसी तरह फ़ारसी एशिया के सदूर भागों के सभ्य लोगों की भाषा वन गई। ईरानी कला और संस्कृति पच्छिम में क़ुस्तुंतुनिया से लेकर ठीक गोवी के रेगिस्तान तक फैल गई।

हिंदुस्तान पर भी यह प्रभाव वरावर रहा, और अफ़ग़ानों और मुग़लों के काल में, हिंदुस्तान में फ़ारसी देश की दरवारी भापा रही। यह वात अंग्रेज़ी दौर के ठीक आरंभ तक वनी रही। आज की सभी हिंदुस्तानी भाषाओं में फ़ारसी शव्द भरे पड़े हैं। संस्कृत से निकली भाषाओं के लिए, विशेषकर हिंदुस्तानी के लिए, जो स्वयं एक मिली-जुली भापा है, यह स्वाभाविक था। लेकिन दक्खिन की द्रविड़ भाषाओं पर भी फ़ारसी का प्रभाव पड़ा है। हिंदुस्तान में वीते हुए ज़माने के फ़ारसी के कुछ वड़े शानदार शायर हुए हैं, और आज भी, हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ही में फ़ारसी के अच्छे आलिम मिलते हैं।

इसमें कोई शक नहीं जान पड़ता कि सिंध की घाटी की सभ्यता के संपर्क उस ज़माने की ईरान और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं से थे। कुछ नक़्शनिगारों और मुहरों में स्पष्टरूप से समानता मिलती है। इस वात के भी कुछ प्रमाण हैं कि ईरान और हिंदुस्तान के वीच, पूर्व-अशीमियन काल में भी आपस के संपर्क थे। हिंदुस्तान का अवस्ता में चर्चा आया है, और उत्तरी हिंदुस्तान का कुछ वयान भी है। ऋग्वेद में फ़ारस के हवाले हैं। फ़ारसी लोग 'पार्व' कहलाते थे और वाद में यही 'पारसीक' कहलाये, जिससे कि आधुनिक 'पारसी' शव्द निकला है। पार्थि-

यनों को 'पार्थव' कहा गया है। इस तरह ईरान और हिंदुस्तान के बीच आपस की दिलचस्पी की परंपरा पुरानी है और अख़ीमियन वंश के ज़माने से भी पहले की है। शहंशाह साइरस के ज़माने से और भी संपर्कों के प्रमाण मिले हैं। साइरस हिंदुस्तान की सरहद, संभवत: काबुल और बलूचिस्तान तक आया था। ईसा से पूर्व छठी सदी में दारा के अधीन जो सल्तनत थी वह ठीक पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान तक फैली हुई थी और सिंध और शायद पच्छिमी हिंदुस्तान का एक भाग इसमें आ गया था। इस समय को, हिंदुस्तान के इतिहास में, ज़रथुस्त्र का ज़माना कहा गया है और इसका असर काफ़ी फैला रहा होगा। सूर्य की पूजा को प्रोत्साहन दिया गया। दारा का हिंदुस्तानी सूबा, उसकी सल्तनत का सबसे मालदार और सबसे अधिक घना बसा हुआ सूबा था।

ईसा से पूर्व की सातवीं सदी से भी पहले से लेकर युगों बाद तक व्यापार के द्वारा हिंदुस्तान और ईरान के संबंध के प्रमाण मिलते हैं; विशेषकर यह ख़याल किया जाता है कि हिंदुस्तान और बैबिलोन के बीच होने वाला प्राचीन व्यापार का रास्ता फ़ारस की खाड़ी से होकर था। छठी सदी के बाद साइरस और दारा के हमलों के द्वारा सीधे संपर्क स्थापित हो गए। अलेक्ज़ेंडर की विजय के बाद कई सदियों तक ईरान यूनानियों के शासन में रहा। इस काल में भी संपर्क बने रहे और कहा जाता है कि अशोक की इमारतों पर पार्सिपोलिस की निर्माण शैली का प्रभाव पड़ा। यूनानी-बौद्धकला जो पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान में विकसित हुई, उसमें भी ईरान की छूत रही है। हिंदुस्तान में गुप्तों के समय में ईसा से बाद की चौथी-पाँचवीं सदियों में, जो कि कला और संस्कृति के कारनामों के लिए मशहूर हैं, ईरान से संबंध बने रहे।

काबुल, कंधार और सीस्तान के सरहदी इलाक़े, जो कि प्राय: हिंदुस्तान के शासन के अंदर रहे हैं, हिंदुस्तानियों और ईरानियों की आपस में मिलने की जगहें थीं। बाद के पार्थियन ज़माने में इन्हें 'सफ़ेद हिंदुस्तान' का नाम दिया गया। इन हिस्सों का चर्चा करते हुए, फ़्रांसीसी विद्वान् जेम्स दार्मेस्टेलर कहता है: "हिंदू संस्कृति इन इलाक़ों में फैली हुई थी, जो कि वस्तुत: ईसा से पहले और बाद की दो सदियों में 'सफ़ेद हिंदुस्तान' के नाम से जाने जाते थे, और मुसलमानों की विजय के समय तक ईरानी से अधिक हिंदुस्तानी बने रहे।"

उत्तर हिंदुस्तान में आने वाले व्यापारी और यात्री ख़ुश्की के रास्ते आते थे। दक्खिनी हिंदुस्तान समुद्र के ऊपर भरोसा करता था, और उसकी समुद्री रास्ते से, दूसरे देशों से तिजारत होती थी। एक दक्खिनी राज्य और ईरान के सासानियों के बीच आपस में राजदूत आते-जाते रहते थे।

हिंदुस्तान पर तुर्कों, अफ़ग़ानों, मुग़लों की विजयों का परिणाम यह हुआ कि हिंदुस्तान के संबंध मध्य और पच्छिमी एशिया से बढ़े। पंद्रहवीं सदी में (यूरोपीय पुनर्जागृति के युग के समय) समरक़ंद और बुखारा में तैमूरी पुनर्जागृति फल-फूल रही थी, और इस पर ईरान का गहरा प्रभाव था। बाबर, जो कि स्वयं तैमूरिया वंश का शाहज़ादा था, इसी वातावरण से आया, और उसने दिल्ली की गद्दी पर अधिकार कर लिया। यह सोलहवीं सदी के आरंभ की बात है, जिस समय कि ईरान में, सफ़ावी बादशाहों की हुकूमत के ज़माने में एक शानदार कलात्मक पुनर्जागृति हो रही थी, और यह ज़माना फ़ारसी कला का सुनहला ज़माना कहलाया है। बाबर के बेटे, हुमायूं ने, यहां से भाग कर सफ़ावी शाह के यहां शरण ली थी, और उसी की मदद से वह फिर हिंदुस्तान लौटा था। हिंदुस्तान के मुग़ल बादशाह ईरान से बड़ा नज़दीकी संबंध बनाए रखते थे और सरहद पार करके मुग़लों के शानदार दरबार में, प्रतिष्ठा और धन कमाने के लिए आने वाले, ईरानी विद्वानों और कलावंतों का ताँता लगा रहता था।

हिंदुस्तान में इमारतों की एक नई शैली ने उन्नति की, जिसमें कि हिंदुस्तानी और ईरानी आदर्शों और प्रेरणाओं का मेल-जोल था, और दिल्ली और आगरा बहुत-सी शानदार और सुंदर इमारतों से भर गए। इनमें से सबसे सुंदर इमारत थी ताजमहल, जिसके बारे में फ़्रांसीसी आलिम एम० ग्रूस ने कहा है कि "इसमें हिंदुस्तान के जिस्म में ईरान की रूह उतर आई है।"

हिंदुस्तान और ईरान के लोगों में, शुरू से लेकर सारे इतिहास के ज़माने में, जैसा घनिष्ट संबंध रहा है, शायद ही दूसरे लोगों में रहा हो। दुर्भाग्य से जो अंतिम यादगार इस लंबे, निकट के और सम्मानित संबंध की है वह नादिरशाह के हमले की है, जो कि दो सौ साल का ज़माना गुज़रा, थोड़े समय के लिए हुआ था, लेकिन जो हद दर्जे का भयानक हमला था।

इसके बाद अंग्रेज़ आए और उन्होंने सब दरवाज़े और सब रास्ते जिनके द्वारा हमारा अपने एशियायी पड़ोसियों से संबंध जुड़ता था, बंद कर दिए। समुं-

दर के आरपार नए रास्ते बने, जिन्होंने कि हमें यूरोप के अधिक निकट पहुँचाया, विशेषकर इंग्लिस्तान के। लेकिन हिंदुस्तान और ईरान और मध्य-एशिया और चीन के बीच फिर कोई संपर्क नहीं रह पाए, जब तक कि इस जमाने में हवाई जहाज़ों ने तरक़्क़ी नहीं कर ली, और तब हमने अपनी पुरानी मित्रता फिरसे जगाई। शेष एशिया से अचानक इस तरह अलग-थलग हो रहना, हिंदुस्तान की बरतानवी हुकूमत का सबसे मुख्य और दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम हुआ है।

लेकिन एक अटूट नाता बना रहा है—मौजूदा जमाने के ईरान से नहीं, बल्कि प्राचीन ईरान से। तेरह सौ साल हुए जब कि इस्लाम ईरान में पहुँचा, उस समय पुराने जरथुस्त्र धर्म के मानने वाले, सैकड़ों या हजारों की गिनती में हिंदुस्तान में आए। उनका यहां स्वागत हुआ और वह पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गए, और अपने धर्म और रीति-रिवाजों के पाबंद बने रहे। न किसी ने उनसे छेड़खानी की, न उन्होंने दूसरों से; यह एक बड़े मार्के की बात है कि, यह लोग जो कि पारसी कहलाए, हिंदुस्तान में चुपके से और बग़ैर बड़े दिखावे के, मिल बैठ गए, और इसे अपना घर बना लिया और फिर भी एक छोटे संप्रदाय की हैसियत से, अपने पुराने रीति-रिवाजों को पाबंदी से निभाते रहे। अपने संप्रदाय के बाहर शादी-ब्याह की इन्होंने आज्ञा न दी और ऐसे बहुत ही कम उदाहरण हैं। स्वयं इस बात से हिंदुस्तान में अधिक आश्चर्य नहीं हो सकता था, क्योंकि यहां भी आमतौर पर लोग अपनी ही बिरादरी में शादी-ब्याह करते हैं। उनकी जन-संख्या बहुत धीमी गति से बढ़ी है और आज भी कुल गिनती उनकी एक लाख के लगभग है। तिजारत में उन्होंने उन्नति की है और उनमें से बहुत से उद्योग-धंधों के अगुवा हैं। ईरान से क़रीब-क़रीब कोई संबंध उनका नहीं रहा है और वह पूरी तौर पर हिंदुस्तानी बन गए हैं, फिर भी वह अपनी परंपरा को पकड़े हुए हैं, और अपनी प्राचीन मातृ-भूमि की स्मृति को जगाए हुए हैं।

६ : हिंदुस्तान और यूनान

अभी हाल तक बहुत से यूरोपीय विचारकों का यह ख़याल था कि जितनी मूल्यवान और आदरणीय वस्तुएं हैं उनका आरंभ यूनान से या रोम से है। सर हेनरी मेन ने कहीं पर कहा है कि प्रकृति की अंधी शक्तियों के अतिरिक्त दुनिया में कोई भी गतिशील वस्तु नहीं है जो कि अपने मूल में यूनानी न हो। यूनान और

रोम के बारे में जानकारी रखने वाले यूरोप के बड़े-बड़े विद्वान् हिंदुस्तान और चीन के बारे में बहुत कम जानते थे। फिर भी प्रोफ़ेसर ई० आर० डाड्स ने ज़ोर दिया है उस "पूर्वी भूमिका पर, जो कि यूनानी संस्कृति के पीछे थी, और जिससे वह अपने को (सिवाय यूनान और रोम के विषय के पंडितों के मस्तिष्क में) कभी अलग न कर सकी थी।"

यूरोप में, बहुत दिनों तक, स्वभावतया, यूनानी, इबरानी और लातीनी ज़बानों तक ज्ञान सीमित था। और इससे जो चित्र तैयार होता था वह मेडिटिरेनियन के आस-पास की दुनिया का था। अफ़लातून और अरस्तू मस्तिष्क पर छाए हुए थे। उस वक़्त भी जब कि एशिया के लोगों के कारनामों की कुछ जानकारी यूरोपीय दिमाग़ तक छनकर पहुँचती थी, यह ख़ुशी से क़ुबूल नहीं की जाती थी। अनजान में इसका विरोध होता, और इसे जैसे भी हो पहली तस्वीर में बिठालने की कोशिश की जाती थी। जब यह धारणा विद्वानों की थी, तब आम अनपढ़ लोग तो और भी, पूरब और पच्छिम के बीच, कोई विशेष अंतर समझते रहे। यूरोप में मशीन के कारखानों के खुलने और उसके साथ होने वाली आर्थिक उन्नति ने आम लोगों के मन पर इस भेद की छाप और भी गहरी कर दी, और किसी अनोखे तर्क से प्राचीन यूनान वर्तमान यूरोप और अमरीका का माँ-बाप बन गया।

पूरब और पच्छिम, इन शब्दों के प्रयोग को मैं समझ नहीं सका हूं, सिवाय इस अर्थ में कि यूरोप और अमरीका ने मशीन के कारखानों में बड़ी उन्नति कर ली है और एशिया इस दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। कल-कारख़ानों की बहुतायत संसार के इतिहास में एक नई चीज़ है और इसने और चीज़ों की अपेक्षा संसार को अधिक बदल दिया है और बराबर बदल रही है। लेकिन यूनानी सभ्यता में और आज की यूरोपीय और अमरीकी सभ्यताओं में कोई बुनियादी संबंध नहीं है। आज का यह विचार कि आराम की ज़िंदगी ही सब से बड़ी चीज़ है, यूनानी और दूसरे प्राचीन साहित्यों के बुनियादी विचारों से बिलकुल अलग है। यूनानी और हिंदुस्तानी और चीनी और ईरानी लोग सदा एक ऐसे धर्म और जीवन के दर्शन की खोज में रहे हैं, जिनका कि असर उनके सभी कामों पर रहा है और जिनका उद्देश्य एक तरह का सम-तौल और सामंजस्य पैदा करना रहा है। यह आदर्श जीवन के हर पहलू में—साहित्य में, कला में, और संस्थाओं में—प्रकट होता है और एक समन्वय और पूर्णता उत्पन्न करता है।

पूरब और पच्छिम के हर एक देश और लोगों का अपना व्यक्तित्व रहा है, उनका संदेश रहा है और उन्होंने जीवन के प्रश्नों को अपने ढंग से हल करने की कोशिश की है। यूनान की कुछ विशेष बात है और अपने ढंग में वह निराला है; यही बात हिंदुस्तान की है, यही चीन और ईरान की। प्राचीन हिंदुस्तान और प्राचीन यूनान एक-दूसरे से भिन्न थे फिर भी मिलते-जुलते थे; उसी तरह जिस तरह कि प्राचीन हिंदुस्तान और प्राचीन चीन के बीच बड़े भेदों के होते हुए भी विचारों का मेल-जोल था। इन सभों का एक-सा उदार, रवादारी का, और उन्मुक्त दृष्टि-कोण था; यह जीवन का और प्रकृति की अनंत विविधिता और अपार सुंदरता का आनंद लेते थे; इन्हें कला से प्रेम था; और इनमें थी वह बुद्धिमत्ता जो कि एक पुरानी जाति को उसके संचित अनुभवों के कारण प्राप्त होती है। इनमें से हर एक ने अपनी राष्ट्रीय विशेषता के अनुसार उन्नति की। अपने यहां के प्राकृतिक वातावरण से प्रभाव लिया और ज़िंदगी के किसी एक पहलू पर औरों की अपेक्षा अधिक ज़ोर दिया। यह ज़ोर सब जगह एक-सा नहीं है। यूनानियों ने, एक क़ौम की हैसियत से, संभव है अपने वर्तमान जीवन में ज़्यादा उमंग से हिस्सा लिया हो, और जो सौंदर्य और मधुरता उनके इर्द-गिर्द थी, या जिसे उन्होंने आप पैदा किया था उसके रस में डूबे हों। हिंदुस्तानियों ने भी यह आनंद और मधुरता अपने वर्तमान में ही पाई, लेकिन साथ-ही-साथ उनकी आँखें और गहरे ज्ञान की तरफ़ भी थीं, और उनके मस्तिष्क अनोखे प्रश्नों के हल में लगे हुए थे। चीनी इन प्रश्नों और उनके रहस्यों को खूब जानते हुए भी, बुद्धिमानी के साथ, उनमें उलझने से बचे रहे। अपने-अपने भिन्न तरीक़ों से हर एक ने जीवन के सौंदर्य और पूर्णता को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। इतिहास ने दिखा दिया है कि हिंदुस्तान और चीन की बुनियादें अधिक दृढ़ थीं और उनमें टिकने की अधिक शक्ति थी। वह अभी तक जीवित हैं, यद्यपि बुरी तरह झकोरा खा चुके हैं और उनकी बड़ी अवनति हो चुकी है और भविष्य धुँधला है। पुराने यूनान की जो भी शान रही है, उसकी ज़िंदगी थोड़े ज़माने की रही; वह बना न रह सका, सिवाय इसके कि उसके आलीशान कारनामे हैं और उनका प्रभाव बाद में आने वाली संस्कृतियों पर पड़ा है।

अपने हौसले और दृष्टिकोण में हिंदुस्तान यूरोपीय राष्ट्रों की अपेक्षा पुराने यूनान के अधिक निकट है, यद्यपि वह अपने को यूनानी संस्कृति के उत्तराधिकारी बताते हैं। हम इस बात को भूल जाते हैं, चूंकि हम तक कुछ ऐसे ख़याल चले आ

रहे हैं जो कि तर्कपूर्ण विचार के रास्ते में रुकावट डालते हैं। कहा जाता है कि हिंदुस्तान में धर्म और दर्शन, चिंतन और अध्यात्म पनपते हैं और वह इस दुनिया की बातों से निरपेक्ष है, और परलोक के सपनों में खोया हुआ है। हमको बताया यही जाता है, और शायद जो लोग हमसे ऐसा कहते हैं वह चाहेंगे भी कि हिंदुस्तान विचार और चिंतन में डूबा और उलझा रहे, और वह लोग इस संसार को और उसके सभी पदार्थों को, इन विचारकों से स्वतंत्र रहकर अपने अधिकार में रख सकें, और उनका उपभोग कर सकें। हां, हिंदुस्तान में यह सब कुछ रहे हैं, लेकिन इनसे और अधिक बातें भी रही हैं। उसने बचपन के भोलेपन को जाना है, जवानी की उमंगें और मस्तियां देखी हैं, और बुज़ुर्गी में वह ज्ञान हासिल किया है जोकि सुख-दुःख के अनुभव से ही आता है; और बार-बार उसने अपने बचपन, अपनी जवानी, और अपनी बुज़ुर्गी को ताज़ा किया है। युगों की उपेक्षा और उसके विस्तार ने उसे दबा रक्खा है; पस्ती लाने वाले रीति-रिवाजों और बुरे अमल ने उसमें घर कर लिया है, ऐसे कीड़े उसमें चिपटे हुए उनका खून चूस रहे हैं, लेकिन इन सब के पीछे युगों की शक्ति और एक प्राचीन जाति की सहज बुद्धिमत्ता भी है। क्योंकि हम बहुत पुराने लोग हैं, अनंत सदियां हमारे कानों में धीमे स्वर में अपनी कहानी कह रही हैं। लेकिन हमने अपनी जवानी को बार-बार ताज़ा किया है, यद्यपि उन बीते हुए युगों की यादें और सपने बने रहे हैं।

जिस चीज़ ने ऐसा किया है वह है उसकी कोमल मानवता, उसकी बहुरंगी और रवादारी बरतने वाली संस्कृति, और ज़िंदगी और उसके भेदभरे तरीक़ों की गहरी सूझ-बूझ। उसकी भरी-पूरी जीवनी-शक्ति की धार, उसकी शानदार कला और साहित्य में, युग-युग से बहती आई है।

भूगोल और जलवायु की दृष्टि से यूनान हिंदुस्तान से भिन्न है। वहां कोई ऐसी नदियां नहीं जो सचमुच की नदियां कहला सकें, कोई जंगल नहीं, कोई बड़े वृक्ष नहीं, जिनकी हिंदुस्तान में बहुतायत है। अपनी विशालता और परिवर्तनशीलता से समुद्र ने यूनानियों पर जो प्रभाव डाला है वह हिंदुस्तानियों पर नहीं पड़ा, सिवाय इसके कि उन हिंदुस्तानियों पर पड़ा हो जो कि समुद्र के किनारे बसते हैं। हिंदुस्तान का जीवन थल का जीवन रहा है, बड़े-बड़े मैदानों, विशाल पर्वतों, प्रवाहमयी नदियों और घने जंगलों का इसमें हिस्सा रहा है। यूनान में भी कुछ पहाड़ रहे हैं और यूनानियों ने आलिंपस को अपने देवताओं का उसी तरह पर निवास

बनाया है, जिस तरह कि हिंदुस्तानियों ने अपने देवताओं और ऋषियों को हिमालय की ऊँचाइयों पर जगह दी है। दोनों ने देवताओं की गाथाएं रची हैं, और यह इतिहास के साथ इतनी मिल-जुल गई हैं कि घटनाओं को गढंत से छुड़ाना मुश्किल हो गया है। पुराने यूनानी, कहा जाता है, न भोगी थे और न योगी; वह आनंद को बुरा या पाप जानकर उससे दूर नहीं भागते थे, न जान-बूझ कर उस तरह के आमोदों में पड़ते थे जिनमें कि इस ज़माने के लोग पड़ते हैं। जिस तरह से हम अपनी इच्छाओं का दमन करते हैं, वैसा किए बिना वह ज़िंदगी में जोश से हिस्सा लेते थे, और जिस काम में लगते थे ख़ूब लगते थे; और इस तरह से वह हमारी अपेक्षा जीवन का अधिक आनंद लेते थे। हिंदुस्तान के जीवन के विषय में भी हम अपने पुराने साहित्य से कुछ ऐसा ही प्रभाव लेते हैं। हिंदुस्तान में तपस्या के जीवन का भी एक पहलू रहा है, जैसा कि बाद में यूनान में भी रहा है, लेकिन यह बहुत थोड़े लोगों तक सीमित था और जनता के जीवन पर इसका प्रभाव न था। यह पहलू जैन और बौद्ध धर्म के दिनों में कुछ ज़ोर पकड़ गया था, लेकिन फिर भी इसने जीवन की पृष्ठभूमि को अधिक नहीं बदला।

जीवन जैसा भी था, उसे हिंदुस्तान और यूनान दोनों जगह स्वीकार किया गया था, और लोग उसका पूरी तरह उपभोग करते थे, फिर भी इस तरह का विश्वास था कि एक विशेष प्रकार का जीवन श्रेष्ठतर होता है। इसमें कुतूहल और कल्पना की गुंजाइश होती थी, लेकिन जाँच की यह भावना पदार्थों के बारे में अनुभव हासिल करने की तरफ़ नहीं झुकती थी, बल्कि मानसिक चिंतन की दिशा में जाती थी। वैज्ञानिक तरीक़ों के आने से पहले वास्तव में सभी जगह यही प्रवृत्ति हुआ करती थी। संभवतः यह चिंतन कुछ थोड़े ऊँचे मस्तिष्क के लोगों तक सीमित था, फिर भी साधारण नागरिकों पर भी इसका असर पड़ता ही था, और वह भी दर्शन के प्रश्नों पर आपस में और बातों के साथ, अपनी खुली सभाओं में बहस करते थे। लोगों का रहन-सहन, जैसा आज भी हिंदुस्तान में, विशेषकर देहातों में है, पंचायती ढंग का था, और लोग आपस में बाज़ार में, या मंदिरों और मसजिदों में, या पनघटों पर या जहां कि पंचायतघर होते, पंचायतघरों में इकट्ठा होकर दिन के समाचारों और साधारण आवश्यकताओं पर विचार करते थे। यहीं लोकमत बनता था और उसको प्रकट किया जाता था। ऐसी चर्चाओं के लिए काफ़ी अवकाश रहा करता था।

फिर भी यूनानियों के बहुत से शानदार कारनामों में से एक ऐसा है जो औरों से बढ़-चढ़ कर है—यानी प्रयोगात्मक विज्ञान का प्रारंभ। इसकी उन्नति जैसी यूनानी सभ्यता के भीतर आए हुए प्रदेश, सिकंदरिया में हुई, वैसी स्वयं यूनान में नहीं हो पाई, और ईसा से पूर्व ३३० से १३० तक, यानी दो सदियों में, वैज्ञानिक उन्नति और यंत्रों के आविष्कार ने लंबे डग लिए। हिंदुस्तान में इसके मुक़ाबले की कोई चीज़ नहीं मिलती, और हिंदुस्तान ही क्या, कहीं और भी हम ऐसी बात सत्रहवीं सदी तक नहीं पाते हैं, जब कि फिर विज्ञान ने लंबे डग भरे हैं। रोम ने बावजूद अपने साम्राज्य के, एक विस्तृत प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के, और यूनानी सभ्यता से संपर्क होने के, विज्ञान, आविष्कार या यंत्रों के क्षेत्र में कोई ख़ास उन्नति नहीं दिखाई। यूरोप में यूनान और रोम की सभ्यताओं के नष्ट होने पर, यह अरब थे, जिन्होंने कि विज्ञान की लौ को मध्ययुगों में जगाए रक्खा।

सिकंदरिया की, साइंस और ईजाद की, यह सरगर्मी निश्चय ही ज़माने की समाजी उपज, और एक बढ़ते हुए समाज और जहाज़रानी की आवश्यकताओं का परिणाम थी; उसी तरह जिस तरह कि अंकगणित और बीजगणित का विकास—शून्यांक और राशिमानों का आविष्कार—हिंदुस्तान में, बढ़ते हुए व्यापार और जटिल होते हुए संगठन की दृष्टि से, समाजी आवश्यकताओं का परिणाम था। लेकिन यों आम तौर पर पुराने यूनानियों में कहां तक विज्ञान के लिए रुझान था, यह कहा नहीं जा सकता। उनका जीवन अपनी परंपरा के अनुसार चला होगा, जिसकी बुनियाद में उनका पुराना दार्शनिक दृष्टिकोण था, जो मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य और मेल चाहता था। यह दृष्टिकोण पुराने यूनान और हिंदुस्तान में एक-सा था : हिंदुस्तान की तरह यूनान में भी साल त्यौहारों में बँटा हुआ था और मौसम-मौसम के उत्सव हुआ करते थे जो मनुष्य को प्रकृति के स्वर के साथ मिलाए रहते थे। हिंदुस्तान में अब भी यह त्यौहार मनाए जाते हैं, वसंत में और और फ़स्ल कटने के समय; और दीपावली, जो कि रोशनी का त्यौहार है, शरद् के अंत में मनाया जाता है; और होली का उत्सव जो शुरू गर्मी में मनाया जाता है, और इसके अतिरिक्त पौराणिक पुरुषों के नाम पर त्यौहार चलते हैं। अब भी इन उत्सवों में, कुछ के अवसरों पर लोकगीत और लोकनृत्य होते हैं, जैसे रासलीला या कृष्ण का गोपियों के साथ नाच।

प्राचीन हिंदुस्तान में औरतें अलग-थलग नहीं रहती थीं, सिवाय कुछ हद तक राज-घराने और कुलीन वर्ग की औरतों के। शायद यूनान में मर्द और औरत उस ज़माने में हिंदुस्तान की अपेक्षा अधिक अलग रहते थे। पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथों में प्रसिद्ध और विदुषी औरतों का चर्चा प्रायः आता है, और अक्सर वह खुले शास्त्रार्थों में हिस्सा लिया करती थीं। यूनान में शादी, जान पड़ता है, केवल आपस में समझौते की बात थी, लेकिन हिंदुस्तान में यह हमेशा धार्मिक संस्कार समझी गई है, यद्यपि और तरह के विवाहों का भी चर्चा हुआ है।

यूनान की औरतों की, जान पड़ता है, हिंदुस्तान में ख़ास आव-भगत होती थी। जैसा कि पुराने नाटकों से पता चलता है, राज-दरबारों की दासियां अक्सर यूनानी हुआ करती थीं। यूनान से हिंदुस्तान में आने वाली ख़ास चीज़ों में, जो (पच्छिमी हिंदुस्तान में भड़ोच के बंदरगाह में उतरी थीं, "गानेवाले लड़कों और ख़ूबसूरत लड़कियों" का होना बताया जाता है। चंद्रगुप्त मौर्य का रहन-सहन बताते हुए मेगास्थनीज़ कहता है: "राजा का खाना औरतें पकाती थीं, और वही शराब भी पेश किया करती थीं, जिसका कि सभी हिंदुस्तानियों में चलन है।" कुछ शराब निश्चय ही यूनान या उसके उपनिवेशों से आती थी, क्योंकि एक पुराना तमिल कवि "यवनों (अयोनियन या यूनानी) द्वारा अपने अच्छे जहाज़ों में लाई ठंडी सुगंधित शराब" का वर्णन करता है। एक यूनानी बयान है कि पाटलिपुत्र के राजा (शायद अशोक का पिता बिंदुसार) ने ऐंटिओकस को लिखा कि हमें मीठी शराब, सूखी अंजीर और एक सोफ़िस्ट दार्शनिक ख़रीदकर भेज दो। ऐंटिओकस ने जवाब दिया: "हम आपको अंजीर और शराब भेजेंगे, लेकिन यूनानी क़ानून सोफ़िस्ट की बिक्री की आज्ञा नहीं देता।"

यूनानी साहित्य से यह साफ़ पता चलता है कि सम-लिंगी संबंध को बुरा नहीं खयाल किया जाता था। दर अस्ल इसकी ओर एक सरस अनुमोदन का भाव था। शायद इसकी वजह यह थी कि युवावस्था में लड़के-लड़कियां अलग रक्खे जाते थे। इसी तरह की प्रवृत्ति ईरान में पाई जाती है और फ़ारसी साहित्य में इसके हवाले भरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि माशूक़ की एक युवक के रूप में कल्पना करना साहित्यिक परंपरा का अंग बन गया था। संस्कृत साहित्य में ऐसी कोई बात नहीं मिलती और यह ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान में सम-लिंगी संबंध न पसंद किया जाता था और न प्रचलित था।

यूनान और हिंदुस्तान के आपस के संपर्क उस ज़माने से मिलते हैं जब से कि लिखा हुआ इतिहास मिलता है, और बाद के ज़माने में हिंदुस्तान के और यूनानी असर में आए हुए पच्छिमी एशिया के निकट के संबंध रहे हैं। उज्जयिनी (अब उज्जैन), मध्य हिंदुस्तान, में जो बहुत बड़ी वेधशाला है, उसका मिस्र के सिकंदरिया से संबंध था। संपर्क के इस लंबे काल में इन दो संस्कृतियों के बीच विचार और संस्कृति की दुनिया में, आपस के बहुत से लेनदेन हुए होंगे। किसी यूनानी ग्रंथ में यह रवायत दर्ज है कि कुछ हिंदुस्तानी सुक़रात के पास आए और उन्होंने उससे सवाल किए। पैथागोरस पर हिंदुस्तानी दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा था, और प्रोफ़ेसर एच० जी० रालिंसन का कहना है कि : "धर्म, दर्शन और गणित के प्रायः सभी सिद्धांत जिनकी कि पैथागोरस के अनुयायी शिक्षा दिया करते थे, हिंदुस्तान में ईसा से पूर्व की छठी सदी में मालूम थे।" यूनान और रोम का विशेष अध्ययन करने वाले उर्विक नाम के एक योरपीय विद्वान् ने, अफ़लातून की 'रिपब्लिक' नाम की किताब की व्याख्या हिंदुस्तानी विचार के आधार पर की है। ग्नास्टिक तत्त्ववाद को यूनानी अफ़लातूनी और हिंदुस्तानी तत्त्वों को मिलाकर एक करने की कोशिश ख़याल किया गया है। टियाना का फ़िलसूफ़ एपोलोनियस शायद पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में तक्षशिला में, ईसाई संवत् के आरंभ में, आया था। अल्बेरूनी, जोकि मध्य एशिया के ख़ुरासान में पैदा हुआ एक फ़ारसी था, हिंदुस्तान में ग्यारहवीं सदी ईस्वी में आया। उसने यूनानी दर्शन, पढ़ रक्खा था। हिंदुस्तान में आकर उसने संस्कृत सीखने में मेहनत की; उसने दोनों में बहुत-सी समान बातें देखीं और दोनों का मुक़ाबला उसने अपनी किताब में किया है। वह ऐसे संस्कृत ग्रंथों के हवाले देता है जिनमें यूनानी ज्योतिष और रोमन ज्योतिष का वर्णन हुआ है।

पुरानी प्रवृत्ति सभी चीज़ों को यूनान या रोम से निकली हुई बताने की रही है, लेकिन इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई है, और एशिया और ख़ास तौर पर हिंदुस्तान के कारनामों पर ज़ोर दिया गया है। प्रोफ़ेसर टार्न कहते हैं : "मोटे ढंग से एशियायी ने यूनान से जो भी लिया वह आम तौर पर केवल बाहरी बातें हैं, उसने केवल रूप-रेखा ली। शायद ही उसने भीतरी बातें ग्रहण की हों—नागरिक संस्थाएं चाहे एक अपवाद हों—और भाव तो उसने लिया ही नहीं। क्योंकि भाव के मामले में एशिया को हमेशा विश्वास रहा है कि वह यूनान को दूर बिठा सकता है, और उसने दूर बिठाया है। बुद्ध की प्रतिमा को छोड़ दें तो यह कहा जा सकता

है, अगर यूनानियों का कभी अस्तित्व न होता तो भी हिंदुस्तान का इतिहास मुख्य-मुख्य बातों में ठीक वैसा ही रहता जैसा कि रहा है।"

यह एक रोचक कल्पना है कि हिंदुस्तान में मूर्ति-पूजा यूनान से आई। वैदिक धर्म सभी तरह की मूर्तिपूजा का विरोधी था। देवताओं के लिए कोई मंदिर तक न थे। मूर्ति-पूजा के कुछ चिह्न हिंदुस्तान के पुराने विश्वासों में मिलते हैं, यद्यपि मूर्ति-पूजा निश्चय ही बहुत फैली नहीं थी। आरंभ का बौद्धधर्म इसका कट्टर विरोधी था, और बुद्ध की मूर्तियां और प्रतिमाएं तैयार करने की विशेषकर मनाही थी। लेकिन यूनानी कला का प्रभाव अफ़गानिस्तान में और सरहद के आसपास काफ़ी गहरा था और क्रमशः उस प्रभाव ने काम किया। फिर भी आरंभ में बुद्ध की कोई मूर्तियां न बनीं, बल्कि बोधिसत्वों की (जिन्हें कि समझा जाता है कि बुद्ध के, पहले के, अवतार हैं) अपोलो-जैसी मूर्तियां बनीं। इनके बाद स्वयं बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। इससे हिंदू धर्म के कुछ रूपों में भी मूर्तिपूजा को प्रोत्साहन मिला, यद्यपि वैदिक धर्म पर यह असर न पड़ा और वह इससे बचा रहा। मूर्ति या प्रतिमा के लिए फ़ारसी और हिंदुस्तानी में अब तक शब्द है 'बुत', जोकि बुद्ध से निकला है।

७ : प्राचीन हिंदुस्तानी रंगशाला

यूरोप को, प्राचीन हिंदुस्तानी नाटक-साहित्य का जबसे पता लगा, तभी से इस तरह के सुझाव दिए जाने लगे कि या तो इसका प्रारंभ ही यूनानी नाटकों से हुआ या इस पर यूनानी नाटकों का गहरा असर पड़ा। इस मत में कुछ सच-जैसी दिखने वाली बात थी, क्योंकि उस समय तक किसी प्राचीन नाटक का पता न चला था और सिकंदर के आक्रमण के बाद यूनान के अधिकार में आए राज्य हिंदुस्तान की सरहद पर स्थापित हो चुके थे। यह राज्य कई सदियों तक बने रहे और यहां यूनानी नाटकों के खेल होते रहे होंगे। इस प्रश्न की, यूरोपीय विद्वानों ने, सारी उन्नीसवीं सदी में, छान-बीन की और इस पर तर्क-वितर्क हुए। अब यह बात आमतौर पर स्वीकार कर ली गई है कि हिंदुस्तानी रंगशाला, अपने मूल में, और विचारों और विकास में, बिलकुल स्वतंत्र रही है। इसके आरंभ का पता लगावें तो हम ऋग्वेद तक पहुँच जायँगे जिसमें कुछ नाटकीय ढंग की बातचीत मिलती है। रामायण और महाभारत में नाटकों का चर्चा आता है। कृष्ण की

लीलाओं के नाच और संगीत से इसका आरंभ होता है और उसी से इसकी रूप-रेखा बनती है। ईसा से पूर्व की छठी-सातवीं सदी का मशहूर वैयाकरण पाणिनि नाटक के कुछ रूपों का उल्लेख करता है।

नाटचकला पर एक पुस्तक—'नाटचशास्त्र'—कहा जाता है कि तीसरी सदी ईस्वी में लिखी गई, लेकिन यह स्पष्ट है कि यह इसी विषय की और पहले की रचनाओं के आधार पर लिखी गई है। ऐसी किताब उसी समय तैयार हो सकती है जब नाटक की कला की पर्याप्त उन्नति हो चुकी हो, और आम लोगों के सामने खेल बराबर रचाए जाते रहे हों। इससे पूर्व बहुत साहित्य इस पर तैयार हो चुका रहा होगा, और इसके पीछे कई सदियों का क्रमिक विकास जान पड़ता है। हाल में छोटा नागपुर की रामगढ़ की पहाड़ियों में, एक ऐसी प्राचीन रंगशाला का पता चला है, जिस की तिथि ईसा से पूर्व की दूसरी सदी बताई जाती है। यह मार्के की बात है कि 'नाटचशास्त्र' में जो रंगशालाओं का आम बयान मिलता है उससे इस रंगशाला का नक्शा मेल खाता है।

अब यह विश्वास किया जाने लगा है कि ईसा से पूर्व की तीसरी सदी में, नियमित रूप से लिखे गए संस्कृत नाटक, पूरी-पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे, बल्कि कुछ विद्वानों का मत है कि यह स्थिति ई० पू० पाँचवी सदी में ही उत्पन्न हो गई थी। जो नाटक मिलते हैं, उनमें और पहले के नाटककारों और नाटकों के हवाले अक्सर आते हैं, जिनका कि अभी तक पता नहीं चला था। ऐसे खोए हुए नाटककारों में एक भास था, जिसकी कि बाद के नाटककारों ने बड़ी प्रशंसा की है। इस सदी के आरंभ में इसके तेरह नाटकों का एक संग्रह खोज में हाथ आया। अब तक मिले संस्कृत नाटकों में अश्वघोष के नाटक हैं। अश्वघोष ईस्वी संवत् के ठीक पहले या बाद हुआ था। वास्तव में वह नाटकों के कुछ टुकड़े मात्र हैं जो कि ताड़पत्र पर अंकित हैं, और एक आश्चर्य की बात है कि गोबी रेगिस्तान के किनारे तुरफ़ान में पाए गए हैं। अश्वघोष एक धर्म-परायण बौद्ध था और इसने 'बुद्ध चरित' भी लिखा है, जो कि बुद्ध की जीवनी है, और प्रसिद्ध है, और बहुत समय से हिंदुस्तान और चीन और तिब्बत में आम-पसंद रही है। किसी ज़माने में इसका अनुवाद चीनी भाषा में हो चुका है और इसका अनुवाद करने वाला एक हिंदुस्तानी था।

यूरोप ने प्राचीन हिंदुस्तानी नाटकों के बारे में तब जाना जब कि १७८९ में सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'शकुंतला' का अनुवाद प्रकाशित किया।

इस खोज से यूरोप के विचारशील लोगों में हलचल पैदा हो गई, और इस पुस्तक के कई संस्करण निकले। सर विलियम जोन्स के अनुवाद के सहारे जर्मन, फ्रेंच, डैनिश, और इटैलियन में इसके अनुवाद भी हुए। गेटे पर इसका गहरा असर हुआ और उसने 'शकुंतला' की जी खोलकर तारीफ़ की। 'फ़ौस्ट' में प्रस्तावना जोड़ने का विचार, कहा जाता है, उसके मन में कालिदास की प्रस्तावना को पढ़कर उठा, और यह संस्कृत नाटकों की साधारण परंपरा की अनुसार ही लिखी गई थी।

कालिदास संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा कवि और नाटककार माना गया है। प्रोफ़ेसर सिल्वान लेवी ने लिखा है: "हिंदुस्तानी कविता और साहित्य के क्षेत्र में कालिदास का नाम चमक रहा है। नाटक, महाकाव्य और विरह-गीत आज भी इस कलाकार की प्रतिभा और सूझ-बूझ का सबूत दे रहे हैं। सरस्वती के वरद पुत्रों में यह अद्वितीय हैं, और इन्हें ही ऐसी महान् रचना करने का सौभाग्य हुआ है, जिससे हिंदुस्तान का आदर बढ़ा है और स्वयं मानवता ने अपने को पहचाना है। उज्जयिनी में शकुंतला के जन्म पर जो आलोक हुआ था, उसने कई लंबी सदियों बाद पच्छिम की दुनिया को भी तब आलोकित किया जब कि विलियम जोन्स ने इसका उसे परिचय कराया। कालिदास ने अपने लिए उज्ज्वल तारों के बीच स्थान कर लिया है, जहां कि हर एक नाम मानवी भावना के एक युग का प्रतिनिधित्व करता है। इन नामों का सिलसिला इतिहास की रचना करता है, बल्कि यों कहिए कि स्वयं इतिहास बन जाता है।"

कालिदास ने और नाटक भी लिखे हैं, और कुछ लंबे काव्य रचे हैं। उनका समय ठीक-ठीक नहीं तै हो पाया है, लेकिन अनुमान है कि वह चौथी सदी ईस्वी के अंत के लगभग, उज्जयिनी में, गुप्त-वंश के चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के समय में थे। परंपरा कहती है कि वह इस दरबार के नवरत्नों में से एक थे, और इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी प्रतिभा को लोगों ने पहचाना और उनको, अपने जीवन-काल में, पूरा आदर मिला। वह उन भाग्यवानों में से थे, जिन्हें कि जीवन में आदर मिला, और जिन्होंने सुंदरता और कोमलता का—जीवन की कठोरताओं और रूखेपन की अपेक्षा—अधिक अनुभव किया। उनकी रचनाओं में जीवन के प्रति प्रेम, और प्रकृति की सुंदरता के लिए एक उमंग मिलती है।

कालिदास से शायद बहुत पहले एक और मशहूर नाटक रचा गया था—

शूद्रक का 'मृच्छकटिक'। यह एक कोमल और एक हद तक कृत्रिम नाटक है, फिर भी इसमें कुछ ऐसी वास्तविकता है कि उसका हम पर असर होता है और इससे हमें उस ज़माने की संस्कृति और विचारों की झाँकी मिलती है। ४०० ई० के लगभग, चंद्रगुप्त द्वितीय के ही ज़माने में, एक दूसरा मशहूर नाटक रचा गया, यह विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' था। यह एक विशुद्ध राजनीतिक नाटक है, जिसमें प्रेम का या किसी पौराणिक कथा का आधार नहीं लिया गया है। इसमें चंद्रगुप्त मौर्य के ज़माने का हाल है, और उसका प्रधान मंत्री चाणक्य, जिसने कि 'अर्थशास्त्र' लिखा था, इसका प्रधान पुरुष है। कुछ अर्थों में यह नाटक आज के ज़माने पर बहुत घटित होता है।

राजा हर्ष भी, जिसने कि सातवीं सदी ईस्वी के आरंभ में एक नया साम्राज्य स्थापित किया, एक नाटककार था और हमें उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं। ७०० ई० के लगभग भवभूति हुआ है, जो कि संस्कृत साहित्य का एक और उज्ज्वल नक्षत्र था। उसका अनुवाद करना सहज नहीं, क्योंकि उसके नाटक की सुंदरता उसकी भाषा में है, लेकिन वह हिंदुस्तान में बहुत लोकप्रिय है, और केवल कालिदास को उससे बड़ा समझा जाता है। विल्सन ने, जो कि आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत का प्रोफ़ेसर था, इन दोनों के बारे में लिखा है कि: "भवभूति और कालिदास के श्लोकों से ज़्यादा मधुर और सुंदर और शानदार भाषा की कल्पना करना मुमकिन नहीं।"

संस्कृत नाटक की धारा सदियों तक बहती रही, लेकिन नवीं सदी के मुरारि के बाद उसकी विशेषताओं में प्रकट रूप से कमी आई। यह कमी और क्रमिक उतार हमें जीवन के और कामों में भी दिखाई पड़ता है। यह बताया गया है कि नाटकों का यह ह्रास कुछ अंशों में इस वजह से हो सकता है कि भारतीय-अफ़ग़ान और मुग़ल ज़मानों में इसे राज-दरबार की संरक्षिता नहीं प्राप्त हुई, और इस्लाम धर्म वालों ने कला के इस रूप, अर्थात् नाटक को यों नहीं पसंद किया कि इसका संबंध राष्ट्रीय धर्म से था। लेकिन इस दलील में अधिक बल नहीं है, यद्यपि यह संभव है कि ऊपर के राजनैतिक परिवर्तनों ने थोड़ा-बहुत दूर का असर डाला हो। सच बात तो यह है कि संस्कृत नाटक का ह्रास इन राजनैतिक परिवर्तनों से बहुत पूर्व दिखाई पड़ने लगता है। और यह परिवर्तन भी, कुछ सदियों तक केवल उत्तरी हिंदुस्तान में हुए और अगर इस नाटक में कोई दम बच रहा था तो यह दक्खिन

में पनप सकता था। भारतीय अफ़ग़ानों, तुर्कों और मुग़ल शासकों का कारनामा—कुछ थोड़ी मुद्दतों को छोड़कर जब कि कट्टरपना प्रवल रहा है—यह था कि उन्होंने हिंदुस्तान की संस्कृति को निश्चित रूप से बढ़ावा दिया है, और अक्सर उसमें नई प्रवृत्तियां उत्पन्न की हैं और अपनी बातें जोड़ी हैं। हिंदुस्तानी संगीत को, बड़े उत्साह से, ज्यों-का-त्यों मुसलमानी दरबारों में और अमीरों के यहां उठा लिया गया है, और इसके कुछ सबसे बड़े उस्ताद मुसलमान हुए हैं। साहित्य और कविता को भी बढ़ावा मिला है और प्रसिद्ध हिंदी कवियों में मुसलमान भी हैं। बीजापुर के सुलतान इब्राहीम आदिलशाह ने हिंदी में संगीत पर एक किताब लिखी है। हिंदुस्तानी कविता और संगीत दोनों में ही हिंदू देवी-देवताओं के वर्णन भरे पड़े हैं, लेकिन इन्हें स्वीकार किया गया, और पुराने रूपक और अलंकार चलते रहे। यह कहा जा सकता है कि मूर्तियों का बनाना छोड़कर, कला का कोई भी रूप नहीं है जिसे कि मुस्लिम शासकों ने (कुछ अपवादों को छोड़कर) दबाने की कोई कोशिश की हो।

संस्कृत नाटक का ह्रास यों हुआ कि उन दिनों में हिंदुस्तान में, दूसरी दिशाओं में भी ह्रास हो रहा था, और रचना-शक्ति घट रही थी। अफ़ग़ानों और तुर्कों के दिल्ली में गद्दी पर बैठने के बहुत पहले ही यह ह्रास आरंभ हो गया था। फिर भी, संस्कृत नाटक संपूर्ण मध्य-युग में और हाल तक लिखे जाते रहे, यह एक आश्चर्य की बात है। सन् १८९२ में शेक्सपियर के 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का संस्कृत भावानुवाद निकला। पुराने नाटकों की पांडुलिपियां बराबर मिल रही हैं। इनकी एक सूची, जो कि प्रोफ़ेसर सिल्वान लेवी ने १८९० में तैयार की थी, ३७७ नाटकों और १८९ नाटककारों के नाम देती है। एक और हाल की सूची में ६५० नाटकों के नाम दिए गए हैं।

पुराने नाटकों की (कालिदास और दूसरों के) भाषा मिली-जुली है यानी उसमें संस्कृत और एक या ज्यादा प्राकृतों का प्रयोग हुआ है, यह प्राकृतें संस्कृत की ही बोल-चाल का रूप हैं। एक ही नाटक में पढ़े-लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और साधारण अनपढ़ लोग, आमतौर से स्त्रियां, प्राकृत बोलती हैं, हालांकि इसके अपवाद भी मिलेंगे। श्लोक या गीत, जिनकी बहुतायत है, संस्कृत में हैं। इस मिली-जुली भाषा की वजह से शायद नाटक साधारण दर्शकों को अधिक प्रिय होता था।

इस ऊँचे दर्जे की साहित्यिक रंगशाला को छोड़ कर, हमेशा एक जनसाधारण की रंगशाला रही है, जिसकी नींव में हिंदुस्तान के महाकाव्यों और पुराणों की कथाएँ होती थीं, और इनसे देखने वाले परिचित हुआ करते थे; और उन्हें तो तमाशे से मतलब होता, नाटकीय तत्त्वों की जाँच से नहीं। यह खेल लोगों की बोली में होते, इसलिए अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग बोलियां उपयोग में आती थीं। दूसरी तरफ़ संस्कृत नाटक ऐसे थे, जिनका कि सारे हिंदुस्तान में चलन था, क्योंकि संस्कृत सारे हिंदुस्तान की भाषा थी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यह संस्कृत नाटक खेले जाने के लिए लिखे जाते थे, क्योंकि इनमें विस्तार से अभिनय-संकेत दिए गए हैं, और देखने वालों को बिठाने के भी नियम थे। प्राचीन यूनान की चलन के विरुद्ध यहां नटियां अभिनय में भाग लेती थीं। यूनानी और संस्कृत दोनों में, प्रकृति के संबंध में एक सूक्ष्म चेतना मिलती है, एक ऐसा भाव मिलता है कि मनुष्य प्रकृति का अंग है। इनमें संगीत का गहरा पुट है, और कविता जीवन का एक अनिवार्य अंग जान पड़ती है, जिसमें भरपूर अर्थ और महत्त्व है। यह प्रायः स्वर से पढ़ी जाती थी। यूनानी नाटकों को पढ़ते हुए बहुत से ऐसे रीति-रिवाजों और विचार के तरीक़ों के हवाले आते हैं, जिनसे खयाल यकायक पुराने हिंदुस्तानी रीति-रिवाजों पर जा पहुँचता है। यह सब होते हुए भी यूनानी नाटक संस्कृत नाटक से, मूल में, भिन्न हैं।

यूनानी नाटक का विशेष क्षेत्र 'ट्रैजेडी' है, अर्थात् पाप की समस्या है। आदमी क्यों दुःख उठाता है? दुनिया में पाप क्यों है? धर्म और ईश्वर की पहेली है। आदमी कितना दयनीय है, जिसकी दो-दिन की ज़िंदगी है, और जो शक्तिशाली भाग्य के विरुद्ध अंधे और निरुद्देश्य प्रयत्नों में लगा हुआ है।

मनुष्य कष्ट झेलकर ही सीखता है; वह सीखता है कि जीवन का सामना कैसे करना चाहिए; लेकिन वह यह भी सीखता है कि अंतिम रहस्य बना रह जाता है और मनुष्य अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं पाता है, न अच्छाई और बुराई की पहेली को ही हल कर पाता है।

यूनानी 'ट्रैजेडी' के बराबर ज़ोरदार, और उस शान की कोई वस्तु संस्कृत में नहीं है। वास्तव में यहां 'ट्रैजेडी' (दुःखांत) जैसी कोई चीज़ है ही नहीं, क्योंकि उसका निषेध रहा है। इस तरह के बुनियादी प्रश्नों पर विचार नहीं किया गया है, क्योंकि नाटककारों ने धार्मिक विश्वासों को, जैसे वह प्रचलित थे, मान

लिया है। इनमें पुनर्जन्म और कार्य-कारण के सिद्धांत हैं। विना कारण के या आकस्मिक पाप पर विचार ही न हो सकता था, क्योंकि जो कुछ अव होता है वह पूर्वजन्म की किसी पहली घटना का आवश्यक परिणाम है। अंधे तरीक़े पर काम करने वाली, अंधी शक्तियों की,' जिसके विरुद्ध आदमी लड़ता है, यद्यपि उसकी लड़ाइयों का कोई फल नहीं निकलता, यहां गुंजाइश ही नहीं है। दार्शनिक और विचारक, इन सीधी-सादी व्याख्याओं से संतुप्ट न होते थे, और वह वरावर इनके पीछे क्या रहस्य है, इसकी खोज में रहते थे, और अंतिम कारण और पूरा व्यौरा जानना चाहते थे। लेकिन जीवन इन्हीं विश्वासों के सहारे चलता था और नाटककार उनकी कुरेद नहीं किया करते थे। यह नाटक, और संस्कृत काव्य आम तौर पर साधारण हिंदुस्तानी धारणा को मानकर चलते थे और इस धारणा से विद्रोह के कोई ऐसे चिह्न नहीं प्राप्त होते हैं। नाटकों की रचना के वारे में कड़े नियम वने हुए थे और उन्हें तोड़ सकना आसान न होता था। फिर भी भाग्य के आगे दीनता में सिर नहीं झुकाया गया है: नायक सदा साहसी व्यक्ति होता है, जो कठिनाइयों का सामना करता है। चाणक्य अवज्ञा के साथ 'मुद्राराक्षस' में कहता है कि "मूर्ख भाग्य के भरोसे रहते हैं; वह अपने ऊपर भरोसा न कर सहायता के लिए नक्षत्रों की ओर देखते हैं।" कुछ वनावट आ जाती है। नायक हमेशा नायक वना रहता है, दुप्ट हमेशा दुप्टता के काम करता है: वीच का ताव-भाव नहीं मिलता।

फिर भी प्रवल नाटकीय अवसर आते हैं, हृदय पर असर पैदा करने वाले दृश्य दिखाए गए हैं और जीवन की एक पृष्ठभूमि है जो कि सपने की तस्वीर की तरह जान पड़ती है, अर्थात् जो वास्तविक भी है, और निराधार भी, और इन सवको कवि की कल्पना ओजपूर्ण भाषा में वुनकर रख देती है। ऐसा जान पड़ता है—चाहे वास्तव में ऐसा न रहा हो—कि हिंदुस्तान का जीवन उस समय अधिक शांतिमय, पायदार था, और मानो उसने जड़ों का पता लगा लिया था और अपने प्रश्नों का हल पा लिया था। यह जीवन धीर-गंभीर भाव से वहता जाता है, और तेज़ हवा के थपेड़ों और गुज़रते हुए तूफ़ान भी केवल उसकी सतह को हिला जाते हैं। यूनानी 'ट्रैजेडी' के भयानक तूफ़ानों जैसी कोई चीज़ यहां नहीं है। लेकिन उसमें वड़ी मानवता है, एक सुंदर सामंजस्य है, और एक व्यवस्थित एकता है। सिल्वान लेवी ने लिखा है कि नाटक अव भी हिंदुस्तानी प्रतिभा का सवसे अच्छा आविष्कार है।

प्रोफ़ेसर ए० वैरिडेल कीथ भी कहते हैं कि "संस्कृत नाटक को यथार्थ में हिंदुस्तानी काव्य की सबसे ऊँची उपज समझा जा सकता है, जिसमें कि हिंदुस्तानी साहित्य के सावधान रचनाकारों की साहित्यिक कला की अंतिम कल्पना का निचोड़ आ गया है।...वास्तव में ब्राह्मण, जिन्हें कि इस और दूसरे मामलों में बहुत बुरा-भला कहा गया है, हिंदुस्तान के मानसिक उत्कर्ष के मूल में रहे हैं। जिस तरह से कि उन्होंने हिंदुस्तानी दर्शन प्रस्तुत किया, उसी तरह अपने मस्तिष्क के एक दूसरे प्रयत्न से उन्होंने नाटक के सूक्ष्म और प्रभावशाली रूप का विकास किया।"

८ : संस्कृत की जीवनी-शक्ति और स्थिरता

संस्कृत एक अद्भुत रूप से संपन्न, हरी-भरी और फूलों से लदी हुई भाषा है; फिर भी यह नियमों से बँधी हुई है, और २६०० वर्ष पहले व्याकरण का जो चौखटा पाणिनि ने इसके लिए तैयार कर दिया था, उसी के भीतर चल रही है। यह फैली, खूब संपन्न हुई, हरी-भरी और अलंकृत बनी, लेकिन अपने मूल को पकड़े रही। संस्कृत साहित्य के ह्रास के समय में, इसने अपनी कुछ शक्ति, और शैली की सादगी खो दी,और जटिल रूपों और उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में उलझ गई। शब्दों को जोड़ने वाले समास के नियम पंडितों के हाथ में पड़कर चतुराई दिखाने के साधन बन गए और ऐसे समास-पद बनाए जाने लगे जो कई पंक्तियों में जाकर टूटते थे।

सर विलियम जोन्स ने १७८४ में ही कहा था: "संस्कृत भाषा चाहे जितनी पुरानी हो, उसका गठन अद्भुत है; यूनानी भाषा की अपेक्षा अधिक पूर्ण, लातीनी की अपेक्षा अधिक संपन्न और दोनों की अपेक्षा यह अधिक परिष्कृत है: लेकिन दोनों के साथ, धातु-क्रियाओं और व्याकरण के रूपों में, वह इतनी मिलती-जुलती है कि यह संयोग आकस्मिक नहीं हो सकता। यह मेल इतना गहरा है कि कोई भी भाषा-शास्त्री इसकी जाँच करने पर इस परिणाम पर पहुँचे बिना नहीं रह सकता कि यह सभी भाषाएं किसी एक ही स्रोत से निकली हैं, जो कि कदाचित् अब नहीं रह गया है..."

विलियम जोन्स के बाद और यूरोपीय विद्वान् हुए हैं—अंग्रेज़, फ्रांसीसी, जर्मन और दूसरे—जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और एक नए विज्ञान

अर्थात् तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, की नींव डाली। जर्मन विद्वान् इस नए मैदान में आगे बढ़े और संस्कृत में खोज करने का सबसे अधिक श्रेय उन्नीसवीं सदी के इन्हीं जर्मन विद्वानों को मिलना चाहिए। प्रायः सभी जर्मन विश्वविद्यालयों में एक संस्कृत का विभाग रहा है और इसमें एक या दो अध्यापक लगे रहे हैं। हिंदुस्तान में पंडितों की कमी नहीं थी, लेकिन वह पुराने ढंग के थे, उनमें आलोचना-वृत्ति नहीं थी और वह अरबी और फ़ारसी को छोड़कर प्रतिष्ठित विदेशी भाषाओं के जानकार न थे। यूरोपीयों के प्रभाव से, हिंदुस्तान में एक नई तरह से अध्ययन शुरू हुआ और बहुत से हिंदुस्तानी यूरोप (आम तौर पर जर्मनी) गए, जिसमें कि वह शोध और आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के नए ढंगों को सीख लें। इन्हें यूरोपीयों की अपेक्षा एक सुविधा थी, लेकिन साथ-ही-साथ एक असुविधा भी थी। और यह असुविधा इस वजह से थी कि उनके कुछ बँधे-तुले और पहले से बने हुए विचार थे और इनके कारण वह निष्पक्ष आलोचना न कर पाते थे। जो सुविधा थी, वह बहुत बड़ी सुविधा थी, अर्थात् रचना के भाव को, और जिस वातावरण में वह की गई थी उसे, वह जल्दी समझ लेते थे और इस तरह उसमें पैठ सकते थे।

व्याकरण और भाषा-शास्त्र की अपेक्षा भाषा स्वयं कहीं बड़ी वस्तु है। यह एक जाति और संस्कृति की प्रतिभा का कवित्वमय उत्तराधिकार है, और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें ढाला है उनका जीता-जागता रूप है। शब्द युग-युग में अपने अर्थ बदलते रहते हैं, और पुराने विचार नए विचारों में बदल जाते हैं, यद्यपि प्रायः वह अपना पुराना भेस बनाए रखते हैं। किसी पुराने शब्द या मुहावरे का अर्थ पकड़ना कठिन हो जाता है, और उसके भाव के बारे में तो कहा ही क्या जाय। अगर हम उस पुराने अर्थ की झलक लेना चाहते हैं, और उन लोगों के मस्तिष्क में पैठना चाहते हैं जिन्होंने कि इस भाषा का अतीत में प्रयोग किया था तो हमें भावुक और कवित्वमय निगाह रखना ज़रूरी है। भाषा जितनी संपन्न और भरी-पूरी होती है, उतनी ही कठिनाई बढ़ जाती है। और प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह संस्कृत ऐसे शब्दों से भरी पड़ी है, जिनमें न केवल काव्य की सुंदरता है बल्कि जिनमें गहरे अर्थ हैं; उनके साथ जुड़े हुए बहुत से विचार हैं, जिनको ऐसी भाषा में जो भावों और दृष्टिकोण में विदेशी है, नहीं अदा किया जा सकता। उसके व्याकरण, उसके दर्शन में भी काव्य का पुट है: उसके पुराने कोष तक पद्य में हैं।

हममें से उन लोगों के लिए भी जिन्होंने कि संस्कृत पढ़ी है, इस प्राचीन भ के भाव में पैठ सकना और उसकी पुरानी दुनिया में फिर से रह सकना बहुत स नहीं है। लेकिन हम कुछ हद तक ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि हम उन पुरानी प राओं के उत्तराधिकारी हैं और वह पुरानी दुनिया हमारी कल्पनाओं से भी चिमटी हुई है। हिंदुस्तान की हमारी वर्तमान भाषाएं संस्कृत से उपजी और उनके शब्द-कोष और बयान के ढंग संस्कृत की देन हैं। संस्कृत काव्य द दर्शन के बहुत से अर्थपूर्ण और विशेष शब्द, जिनके कि विदेशी भाषाओं में अनु नहीं हो सकते, अब भी हमारी आम भाषाओं का अंग हैं। और स्वयं संस्कृत यद्यपि वह लोगों की भाषा के रूप में बहुत दिन हुए मर चुकी है, एक अद्‌भुत जीव शक्ति है।

कितने दिनों से संस्कृत एक मरी हुई भाषा है—इस अर्थ में कि वह अ तौर पर बोली नहीं जाती—मैं नहीं जानता। कालिदास के ज़माने में भी जनता की भाषा न थी, अर्थात् यह सारे हिंदुस्तान के पढ़े-लिखों की भाषा थ और सदियों तक यह ऐसी ही बनी रही, बल्कि दक्खिन-पूरब एशिया के हिंदुस्त के उपनिवेशों में और मध्य-एशिया में भी फैली। नियमित रूप से संस्कृत-अध्य के, और संभवतः नाटकों के भी, सातवीं सदी ईस्वी में, कंबोडिया में प्रचलित ह के प्रमाण हैं। थाईलैंड (स्याम) में कुछ उत्सव-संस्कारों के अवसरों पर, संस् अब भी प्रयोग में आती है। हिंदुस्तान में संस्कृत की जीवनी-शक्ति बड़ी अचर भरी रही है। जबकि तेरहवीं सदी के आरंभ में अफ़गान सुल्तानों ने दिल्ली गद्दी पर अधिकार कर लिया, उस समय हिंदुस्तान के अधिक भागों की दरब भाषा फ़ारसी हो गई, और क्रमशः बहुत से पढ़े-लिखे लोगों ने संस्कृत की अपे उसे ग्रहण किया। आम भाषाओं ने भी उन्नति करके साहित्यिक रूप ग्रहण कि फिर भी, इन सब बातों के बावजूद, संस्कृत चलती रही, यद्यपि यह संस्कृत पाये की न रह गई थी। १९३७ में, त्रिवांद्रम में, ओरियंटल कांफ़्रेंस के मौक़े सभापति की हैसियत से बोलते हुए डा० एफ़० एफ़० टामस ने बताया था संस्कृत का, हिंदुस्तान में एकता लाने में कितना ज़ोरदार हाथ था, और अब उसका कितना प्रचार है। उन्होंने वास्तव में यह प्रस्ताव किया कि संस्कृत के कि सरल रूप को, जो एक तरह की बुनियादी संस्कृत हो, अखिल-हिंदुस्तान की भा के रूप में बढ़ावा देना चाहिए। उन्होंने मैक्समूलर के इस कथन को उद्धृत कि

और उससे सहमति प्रकट की: "प्राचीन और आज के हिंदुस्तान के बीच ऐसा अद्‌भुत सिलसिला चला आ रहा है कि बावजूद बार-बार की समाजी उथल-पुथल के, धार्मिक सुधारों और विदेशी हमलों के, संस्कृत आज भी अकेली भाषा है जो कि इस बड़े देश में सब जगह बोली जाती है. . .आजकल भी, एक सदी की अंग्रेज़ी हुकूमत और शिक्षा के बाद, मेरा विश्वास है कि संस्कृत हिंदुस्तान में, जितने विस्तार से समझी जाती है उतने विस्तार से दांते के समय में यूरोप में लातीनी भाषा भी नहीं समझी जाती थी।"

दांते के समय में यूरोप में कितने लोग लातीनी समझते थे इसका मुझे कुछ भी अनुमान नहीं: न मैं यही जानता हूं कि हिंदुस्तान में आज कितने लोग संस्कृत समझते हैं। लेकिन संस्कृत समझने वालों की गिनती, विशेषकर दक्खिन में, अब भी बहुत बड़ी है। सादी संस्कृत का समझना उन लोगों के लिए, जो कि आज की किसी भी भारतीय-आर्यभाषा—हिंदी, बंगाली, मराठी, गुजराती आदि—को अच्छी तरह जानते हैं, सहज है। आजकल की उर्दू तक में, जो कि एक भारतीय-आर्यभाषा है ८० फ़ी सदी शब्द संस्कृत के हैं। अक्सर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि कोई विशेष शब्द संस्कृत से आया है या फ़ारसी से क्योंकि इन दोनों भाषाओं के मूल शब्द अक्सर एक-से हैं। कुछ अचरज की बात है कि दक्खिन की द्रविड़ भाषाओं ने, जो यद्यपि मूल में बिलकुल अलग की भाषाएं हैं, संस्कृत के इतने शब्द अपना लिए हैं कि क़रीब-क़रीब उनका आधा शब्द-कोष संस्कृत से मिलता है।

बहुत से विषयों पर जिनमें नाटक भी हैं, संस्कृत में सारे मध्ययुग में, यहां तक कि हमारे समय तक पुस्तकें लिखी जाती रही हैं। वास्तव में ऐसी पुस्तकें अब भी निकलती रहती हैं और संस्कृत में पत्रिकाएं भी निकलती हैं। उनका दर्जा बहुत ऊँचा नहीं है और संस्कृत साहित्य में वह कोई मूल्यवान् वृद्धि नहीं करती हैं। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि संस्कृत की गिरफ़्त इस सारे लंबे ज़माने में बनी रही। कभी-कभी आम सभाओं में अब भी संस्कृत में व्याख्यान होते हैं, यद्यपि यह स्वाभाविक है कि सुनने वाले लोग बहुत चुने हुए होते हैं।

यह एक रोचक जानकारी होगी कि आजकल के थाइलैंड में, जब कि नए पारिभाषिक, वैज्ञानिक और हुकूमत-संबंधी पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता हुई तो उनमें से बहुत से संस्कृत के आधार पर बना लिए गए।

प्राचीन हिंदुस्तानी ध्वनि पर बड़ा बल देते थे और इसलिए उनकी रचनानाओं में, चाहे वह गद्य में हों या पद्य में, एक लय और संगीत का गुण मिलता है। शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण हो सके, इसका बड़ा प्रयत्न होता था, और इसके लिए नियम बनाए गए थे। इसकी और भी आवश्यकता यों पड़ी, कि पुराने समय में शिक्षा मौखिक होती थी, और सारी पुस्तकें कंठ करा दी जाती थीं, और इस तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती थीं। शब्दों की ध्वनि को महत्त्व देने का परिणाम यह हुआ कि अर्थ और ध्वनि का मेल कराने के यत्न हुए। कभी-कभी बहुत सुंदर मेल पैदा हुआ और कभी-कभी भद्दे और बनावटी संयोग भी बन पड़े। ई० एच्० जान्स्टन ने इसके बारे में लिखा है: "हिंदुस्तान के संस्कृत कवियों में ध्वनि के परिवर्तनों की जो अनुभूति है उसके बराबर की मिसाल दूसरे देशों के साहित्य में बहुत कम मिलेगी, और उनके शब्द-विन्यास में बड़ा ही आनंद आता है। लेकिन उनमें से कुछ ध्वनि और आशय को इस तरह से भी मिलाने की कोशिश करते हैं कि उससे कोई बारीकी नहीं पैदा होती, और उन्होंने थोड़े से व्यंजनों के सहारे और कभी एक ही व्यंजन के सहारे पद्य-रचना करके तो बड़ा ही अनर्थ किया है।"

वेदों के पाठ आज भी, उच्चारण के उन नियमों के अनुसार किए जाते हैं, जोकि प्राचीन काल में बनाए गए थे।

आज की हिंदुस्तानी भाषाएं जो संस्कृत से निकली हैं और इसलिए भारतीय-आर्यभाषायें कहलाती हैं यह हैं : हिंदी, उर्दू, बंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, राजस्थानी (जो कि हिंदी का ही एक रूप हैं), पंजाबी, सिंधी, पश्तो और काश्मीरी। द्रविड़ भाषायें यह हैं : तमिल, तेलुगू, कन्नड और मलयालम। इन पंद्रह भाषाओं में सारे हिंदुस्तान की भाषाएं आ जाती हैं, और इनमें से हिंदी (अपने रूपांतर उर्दू के साथ) सबसे अधिक प्रचलित है और जहां यह बोली भी नहीं जाती वहां भी समझ ली जाती है। इन भाषाओं को छोड़कर कुछ बोलियां और अविकसित भाषाएं हैं, जोकि बहुत छोटे इलाक़ों में या कुछ पिछड़ी हुई पहाड़ी और जंगली जातियों द्वारा बोली जाती हैं। बार-बार दुहराई जाने वाली यह कहानी कि हिंदुस्तान में पाँच सौ या इससे अधिक भाषाएं हैं, भाषा-वैज्ञानिकों या मर्दुमशुमारी के कमिश्नर के दिमाग़ की गढ़ंत है, जो कि बोलियों के छोटे-छोटे भेदों को, और असम, बंगाल और बर्मा के सरहद की पहाड़ी जातियों की हर एक बोली को गिन लेते हैं, चाहे वह बोली कुछ सौ या हज़ार लोगों की ही बोली हो। इन सैकड़ों

की गिनती कराने वाली भाषाओं में से ज़्यादातर हिंदुस्तान के पूर्वी सरहद या पूरब में बर्मा के सरहदी इलाक़ों की बोलियां हैं। जो ढंग मर्दुमशुमारी के कमिश्नरों ने ग्रहण किया है, उसी की नक़ल की जाय तो यूरोप में सैकड़ों भाषाएं निकलेंगी, और जर्मनी में मेरा ख़्याल है, साठ बताई गई हैं।

हिंदुस्तान में भाषा के प्रश्न का इस विविधता से कोई संबंध नहीं। यह मसला हिंदी-उर्दू का है, यानी एक ज़बान का जिसके कि दो साहित्यिक रूप हैं और जिसकी दो लिपियां हैं। बोली में दोनों में शायद ही अधिक भेद हो; लिखने में, खास तौर से साहित्यिक शैली में, यह भेद बढ़ जाता है। इस भेद को कम करने की और एक आम सूरत, जिसे कि हिंदुस्तानी कहते हैं, पैदा करने की कोशिशें हुई हैं, और अब भी जारी हैं।

पश्तो, जोकि संस्कृत से निकली हुई भारतीय-आर्यभाषाओं में से एक है पच्छिमोत्तर के सरहदी सूबे की भाषा है, और अफ़ग़ानिस्तान की भी। इस पर हमारी दूसरी भाषाओं की अपेक्षा फ़ारसी का अधिक प्रभाव पड़ा है। इस सरहदी इलाक़े में, अतीत में बहुत से ऊँचे दर्जे के विचारक, विद्वान और संस्कृत के वैयाकरण हो गए हैं।

लंका की भाषा सिंहली है। यह भी संस्कृत से निकली हुई एक भारतीय-आर्यभाषा है। सिंहली लोगों ने अपना धर्म, यानी बौद्धधर्म, ही हिंदुस्तान से नहीं लिया है, बल्कि वे जाति और भाषा में भी हिंदुस्तानियों से मिले हुए हैं।

अब यह बात पूरी तरह से मानी जा चुकी है कि संस्कृत का यूरोप की पुरानी प्रतिष्ठित और आज की भाषाओं से मेल है। स्लैव भाषा तक में बहुत से मूल शब्द संस्कृत से मिलते हैं। संस्कृत से सबसे निकट की यूरोपीय भाषा लिथुआनियन है।

९ : बौद्ध दर्शन

जिस युग में बुद्ध का जन्म हुआ, वह हिंदुस्तान के लिए बड़े मानसिक मंथन और दार्शनिक चिंतन का समय था। और यह बात हिंदुस्तान तक ही सीमित न थी, क्योंकि यही समय लाओ-त्सी और कन्फ़्यूशियस का और ज़रथुष्ट्र और पाइथागोरस का था। हिंदुस्तान में इसने भौतिकवाद को भी जन्म दिया और भगवद्गीता को भी, बौद्धमत को भी और जैनमत को भी, और दूसरी बहुत-सी विचार-धाराओं को जो बाद में हिंदुस्तानी दर्शन के अलग-अलग वर्गों में प्रकट हुईं। विचारों की

अनेक तहें थीं—एक-दूसरे से मिली हुई और कभी एक-दूसरे पर चढ़ी हुईं। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ भिन्न दर्शनों का विकास हुआ, और स्वयं बौद्धधर्म में ऐसे भेद पैदा हुए जिनसे कि विचार के अलग-अलग वर्ग स्थापित हो गए। दार्शनिक चिंतन धीरे-धीरे घटा और उसकी जगह लोग पंडिताऊ बहस-मुबाहसे में पड़ गए।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को आधिभौतिक विषयों को लेकर पंडिताऊ बहस-मुहबासे में पड़ने के विरुद्ध सतर्क कर दिया था। कहा जाता है कि उसने कहा था : "जिस विषय की आदमी को जानकारी न हो उस पर चुप रहना चाहिए।" सत्य की खोज जीवन में होनी चाहिए, जीवन के दायरे से परे। इस लिए आदमी की बुद्धि से बाहर की बातों पर—तर्कों में नहीं—उन्होंने ज़िंदगी के आचार-पक्ष पर ज़ोर दिया और प्रकट में यह अनुभव किया कि लोग जब आधिभौतिक बारीकियों में पड़ जाते हैं तो इसे भुला दिया जाता है। आरंभ के बौद्धधर्म में हमें बुद्ध के इस दार्शनिक और बुद्धिवादी भाव की झलक मिलती है। उसकी जिज्ञासा की बुनियाद अनुभव पर है। अनुभव की दुनिया में विशुद्धात्मा की कल्पना ठीक-ठीक नहीं ग्रहण की जा सकती थी, इसलिए उसे अलग कर दिया गया, उसी तरह सृष्टिकर्ता ईश्वर का विचार, जिसका तर्क द्वारा प्रमाण नहीं दिया जा सकता था अलग रक्खा गया। फिर भी अनुभव बच रहता है और एक अर्थ में यह वास्तविक भी है : यह 'होने की प्रक्रिया' के अलावा जोकि बराबर अपने को बदलती रहती है, और क्या हो सकता है? इस तरह वास्तविकता की इन बीच की अवस्थाओं को माना गया है, और मनोवैज्ञानिक आधार पर इनके विषय में जिज्ञासा चलती है।

बुद्ध ने, विद्रोही होते हुए भी, अपने को देश के पुराने धर्म से अलग नहीं किया। मिसेज़ रीज़ डेविड्स कहती हैं : "गौतम का जन्म और पालन हिंदू की भाँति हुआ था और वह हिंदू की तरह रहे और मरे. . . .गौतम के अध्यात्मवाद और सिद्धांतों में बहुत बातें ऐसी न मिलेंगी जो कि प्राचीन पद्धतियों में न मिल जायँ और उनकी नीति से मिलती हुई शिक्षाएं पहले या बाद की हिंदू पुस्तकों में मिल जायँगी : गौतम की जो कुछ मौलिकता है, वह इस बात में है कि जो अच्छी बातें और लोग कह गए थे, उन्हें उन्होंने नए रूप में ढाला, उनका विस्तार किया, उन्हें प्रतिष्ठित किया और यह कि जिन न्याय और बराबरी के सिद्धांतों को पहले ही मुख्य हिंदू विचारकों ने माना था उनको उन्होंने तर्क के आधार पर अंतिम परिणाम तक पहुँचाया।"

फिर भी अपने समय के परंपरा से आने वाले धर्म के चलन के विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह के बीज बोए। उनके सिद्धांत या दर्शन का विरोध नहीं हुआ—बल्कि समाज के जीवन और संगठन में जो उन्होंने हस्तक्षेप किया उसका विरोध हुआ। पुरानी परिपाटी में बड़ी स्वतंत्रता और विचारों का लचीलापन था, हर एक तरह के मत की गुंजाइश थी, लेकिन व्यवहार के मामले में उसमें कड़ाई थी और चलन को तोड़ना पसंद न किया जाता था। इसलिए अनिवार्य रूप से बौद्धधर्म पुराने विश्वास से अलग-थलग जा पड़ा और बुद्ध की मृत्यु के बाद यह खाई और भी चौड़ी हो गई।

पहले के बौद्धधर्म की ज्यों-ज्यों अवनति हुई त्यों-त्यों उसके महायान रूप ने उन्नति की; पुराना रूप हीनयान कहलाता था। इसी महायान-पंथ में बुद्ध को ईश्वर का पद दिया गया और साकार ईश्वर के रूप में उनकी उपासना प्रारंभ हुई। बुद्ध की मूर्ति भी पच्छिमोत्तर के यूनानी प्रदेश में दिखाई पड़ने लगी। लगभग इसी समय हिंदुस्तान में ब्राह्मण धर्म फिर से जगा, और साथ-साथ संस्कृत के अध्ययन ने ज़ोर पकड़ा। हीनयान और महायान पंथों के बीच तीखे विवाद हुए और दोनों के बीच शास्त्रार्थ और आपस का विरोध वाद के इतिहास में बराबर मिलता है। हीनयान वाले देश (लंका, बर्मा, स्याम) अब भी चीन और जापान में प्रचलित बौद्धधर्म को उपेक्षा से देखते हैं, और मेरा अनुमान है कि दूसरी ओर से भी इस भावना का जवाब मिलता है।

हीनयान ने, कुछ हद तक, सिद्धांत की पुरानी पवित्रता, बनाए रक्खी, और उसे पाली में एक व्यवस्थित रूप दिया, लेकिन महायान सभी दिशाओं में फैला, उसने सभी तरह के विश्वासों के लिए रवादारी बरती और हर एक देश के विशेष दृष्टिकोण के अनुसार अपने को ढाल लिया। हिंदुस्तान में यह ग्राम धर्म के निकट आने लगा; और देशों—चीन, जापान, तिब्बत—में इसका विकास अलग-अलग ढंग से हुआ।

कुछ आरंभ के बहुत बड़े बौद्ध विचारकों ने, आत्मा के बारे में बुद्ध की प्रवृत्ति को, यानी न उससे इन्कार करना और न उसे स्वीकार करना, छोड़ दिया, और उन्होंने साफ़-साफ़ आत्मा से इन्कार किया। अनेक प्रतिभाशाली लोगों में नागार्जुन का एक विशेष स्थान है, और उसकी गिनती उन सबसे बड़े मस्तिष्क वालों में है जिन्हें कि हिंदुस्तान ने पैदा किया है। यह कनिष्क के समय में, ईस्वी सन् के आरंभ

के लगभग हुआ और महायान सिद्धांतों के प्रतिपादन का विशेष श्रेय इसी को है। उसके विचारों में अद्‌भुत वल और साहस है, और ऐसे परिणामों तक पहुँचने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता, जो कि अधिकतर लोगों के लिए अप्रिय और चौंका देने वाले होंगे। अपने विवेचन में वह निष्ठुर तर्क के साथ लगता है; यहां तक कि उसे अपने विश्वासों से इन्कार करना पड़ जाता है। विचार अपने को जान नहीं सकता और अपने से वाहर जा नहीं सकता, अर्थात् दूसरे को जान नहीं सकता। इस विश्व से वाहर कोई ईश्वर नहीं, और ईश्वर से अलग कोई विश्व नहीं, और दोनों ही दिखावट मात्र हैं। और इसी तरह वह तर्क करता रहता है, यहां तक कि कुछ वच नहीं रहता; सत्य और असत्य के वीच कोई भेद नहीं रह जाता, किसी वस्तु को समझने की या उसके वारे में भ्रांति की संभावना नहीं रह जाती, क्योंकि, जो अवास्तविक है उसके वारे में भ्रांति ही क्या हो सकती है? कोई वस्तु वास्तविक नहीं है। दुनिया का अस्तित्व देखने भर का है; यह गुणों और संवंधों का एक आदर्शवादी क्रम है, जिसमें हमने विश्वास वना रक्खा है, लेकिन जिसकी हम वुद्धि के अनुसार व्याख्या नहीं कर सकते। लेकिन इस सव अनुभव के पीछे वह किसी वस्तु—परम सत्ता—का संकेत करता है, जो कि हमारी विचार की परिधि से परे है, क्योंकि जव हम उस पर विचार करने लगते हैं तव वह सापेक्ष हो जाता है।

परम सत्ता को, वौद्ध दर्शन में शून्यता कह के वताया गया है लेकिन यह हमारे असत् या कुछ न होने की धारणा से विलकुल भिन्न वस्तु है। अपने अनुभव की दुनिया में, हम उसे शून्यता इसलिए कहते हैं कि उसके लिए कोई दूसरा शब्द नहीं है, लेकिन आधिभौतिक सत्य की परिभाषा में यह कुछ ऐसी वस्तु है जो सवसे परे और सवमें व्याप्त है। एक प्रसिद्ध वौद्ध विद्वान् ने कहा है: "शून्यता के कारण ही सव वातें संभव होती हैं, विना इसके दुनिया में कुछ भी संभव नहीं है।"

इन सवसे पता चलता है कि आधिभौतिकवाद हमें कहां पहुँचा सकता है और इस तरह के विचारों के पीछे पड़ने के विरुद्ध सर्तक करके वुद्ध ने कितनी वुद्धिमत्ता की थी।

वौद्धधर्म से दर्शन की चार निश्चित पद्धतियां निकलीं, इनमें से दो हीनयान शाखा में थीं और दो महायान शाखा में। इन सभी पद्धतियों का मूल उपनिपदों में है, लेकिन यह वेदों को प्रमाण नहीं मानतीं।

प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् ने बौद्ध-विचार के विकास-क्रम को, जिस रूप में वह चार पद्धतियों में प्रकट हुआ, इस तरह बताया है। यह द्वैतात्मक आधिभौतिकवाद से आरंभ होता है और ज्ञान को वस्तुओं का प्रत्यक्ष बोध मानता है, दूसरी सीढ़ी यह है कि विचार वस्तुओं के बोध का माध्यम बन जाते हैं, और इस तरह से मन और वस्तुओं के बीच एक पर्दा खड़ा हो जाता है। यह दो सीढ़ियां हीनयान मत की हैं। महायान मत और आगे बढ़ता है, वह स्वरूप के पीछे जो वस्तु है उसी को समाप्त कर देता है और सभी अनुभव को मन के विचारों का एक क्रम मानता है। सापेक्षता और अवचेतन में मन के विचार भी आ जाते हैं। अंतिम सीढ़ी में— यह नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन या बीच का मार्ग है—मन स्वयं एक धारणा का रूप ग्रहण कर लेता है और हमारे आगे धारणाओं की छुट इकाइयां रह जाती हैं, और आभास रह जाता है, और इनके बारे में हम कुछ कह नहीं सकते।

इस तरह से हम अंत में कहीं नहीं पहुँचते या ऐसी वस्तु तक पहुँचते हैं जिसको कि हमारे सीमित मस्तिष्कों के लिए समझ सकना कठिन है। जहां तक हम शब्दों का उपयोग कर सकते या उन्हें समझ सकते हैं, इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि आचार का हमारी सीमित दुनिया में निश्चित मूल्य है। इसलिए हमें अपने जीवन में और मानवी संबंधों में सदाचार बरतना चाहिए और अच्छा जीवन बिताना चाहिए। उस जीवन और इस दिखने वाली दुनिया पर हम तर्क और ज्ञान और अनुभव का उपयोग कर सकते हैं और हमें करना चाहिए। असीम, या जो कुछ भी उसे कहें, इस दुनिया से कहीं परे है, और इसलिए उस पर इनको लागू नहीं किया जा सकता।

१० : बौद्धधर्म का हिंदूधर्म पर प्रभाव

बुद्ध ने स्थापित समाजी या आर्थिक व्यवस्था को उखाड़ने का दावा कभी नहीं किया। उन्होंने उनकी बुनियादी मान्यताओं को स्वीकार किया, और अगर आक्षेप किए तो केवल उन बुराइयों पर जोकि उनके गिर्द इकट्ठा हो गई थीं। फिर भी वह कुछ हद तक, समाज में क्रांति पैदा करने के काम में लगे थे, इसलिए, ब्राह्मण-वर्ग जो उस समय के चलन को जारी रखना चाहता था, उनसे अप्रसन्न हो गया। बुद्ध की शिक्षा में कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसे विचारों के विस्तीर्ण

क्षेत्र में विठाया न जा सके। लेकिन चूंकि व्राह्मणों के अधिकार पर हमला हुआ था, इसलिए वात ही दूसरी पैदा हो गई थी।

वौद्धधर्म ने पहले मगध में जड़ पकड़ी; यह उत्तरी हिंदुस्तान का वह हिस्सा था जहां कि व्राह्मणधर्म कमज़ोर था। क्रमशः यह पच्छिम और उत्तर में फैला और वहुत से व्राह्मण भी इसमें सम्मिलित हुए। सवसे पहले, यह विशेषकर क्षत्रियों का आंदोलन था, लेकिन आम जनता को भी पसंद आने वाला था। संभवतः व्राह्मणों की वजह से ही जो कि इसमें वाद में सम्मिलित हुए, दर्शन और अध्यात्मवाद की दिशाओं में इसका विकास हुआ। यह भी संभव है कि व्राह्मण-वौद्धों की वजह से ही इसके महायान मत का विकास हुआ।

वौद्धधर्म ने सैकड़ों प्रकार से हिंदुस्तानी जीवन पर प्रभाव डाला। और यह अनिवार्य भी था, क्योंकि इसे याद रखना चाहिए कि एक हज़ार वर्ष तक यह एक जीता-जागता, शक्तिशाली और हिंदुस्तान में दूर-दूर तक फैला हुआ धर्म था। उस लंवे काल में भी जव कि इसका ह्रास हो रहा था, और जव कि एक अलग धर्म के रूप में यहां, इसका अस्तित्व न रहा, इसका वहुत अंश हिंदूधर्म और राष्ट्रीय जीवन और विचार के ढंग का अंग वन गया। यह वुद्ध और उसके धर्म का नैतिक और सामाजिक और अमली आदर्शवाद था जिसने हमारी जनता को प्रभावित किया और उस पर अपनी अमिट छाप डाली, उसी तरह जिस तरह कि ईसाई धर्म के नैतिक आदर्शों ने यूरोप पर असर डाला, चाहे उसने उसके धार्मिक विश्वासों पर अधिक ध्यान न दिया, और इस्लाम के इंसानी, समाजी और अमली विचारों ने वहुत से ऐसे लोगों पर असर डाला जिनका कि उसके धार्मिक रूपों और विश्वासों के लिए आकर्षण न था।

हिंदुस्तान में आर्यधर्म विशेष रूप से एक राष्ट्रीय धर्म था, जोकि इस देश तक सीमित था; और जो समाजी जात-पाँत की व्यवस्था यहां पर उन्नति कर रही थी उसने इस पहलू पर ज़ोर दिया। इसने धर्म-प्रचार की कोशिशें न कीं, धर्म-परिवर्तन का यहां कोई सवाल न उठता था, और हिंदुस्तान की सरहद से पार इसकी निगाह न जाती थी। हिंदुस्तानी जीवन का समुंदर अपने में भरा-पूरा था और इतना काफ़ी वड़ा और विविध था कि उससें तरह-तरह की मौजों के [illegible] गुंजाइश थी। उसमें आत्म-चेतना थी और वह अपने में ही डूवा [illegible] और उसे इस वात को परवा न थी कि उसकी सरहदों के वाहर

क्या हो रहा है। इस समुंदर के बीचो-बीच एक ऐसा सोता फूट निकला, जिससे कि ताजे और निथरे हुए पानी की धार वह चली जो पुरानी सतह को चंचल करती हुई, बढ़कर सैलाब बन गई और इसने उन पुरानी सरहदों और रुकावटों की परवा न की जिन्हें कि मनुष्य और प्रकृति ने खड़ा कर रक्खा था। बुद्ध की शिक्षा की इस धार में राष्ट्र के लिए उपदेश था, लेकिन यह उपदेश राष्ट्र तक के लिए ही नहीं था। यह भले आचरण में लगने के लिए एक ऐसी पुकार थी, जिसने कि वर्ग, जात-पाँत या क़ौम की बंदिशें न मानीं।

उनके समय के हिंदुस्तान के लिए यह एक नया विचार था। अशोक पहला व्यक्ति था जिसने कि दूतों और प्रचारकों को विदेशों में भेजकर इतने बड़े पैमाने पर यह काम किया। इस तरह से हिंदुस्तान को और दुनिया के बारे में चेतना शुरू हुई; और शायद अधिकतर यही वस्तु थी, जिसने कि ईस्वी संवत् की शुरू की सदियों में उसे उपनिवेशों के स्थापित करने में बड़े-बड़े साहसी काम करने के लिए उकसाया। समुद्र पार के इन धावों का संगठन हिंदू राजाओं ने किया था और यह अपने साथ ब्राह्मण-व्यवस्था और आर्य-संस्कृति ले गए थे। एक ऐसे धर्म और संस्कृति के लिए जिसने कि अपने भीतर धीरे-धीरे तरह-तरह के वर्ण-भेद क़ायम कर रक्खे थे, यह एक असाधारण विकास था। किसी बड़ी ज़ोरदार प्रेरणा या बुनियादी दृष्टिकोण के परिवर्तन से ही यह बात पैदा हो सकती थी। संभव है कि यह प्रेरणा कई कारणों से हुई हो, और बड़े कारण इनमें व्यापार और फैले हुए समाज की आवश्यकताएं रही हों, लेकिन दृष्टिकोण का यह परिवर्तन, एक अंश में, बौद्धधर्म और उसने जो विदेशों से संपर्क स्थापित कर लिए थे, उनके कारण भी हुआ।

वैदिकधर्म और धर्म के साधारण रूपों के साथ जो कर्म-कांड और पूजा-पाठ का रिवाज लगा हुआ था, वह लुप्त हो चुका था, विशेषकर पशुओं की बलि की प्रथा उठ चुकी थी। अहिंसा के विचार पर जोकि वेदों और उपनिषदों में पहले से ही मौजूद था, बौद्धधर्म ने और उससे भी अधिक जैनधर्म ने ज़ोर दिया। ज़िंदगी के लिए एक नया आदर और जानवरों के प्रति दया का भाव पैदा हो गया। और इन सबके पीछे भले और ऊँचे प्रकार के जीवन, बिताने का विचार रहा।

बुद्ध ने तपस्या के नैतिक मूल्य से इन्कार किया था, लेकिन उनकी शिक्षा का सारा प्रभाव जीवन के प्रति निराशावाद का था। यह विशेषकर हीनयान का रुख़ था, और जैनियों का इससे भी बढ़कर था। परलोक, मुक्ति और दुनिया के बांझ

से छुटकारा पाने पर ज़ोर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिला और शाकाहार बढ़ा। यह सभी विचार हिंदुस्तान में बुद्ध से पहले मौजूद थे, लेकिन इन पर इतना ज़ोर नहीं दिया गया था। पहले तपस्या की ओर झुकाव रखने वाले लोग छोटे-छोटे गुट्टों में जंगलों में आश्रम बनाकर रहा करते थे, और विद्यार्थी आकर्षित होकर उनके यहां जाते थे। बौद्धधर्म के साथ-साथ बड़े-बड़े मठ, भिक्षुओं और भिक्खुणियों के, सब जगह बन गए थे और लोग इनमें खिचकर जाने लगे। बिहार के सूबे का नाम ही विहार या मठ से बना है, जिससे पता चलता है कि इस बड़े प्रदेश में कितने मठ रहे होंगे। इन मठों में शिक्षा का भी प्रबंध हुआ करता था और कुछ का संबंध विद्यालयों और कभी-कभी विश्वविद्यालयों या विद्यापीठों से था। न केवल हिंदुस्तान में, बल्कि सारे मध्य एशिया में बहुत से बड़े-बड़े बौद्ध मठ स्थापित थे। एक प्रसिद्ध मठ बलख में था, जिसमें कि एक हज़ार भिक्खु रहते थे, और इसके बहुत से उल्लेख मिलते हैं। इसका नाम नव-विहार या नया मठ था, जिसे कि फ़ारसी रूप देकर नौ-बहार कर दिया गया था।

बुद्ध के समय में वर्ण-व्यवस्था लचीली थी और इसमें उतनी कट्टरता नहीं आई थी जितनी कि बाद के ज़माने में आ गई। जन्म से अधिक योग्यता, चरित्र और काम पर महत्व दिया जाता था। स्वयं बुद्ध ने अक्सर ब्राह्मण शब्द का, योग्य, उत्साही और संयमी आदमी के बारे में प्रयोग किया है।

शायद बुद्ध के समय में ब्राह्मण-वर्ग के लोगों में ही कमोवेश कट्टरता आई थी। क्षत्रिय अपने कुल और परंपरा का अभिमान करते थे। लेकिन जहां-तक वर्ग की बात थी, उनके दरवाज़े उन सब व्यक्तियों और कुलों के लिए खुले हुए थे जो कि शासक बन बैठे। उन्हें छोड़कर ज़्यादातर लोग वैश्य थे, जो कि किसानी करते थे और यह पेशा बड़े आदर का पेशा समझा जाता था। दूसरी पेशेवर जातें भी थीं। अजातीय कहलाने वाले लोग जान पड़ता है बहुत थोड़े थे, शायद कुछ जंगली लोग और कुछ ऐसे लोग जिनका पेशा मुर्दों को जलाना, फेंकना आदि था। जैन और बौद्धधर्म ने जो अहिंसा पर ज़ोर दिया उसका परिणाम यह हुआ कि खेत जोतना एक नीचा धंधा समझा जाने लगा, क्योंकि इससे अक्सर जीव-हत्या होती थी। यह पेशा, जो कि भारतीय-आर्यों के गर्व करने का पेशा था, देश के कुछ हिस्सों में गिरा हुआ समझा जाने लगा, बावजूद इसके कि इस पेशे का एक बुनियादी महत्त्व था, और जो लोग खेती करते उनकी प्रतिष्ठा घट गई। बौद्धधर्म को इसके

लिए ज़िम्मेदार ठहराना ठीक न होगा, क्योंकि दूसरी जगहों में इसका ऐसा कोई असर न पड़ा। वर्ण-व्यवस्था के भीतर ही कुछ ऐसी बात थी जो इसे इस दिशा में ले गई। जैनधर्म ने उसे अहिंसा के उत्साह में इधर ढकेला—और बौद्धधर्म ने अनजाने में इस क्रिया में मदद पहुँचाई।

११ : हिंदूधर्म ने बौद्धधर्म को किस तरह आत्मसात् किया

कीथ का कहना है कि "हिंदुस्तान में एक ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि वह जिस वस्तु को बाहर से ग्रहण करता है उसे अपने में मिला और पचा लेता है।" अगर यह बात बाहर से और विदेशी आचारों से ली गई वस्तुओं के बारे में सही है तो यह स्वयं उसी के मस्तिष्क और विचारों की उपज के बारे में और भी लागू हो जाती है। बौद्धधर्म न केवल पूरी तौर पर हिंदुस्तान की उपज था, बल्कि इसका दर्शन हिंदुस्तान के पुराने विचार और उपनिषदों के वेदांती दर्शन से मिलता हुआ था। उपनिषदों ने पुरोहिताई और कर्म-कांड की हँसी तक उड़ायी थी और जात-पांत के महत्त्व को कम किया था।

बौद्धधर्म, हिंदुस्तान में, एक सामाजिक और आध्यात्मिक जागृति और सुधार के समय में आरंभ हुआ। इसने लोगों में एक नई जान फूंकी, जनता की शक्ति के नए द्वार निकाले, और नेतृत्व के नए जौहर प्रस्तुत किए। अशोक के साम्राज्य की सरपरस्ती में यह तेज़ी से फैला और हिंदुस्तान का सबसे मुख्य धर्म बन गया। यह दूसरे मुल्कों में भी फैला और बौद्ध विद्वानों का एक तांता था जो कि हिंदुस्तान के बाहर जाता था, और हिंदुस्तान में आता था। यह सिलसिला सदियों तक जारी रहा। जब कि चीनी यात्री फ़ाहियान हिंदुस्तान में पाँचवीं सदी ईस्वी में, यानी बुद्ध के एक हज़ार साल बाद आया, तो उसने देखा कि यहां बौद्धधर्म फैला हुआ है। सातवीं सदी में, एक उससे भी मशहूर यात्री, ह्वेनत्सांग हिंदुस्तान में आया और उसने ह्रास के लक्षण देखे, यद्यपि कुछ प्रदेशों में इसका अब भी ज़ोर था। काफ़ी बड़ी संख्या में बौद्ध विद्वान् और भिक्खु क्रमशः हिंदुस्तान से चीन चले गए।

इस बीच में गुप्त सम्राटों के समय में, चौथी और पाँचवीं सदियों में, ब्राह्मण-धर्म में पुनर्जागृति पैदा हो गई थी। यह बौद्धधर्म की विरोधी कदापि नहीं थी लेकिन इसने निश्चित रूप में ब्राह्मणधर्म की शक्ति और महत्त्व को बढ़ावा दिया और इसके भीतर बौद्धधर्म की परलोकमुखता के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया भी थी।

बाद के गुप्त राजाओं ने बहुत दिनों तक हूणों के आक्रमणों का सामना किया, और यद्यपि उन्होंने अंततः हूणों को यहां से भगा दिया, फिर भी देश में कमज़ोरी आ गई और ह्रास का सिलसिला शुरू हो गया। बाद में कई ऐसे समय आए हैं जब कि उन्नति दिखाई पड़ी है और मार्के के लोग सामने आए हैं। लेकिन ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म दोनों का ह्रास होता रहा, और दोनों के अंदर बहुत गिरे आचार दिखाई पड़ने लगे। दोनों के बीच भेद कर सकना कठिन हो गया। अगर ब्राह्मण-धर्म ने बौद्धधर्म को अपने में समाविष्ट कर लिया तो इस प्रक्रिया में ब्राह्मणधर्म स्वयं बहुत से अर्थों में बदल गया।

आठवीं सदी में, शंकराचार्य ने, जो कि हिंदुस्तान के सबसे बड़े दार्शनिकों में हो गए हैं, हिंदू संन्यासियों के मठ बनाए। यह बौद्धों के संघों की नक़ल में था। इससे पहले ब्राह्मणधर्म में संन्यासियों के ऐसे कोई संगठन न थे, यद्यपि उनके छोटे-छोटे गुट मौजूद थे।

पूर्वी बंगाल में और पच्छिमोत्तर में सिंध में बौद्धधर्म का कोई बिगड़ा हुआ रूप अब भी चल रहा था। नहीं तो बौद्धधर्म क्रमशः हिंदुस्तान से, एक प्रचलित धर्म के रूप में, उठ गया।

१२ : छः दर्शन

हिंदुस्तानी दर्शन का आरंभ हम बौद्ध-काल से पूर्व ही होता हुआ देखते हैं। ब्राह्मणों और बौद्धों के दर्शनों का विकास साथ-साथ और क्रमशः होता है और यह आपस में बहुधा एक-दूसरे की आलोचना भी करते हैं और एक-दूसरे के बातों को ग्रहण भी कर लेते हैं। ईस्वी सन् के आरंभ होने से पहले ब्राह्मणों के छः दर्शनों ने, ऐसे और बहुत से वादों के भीतर से उठकर, अपना स्वरूप बना लिया था। इनमें हर एक का अपना अलग दृष्टिकोण है, हर एक की तर्कशैली अलग है, फिर भी यह एक-दूसरे से अलग-थलग नहीं थे, बल्कि एक बड़ी चिंतनधारा के अंग थे।

छः दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं: (१) न्याय; (२) वैशेषिक; (३) सांख्य; (४) योग; (५) मीमांसा; और (६) वेदांत।

न्याय की शैली तर्क और विश्लेषण की शैली है। वास्तव में 'न्याय' के अर्थ ही तर्क या विवेक-शास्त्र के हैं। यह बहुत कुछ अरस्तू की तर्क-शैली से मिलता-जुलता है, लेकिन दोनों में बुनियादी भेद भी है। न्याय के बुनियादी सिद्धांतों को

और सभी दर्शनों ने स्वीकार कर लिया था, दर्शन के अध्ययन के लिए इसे केवल एक अनिवार्य तैयारी के तौर पर न समझा जाता था, बल्कि यह समझा जाता था कि हर एक पढ़े-लिखे आदमी के लिए इसका जानना आवश्यक है। हिंदुस्तानी शिक्षा की पुरानी व्यवस्था में इसकी कम-से-कम उतनी ही महत्त्वपूर्ण जगह है जितनी कि यूरोपीय शिक्षा में अरस्तू के तर्क-शास्त्र की। इसकी शैली अवश्य इस युग के वैज्ञानिक ढंग की वस्तुगत जाँच से भिन्न थी। फिर भी वह अपने ढंग से आलोचनात्मक और शास्त्रीय थी, और ऐसा था कि उसमें धर्म का सहारा लेने के बजाय ज्ञान के विषयों की जाँच की तर्कपूर्ण ढंग से, और क़दम-क़दम करके, कोशिश की गई है। इसके पीछे कुछ धर्म अवश्य रहा है, कुछ मान्यताएं रही हैं जिनके बारे में तर्क कर सकना संभव न था। लेकिन उन मान्यताओं को स्वीकार करके, इस दर्शन का ढाँचा ऐसी ही बुनियादों पर खड़ा किया गया है। यह मान लिया गया था कि जीवन और प्रकृति में एक तारतम्य और एकता है। व्यक्तिगत ईश्वर में भी विश्वास है, इसी तरह व्यक्तिगत आत्माओं और परमाणुगत सृष्टि में। व्यक्ति न शरीर है, और न आत्मा, बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है। वास्तविकता को आत्माओं और प्रकृति का जटिल मिश्रण माना गया है।

वैशेषिक दर्शन बहुत-सी बातों में न्याय से मिलता-जुलता है। यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर बल देता है और इस सिद्धांत को प्रस्तुत करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है। इसमें विश्व को धर्म के आधार पर संचालित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर पूरे दर्शन की रचना की गई है। ईश्वर के अनुमान को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया गया है। न्याय और वैशेषिक और आरंभ के बौद्ध-दर्शन में बहुत-सी मिलती हुई बातें हैं। कुल मिलाकर उनका दृष्टिकोण यथार्थ-वादी है।

सांख्य दर्शन, जिसके बारे में कहा जाता है कि कपिल (लगभग सातवीं सदी, ई० पू०) ने इसे बहुत सी प्राचीन और बुद्ध से पहले की विचार-धाराओं के तत्त्वों के सहारे गढ़ा था, बड़े मार्के का है। रिचर्ड गार्बे के अनुसार: "दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें मानवी मस्तिष्क की पूर्ण स्वतंत्रता और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कहीं मिलती है तो वह कपिल के सिद्धांत में।"

बौद्धधर्म के उदय के बाद सांख्य एक बड़ा सुगठित दर्शन बन गया। जो सिद्धांत इसमें बताया गया है, वह वस्तुजगत के पदार्थों की जाँच के आधार पर नहीं

बना है बल्कि मनुष्य के मस्तिष्क से उपजी हुई, पूर्णतया दार्शनिक और आधिभौतिक कल्पना है। वास्तव में जो चीज़ें अपनी पहुँच से परे हैं उनकी इस तरह जाँच मुमकिन भी नहीं। बौद्धधर्म की तरह सांख्य ने भी अपनी जाँच-पड़ताल में बुद्धि और तर्क का सहारा लिया और प्रमाणों को छोड़ा, इस तरह उसने बौद्धधर्म से उसी के मैदान में मोर्चा लिया। इस बुद्धिवादी दृष्टिकोण की वजह से ईश्वर के विचार को अलग कर दिया गया। इस तरह सांख्य में न साकार ईश्वर है और न निराकार, न एकेश्वरवाद है न एकवाद। इसका दृष्टिकोण नास्तिक दृष्टिकोण है और इसने लोकातीत धर्म की बुनियादों को हिला दिया। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है, बल्कि एक सतत विकास हुआ है। वह पुरुष, बल्कि पुरुषों और प्रकृति की आपस की प्रतिक्रिया का नतीजा है, यद्यपि प्रकृति स्वयं भी शक्ति-रूप है। विकास निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन कहलाता है, क्योंकि इसका आधार दो आदि कारणों पर है, एक तो प्रकृति है, जो कि बराबर काम करती रहने वाली और परिवर्तनशील शक्ति है, और दूसरा पुरुष है, जो चेतन है और कभी बदलता नहीं। चेतन-रूप पुरुषों या आत्माओं की अनिगिनित संख्या है। पुरुष स्वयं स्थिर है लेकिन उसके प्रभाव में प्रकृति विकास करती है, और एक निरंतर पूर्णता को प्राप्त करने वाली दुनिया का रूप लेती है। कार्य-कारण का संबंध माना गया है, लेकिन कहा यह गया है कि कार्य कारण में ही निहित है। कार्य और कारण इस तरह से एक ही वस्तु के विकसित और अविकसित रूप हैं। हमारे व्यवहारिक दृष्टिकोण से, अवश्य कार्य और कारण अलग-अलग और एक दूसरे से भिन्न हैं, लेकिन बुनियादी तौर पर दोनों एक हैं।

पातंजलि का योग-दर्शन विशेष रूप से शरीर और मन के संयम का एक प्रकार है जिससे कि मानसिक और आध्यात्मिक शिक्षा मिलती है। पातंजलि ने न केवल इस पुराने दर्शन को एक संगठित रूप दिया बल्कि पाणिनि के संस्कृत व्याकरण पर भी उन्होंने भाष्य लिखा। 'योग' शब्द अब यूरोप और अमरीका में खूब चल गया है, यद्यपि इसे बहुत कम लोग ठीक-ठीक समझते हैं; और इसका संबंध विचित्र क्रियाओं से जोड़ा जाता है, विशेषकर बुद्ध के समान आसन लगाकर बैठने से और अपनी नाभि या नाक की नोक की तरफ़ ध्यान लगाकर देखने से। पच्छिम में, कुछ लोग शरीर के कुछ करतबों को सीख कर अपने को इस विषय का

अधिकारी समझने लगते हैं और विश्वासी या अद्भुत चीजों की खोज में रहने वालों को ठगते हैं या उन पर रोब जमाते हैं। यह दर्शन शरीर के कुछ करतबों तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका आधार यह मनोवैज्ञानिक विचार है कि मन की ठीक-ठीक शिक्षा हो तो एक ऊँचे ढंग की चेतना पैदा हो जाती है। इस ढंग का उद्देश्य यह है कि मनुष्य स्वयं वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करे, यह नहीं कि यथार्थता या विश्व के बारे में किसी पूर्व-कल्पित आधिभौतिक सिद्धांत को स्वीकार कर ले। इस तरह से यह एक प्रयोगात्मक पद्धति है और इसे चलाने के सबसे अच्छे ढंग बयान किए गए हैं। और इसलिए इसे कोई भी दर्शन ग्रहण कर सकता है, उसका दृष्टिकोण चाहे जैसा हो। उदाहरण के लिए सांख्य-दर्शन जोकि नास्तिक है इसके ढंगों को व्यवहार में ला सकता है। बौद्धधर्म ने यौगिक शिक्षा के एक नए ही रूप का विकास किया, जोकि इससे कुछ मिलता था और कुछ भिन्न था। इसलिए पातंजलि के योगदर्शन के सिद्धांत वाले अंश अपेक्षाकृत कम महत्त्व के हैं; जिन वस्तुओं का महत्त्व है वह हैं उसकी क्रियायें। ईश्वर की सत्ता में विश्वास इस दर्शन का अंग नहीं है, लेकिन इस बात का सुझाव दिया गया जान पड़ता है कि साकार ईश्वर में विश्वास और उसकी भक्ति मन को स्थिर करने में सहायक होती है, इसलिए इसका एक व्यवहारिक उद्देश्य है।

लेकिन ध्यान और मनन की इन अंतिम सीढ़ियों तक पहुँचने से पहले शरीर और मन के संयम की आवश्यकता है। शरीर ठीक और स्वस्थ, लचीला और सुंदर और पुष्ट होना चाहिए। अनेक शारीरिक क्रियायें बताई गई हैं, और साँस लेने के ढंग भी, जिनसे कि उन पर वश प्राप्त हो सके और मनुष्य साधारणतया गहरी और लंबी साँसें लेने का आदी हो जाय। शरीर को चुस्त रखने का यह ठेठ हिंदुस्तानी ढंग सचमुच बड़े मार्के का है, अगर हम इसका दूसरे आम ढंगों से मिलान करते हैं जिनमें कि उछल-कूद रहती है और जिसमें शरीर को तरह-तरह से झटके दिए जाते हैं, यहां तक कि मनुष्य थक कर रह जाता है और हाँफ जाता है। यह दूसरे ढंग भी हिंदुस्तान में प्रचलित रहे हैं, और कुश्ती, तैराकी, घुड़सवारी, बनेटी, तीरंदाजी, गदा-मुगदर, जि-जित्सू के ढंग की चीज, और बहुत से और खेल और दिलबहलाव के प्रकार रहे हैं। लेकिन आसन का प्रकार शायद हिंदुस्तान के लिए अपना और उसके दर्शन के अनुकूल है। इसमें एक विशेष सम-तौल है, और शरीर का व्यायाम कराते हुए भी इसमें एक अविचलित शांति है। इससे शक्ति को व्यय किए

विना मनुष्य शक्ति और चुस्ती प्राप्त कर लेता है, और इसी वजह से आसन सभी उम्र के लोगों के लिए ठीक हैं, यहां तक कि इसे वुड्ढे लोग भी कर सकते हैं। ये आसन वहुत तरह के हैं।

विवेकानंद ने, जो कि योग और वेदांत के, इस समय के, सवसे वड़े समर्थकों में हुए हैं, योग के प्रयोगात्मक पक्ष पर वार-वार ज़ोर दिया है और उसे विवेक पर आधारित किया है। "इन योगों में से कोई भी विवेक का पल्ला नहीं छोड़ता, कोई यह नहीं कहता कि तुम अपनी विवेक-वुद्धि किसी भी तरह के पुरोहितों के हाथ में सिपुर्द कर दो....इनमें से हर एक यह वताता था कि तुम अपने विवेक को मज़वूती से पकड़े रहो।" यद्यपि योग और वेदांत का भाव विज्ञान के भाव के अनुकूल है, फिर भी यह सच है कि दोनों के माध्यम अलग-अलग हैं, और इसलिए उनमें गहरे भेद आ जाते हैं। योग के अनुसार चेतना वुद्धि तक सीमित नहीं है, और "विचार कर्म है और केवल कर्म के कारण विचार का मूल्य है।" प्रेरणा और अंतर्दृष्टि को स्वीकार किया गया है, लेकिन क्या यह भुलावे में हमें नहीं डाल सकतीं ? विवेकानंद कहते हैं कि प्रेरणा को वुद्धि के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। "जिसे हम प्रेरणा कहते हैं वह विवेक का ही विकास है, अंतर्दृष्टि तक पहुँचने वाला रास्ता विवेक का ही रास्ता है....सच्ची प्रेरणा कभी विवेक के विरुद्ध नहीं जाती। जहां वह विरुद्ध जाती है वहां वह सच्ची प्रेरणा ही नहीं है।" यह भी कहते हैं: "प्रेरणा लोक-कल्याण के लिए हर एक के लाभ के लिए होनी चाहिए; नाम और ख्याति और किसी निजी लाभ के लिए नहीं। इसे सदा दुनिया के भले के लिए और पूरी तरह से निःस्वार्थ होना चाहिए।"

इसके वाद दूसरा दर्शन है मीमांसा। यह कर्मकांड-संवंधी है और इसमें वहुदेववाद की ओर झुकाव मिलता है। इस समय के आम हिंदूधर्म और हिंदू विधान पर इस सिद्धांत और उसके नियमों का वड़ा असर रहा है। यह नियम वताते हैं कि धर्म क्या है और उसके अनुसार उचित आचार कैसा होना चाहिए। इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुओं का वहुदेववाद एक विचित्र ही ढंग का है, क्योंकि देव लोग, उनमें चाहे कैसी विशेष शक्तियां हों, मनुष्य से नीची योनि के जीव माने गए हैं। हिंदुओं और वौद्धों दोनों ही का विश्वास है कि मनुष्य जन्म आत्म-सिद्धि के रास्ते में जीव के लिए सवसे ऊँची अवस्था है। देव लोग भी यह स्वतंत्रता और सिद्धि तभी हासिल कर सकते हैं जव कि वह आदमी का जन्म

लें। साधारण बहुदेववाद की कल्पना से यह बहुत दूर की स्थिति है बौद्धों का कहना है कि केवल मनुष्य ही बुद्धत्व के परम-पद को प्राप्त कर सकता है।

इस क्रम का छठा और अंतिम दर्शन वेदांत है, जिसका आरंभ उपनिषदों से होता है और जो विकसित होकर अनेक रूप ग्रहण करता है, लेकिन जिसका आधार सदा विश्व की अद्वैत कल्पना में रहा है। सांख्य में जिस पुरुष और प्रकृति का बयान है उसे वेदांत अलग-थलग तत्त्व नहीं समझता बल्कि यह समझता है कि यह एक सत्ता, परम पुरुष, के विभाग हैं। पुराने वेदांत के आधार पर शंकर (या शंकराचार्य) ने अद्वैत वेदांत का निर्माण किया। यही वह दर्शन है जोकि आज के हिंदूधर्म के साधारण दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है।

इसका आधार विशुद्ध अद्वैतवाद है; आधिभौतिक अर्थ में अंतिम सत्ता आत्मन् या परब्रह्म है। वही सद्रूप है; और जो कुछ भी है वह दृश्यमान है। परब्रह्म किस तरह सब चीज़ों में व्याप्त है; किस तरह से एक अनेक रूप में भासमान है और अखंड भी है, क्योंकि परब्रह्म अखंड और ऐसा है जिसके टुकड़े नहीं किए जा सकते, यह सब तर्क द्वारा समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि हमारा मस्तिष्क वस्तुजगत से सीमित है। उपनिषद् ने इस आत्मन् का वर्णन इस तरह किया है: "वह पूर्ण है, यह (भी) पूर्ण है; पूर्ण से पूर्ण आता है, पूर्ण को पूर्ण से लो (फिर भी) पूर्ण बच रहता है।"

शंकर ने ज्ञान के एक जटिल और सूक्ष्म सिद्धांत का निर्माण किया है और कुछ अनुमानों के आधार पर, तर्क द्वारा एक-एक पग बढ़ते हुए अद्वैतवाद का पूरा ढाँचा प्रस्तुत किया है। व्यक्तिगत आत्मा की अलग सत्ता नहीं है, बल्कि वह परमात्मा ही है जिसने कि अपने को कुछ रूपों में सीमित कर लिया है। उसकी उपमा घड़े के भीतर के आकाश से दी गई है, आत्मन् व्यापक आकाश है। व्यवहार में हम दोनों को अलग-अलग मान सकते हैं, लेकिन यह भेद केवल देखने का भेद है, सच्चा भेद नहीं है। इस एकता के, अर्थात् व्यक्तिगत आत्मा और परमात्मा की एकता के, अनुभव में ही मुक्ति है।

इस तरह से हम जिस वस्तु-जगत को अपने चारों ओर देखते हैं वह उस सत्ता का केवल एक प्रतिबिंब है; या अनुभव के स्तर पर उसकी छाया है। इसे माया कहा गया है, जिसका अंग्रेज़ी में 'इल्यूज़न' शब्द द्वारा ग़लत अनुवाद किया गया है। लेकिन यह असत् नहीं है। यह सत् और असत के बीच का एक रूप है। यह एक

प्रकार की सापेक्ष स्थिति है, इसलिए शायद सापेक्षवाद की कल्पना हमें माया के अर्थ के अधिक निकट लाती है। फिर इस संसार में भलाई और बुराई क्या है? क्या यह भी केवल प्रतिबिंब है और इनमें सार नहीं है? अंतिम विश्लेषण में वह चाहे जो ठहरें, हमारी इस अनुभव की दुनिया में, इन नैतिक भेदों में, एक वास्तविकता और महत्त्व है। जहां व्यक्ति व्यक्ति की तरह पेश आते हैं वहां यह भेद संगत हो जाते हैं।

शंकर ने वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद पर ब्राह्मणों के द्वारा बने समाजी जीवन को स्वीकार किया। लेकिन उन्होंने बताया कि किसी भी ज़ात का कोई आदमी सब से ऊँचा ज्ञान हासिल कर सकता है। शंकर के दर्शन और उनके दृष्टिकोण में दुनिया से इन्कार करने का और आत्मा की मुक्ति के लिए, जो उनकी दृष्टि में आदमी का परम ध्येय है साधारण प्रवृत्तियों से बचने का भाव है। त्याग और वैराग्य पर भी बराबर ज़ोर दिया गया है।

फिर भी शंकर एक अद्‌भुत शक्ति के और बड़ा काम करने वाले व्यक्ति थे। वह गुफ़ा में जाकर बैठ जाने वाले या जंगल के एक कोने में एकांतवास करते हुए अपनी व्यक्तिगत पूर्णता की साधना करने वाले और दूसरों को क्या होता है इससे लापरवाह मनुष्य नहीं थे। उनका जन्म दक्खिन हिंदुस्तान के मलाबार प्रदेश में हुआ था, और उन्होंने सारे हिंदुस्तान में निरंतर यात्रा की थी और अनगिनित लोगों से वह मिले थे; उनसे तर्क और वाद-विवाद किया था, उन्हें अपने मत का किया था और उन्हें अपने उत्साह और जीवनी-शक्ति का एक अंश दिया था। स्पष्ट है कि वह ऐसे व्यक्ति थे जो अपना एक विशेष ध्येय समझते थे, जो कन्या-कुमारी से लेकर हिमालय तक सारे हिंदुस्तान को अपना कार्य-क्षेत्र मानते थे, और उसमें एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव करते थे और यह समझते थे कि बाहरी रूप चाहे जितने भिन्न हों, वह एक ही भाव से भरा हुआ है। हिंदुस्तान में उनके समय में विचार की जो अलग-अलग धारायें बह रहीं थीं, उनमें एक समन्वय पैदा करने का उन्होंने पूरा प्रयत्न किया, और इस बात का प्रयत्न किया कि विविधता के बीच से एकता पैदा करें। बत्तीस वर्ष के छोटे-से जीवन में उन्होंने जो काम कर दिखाया वह ऐसा था कि कई लंबे जीवनों में दूसरा न कर पाता, और उन्होंने अपने शक्तिशाली मस्तिष्क और संपन्न व्यक्तित्व की ऐसी छाप हिंदुस्तान पर डाली कि वह आज तक बनी हुई है। उनमें दार्शनिक और विद्वान् का, जड़वादी

और रहस्यवादी का, कवि और संत का, और इन सबके अलावा एक व्यावहारिक सुधारक और योग्य संगठनकर्ता का एक अजीब मेल था। ब्राह्मणधर्म के अंतर्गत उन्होंने पहली बार दस पंथ बनाए और इनमें से चार अब भी खूब चल रहे हैं। उन्होंने चार बड़े मठ स्थापित किए जो हिंदुस्तान के लगभग चार छोरों पर हैं। इनमें से एक मैसूर में शृंगेरी में था; एक पूर्वी समुद्र तट पर पुरी में, तीसरा काठियावाड़ में पच्छिमी समुद्रतट पर द्वारका में, और चौथा बीच हिमालय में बद्रीनाथ में। बत्तीस वर्ष की उम्र में, दक्खिन के गर्म प्रदेश का यह ब्राह्मण, केदारनाथ में, ऊँचे हिमालय के बर्फ़ से ढके प्रदेश में, परलोक सिधारा।

शंकर की इन लंबी यात्राओं का, उस समय में जब कि आना-जाना कठिन होता था, और सवारी के साधन धीमे और आदिम थे, एक विशेष महत्व है। इन यात्राओं की कल्पना ही, और सब जगह अपने जैसे विचारवालों से मिलना-जुलना और सारे हिंदुस्तान के पंडितों की भाषा संस्कृत में उनसे बात-चीत करना, हमारे सामने इतने पुराने समय के हिंदुस्तान में एकता का चित्र ले आते हैं। उस ज़माने में या उससे भी और पहले ऐसी यात्राएं असाधारण न रही होंगी; बावजूद राजनैतिक विभाजनों के, लोगों की बराबर आमद-रफ़्त होती थी, नई किताबें भी फैलती थीं, हर एक नया विचार, नया सिद्धांत, सारे देश में बड़ी तेज़ी से फैल जाता था, और लोग उन पर दिलचस्पी से बातचीत ही नहीं करते थे बल्कि उन्हें लेकर गर्म वाद-विवाद भी होते थे। यात्रियों में सभी वर्ग के नर और नारियां होती थीं। लोगों के मन में इन यात्राओं का जो भी धार्मिक महत्त्व रहा हो, आज की तरह उस ज़माने में भी इसे छुट्टी का अवसर और आनंद मनाने और मुल्क के अलग अलग हिस्सों को देखने का अवसर समझा जाता था। हर एक तीर्थस्थान पर हिंदुस्तान के सभी जगह और स्तर के लोगों को देखा जा सकता था, जिनके कि रीति-रिवाज,पहनावे और बोलियां अलग-अलग थीं; लेकिन फिर भी जिनमें इस बात की चेतना थी कि उनमें कुछ समान बातें हैं, कुछ आपस के बंधन हैं जो कि उन्हें एक ही जगह खींचकर ले आए हैं। उत्तर और दक्खिन हिंदुस्तान की बिल्कुल भिन्न भाषाएं भी आपस के मेल-जोल में बहुत ज्यादा बाधक न हो पाती थीं।

ऐसा जान पड़ता है कि शंकर इस राष्ट्रीय एकता और समान चेतना के भाव को और भी बढ़ाना चाहते थे। अपने चार बड़े मठों को हिंदुस्तान के उत्तर, दक्खिन, पूरब और पच्छिम के कोनों में स्थापित करके, यह स्पष्ट है कि वह संस्कृति के विचार

से मिले-जुले हिंदुस्तान की कल्पना को वढ़ावा देना चाहते थे। यह चारों जगहें कुछ अंशों में पहले भी तीर्थस्थल रही हैं, और अव तो और भी अधिक हो गई हैं।

प्राचीन हिंदुस्तानी अपने तीर्थ के स्थानों का कैसा अच्छा चुनाव किया करते थे! प्राय: सदा, यह रमणीक स्थल हुआ करते थे और उनके आस-पास प्रकृति की छवि देखने को मिलती थी। काश्मीर में अमरनाथ की वर्फ़ीली गुफा है; दक्खिनी हिंदुस्तान के विल्कुल छोर पर रामेश्वरम् के पास कन्याकुमारी का मंदिर है। फिर काशी है, और हरिद्वार है, जो कि हिमालय के तले पर है और जहां से गंगा टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी घाटियों को पार करके मैंदानी प्रदेश में आती है। और प्रयाग है जहां गंगा, और यमुना का संगम होता है; और मथुरा और वृंदावन हैं, जो कि जमुना-तट पर हैं, जिनके गिर्द कृष्ण की कथाएं जुड़ी हुई हैं; और वुद्ध गया है जहां कि वताया जाता है कि वुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था और दक्खिन हिंदुस्तान में अनेक जगहें हैं। वहुत-से पुराने मंदिरों में, विशेपकर दक्खिन में प्रसिद्ध मूर्तियां वनी हुई हैं और दूसरे कलात्मक अवशेष हैं। इस तरह से वहुत से तीर्थों की यात्रा करने से पुरानी हिंदुस्तानी कला की झाँकी मिल जाती है।

कहा जाता है कि शंकर ने हिंदुस्तान में व्यापक धर्म के रूप में वौद्धमत का अंत करने में मदद दी और उसके वाद व्राह्मणधर्म ने उसे भाई की तरह गले लगा-कर अपने में समाविष्ट कर लिया। लेकिन शंकर के समय से पहले भी हिंदुस्तान में वौद्धधर्म सिमट रहा था। शंकर के कुछ विरोधी व्राह्मण उन्हें छिपा हुआ वौद्ध वताते थे। यह वात सही है कि वौद्धधर्म का उन पर गहरा असर पड़ा था।

१३ : हिंदुस्तान और चीन

यह वौद्धधर्म था, जिसके प्रभाव से हिंदुस्तान और चीन एक दूसरे के निकट आए और जिसके द्वारा उन्होंने वहुत से संपर्क स्थापित कर लि । अशोक के पहले दोनों के वीच संपर्क थे या नहीं इसकी हमें जानकारी नहीं है; शायद समुद्र के रास्ते से कुछ व्यापार होता था, क्योंकि चीन से रेशमी माल यहां आता था। लेकिन खुश्की के रास्ते भी संपर्क रहे होंगे और वहुत पहले काल में लोग आते रहे होंगे, क्योंकि हिंदुस्तान के पूर्वी छोर के प्रदेश में मंगोली सूरत-शक्ल के लोग आम तौर पर मिलते हैं। नैपाल में यह वात वहुत स्पष्ट हो जाती है। असम (पुराने कामरूप) में और वंगाल में यह अक्सर देखी जाती है। लेकिन जहां तक इतिहास की वात

है, अशोक के धर्म-प्रचारकों ने रास्ता खोला, और ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध धर्म फैला त्यों-त्यों वहां से यात्रियों और विद्वानों का लगातार आना आरंभ हुआ और यह हिंदुस्तान और चीन के बीच एक हज़ार बरस तक आते-जाते रहे। वह गोबी रेगिस्तान पार करके, मध्य-एशिया के पहाड़ों और मैदानों को तै करते हुए और हिमालय के ऊपर से अपनी लंबी, कठिन और भयानक यात्रा करते थे। बहुत से हिंदुस्तानी और चीनी रास्ते में मर गए, और एक बयान तो यह है कि ९० प्रतिशत यात्री मर गए। बहुत से जोकि अपनी यात्रा पूरी कर सके वह फिर जहां गए वहीं बस गए और वापिस नहीं लौटे। एक दूसरा रास्ता भी था, जोकि अपेक्षाकृत कुछ अधिक सुरक्षित न था, पर छोटा ज़रूर था। यह रास्ता समुद्री था और हिंद-चीन, जावा, सुमात्रा, मलय और निकोबार टापुओं से होकर जाने वाला था। इससे भी लोग प्रायः जाते थे और कभी-कभी यात्री खुश्की के रास्ते से चलकर समुद्री रास्ते से अपने देश को लौटा करते थे। बौद्धधर्म और हिंदुस्तानी संस्कृति सारे मध्य-एशिया में और इंदोनेशिया के हिस्सों में फैल गई थी, और बहुत से मठ और विद्यालय इस सारे विस्तृत प्रदेश में जगह-जगह बने हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान और चीन के यात्रियों का समुद्र और खुश्की के इन मार्गों में सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हें ठहरने की जगहें मिल जाती थीं। कभी-कभी चीन से आनेवाले विद्वान इंदोनेशिया के किसी हिंदुस्तानी उपनिवेश में कुछ महीनों तक ठहर कर संस्कृत सीखते और फिर यहां आते थे।

पहले हिंदुस्तानी विद्वान जिनके चीन जाने का वर्णन मिलता है वह काश्यप मातंग थे। यह सन् ६७ ई० में, सम्राट् मिङ-ती के राज्य-काल में शायद उन्हीं के बुलावे पर चीन गए थे। 'लो' नदी के तट पर लो-यंग नाम की जगह पर यह बस गए थे। उनके साथ धर्म-रक्षक गए थे और बाद के सालों में जो प्रसिद्ध विद्वान गए उनमें बुद्धिभद्र, जिनभद्र, कुमारजीव, परमार्थ, जिनगुप्त और बोधिधर्म थे। इनमें हर एक अपने साथ भिक्षुओं या चेलों को ले गया था। यह कहा जाता है कि एक समय (छठी सदी ईस्वी) 'तीन हज़ार से अधिक बौद्ध भिक्षु और दस हज़ार हिंदुस्तानी परिवार केवल लो-यंग के सूबे में थे।

यह हिंदुस्तानी विद्वान् जोकि चीन गए, न केवल अपने साथ संस्कृत के हाथ के लिखे ग्रंथ ले गए, जिनका कि उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया, बल्कि उन्होंने चीनी भाषा में मौलिक पुस्तकें भी रचीं। उन्होंने चीनी साहित्य की वृद्धि

में खासा हिस्सा लिया और चीनी में कवितायें भी लिखीं। कुमारजीव जोकि ४०१ ईस्वी में चीन गया था वड़ा लिखने वाला था और उसकी लिखी ४७ पुस्तकें तो इस समय मिलती हैं। उसकी चीनी लिखने की शैली वहुत अच्छी कही जाती है। उसने मशहूर हिंदुस्तानी विद्वान नागार्जुन की जीवनी का चीनी में अनुवाद किया। जिनगुप्त छठी सदी ईस्वी के दूसरे हिस्से में चीन गया। उसने संस्कृत के ३७ ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। उसके ज्ञान का इतना आदर था कि तंग-वंश के एक सम्राट् ने उससे दीक्षा ली और उसका शिष्य वन गया।

चीन और हिंदुस्तान के वीच विद्वानों का आना-जाना, दोनों ही होता था, और वहुत से चीनी विद्वान भी यहां आए। इनमें से सवसे मशहूर जिन्होंने अपनी यात्राओं के वर्णन लिख कर छोड़े हैं, वह हैं फ़ा-ह्यान, सुंग-युन, ह्वेन-त्सांग और इत्सिग। फ़ाह्यान हिंदुस्तान में पाँचवीं सदी में आया, वह चीन में कुमारजीव का शिष्य था। हिंदुस्तान के लिए चलने से पहले जव फ़ाह्यान अपने गुरु से विदा होने के लिए गया तव कुमारजीव ने उससे जो कुछ कहा उसका मनोरंजक वर्णन किया जाता है। कुमारजीव ने उससे कहा कि धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने में ही अपना सारा समय न विताना, वल्कि हिंदुस्तान के लोगों के रहन-सहन और आचार को भी अच्छी तरह समझने का प्रयत्न करना, जिससे कि चीन वाले उन्हें अच्छी तरह समझ सकें। फ़ाह्यान ने पाटलिपुत्र के विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी।

चीनी यात्रियों में सवसे प्रसिद्ध ह्वेन-त्सांग था, जोकि यहां सातवीं सदी में आया था जव कि चीन में महान तंगवंश का राज्य चल रहा था और उत्तरी हिंदुस्तान में एक साम्राज्य का शासक हर्षवर्धन था। ह्वेन-त्सांग ख़ुश्की के रास्ते, गोवी रेगिस्तान को पार करके, तुर्फ़ान और कूचा, ताशकंद और समरक़ंद, वल्ख़, ख़ुतन और यार-क़ंद होता हुआ हिमालय को लाँघकर हिंदुस्तान में आया था। वह अपने वहुत से साहसी कार्यों का वर्णन करता है, और उन संकटों का, जिन्हें उसे झेलना पड़ा, साथ ही वह मध्य-एशिया के वौद्ध शासकों और मठों, और उन तुर्कों का जो कट्टर वौद्ध थे, हाल लिखता है। हिंदुस्तान में आकर वह सारे देश में घूमा, सभी जगह उसका आदर हुआ, आवभगत हुई, और उसने यहां की जगहों और लोगों के वारे में आँखों देखा हाल लिखा, और कुछ मनोरंजक और अजीव सुनी-सुनाई कहानियां भी लिखीं। उसने नालंदा विश्वविद्यालय में, जोकि पाटलिपुत्र के पास था और जोकि अपने वहुमुखी ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था और जहां देश के दूर-दूर

हिस्सों के विद्यार्थी आते थे, कई साल विताए। कहा जाता है कि यहां १०,००० विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। ह्वेन-त्सांग ने यहां न्याय के आचार्य की उपाधि ली और बाद में विश्वविद्यालय का उपप्रधान बन गया।

ह्वेन-त्सांग की किताब, 'सि-यू-की', यानी पच्छिमी राज्य (तात्पर्य हिंदुस्तान से है) पढ़ने में बड़ी रोचक है। ह्वेन-त्सांग एक बहुत बड़े सभ्य और उन्नत देश से उस समय आया था जब कि चीन की राजधानी सि-आन्-फ़ू कला और ज्ञान का केंद्र थी, इसलिए उसकी टिप्पणियां और हिंदुस्तान की दशा के वर्णन बड़े मूल्यवान् हैं। वह यहां की शिक्षा-व्यवस्था का हाल लिखता है, जिसके अंतर्गत बहुत छोटेपन में विद्यारंभ होकर क्रमशः विद्यार्थी विश्वविद्यालय के दर्जे तक पहुँचता था और वहां पाँच विषयों में शिक्षा दी जाती थी: (१) व्याकरण; (२) कला-कौशल; (३) औषध; (४) तर्क; और (५) दर्शन। हिंदुस्तान के लोगों के विद्या-प्रेम का उसने विशेष प्रभाव ग्रहण किया था। एक प्रकार की प्रारंभिक शिक्षा यहां व्यापकरूप में मिलती थी और सभी भिक्षु और पुरोहित शिक्षक हुआ करते थे। लोगों के बारे में वह लिखता है: "साधारण लोग, यद्यपि वह स्वभाव से विनोद-प्रिय हैं, फिर भी सच्चे और ईमानदार हैं। रुपये पैसे के मामलों में उनमें मक्कारी नहीं है, और न्याय करने के विषय में उनमें बहुत सोच-विचार मिलता है.... अपने व्यवहार में वह कपटी या धोखेबाज़ नहीं हैं, और अपने वादों और शपथ के पाबंद हैं। उनके शासन के नियमों में अद्भुत ईमानदारी है, और उनके व्यवहार में बड़ी मिठास और भलमनसाहत है। जहां तक विद्रोहियों या अपराधियों का मामला है, यह बहुत कम देखने में आते हैं, और कभी-कभी ही उपद्रव करते हैं।" आगे चलकर वह लिखता है: "चूंकि शासन-व्यवस्था की नींव उदार सिद्धांतों पर खड़ी है, इसलिए कार्यकारणी सभा बहुत सादी है....लोगों से बेगार नहीं ली जाती...इस तरह लोगों पर हलके कर लगे हुए हैं...व्यवसाय में लगे हुए व्यापारी अपने धंधों के लिए आते-जाते रहते हैं।"

ह्वेन-त्सांग जिस रास्ते से आया था उसी रास्ते वापस गया, अर्थात् मध्य-एशिया से होते हुए, और वह अपने साथ बहुत-सी हाथ की लिखी पोथियां ले गया। उसके वृत्तांत से यह स्पष्ट पता चलता है कि बौद्धधर्म का खुरासान, इराक़, मोसुल और ठीक सीरिया के सरहद तक कितना प्रभाव था। फिर भी यह वह समय था जब कि वहां बौद्धधर्म का ह्रास आरंभ हो गया था और इस्लाम, जिसका आरंभ

अरव में हो गया था, वहां सव जगह शीघ्र ही फैलने वाला था। ईरानी लोगों के वारे में ह्वेन-त्सांग यह दिलचस्प वात कहता है : "वह विद्या की परवाह नहीं करते वल्कि अपने को पूरी तरह कला की वस्तुओं में लगाते हैं। जो कुछ भी वहां तैयार होता है, उसकी पड़ोस के मुल्कों में वड़ी क़द्र होती है।"

गोवी रेगिस्तान के किनारे के छोटे-से राज्य तुर्फ़ान के वारे में ह्वेन-त्सांग ने हमें वताया है, और हाल में पुरातत्त्वविदों के उद्योग से हमें उसके वारे में और भी वातें मालूम हुई हैं। कितनी संस्कृतियां आईं और आपस में मिलीं-जुलीं और मिल-जुलकर एक हुईं, जिससे कि एक वड़ा मूल्यवान मिश्रण पैदा हुआ; यह अपनी प्रेरणा चीन और हिंदुस्तान, और ईरान और यूनानी आधारों तक से प्राप्त करता था। भाषा भारतीय-यूरोपियन थी और हिंदुस्तान और ईरान से ली गई थी, और यूरोप की केल्टिक भाषा से कुछ अंशों में मिलती-जुलती थी; धर्म हिंदुस्तान से लिया गया; जीवन के रहन-सहन के तरीक़े चीनी थे; वहुत-से कलात्मक सामान ईरान से आए हुए थे। वुद्धों और देवी-देवताओं की मूर्तियां और दीवाल पर वने हुए चित्र जो वड़ी सुंदरता से वने थे ऐसे थे कि उनका पहनावा तो हिंदुस्तानी था, और सिर की पोशाक यूनानियों जैसी थी। मुशेर ग्रूसे ने कहा है कि "यह देवियां हिंदू कोमलता, यूनानी प्रगल्भता और चीनी आकर्षण के सवसे अच्छे मेल का प्रतिनिधित्व करती हैं।"

ह्वेन-त्सांग अपने देश को वापस गया तो वहां उसका सम्राट् ने और आम लोगों ने स्वागत किया। वह अपनी पुस्तक लिखने और वहुत-सी पोथियां जो वह अपने साथ ले गया था उनके अनुवाद के धंधे में लगा। जव वहुत साल पहले वह यात्रा के लिए निकल रहा था तव, यह कथा कही जाती है, तंग-वंशी सम्राट् ने पानी में एक मुट्ठी धूल डालकर उसे देते हुए कहा था : "अच्छा हो कि तुम यह प्याला पी लो। हमें क्या यह नहीं वताया गया है कि अपने देश की एक मुट्ठी धूल मनों विदेशी सोने से वढ़कर है ?"

ह्वेन-त्सांग की हिंदुस्तान की यात्रा, और चीन और हिंदुस्तान में जो उसे आदर प्राप्त हुआ, उसका परिणाम यह हुआ कि दोनों देशों में राजनीतिक संपर्क स्थापित हुए। कन्नौज के हर्षवर्धन और तंग सम्राट् के वीच राजदूतों की अदला-वदली हुई। ह्वेन-त्सांग ने स्वयं हिंदुस्तान से अपना लगाव वनाए रक्खा। वह यहां के मित्रों के पास पत्र भेजा करता था, और यहां से हाथ की लिखी पोथियां मँगाय

करता था। दो मनोरंजक पत्र जोकि आरंभ में संस्कृत में लिखे गए थे, चीन में सुरक्षित हैं। इनमें से एक ६४५ ई० में हिंदुस्तानी बौद्ध विद्वान् स्थविर प्रज्ञादेव ने ह्वेन-त्सांग को लिखा था। अभिवादन और आपस के मित्रों के कुशल समाचार और अपनी साहित्यिक कृतियों की बातचीत के बाद वह लिखता है: "हम तुम्हें एक जोड़ा सफ़ेद वस्त्र का भेज रहे हैं जिससे कि यह प्रकट हो कि हम तुम्हें भूले नहीं हैं। रास्ता लंबा है। इसलिए इस बात का ध्यान न करना कि भेंट तुच्छ है। हम चाहते हैं कि तुम इसे स्वीकार करो। जिन सूत्रों और शास्त्रों की तुम्हें जरूरत हो उनकी सूची भेजना। हम उनकी नक़ल करके तुम्हारे पास भेज देंगे।" ह्वेन-त्सांग अपने जवाब में लिखता है: "मुझे हिंदुस्तान से लौटे हुए एक राजदूत से मालूम हुआ कि महान् गुरु शीलभद्र अब नहीं रहे। इस समाचार से मुझे जो दुःख हुआ उसकी हद नहीं. . .उन सूत्रों और शास्त्रों में से जो मैं, ह्वेन-त्सांग, लाया था, मैंने योगाचार्य, भूमिशास्त्र और दूसरे ग्रंथों का, कुल तीस ग्रंथों का, अनुवाद कर लिया है। मैं विनयपूर्वक तुम्हें सूचित करना चाहूंगा कि सिंधु नदी पार करते हुए मैंने पवित्र ग्रंथों का एक गट्ठर खो दिया। इस पत्र के साथ अब मैं मूल पाठों की एक सूची भेज रहा हूं। मैं प्रार्थना करूंगा कि अवसर मिले तो इन्हें मेरे पास भेजना। कुछ छोटी-मोटी चीजें भेंट के तौर पर भेज रहा हूं। कृपा कर इन्हें स्वीकार करना।"

चीन में ह्वेन-त्सांग की मृत्यु के शीघ्र बाद ही, एक दूसरा प्रसिद्ध चीनी यात्री, ईत्सिंग, हिंदुस्तान में आया। वह ६७१ ई० में रवाना हुआ, और उसे हिंदुस्तान के बंदरगाह ताम्रलिपि तक पहुँचने में लगभग दो साल लगे। यह बंदरगाह हुगली नदी के दाहने दहाने पर है। क्योंकि वह समुद्र के रास्ते आया वह कई महीने तक भोग (सुमात्रा में आधुनिक पालेमबंग) में संस्कृत सीखने के लिए ठहरा। समुद्र के रास्ते उसकी यात्रा का एक महत्व है, क्योंकि यह संभव है कि मध्य-एशिया की स्थिति उस समय हलचल की थी और राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे। मुमकिन है कि बहुत से मैत्री-भाव रखने वाले बौद्ध मठ, जो कि रास्ते में बिखरे हुए थे, अब न रह गए हों। यह भी मुमकिन है कि हिंदुस्तानी उपनिवेशों के इंदोनेशिया में तरक़्क़ी पाने की वजह से और हिंदुस्तान और इन देशों के बीच व्यापार के व और दूसरे संपर्कों के कारण समुद्री रास्ता अधिक सुविधाजनक हो गया हो। उसके व और वृत्तांतों से पता चलता है कि फ़ारस (ईरान), हिंदुस्तान, मलय,

सुमात्रा, और चीन के बीच नियमित रूप से जहाज़ आया-जाया करते थे। इत्सिंग क्वानतुंग से एक फ़ारसी जहाज़ पर सवार होकर पहले सुमात्रा गया था।

इत्सिंग ने भी नालंदा विद्यापीठ में वहुत दिनों तक विद्या सीखी और यह अपने साथ कई सौ संस्कृत ग्रंथ ले गया। उसकी विशेष रुचि बौद्ध कर्मकांड और आचार की बारीकियों में थी, और इनके बारे में उसने विस्तार से लिखा है। लेकिन यह रीति-रिवाजों, कपड़ों और खाने-पीने के बारे में भी बहुत कुछ कहता है। अब की तरह उस ज़माने में भी गेहूं उत्तरी हिंदुस्तान का मुख्य भोजन था और पूरब-दक्खिन में चावल चलता था। मांस भी कभी-कभी खाया जाता था, लेकिन यह कम ही होता था (इत्सिंग संभवतः बौद्ध भिक्षुओं की बात बता रहा है, औरों की नहीं)। घी, तेल, दूध, मलाई सब जगहमिलती थी, और मिठाइयों और फलों की बहुतायत थी। आचार-विचार की शुद्धता पर हिंदुस्तानी जो महत्त्व देते थे उसका इत्सिंग ने वर्णन किया है। "अब पहला और मुख्य भेद जो पाँच प्रांतों के देश हिंदुस्तान और दूसरी जातियों में है वह पवित्रता और अपवित्रता में किया जाने वाला बड़ा भेद है।" वह यह भी लिखता है: "भोजन के बाद जो कुछ बच रहे उसका रख छोड़ना, जैसा कि चीन में चलता है, हिंदुस्तान के नियमों के अनुकूल नहीं है।"

इत्सिंग हिंदुस्तान का हवाला आम तौर पर पच्छिम (सि-फ़ंग) करके देता है, लेकिन वह कहता है कि यह आर्यदेश के नाम से प्रसिद्ध है: "आर्यदेश; आर्य अर्थात् उत्तम और देश अर्थात् प्रदेश, जो कि 'पच्छिम' का नाम है। इसका नाम ऐसा इसलिए पड़ा कि वहां उत्तम चरित्र के लोग बराबर उत्पन्न होते रहे हैं, और सभी लोग इस नाम से देश की प्रशंसा करते हैं। यह मध्य-देश भी कहलाता है, यानी बीच का देश, क्योंकि यह सैकड़ों हज़ारों देशों के बीच में है। लोग सब इस नाम से परिचित हैं। उत्तरी जातियां (हूण या मंगोल या तुर्क) ही इस उत्तम देश को 'हिंदू' (सिन्-तु) कहती हैं, लेकिन यह नाम कदापि प्रचलित नहीं है। यह केवल देशी नाम है और इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हिंदुस्तान के लोग इस नाम को नहीं जानते, और हिंदुस्तान के लिए सबसे उचित नाम 'आर्यदेश' है।"

इत्सिंग का 'हिंदू' का हवाला मनोरंजक है। वह आगे कहता है: "कुछ लोग कहते हैं कि इंदु के मानी चंद्रमा के होते हैं और हिंदुस्तान का चीनी नाम अर्थात् इंदु (यिन्-तु) इसी से निकला है; इसके यह अर्थ हो सकते हैं लेकिन यह नाम आम नहीं है। जहां तक महान् चाउ (चीन) का हिंदुस्तानी नाम, यानी चीना है,

यह केवल एक नाम है, इसका कोई महत्त्व नहीं।" वह कोरिया और और देशों के संस्कृत नामों का भी वर्णन करता है।

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान की बहुत-सी चीज़ों के लिए आदर का भाव रखते हुए भी इत्सिंग ने स्वयं बताया है कि वह पहला स्थान अपनी जन्मभूमि चीन को देता है। हिंदुस्तान आर्यदेश हो सकता है, लेकिन चीन देव-भूमि है। "हिंदुस्तान के पाँच प्रांतों के लोगों को अपनी पवित्रता और उत्तमता का गर्व है। लेकिन उत्कृष्ट सुरुचि, साहित्यिक उत्कृष्टता, शिष्टता, मर्यादा, आवभगत और विदाई की रस्में, भोजन का स्वाद, नीति और उदारता की शालीनता चीन में ही मिलती है, और कोई देश चीन से इन बातों में बढ़ नहीं सकता।" "सुई से छेदकर और जलाकर रोग अच्छा करने की क्रिया में, नाड़ी देखने की कला में, हिंदुस्तान के किसी हिस्से से चीन पिछड़ा नहीं है; और जीवन को बढ़ाने की औषध तो केवल चीन में मिलती है. . .मनुष्यों के चरित्र और चीज़ों के गुणों के कारण चीन देव-भूमि कहलाया है। क्या हिंदुस्तान के पाँच प्रांतों में कोई व्यक्ति है जो कि चीन की प्रशंसा नहीं करता ?"

चीनी सम्राट् के लिए पुरानी संस्कृत में जिस शब्द का प्रयोग हुआ है वह है 'देवपुत्र' और यह ठीक उसी आशय के चीनी शब्द का अनुवाद है।

इत्सिंग, जो कि संस्कृत का बड़ा विद्वान था, इस भाषा की प्रशंसा करता है और बताता है कि उत्तर और दक्खिन के दूर-दूर देशों में इसका आदर होता था . . . "तब तो देवभूमि (चीन) और स्वर्गिक भंडार (हिंदुस्तान) के लोगों को भाषा के सच्चे नियमों की और भी शिक्षा देनी चाहिए।" चीन में संस्कृत का काफ़ी अध्ययन होता रहा होगा। यह बात मनोरंजक है कि कुछ चीनी विद्वानों ने संस्कृत के ध्वनि के नियमों को चीनी भाषा में चलाना चाहा। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण शाउ-वेन का भिक्षु था जोकि तंग-वंश के काल में हुआ था। इसी ढंग की एक वर्ण-माला उसने चीन में चलाने की कोशिश की।

हिंदुस्तान में बौद्धधर्म के ह्रास के साथ-साथ हिंदुस्तान और चीन के बीच विद्वानों का आना-जाना लगभग बंद हो गया, यद्यपि चीनी यात्री हिंदुस्तान की बौद्धधर्म की पवित्र जगहों के दर्शन के लिए फिर भी कभी-कभी आते रहते थे। ग्यारहवीं सदी और उसके बाद जो राजनैतिक क्रांतियां हुईं, उस ज़माने में बौद्ध भिक्षुओं के ठट्ठ-के-ठट्ठ पोथियों की गठरियां बाँधे हुए नेपाल चले गए, या

हिमालय पार करके तिव्वत पहुँच गए। इस तरह से और पहले भी पुरान हिंदुस्तानी साहित्य का वहुत-सा हिस्सा चीन और तिव्वत पहुँच गया, और हाल के वर्षों में उन का फिर से पता चला है, जोकि या तो मूल में ही मौजूद हैं, या अधिकतर अनुवाद के रूप में। वहुत से पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथ, चीनी या तिव्वती अनुवाद के रूप में सुरक्षित हैं और यह केवल वौद्धधर्म के वारे में नहीं हैं, वल्कि ब्राह्मणधर्म, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि विषय के भी हैं। चीन के सुंग-पाओ संग्रह में ऐसे ८००० ग्रंथ मौजूद वताए जाते हैं। तिव्वत ऐसे ग्रंथों से भरा हुआ है। अक्सर हिंदुस्तानी, चीनी और तिव्वती विद्वान् मिलकर काम किया करते थे। इस सहयोग की एक प्रमुख मिसाल वौद्ध पारिभाषिक शब्दों का वह संस्कृत-तिव्वती-चीनी कोष है जो कि नवीं या दसवीं ईस्वी में तैयार हुआ था, और जिसका नाम 'महाव्युत्पत्ति' है।

चीन की सवसे पुरानी छपी हुई पुस्तकों में, जो आठवीं सदी ईस्वी तक की हैं, संस्कृत के ग्रंथ भी हैं। यह लकड़ी के ठप्पों से छपे हुए हैं।

दसवीं सदी में, चीन में छापे के विशेषज्ञों का एक राजकीय संगठन वना और उसके फलस्वरूप ठीक सुंग ज़माने तक, छपाई की कला ने तेज़ी से उन्नति की। यह एक अचरज की वात है, और इसका ठीक-ठीक कारण नहीं समझ में आता कि यद्यपि चीनी और हिंदुस्तानी विद्वानों के वीच इतना घना संवंध था, और सैकड़ों साल तक आपस में पुस्तकों का अदला-वदला होता रहा, इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते कि हिंदुस्तान में उस समय में पुस्तकों की छपाई होती थी। ठप्पे से छापने का चलन चीन से तिव्वत में किसी पुराने काल में पहुँचा, और मेरा ख़याल है कि यह वहां अव भी वना हुआ है। चीनी छपाई का पहला परिचय यूरोप को मंगोल या वान-वंश के काल (१२६०-१३६८) में हुआ। पहले यह जर्मनी तक सीमित रहा, वाद में पंद्रहवीं सदी में यह और देशों में फैला।

हिंदुस्तान के भारतीय-अफ़ग़ान और मुग़ल कालों में भी हिंदुस्तान और चीन के वीच जव-तव राजनीतिक संवंध रहे हैं। दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद विन तुग़लक (१३२६-५१) ने अरव यात्री इव्न वतूता को, चीनी दरवार में राजदूत वनाकर भेजा था। वंगाल ने उस काल में सुल्तान की हुकूमत से अलग होकर अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया था। चौदहवीं सदी के वीच के काल में, चीनी दरवार की ओर से वंगाल के सुल्तान के यहां हु-शीन और फ़िन-शीन नाम के दो राजदूत

भेजे गए थे। इसका नतीजा यह हुआ कि सुल्तान ग़यासुद्दीन के राज्य-काल में बंगाल में चीन कई राजदूत लगातार भेजे गए। यह चीन के मिंग बादशाहों का ज़माना था। बाद के एक एलची के साथ, जिसे कि सईदुद्दीन ने १४१४ ई० में भेजा था, और क़ीमती तोहफ़ों के साथ एक ज़िंदा ज़िराफ़ भी भेजा गया था। ज़िराफ़ हिंदुस्तान में कैसे पहुँचा यह एक रहस्य की बात है। शायद यह अफ्रीका से भेंट-स्वरूप में आया हो और इस ख़याल से कि यह अजीब चीज़ है और इसलिए पसंद की जायगी इसे मिंग बादशाह के पास भेजा गया। वास्तव में चीन में इसका बड़ा आदर हुआ क्योंकि कन्फ़्यूसियस के अनुयायी ज़िराफ़ को एक पवित्र प्रतीक मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि यह जानवर ज़िराफ़ ही था क्योंकि इसके वर्णनों के साथ-साथ चीनी रेशमी कपड़े पर इसकी एक तस्वीर भी मिलती है। जिस दरबारी चित्रकार ने इसकी तस्वीर बनाई है उसने इसका लंबा हाल भी लिखा है, जिसमें बताया गया है कि यह जानवर बहुत शुभ है। "मंत्री लोग और आम जनता इसे देखने के लिए जमा हुए और उसे देखकर बहुत ही खुश हुए।"

चीन और हिंदुस्तान के बीच जो व्यापार बौद्ध ज़माने में ज़ोर से चल रहा था वह भारतीय-अफ़ग़ान और मुग़ल ज़माने में भी जारी रहा और बहुत-सी चीज़ों का अदला-बदला होता रहा। यह माल उत्तरी हिमालय के दर्रों से होकर मध्य-एशिया के कारवानी रास्ते से जाता था। समुद्र के रास्ते भी अच्छा-ख़ासा व्यापार होता था, जो कि दक्खिन-पूर्वी एशिया के टापुओं से होता हुआ, ख़ासतौर पर दक्खिनी हिंदुस्तान के बंदरगाहों तक पहुँचता था।

चीन और हिंदुस्तान के बीच होनेवाली तीन हज़ार बल्कि इससे अधिक वर्षों की राह-रस्म में दोनों देशों ने एक-दूसरे से कुछ प्राप्त किया, न केवल विचार और दर्शन के क्षेत्र में, बल्कि जीवन की कलाओं और विज्ञान में भी। शायद चीन पर हिंदुस्तान का जितना प्रभाव पड़ा उतना हिंदुस्तान पर चीन का नहीं पड़ा, और यह खेद की बात है, क्योंकि हिंदुस्तान चीन का कुछ व्यावहारिक ज्ञान सीखकर उससे लाभ उठा सकता था और अपनी मानसिक उड़ानों को कुछ वश में रख सकता था। चीन ने हिंदुस्तान से बहुत कुछ लिया, लेकिन उसमें हमेशा ऐसी शक्ति और आत्म-विश्वास रहे हैं कि जो कुछ वह लेगा वह अपने ढंग से और उसको अपने यहां के जीवन के ताने-बाने में कहीं ठीक-ठीक बिठा लेगा। बौद्धधर्म और उसका जटिल दर्शन भी कन्फ़्यूसियस और लाओत्सी का रंग लिए बिना न रह पाया। बौद्धधर्म

के किंचित् निराशावादी दृष्टिकोण ने चीनियों के जीवन के प्रति प्रेम और उमंग को दबाया नहीं। एक पुरानी चीनी कहावत है: "अगर सरकार तुम्हें पकड़ पावेगी तो कोड़ों से तुम्हारी जान ले लेगी; अगर बौद्ध तुम्हें पकड़ पावेंगे तो वह तुम्हें भूखों मार डालेंगे।"

सोलहवीं सदी का एक मशहूर चीनी उपन्यास है—'बंदर' जो वूचेन-येन की रचना है (इसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'मंकी' नाम से आर्थर वेले ने किया है) जिसमें हिंदुस्तान की यात्रा में ह्वेन-त्सांग पर बीती घटनाओं का कल्पित और बढ़ा-चढ़ा बयान है। इस पुस्तक के अंत में हिंदुस्तान के लिए एक समर्पण है "मैं इस को बुद्ध की पवित्र भूमि को समर्पित करता हूं। प्रार्थना है कि अपने संरक्षक और गुरु की दया का यह ऋण चुकावे और भटके हुओं और पतितों के कष्टों को कम करे. . .।"

एक-दूसरे से कई सदियों तक कटे रहकर भाग्य के अद्भुत चक्र से हिंदुस्तान और चीन, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रभाव में आए। हिंदुस्तान को इसे बहुत दिनों तक सहन करना पड़ा; चीन में यह संपर्क बहुत थोड़े दिनों का था, फिर भी वहां इसका नतीजा यह हुआ कि वहां अफ़ीम पहुँची और युद्ध पहुँचा।

और अब भाग्य का चक्र पूरा फिर चुका है, और फिर से हिंदुस्तान और चीन एक दूसरे की तरफ़ देखने लगे हैं और उनके मनों में पुरानी यादें उठ रही हैं। फिर एक दूसरे ही तरह से यात्री बीच के पहाड़ों को पार करके या उनपर से उड़ करके, सद्भावना के संदेश लाने लगे हैं, जिससे कि मैत्री के दृढ़ बंधन स्थापित होंगे।

१४ : दक्खिन-पूर्वी एशिया में हिंदुस्तानी उपनिवेश और सभ्यता

हमें बीते हुए युग को ही सामने लाने की आवश्यकता नहीं बल्कि एशिया के उन अनेक देशों की, शरीर से नहीं तो कल्पना में ही, यात्रा करने की आवश्यकता है, जहां कि बहुत तरह से हिंदुस्तान ने अपना विस्तार किया था और जहां कि उसने अपनी भावना, अपनी शक्ति और अपने सौंदर्य-प्रेम की अमर छाप डाली थी। अपने बीते हुए युग की इन शानदार कृतियों को हममें से कितने कम लोग जानते हैं, कितने कम लोग इसका अनुभव करते हैं कि हिंदुस्तान विचार और दर्शन के क्षेत्र में तो बड़ा था ही, काम के मैदान में भी वह उतना ही बड़ा था।

हिंदुस्तान के पुरुषों और स्त्रियों ने अपने देश से सुदूर जाकर जिस इतिहास का निर्माण किया उसका लिखा जाना अभी बाक़ी है। बहुत से पच्छिम के लोग अब भी यह ख़याल करते हैं कि प्राचीन काल का इतिहास मेडिटेरेनियन समुद्र के किनारे के देशों तक समाप्त हो जाता है और बीच के काल और वर्तमान समय का इतिहास अधिकतर उस छोटे झगड़ालू महाद्वीप का इतिहास है जिसे कि यूरोप कहते हैं। और अब भी वह आने वाले काल के लिए इस तरह योजना बनाते हैं जैसे कि यूरोप ही सब कुछ है और दूसरे देश कहीं भी बिठाए जा सकते हों।

सर चार्ल्स इलियट ने लिखा है कि, "यूरोप के इतिहासकार हिंदुस्तान के साथ अन्याय करते हैं जब कि वह केवल उसके आक्रमणकारियों के वृत्तांत लिखते हैं और इस तरह का प्रभाव डालते हैं कि मानों स्वयं उसके निवासी दुर्बल, सपना देखने वाले लोग हों और शेष दुनिया से कटे हुए अपने पहाड़ों और समुंदरों से घिरे हुए अलग-थलग रह रहे हों। इस तरह की तसवीर में यह बात भुला दी जाती है कि हिंदुओं ने कैसी-कैसी मानसिक विजय प्राप्त की है। उनकी राजनीतिक विजयें भी तुच्छ नहीं हैं, और अगर इस दृष्टि से नहीं कि कौन से देशों पर यह हुई हैं, तो दूरी की दृष्टि से तो अवश्य ही मार्के की हैं. . . लेकिन इस तरह के फ़ौजी या व्यापारी आक्रमण, हिंदुस्तानी विचार के प्रचार के मुक़ाबले में कम भी नहीं हैं।"

जिस समय इलियट ने यह लिखा उस समय शायद वह उन हाल की जानकारियों से परिचित नहीं था जो कि दक्खिन-पूर्वी एशिया के बारे में अब प्राप्त हुई हैं और जिन्होंने कि हिंदुस्तान और एशिया के बीते हुए युग के बारे में हमारे विचारों में क्रांति पैदा कर दी है। इन खोजों की जानकारी ने उनके तर्क को और भी दृढ़ कर दिया होता, और यह दिखा दिया होता कि विचारों के प्रचार के अलावा भी विदेशों में हिंदुस्तान का कारनामा कदापि तुच्छ नहीं रहा है। मुझे याद है, जब कि मैंने करीब पंद्रह साल पहले दक्खिन-पूर्वी एशिया के इतिहास का कुछ विस्तार से हाल पढ़ा था, तब मुझे कितना आश्चर्य हुआ था और मैं कितना उत्तेजित हो उठा था। मेरी आँखों के सामने बिलकुल नए दृश्य फिर गए थे, इतिहास के नए पहलू दिखाई पड़े थे और हिंदुस्तान के बीते हुए ज़माने की नई कल्पना सामने आई थी, और मुझे अपने सब पुराने विचारों को उनके प्रकाश में फिर से ठीक-ठीक बिठाना पड़ा था। चंपा, कंबोडिया और आङ्कोर, श्रीविजय और मजापहित यकायक मानो शून्य के भीतर से साकार होकर मेरे सामने आए थे और उनके

साथ एक स्वाभाविक भावना का उद्गार था जो कि अतीत का वर्तमान से स्पर्श कराता था।

उस वड़े योद्धा और विजेता और दूसरे कारनामों वाले शैलेंद्र के वारे में डा० एच० जी० क्वाट्रिश वेल्ड ने लिखा है : "उस वड़े विजेता ने, जिसके कारनामों की वरावरी पच्छिमी इतिहास के केवल बड़े-से-वड़े सैनिकों से की जा सकती है, और जिसका नाम अपने समय में फ़ारस से चीन तक फैला हुआ था, दस या वीस साल के भीतर ही एक विस्तृत समुद्री साम्राज्य स्थापित कर लिया था, जो कि पाँच सदियों तक वना रहा, और जिसने हिंदुस्तानी कला और संस्कृति के अद्भुत विकास को जावा और कंवोडिया में संभव वनाया। लेकिन अपने विश्व-कोपों और इतिहासों में...इस विस्तृत साम्राज्य या उसके महान् संस्थापक का हवाला ढूँढ़ना व्यर्थ होगा....यह वात ही कि इस तरह का एक साम्राज्य किसी ज़माने में था,मुट्ठी भर पूर्वी विषयों के जानने वाले विद्वानों के अतिरिक्त लोग मुश्किल से जानते हैं"। इन प्राचीन हिंदुस्तानी उपनिवेश स्थापित करने वालों के फ़ौजी कारनामे महत्व के हैं, क्योंकि उनसे हिंदुस्तानी चरित्र और योग्यता के कुछ पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है जिनका अव तक ठीक-ठीक आदर नहीं किया गया है। लेकिन इससे कहीं महत्व की वात यह है कि उन लोगों ने अपने उपनिवेशों में एक संपन्न सभ्यता स्थापित की और ऐसी वस्तियां वसाईं जोकि एक हज़ार साल से अधिक समय तक वनी रहीं।

पिछली चौथाई सदी के वीच, दक्खिन-पूर्वी एशिया के इस वड़े प्रदेश के इतिहास पर वहुत कुछ रोशनी पड़ी है, और इसे वृहत्तर भारत का नाम दिया गया है। वहुत-सी कड़ियां अव भी नहीं मिलतीं, वहुत-सी परस्पर-विरोधी वातें कही जाती हैं, विद्वान् लोग अव भी एक-दूसरे के विरुद्ध सिद्धांत प्रस्तुत कर रहे हैं, लेकिन मोटे ढंग से इस इतिहास की रूप-रेखा काफ़ी स्पष्ट है और कभी-कभी तो विस्तार की वातों की भी वहुतायत से जानकारी प्राप्त होती है। सामग्री की कोई कमी नहीं है, क्योंकि हिंदुस्तानी ग्रंथों में हमें हवाले मिलते हैं, अरव के यात्रियों के वयान हैं, और सवसे महत्त्व की तो चीन से प्राप्त इतिहास की सूचनाएं हैं। वहुत से पुराने शिलालेख, ताम्रपत्र आदि भी हैं और जावा और वाली में हिंदुस्तानी आधारों पर तैयार किया गया एक संपन्न साहित्य भी है, जो प्रायः हिंदुस्तानी महाकाव्यों और पुराण की गाथाओं को दूसरे शब्दों में केवल दुहरा देता है। यूनानी

और लातीनी आधारों से भी कुछ सूचनाएं मिलती हैं, लेकिन सबसे बढ़कर पुरानी इमारतों के विशाल खँडहर हैं जोकि विशेषकर अङ्कोर और बोरोबुदर में मिलते हैं।

ईस्वी सन् की पहली सदी से आगे, हिंदुस्तानी उपनिवेश बसाने वालों की लहर पर लहर पूरब और दक्खिन-पूरब में फैलीं और यह लंका, बर्मा, मलय, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, स्याम, कंबोडिया और इंडोचीन तक फैलीं। इनमें से कुछ तो फ़ारमूसा, फ़िलिप्पाइन टापुओं और सेलिबीज तक पहुँचीं। मैडागास्कर तक की चालू भाषा इंदोनीशियन है जिसमें कि संस्कृत शब्दों की मिलावट है। ऐसा होने में कई सौ साल लगे होंगे और शायद इन सब जगहों में सीधे हिंदुस्तान से लोग न पहुँचे होंगे बल्कि बीच के किसी उपनिवेश से फैले होंगे। पहली सदी ईस्वी से लगभग ९०० ईस्वी तक चार मुख्य लहरें उपनिवेश स्थापित करने वालों की गई हुई जान पड़ती हैं, लेकिन इनके बीच-बीच में पूरब जाने वाले लोगों का एक सिलसिला बना रहा होगा। इन साहसी कारनामों की सबसे मार्के की बात यह थी कि इनका संगठन राज्य द्वारा हुआ जान पड़ता है। दूर-दूर तक फैले हुए उपनिवेश यकायक एक साथ स्थापित होते हैं; और प्रायः सदा यह ऐसी जगहों पर स्थापित होते हैं जोकि सैनिक दृष्टि से महत्व की जगहें हैं या खास यात्रा के मार्ग हैं। इन बस्तियों को जो नाम दिए गए, वह पुराने हिंदुस्तानी नाम हैं। इस तरह वह देश जिसे आज कंबोडिया कहते हैं कंबोज कहलाया, जोकि प्राचीन हिंदुस्तान का काबुल की घाटी में, गांधार में एक मशहूर शहर था। इस बात से ही, मोटे ढंग से उपनिवेश के बसाए जाने का समय जाना जा सकता है, क्योंकि उस समय गांधार (अफ़ग़ानिस्तान) आर्य हिंदुस्तान का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा होगा।

समुद्र पार की इन अद्भुत और भयावह विजय-यात्राओं के पीछे कौन-सी प्रेरणा थी? इनकी कल्पना या संगठन संभव न था, अगर इनसे पहले, पीढ़ियों और सदियों पहले, कुछ व्यक्ति या छोटे-छोटे तिजारती गिरोह वहां जाकर वहां से परिचित न हुए होते। सबसे पुरानी संस्कृत पुस्तकों में पूरब के इन देशों के अस्पष्ट हवाले हैं। उनमें आए हुए नामों को आज जगहों से जोड़ सकना आसान नहीं, लेकिन कभी-कभी कोई कठिनाई भी नहीं होती। जावा स्पष्ट रूप से 'यवद्वीप' या 'जौ का टापू' है और यव आज भी एक अन्न विशेष का नाम है। पुराने ग्रंथों में आए हुए और नाम भी आमतौर पर धातु, खनिज या किसी व्यापार या खेती की पैदावार

से संवंध रखते हैं। इस नामकरण से ही व्यापार की ओर ध्यान जाता है। डॉक्टर आर० सी० मजूमदार ने वताया है : "अगर साहित्य साधारण लोगों के विचारों का ठीक-ठीक दर्पण है, तो ईस्वी सन् के आरंभ होने से पूर्व और वाद की सदियों में वनिज-व्यापार के लिए वहुत वड़ा उत्साह रहा होगा।" इन सव वातों से पता चलता है कि यहां की आर्थिक-व्यवस्था का फैलाव हो रहा था, और दूर-दूर की मंडियों की वरावर खोज हो रही थी।

ईसा से पहले की तीसरी और दूसरी सदियों में यह व्यापार धीरे-धीरे वढ़ गया था और तव इन व्यवसायियों और व्यापारियों के वाद धर्म-प्रचारकों का जाना आरंभ हुआ होगा, क्योंकि यह अशोक से ठीक वाद का समय था। संस्कृत की पुरानी कथाओं में भयावह समुद्र-यात्राओं और नौकाओं के तवाह होने के वहुत से वर्णन मिलते हैं। यूनानी और अरव दोनों ही वर्णनों से पता लगता है कि हिंदुस्तान और सुदूर पूरव के देशों के वीच कम-से-कम पहली सदी ईस्वी तक समुद्र के रास्ते ख़ूव व्यापार चल गया था। मलय प्रायद्वीप और इंदोनीशिया के टापू चीन और हिंदुस्तान, फ़ारस, अरव और मेडिटिरेनियन के यात्रा-मार्ग में पड़ते थे। अपने भौगोलिक महत्व के अतिरिक्त इन देशों में क़ीमती खनिज, धातु, मसाले और लकड़ियां मिलती थीं। अव की तरह उस काल में भी मलय अपनी टीन की खानों के लिए प्रसिद्ध था। शायद सव से पहली यात्राएं हिंदुस्तान के पूरवी समुद्र-तट के वरावर-वरावर —कलिंग (उड़ीसा), वंगाल, वर्मा और फिर नीचे मलय प्रायद्वीप होते हुए हुई थीं। वाद में दक्खिन हिंदुस्तान से सीधे यात्रा-मार्ग स्थापित हो गए थे। इसी रास्ते से हिंदुस्तान में अनेक चीनी यात्री आए थे। फ़ा-ह्यान जावा से पाँचवीं सदी में होकर गुज़रा था और उसने उलाहना दिया है कि अव भी यहां वहुत से विधर्मी वसते हैं; उसका तात्पर्य व्राह्मणों से था, जोकि वौद्धधर्म के अनुयायी नहीं वने थे।

यह स्पष्ट है कि जहाज़ों के वनाने का धंधा प्राचीन हिंदुस्तान में अच्छी उन्नति पर था। उस काल में वने हुए जहाज़ों का कुछ व्यौरेवार हाल हमें मिलता है। वहुत से हिंदुस्तानी वंदरगाहों के नाम मिलते हैं। दूसरी और तीसरी सदी ईस्वी के दक्खिन-हिंदुस्तानी (आंध्र) सिक्कों पर दुहरे पालों वाली नौकाओं का अंकन मिलता है। अजंता की दीवारों पर वने हुए चित्रों में लंका की विजय दिखाई गई है और हाथी ले जाने वाले जहाज़ वने हैं। वह वड़े राज्य और साम्राज्य जो आरंभ

के हिंदुस्तानी उपनिवेशों में स्थापित हुए, वह सभी मुख्य-रूप से समुद्री शक्तियां थीं, उनकी व्यापार में दिलचस्पी थी और इसलिए समुद्री मार्ग पर उनका अधिकार था। उनकी आपस में समुद्री लड़ाइयां भी होती थीं और कम-से-कम एक बार उन्होंने दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य को चुनौती दी। लेकिन चोल-वंशी भी बड़े शक्तिशाली थे और उन्होंने समुद्री धावा किया और कुछ काल के लिए शैलेंद्र के साम्राज्य को दबा लिया।

सन् १०८८ ई० का एक दिलचस्प तमिल शिलालेख है जिसमें "पंद्रह सौ के संघ" का वर्णन है। स्पष्ट-रूप से यह व्यापारियों का संघ था, जिसके लोगों को बताया गया है कि "वीर पुरुष थे, जिनका जन्म कृतयुग(सतयुग)से ही, जल और थल की राह से, दूर-दूर देशों में जाकर, छहों खंडों को भेद कर, घोड़े, हाथी, मणि-मानिक, फुलेल और औषधियों का थोक और खुदरा व्यापार करने के लिए हुआ था।"

हिंदुस्तानियों की व्यापार और साहसी धंधों और विस्तार की प्रेरणा उन्हें इन पूर्वी देशों में ले गई, जिनका कि पुराने संस्कृत ग्रंथों में 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्ण-द्वीप' के व्यापक शब्द से संकेत किया गया है। इस नाम में ही एक आकर्षण था। आरंभ के उपनिवेश स्थापित करने वाले पहले बस गए, फिर और बाद में आए, और शांति के साथ बैठने की यह क्रिया जारी रही। हिंदुस्तानियों का उन जातियों से जोकि उन्हें वहां पर मिलीं मेल-जोल हुआ और एक नई मिली-जुली संस्कृति का विकास हुआ। इतना हो चुकने पर ही शायद राजनीतिक वर्ग के लोग, कुछ क्षत्रिय राजकुमार, कुलीन वंशों के सैनिक, साहसी कामों और राज्य-स्थापना के विचार से आए। नामों की समानता की वजह से यह सुझाव दिया गया है कि इन लोगों में से अधिकतर हिंदुस्तान में खूब फैली हुई मालव जाति के लोग थे—इसी से मलय जाति हुई, जिसका कि सारे इंदोनीशिया पर इतना गहरा असर रहा है। मध्य-हिंदुस्तान का एक हिस्सा अब भी मालवा कहलाता है। ऐसा ख़याल किया जाता है कि आरंभ के औपनिवेशिक पूर्वी समुद्र-तट के कलिंग देश (उड़ीसा) से गए थे, लेकिन यह दक्खिन का पल्लव हिंदू राज्य था जिसने कि उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश की। यह ख़याल किया जाता है कि शैलेंद्र वंश, जोकि दक्खिन-पूरबी एशिया में इतना प्रसिद्ध हुआ, उड़ीसा से आया हुआ था। उस काल में उड़ीसा बौद्धों का एक गढ़ था, यद्यपि शासन करने वाला राज-वंश ब्राह्मणधर्म का अनुयायी था।

यह सभी हिंदुस्तानी नौ-आवादियां चीन और हिंदुस्तान, इन दो वड़े देशों और दो वड़ी सभ्यताओं के वीच वसी थीं। उनमें से कुछ तो ऐसी थीं कि उनकी सरहदें चीनी साम्राज्य को छूती थीं, शेष हिंदुस्तान और चीन के मुख्य तिजारती रास्ते में पड़ती थीं। इस तरह उन पर दोनों देशों का असर पड़ता था और उनमें एक मिली-जुली हिंदुस्तानी और चीनी सभ्यता ने उन्नति की; लेकिन इन दोनों ही सभ्यताओं की प्रकृति ऐसी थी कि आपस के कोई झगड़े नहीं हुए और अलग-अलग रूप और मिले-जुले नमूने वन चले। महाद्वीपी देशों में वर्मा, स्याम और हिंद-चीन थ और इन पर अविक प्रभाव चीन का पड़ा; टापुओं पर और मलय प्रायद्वीप पर हिंदुस्तान की छाप अधिक थी। आमतौर पर शासन का ढंग और जीवन का दर्शन चीन ने दिया, धर्म और कला हिंदुस्तान ने दी। प्रायद्वीपी देश अपने व्यापार के लिए अधिकतर चीन का सहारा लेते थे, और उनमें आपस में एलचियों का अदल-वदल होता रहता था। लेकिन कंवोडिया तक में, और अङ्कोर के विशाल खँडहरों में कला-संवंवी जो भी प्रभाव पड़ा वह केवल हिंदुस्तान का था। इसके अतिरिक्त और दूसरे असर का पता अव तक नहीं चला है। लेकिन हिंदुस्तानी कला लचीली थी, और ऐसी थी कि उसे हर एक देश अपनी आवश्यकता के अनुसार ढाल सकता था, और हर एक देश में इसने इस तरह नए-नए फूल खिलाए, यद्यपि वुनियादी छाप वही हिंदुस्तान की वनी रही।

इन हिंदुस्तानी उपनिवेशों का इतिहास कोई तेरह सौ साल का, वल्कि इससे भी अधिक का है। यह पहली या दूसरी सदी ईस्वी से आरंभ होकर पंद्रहवीं सदी के अंत तक चलता है। आरंभ की सदियों का हाल वहुत साफ़-साफ़ नहीं मालूम है, सिवाय इसके कि वहुत से छोटे-छोटे राज्य थे। क्रमशः वह आपस में मिल जाते हैं और पाँचवीं सदी के होते-होते वड़े-वड़े शहरों का निर्माण होने लगता है। आठवीं सदी तक ऐसे साम्राज्य वन चुके थे जो कि समुद्र-यात्रा किया करते थे और कुछ अंशों में केंद्रीय थे, लेकिन वहुत से देशों पर एक अस्पष्ट ढंग का आविपत्य भी वनाए हुए थे।

इनमें सव से वड़ा राज्य शैलेंद्र साम्राज्य था या जिसे श्रीविजय का साम्राज्य कहते हैं, और जोकि आठवीं सदी तक सारे मलय-एशिया में जल और थल दोनों तरह की शक्तियों के रूप में सवसे ऊपर उठ चुका था। अभी हाल तक यह खयाल किया जाता था कि उसका आरंभ सुमात्रा में हुआ था और वहीं इसकी राजधानी

भी थी लेकिन वाद की खोजों ने सावित कर दिया है कि इसका आरंभ मलय प्रायद्वीप में हुआ था। जिस काल में कि इसकी शक्ति चोटी पर पहुँच गई थी उस काल में इसके अंदर मलय, लंका, सुमात्रा, जावा का एक हिस्सा, वोर्नियो, सेलिविस, फ़िलिप्पाइन और फ़ारमूसा का एक हिस्सा था और शायद कंवोडिया और चंपा (अनाम) पर भी इसका आधिपत्य था। यह वौद्ध साम्राज्य था।

लेकिन शैलेंद्र-वंश के इस साम्राज्य के स्थापित और दृढ़ करने के वहुत पहले ही मलय, कंवोडिया और जावा में शक्तिशाली राज्य वन चुके थे। मलय प्रायद्वीप के उत्तरी हिस्से में स्याम की सरहद के क़रीव जो दूर तक फैले हुए खँडहर हैं, वह आर० जे० विल्किसन के अनुसार ऐसे हैं जिनसे वहुत 'ऊँचे दर्जे के संपन्न और वैभवशाली, वलशाली राज्यों के वहां किसी समय में होने का पता चलता है।' चंपा (अनाम) में तीसरी सदी में पांडुरंगम् नाम का नगर था, और पाँचवीं सदी में कंवोज एक वड़ा नगर हो गया था। नवीं सदी में जयवर्धन नाम के एक प्रतापी राजा ने, छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर कंवोडिया का साम्राज्य स्थापित किया था जिसकी कि राजधानी अङ्कोर थी। कंवोडिया वीच-वीच में शैलेंद्र-वंश के आधिपत्य में संभवतः आ जाता रहा, लेकिन यह आधिपत्य नाम के लिए था और नवीं सदी में यह स्वतंत्र हो वैठा। यह कंवोडिया का साम्राज्य लगभग चार सौ साल तक वना रहा और इसमें वहुत वड़े-वड़े शासक और निर्माण करने वाले लोग हुए, जैसे जयवर्मन, यशोवर्मन, इंद्रवर्मन और सूर्यवर्मन। इसकी राजधानी सारे एशिया में प्रसिद्ध हो गई, जो विशाल अङ्कोर के नाम से जानी जाती थी; यहां दस लाख की आवादी थी और यह शहर सीज़र वादशाहों के रोम शहर से वड़ा और अधिक विशाल था। शहर के पास ही अङ्कोर वट का विशाल मंदिर था। कंवोडिया का साम्राज्य तेरहवीं सदी के अंत तक चलता रहा, और १२९७ में एक चीनी राजदूत वहां गया था, वह राजधानी की समृद्धि और शान-शौकत का वयान करता है। लेकिन इस साम्राज्य का अचानक अंत हो गया, इतना अचानक कि कुछ भवन पूरे वनने से रह गए। वाहरी आक्रमण हुए और भीतरी कठिनाइयां भी सामने आईं, लेकिन शायद जो सवसे वड़ी आपत्ति आई वह यह थी कि मीकांग नदी रेत से भर गई जिसकी वजह से शहर में आने के रास्तों में पानी आकर दलदल वन गया और शहर को छोड़ना पड़ा।

नवीं सदी में जावा भी शैलेंद्र-साम्राज्य से अलग हो गया, फिर भी शैलेंद्र-वंश

इंदोनीशिया में ग्यारहवीं सदी तक सबसे बड़ी शक्ति बना रहा, और तब दक्खिन हिंदुस्तान के चोल राज्य से उसकी मुठभेड़ हुई। चोल-वंशी विजयी हुए और पचास साल से अधिक समय तक इंदोनीशिया के बहुत से भागों पर उनका आधिपत्य रहा। चोल लोगों के हट जाने पर शैलेंद्र-वंश ने अपनी खोई हुई शक्ति फिर प्राप्त कर ली और लगभग तीन सौ साल तक और एक स्वतंत्र राज्य की हैसियत से बना रहा। लेकिन अब यह पूरबी समुद्र के देशों में सबसे बड़ी शक्ति न रह गया था और तेरहवीं सदी में इस साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना आरंभ हो गया। इसकी कमज़ोरी से जावा ने लाभ उठाया और थाइयों (स्याम) ने भी। चौदहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जावा ने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया।

यह जावाई राज्य, जोकि इस समय आगे आया, ऐसा था कि उसके पीछे एक लंबा इतिहास है। यह ब्राह्मण धर्मवालों का राज्य था और बौद्धधर्म के प्रचार के बावजूद इसने अपने पुराने धर्म को छोड़ा न था। इसने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य के राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव का उस समय भी मुक़ाबला किया था जब कि स्वयं जावा का आधे से अधिक हिस्सा इस साम्राज्य में आ गया था। यहां ऐसे लोग बसते थे जिनका ध्यान व्यापार पर था, जो जहाज़रानी करते थे और जिन्हें पत्थर की शानदार इमारतें बनवाने का शौक़ था। आरंभ में यह सिंहसारी का राज्य कहलाता था, लेकिन १२९२ ईस्वी में मजापहित नाम का एक नया नगर स्थापित हुआ और आगे चलकर इसी से मजापहित साम्राज्य हो गया जो कि श्रीविजय साम्राज्य के बाद दक्खिन-पूर्वी एशिया की सब से बड़ी शक्ति थी। मजापहित ने कुबलाइख़ां के चीन से भेजे गए कुछ दूतों का अनादर किया और चीनियों ने उस पर धावा करके उसे दंड दिया। जावाइयों ने शायद चीनियों से बारूद का उपयोग सीखा और इसकी मदद से वह अंत में शैलेंद्र-वंश वालों को हरा सके।

मजापहित एक बड़ा केंद्रित और विस्तारशील साम्राज्य था। कहा जाता है कि यहां की कर-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से संगठित थी और व्यापार और उपनिवेशों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। शासन का एक व्यवसाय-विभाग था और इसी तरह उपनिवेश-विभाग, स्वास्थ्य-विभाग और युद्ध और अंतरंग विभाग आदि भी थे। एक प्रधान न्यायालय भी था, जिसमें कई न्यायाधीश काम करते थे। इस साम्राज्य का जैसा अच्छा संगठन था उसे जानकर आश्चर्य होता है।

इसका मुख्य काम हिंदुस्तान और चीन से व्यापार करना था। यहां के प्रसिद्ध शासकों में एक महारानी सुहिता थी।

मजापहित और श्रीविजय के बीच का युद्ध बड़ा भयानक था, और यद्यपि मजापहित की पूरे तौर पर जीत हुई, इस जीत ने नए झगड़ों के बीज बोए। शैलेंद्रों की ताक़त, जो कुछ भी बच रही थी, उससे और लोगों ने, मुख्यतया अरबों और नौ-मुस्लिमों ने, मिलकर सुमात्रा और मलाका में मलय शक्ति स्थापित की। पूर्वी समुद्रों की कमान, जो अब तक दक्खिन हिंदुस्तान या हिंदुस्तानी उपनिवेशों के हाथ में थी, वह अब अरबों के हाथ में चली गई। व्यापार के केंद्र की हैसियत से, और राजनीतिक शक्ति के रूप में, अब मलाका सामने आया और मलय-प्रायद्वीप और टापुओं में इस्लाम फैला। यही शक्ति थी, जिसने कि पंद्रहवीं सदी के अंत में मजापहित का पूरी तरह अंत कर दिया। लेकिन कुछ बरसों के भीतर ही, सन् १५११ में, अल्बुकर्क के नेतृत्व में पुर्तगाली आए और उन्होंने मलाका पर अधिकार कर लिया। अपनी नई और उन्नतिशील शक्ति के बल पर यूरोप सुदूर पूरब तक पहुँच गया।

१५ : हिंदुस्तानी कला का विदेशों में प्रभाव

प्राचीन साम्राज्यों और वंशों का यह हाल पुरातत्त्वज्ञों की दिलचस्पी का है, लेकिन सभ्यता और कला के इतिहास के लिए उसकी दिलचस्पी और भी अधिक है। हिंदुस्तान के दृष्टिकोण से यह विशेष-रूप से महत्व का है, क्योंकि वहां जो कुछ था वह हिंदुस्तान का किया-धरा था और हिंदुस्तान की जीवनी-शक्ति और प्रतिभा भिन्न रूपों में वहां प्रगट हुई थी। हम हिंदुस्तान को उत्साह से भरा हुआ और दूर-दूर तक फैलता हुआ पाते हैं, और यह देखते हैं कि वह न केवल अपने विचारों, बल्कि दूसरे आदर्शों, अपनी कला, अपने व्यापार, अपनी भाषा और साहित्य और अपने शासन के ढंग को सब जगह ले जाता है। न वह मंद पड़ा हुआ है, न अलग-अलग रहने वाला है या समुंदर और पहाड़ से कटकर अकेला पड़ गया है। उसके निवासी इन ऊँचे पहाड़ों को पार करते हैं और भयावह समुद्र को लाँघते हैं, और जैसा कि मुशिए रीनी ग्रूसे ने बताया है "एक वृहत्तर हिंदुस्तान का निर्माण करते हैं, जोकि राजनीतिक दृष्टि से उतना ही कम संगठित है जितना कि वृहत्तर यूनान था, लेकिन जो नैतिक दृष्टि से वैसा ही मधुर और व्यापक प्रभाव रखने वाला है।" वास्तव में

मलय-एशिया की इन रियासतों का राजनीतिक संगठन भी वड़े ऊँचे दर्जे का था, यद्यपि यह हिंदुस्तानी राजनीतिक व्यवस्था का अंग नहीं था। लेकिन मुशिए ग्रूसे उन विस्तृत प्रदेशों का हवाला देते हैं जहां कि हिंदुस्तानी सभ्यता फैल गई थी : "पूर्वी ईरान के ऊँचे पठार में; सेरिंडिया के नख़्लिस्तानों में; तिव्वत, मंगोलिया और मंचूरिया के सूखे वंजरों में; चीन और जापान के सुसभ्य प्राचीन देशों में; भोनों और ख्मेरों और इंडोचीन की और जातियों की आदिम भूमियों पर; मलय-पोलिनीसियनों के देशों में; इंदोनीशिया और मलय में; न केवल धर्म पर वल्कि कला और साहित्य पर भी, या एक शब्द में कहिए तो आत्मा की सभी ऊँची वस्तुओं पर हिंदुस्तान ने अपनी ऊँची संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी है।"

हिंदुस्तानी सभ्यता ने विशेषकर दक्खिन-पूरवी एशिया के देशों में जड़ पकड़ी, और इसका प्रमाण आज वहां सव जगह मिलता है। चंपा, अङ्कोर, श्रीविजय, मजापहित और और जगहों में संस्कृत की शिक्षा के वड़े-वड़े केंद्र थे। भिन्न-भिन्न राजाओं के नाम और उन राज्यों और साम्राज्यों के नाम जो वहां स्थापित हुए, विल्कुल हिंदुस्तानी और संस्कृत नाम हैं। इससे यह मतलव न निकालना चाहिए कि वह पूरी तौर पर हिंदुस्तानी थे, वल्कि यह कि उनमें हिंदुस्तानीपन आ गया था। राज्य से संवंधित रस्में हिंदुस्तानी ढंग की थीं और वह संस्कृत के माध्यम से पूरी की जाती थीं। राज्य के सभी कर्मचारियों के पद प्राचीन संस्कृत में आए हुए पद हैं, और यह पद अव तक न केवल थाईलैंड में चले आ रहे हैं वल्कि मलय की मुस्लिम रियासतों में भी। इंदोनीशिया की इन जगहों के पुराने साहित्य में हिंदुस्तानी कथाएं और गाथाएं भरी पड़ी हैं। जावा और वाली के मशहूर नृत्य हिंदुस्तान से ग्रहण किए हुए हैं। वाली के छोटे टापू ने तो अपनी पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता को अव तक वहुत कुछ वनाए रक्खा है, यहां तक कि हिंदूधर्म भी वहां चला आ रहा है। फ़िलिप्पाइन्स में लिखने की कला हिंदुस्तान से गई।

कंवोडिया की वर्णमाला दक्खिन हिंदुस्तान से ली गई है और वहुत से संस्कृत शब्द छोटे-मोटे हेर-फेर के साथ ले लिए गए हैं। दीवानी और फ़ौजदारी के क़ानून हिंदुस्तान के प्राचीन स्मृतिकार मनु के धर्मशास्त्र के आधार पर वने हैं और इन्हें वौद्धधर्म के प्रभाव से होने वाले कुछ परिवर्तनों के साथ कंवोडिया के वर्तमान क़ानून में ले लिया गया है।

लेकिन जिन चीज़ों में हिंदुस्तानी प्रभाव सव से अधिक स्पष्ट रूप में मिलता है

वह है इन प्राचीन हिंदुस्तानी नौ-आबादियों की कला और इमारतें। मौलिक प्रेरणा में कुछ परिवर्तन आया, उसने अपने को परिस्थितियों के अनुकूल ढाला और स्थानीय गुणों का उसमें मेल-मिलाप हुआ और इस मेल-मिलाप से अङ्कोर और बोरोबुदुर की विशाल इमारतें और अद्‌भुत मंदिर तैयार हुए। जावा में बोरोबुदुर में बुद्ध के जीवन की सारी कहानी पत्थरों में गढ़ी हुई मिलती है। दूसरी जगहों में मूर्तिपट्टों पर विष्णु और राम और कृष्ण की कथाएँ खुदी हुई हैं। अङ्कोर के बारे में आस्बर्ट सिटवेल ने लिखा है : "इस बात को तुरंत मान लेना चाहिए कि अङ्कोर जिस रूप में वह खड़ा हुआ मिलता है, आज दुनिया की प्रमुख आश्चर्य-वस्तुओं में है; मानवी प्रतिभा ने पत्थर पर खुदाई करके जो कुछ भी पेश किया है, यह उसकी चोटी पर है और इसके बराबर की दर्शनीय, सुंदर और अद्‌भुत चीज़ तो चीन में कहीं नहीं देखी जाती।" "...यह एक ऐसी सभ्यता के जड़ अवशेष हैं जिसने कि छः सदियों तक अपने अत्यंत चमकीले पर फड़काए और जो इस तरह नष्ट हो गई कि अब उसका नाम भी मनुष्य के होठों पर नहीं आता।"

अङ्कोर वट के विशाल मंदिर के गिर्द एक बड़ा क्षेत्र बहुत दूर तक फैले हुए खँडहर का है, जिसमें बनावटी झीलें और पोखरे हैं, और नहरें हैं, जिन पर पुल बने हुए हैं; और एक बड़ा फाटक है जिस पर "एक बहुत बड़े आकार का सिर पत्थर में खुदा हुआ है; यह एक सुंदर, मुसकराता हुआ लेकिन रहस्यमय कंबोडियाई मुख है, यद्यपि शक्ति और सुंदरता में वह देवताओं जैसा है। यह मुख, अद्‌भुत रूप से आकर्षक है और इसकी मुसकान विचलित करनेवाली है—इसे अङ्कोर की मुसकान कहेंगे। मुख कई जगह दुहराया गया है।"

अङ्कोर को प्रेरणा हिंदुस्तान से मिली, लेकिन वह ख्मेर प्रतिभा थी जिसने उसे विकसित किया या यह कहिए कि दोनों ने एक-दूसरे से मिलकर यह अचरज की वस्तु उत्पन्न की। कंबोडिया के जिस राजा ने कहा जाता है कि इसे बनवाया, उसका नाम जयवर्मन (सप्तम) था, और यह ठीक-ठीक हिंदुस्तानी नाम है।

जावा, अङ्कोर और बृहत्तर हिंदुस्तान की दूसरी जगहों की खुदाई और खोजों का यश यूरोपीय विद्वानों और पुरातत्त्वविदों को है, विशेषकर फ्रांसीसी और डच विद्वानों को। बड़े-बड़े शहर और स्मारक शायद अब भी मिट्टी में दबे हुए पड़े हैं, और उनकी खोज होनी बाक़ी है। इस बीच में, कहा जाता है कि खानों

के खोदने की वजह से या सड़क वनाने का सामान लेने में मलय की मुख्य-मुख्य पुरानी जगहें, जहां कि प्राचीन खँडहर थे, नष्ट हो गई हैं। कुछ साल हुए मुझे एक थाई (स्यामी) विद्यार्थी का एक पत्र मिला था जो कि टैगोर के शांति-निकेतन में आया था और थाईलैंड को वापस जा रहा था। उसने लिखा था: "मैं अपने को वार-वार विशिष्ट रूप से भाग्यशाली समझता हूं कि मुझे इस वड़े और पुराने देश आर्यावर्त में आने का और मातामही भारतभूमि को अपनी विनम्र श्रद्धांजलि भेंट करने का अवसर मिला; यह मातामही ऐसी है जिसकी गोद में मेरी मातृभूमि प्रेमपूर्वक पली है और उसने सभ्यता और धर्म में जो कुछ भी सुंदर है उसे पहचानना और उससे प्रेम करना सीखा है।" मुमकिन है कि यह एक आम मिसाल न हो, फिर भी इससे कुछ पता इस वात का चलता है कि हिंदुस्तान के वारे में दक्खिन-पूर्वी एशिया में किस तरह के खयाल लोगों के दिलों में हैं।

सिल्वान लेवी लिखते हैं: "ईरान से चीनी समुंदर तक, साइवेरिया के वर्फ़ानी प्रदेशों से जावा और वोर्नियो के टापुओं तक, ओशीनिया से सोकोटरा तक, हिंदुस्तान ने अपने विश्वासों, अपनी कहानियों, और अपनी संस्कृति को फैलाया है। उसने मानव-जाति के चौथाई हिस्से पर लंवी सदियों के दौर में अपनी अमिट छाप डाली है। उसे इस वात का अधिकार है कि अज्ञान के कारण उसे दुनिया के इतिहास में जो पद मिलने से रह गया है उसे प्राप्त करे और मानव-आत्मा के प्रतीक वड़े राष्ट्रों के वीच अपना उचित स्थान ले।"

१६ : पुरानी हिंदुस्तानी कला

सर जान मार्शल कहते हैं कि "हिंदुस्तान के अंदर की ही हिंदुस्तानी कला को जानना, उसकी आधी ही कहानी जानने के वरावर है। उसे पूरी तौर पर समझने के लिए, हमें वौद्धधर्म के साथ-साथ मध्य-एशिया, चीन और जापान तक जाना चाहिए; तिव्वत और वर्मा और स्याम में फैलकर नए रूप धारण करते हुए और फूटकर नए सौंदर्य प्रस्तुत करते हुए इसे हमें देखना चाहिए; हमें कंवोडिया और जावा में इसकी विशाल और अद्वितीय कृतियों को देखना चाहिए। इन देशों में से हर एक में, हिंदुस्तानी कला का एक नई ही जातीय प्रतिभा से संपर्क होता है, उसे नए ही स्थानीय वातावरण का सामना करना पड़ता है, और उनके विशिष्ट प्रभाव में यह नए भेस वदलती है।"

हिंदुस्तानी कला का हिंदुस्तानी धर्म और दर्शन से इतना गहरा संबंध है कि जब तक कोई उन आदर्शों की जानकारी न रखता हो जोकि हिंदुस्तानी मस्तिष्क को अपनी ओर खींचते रहे हैं, तब तक उसके लिए इसका ठीक-ठीक समझना मुश्किल हो जाता है। जैसे कि संगीत में पूरबी और पच्छिमी कल्पनाओं के बीच एक खाई है, उसी तरह कला में भी है। शायद यूरोप के मध्ययुग के महान् कलाकार और निर्माता हिंदुस्तानी कला और शिल्प से अपना अधिक मेल पाते, आज के उन यूरोपीय कलाकारों की अपेक्षा जिन्होंने कि अपनी प्रेरणा रेनासां और उसके बाद के युग से प्राप्त की है। क्योंकि हिंदुस्तानी कला में हमें बराबर एक धार्मिक प्रेरणा मिलती है, एक पारदृष्टि दिखाई देती है, जैसी कि शायद यूरोप के बड़े गिरजाघरों के बनाने वालों में थी। सौंदर्य की कल्पना भाव-जगत में की गई है, वस्तु-जगत में नहीं, यह आत्मा से संबंध रखने वाली चीज़ है, चाहे उसने जड़ वस्तु में सुंदर रूप और आकार ग्रहण कर लिया हो। यूनानियों को सौंदर्य से बड़ा प्रेम था और उसमें उन्हें आनंद ही नहीं मिलता था, बल्कि सत्य दिखता था; प्राचीन हिंदुस्तानियों को भी सौंदर्य से प्रेम था, लेकिन वह अपनी कृतियों में सदा कोई गूढ़ अर्थ बिठाने की कोशिश में रहते थे, आंतरिक सत्य की कोई ऐसी कल्पना जिसका कि उन्हें आभास हुआ हो।

यूनानी परंपरा में शिक्षा पाए हुए यूरोपीयों ने आरंभ में हिंदुस्तानी कला की यूनानी दृष्टिकोण से जाँच की। गांधार और सरहदी सूबे की यूनानी बौद्ध-कला में तो उन्होंने कुछ बात देखी जोकि उनकी पहचानी हुई थी; और हिंदुस्तान की कला की और कृतियों को उन्होंने इसी का गिरा हुआ रूप खयाल किया। धीरे-धीरे एक नया दृष्टिकोण बना और यह कहा जाने लगा कि हिंदुस्तानी कला में एक मौलिकता और जीवनी शक्ति है जो कि यूनानी-बौद्धकला से उसे नहीं प्राप्त हुई है, बल्कि यूनानी बौद्धकला स्वयं उसका एक हलका प्रतिबिंब है। यह नया दृष्टिकोण अधिकतर इंग्लिस्तान को छोड़कर यूरोप के और देशों से आया। यह एक अचरज की बात है कि हिंदुस्तानी कला का (और यह बात संस्कृत साहित्य के बारे में भी ठीक ठहरती है) जैसा आदर यूरोप के दूसरे देशों में हुआ वैसा इंग्लिस्तान में नहीं। मैंने अक्सर सोचा है कि इंग्लिस्तान और हिंदुस्तान के बीच दुर्भाग्य से आज जो राजनीतिक संबंध है उसका कहां तक इस परिस्थिति में हाथ हो सकता है। शायद इसका कुछ हाथ तो है, लेकिन भेद के और भी अधिक बुनियादी कारण हो सकते हैं।

यों बहुत से कलाकार, विद्वान् और दूसरे अंग्रेज हैं, जोकि हिंदुस्तानी भावनाओं और दृष्टिकोण के नज़दीक पहुँच गए हैं, और जिन्होंने हमारी पुरानी तिथियों की खोज में और दुनिया के आगे उनकी व्याख्या करने में मदद दी है।

उन अंग्रेज़ों में, जिन्होंने कि हिंदुस्तानी कला को पसंद किया है और उस पर मत स्थिर करने के लिए नई कसौटियों का उपयोग किया है लारेंस बिनियन और ई० बी० हैवेल हैं। हिंदुस्तानी कला के आदर्शों और उसके अंतरंग भावों के बारे में हैवेल को विशेषरूप से उत्साह है, वह इस बात पर ज़ोर देता है कि एक बड़ी राष्ट्रीय कला के द्वारा हमें राष्ट्र के विचार और स्वभाव का गहरा परिचय मिलता है, लेकिन हम इस कला को तभी समझ सकते हैं जब कि हम उन आदर्शों को समझ लें जोकि उसके पीछे हैं। एक विदेशी, शासक राष्ट्र, इन आदर्शों को न समझकर या उनकी बुराई करके मानसिक विरोध के बीज बोता है। हिंदुस्तानी कला मुट्ठी भर विद्वानों के संबोधन के लिए नहीं रही है। इसका उद्देश्य यह रहा है कि हिंदू-धर्म और दर्शन के केन्द्रीय विचारों को आम लोगों को समझावे। "इस शिक्षा के उद्देश्य को पूरा करने में हिंदू कला सफल रही, इसका अनुमान, इस बात से हो जाता है, (जोकि उन सबका जाना हुआ है जो हिंदुस्तानी जीवन से परिचित हैं) कि हिंदुस्तानी गाँववाले, यद्यपि वह पच्छिमी लोगों के अर्थ में निरक्षर और अनपढ़ हैं, फिर भी अपने वर्ग के लोगों में, दुनिया के किसी जगह के लोगों की अपेक्षा अधिक सभ्य हैं।"

संस्कृत कविता और हिंदुस्तानी संगीत की तरह कला में भी यह ख़याल किया जाता था कि कलाकार प्रकृति के सभी विभागों से एकमत होकर, आदमी की प्रकृति और विश्व के साथ एकता का निरूपण करेगा। सारी एशियाई कला की यह विशेष बात रही है, और इसी की वजह से एशिया की कला में हमें एक तरह की एकता मिलती है, बावजूद इसके कि राष्ट्रीय भेद और विविधता इतनी प्रकट हैं। हिंदुस्तान में, अजंता की दीवारों पर बने हुए सुंदर चित्रों के अतिरिक्त पुरानी चित्रकारी अधिक नहीं मिलती। शायद इस कला का अधिकतर भाग नष्ट हो गया है। हिंदुस्तान की विशेषता उसकी मूर्तिकला और स्थापत्य में है, जिस तरह कि चीन और जापान की विशेषता उनकी चित्रकारी में है।

हिंदुस्तानी संगीत, जोकि यूरोपीय संगीत से इतना भिन्न है, अपने ढंग पर बहुत उन्नति कर चुका था, और इसके लिए हिंदुस्तान प्रसिद्ध था, और चीन और दूर

पूरब के देशों को छोड़कर इसने सारे एशिया के संगीत पर प्रभाव डाला था। इस तरह से संगीत, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, अरब, तुर्किस्तान और कुछ हद तक और इलाक़ों में जहां कि अरबी सभ्यता फैली थी, जैसे कि उत्तरी अफ़रीक़ा, इनके बीच की एक और कड़ी बन गया। हिंदुस्तान का शास्त्रीय संगीत शायद इन सब जगहों में पसंद किया जायगा।

कला के विकास में एशिया की और जगहों की तरह हिंदुस्तान में भी धार्मिक विचारों का एक विशेष प्रभाव गढ़ी हुई मूर्तियों के विरुद्ध पड़ा। वेद मूर्तिपूजा के विरोधी रहे, और बौद्ध-काल में भी, बाद के दिनों में ही बुद्ध की मूर्तियाँ और तस्वीरें बनीं। मथुरा के अजायबघर में बोधिसत्व की एक बहुत बड़ी पत्थर की मूर्ति है जिसमें कि बड़ा दम-ख़म है। यह ईस्वी सन् के आरंभ के कुशाण काल की है।

आरंभ के काल में हिंदुस्तानी कला हमें प्रकृतिवाद से भरी हुई मिलती है, जोकि कुछ अंशों में चीनी प्रभावों की वजह से हो सकता है। हिंदुस्तानी कला के इतिहास की भिन्न मंज़िलों पर हमें चीनी प्रभाव दिखाई देते हैं, विशेपकर प्रकृति-वाद को उत्कर्प देने वाले, इसी तरह हिंदुस्तानी आदर्शवाद ने चीन और जापान में जाकर विशेप कालों में वहां बरबस प्रभाव डाला।

चौथी से छठी सदियों के बीच, गुप्तों के समय में, जोकि हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाया है, अजंता की गुफाएं खोदी गईं और उनकी दीवारों पर चित्र बनाए गए। बाग और बादामी की गुफाएं भी इसी ज़माने की हैं। अजंता की दीवार पर बनी तस्वीरें यद्यपि बड़ी सुंदर हैं, और जब से उनकी खोज हुई है उन्होंने हमारे आजकल के कलाकारों पर गहरा असर डाला है, और वह जीवन से मुड़कर अजंता की शैली की नक़ल में पड़ गए हैं। यह इसके अच्छे नतीजे नहीं हैं।

अजंता हमें एक दूर की, सपने-जैसी दूर की, लेकिन बहुत वास्तविक दुनिया में पहुँचा देता है। यह दीवाल पर बने चित्र बौद्ध भिक्खुओं के बनाए हुए हैं। बहुत दिन पहले उनके स्वामी बुद्ध ने बताया था कि स्त्रियों से दूर रहो, उनकी तरफ़ देखो तक नहीं, क्योंकि वह भयावह हैं। फिर भी हम पाते हैं कि यहां स्त्रियों की कमी नहीं है; सुंदर स्त्रियां, राज-कन्याएं, गाने वाली, नाचने वाली, बैठी और खड़ी, शृंगार करती हुई या जुलूस के साथ जाती हुई स्त्रियां हमें मिलती हैं। अजंता की स्त्रियां प्रसिद्ध हो गई हैं। इन कलाकार भिक्खुओं का दुनिया से और इस ज़िंदगी के चलते-फिरते नाटक से कितना गहरा परिचय था, कितने प्रेम से उन्होंने यह चित्र

बनाए हैं; उसी तरह यह चित्र बनाए हैं जिस तरह कि उन्होंने बोधिसत्व की प्रशांत और लोकोत्तर महिमा का चित्रण किया है।

सातवीं और आठवीं सदियों में ठोस चट्टानों को काटकर एलोरा की विशाल गुफाएं तैयार हुईं, जिनके बीच में कैलास का बहुत बड़ा मंदिर है। मानव ने इसकी कल्पना किस तरह की और कल्पना करने के बाद उसे किस तरह साकार किया, इसका सोचना कठिन है। इसी काल की एलिफ़ैंटा की गुफाएं भी हैं, जहां की त्रिमूर्ति की ज़ोरदार और रहस्यमयी मूर्ति बनी हुई है। दक्खिन हिंदुस्तान में मामल्ल-पुरम् के भवन भी इसी समय के हैं।

एलिफ़ैंटा की गुफा में नटराज शिव की एक टूटी हुई मूर्ति है, जिसमें शिव नाचने की मुद्रा में दिखाए गए हैं। हैवेल का कहना है कि अपनी टूटी हुई हालत में भी यह बड़ी प्रबल मूर्ति है और इसकी कल्पना विशाल है: "नृत्य की लयमय गति से यद्यपि चट्टान तक प्रतिध्वनित जान पड़ती है, फिर भी सिर को देखने से उसी सौम्य और शांत और निर्विकार प्रकृति का आभास होता है जिससे कि बुद्ध का मुख आलोकित रहता है।"

ब्रिटिश म्यूज़ियम में एक दूसरी मूर्ति नटराज शिव की है और इसके बारे में एप्स्टीन ने लिखा है: "लोक का सृजन करते हुए और उसका विनाश करते हुए शिव नाच रहे हैं। उनकी विशाल लयमयता युगों की कल्पना सामने ले आती है और उनकी गति में मंत्रोच्चार की-सी निठुर जादू भरी शक्ति है। ब्रिटिश म्यूज़ियम के इस छोटे-से संग्रह में हमें प्रेम की साधना में मृत्यु की अभिव्यक्ति की मर्मांतक मिसाल मिलती है; और मनुष्य के मनोवेगों में जो भाग्य का निर्णय करने वाला अंश है, उसका जैसा निचोड़ यहां मिलता है वैसा किसी दूसरी कृति में नहीं मिलता। इन गहन कृतियों की बराबरी में हमारे यूरोपीय प्रतीक तुच्छ और निरर्थक जान पड़ते हैं; इनमें प्रतीकपने का आडंबर नहीं, यह सार वस्तु पर ज़ोर देती हैं, इनमें विशेष मूर्त्तिमत्ता है।"

जावा के बोरोबुदर का बोधिसत्व का एक सिर है जो कि कोपेनहैगेन के ग्लिप्टोटेक में पहुँच गया है। रूप-रेखा की दृष्टि से तो वह सुंदर है ही, लेकिन जैसा कि हैवेल ने कहा है, इसमें कुछ और गहरी बात है, जोकि बोधिसत्त्व की विशुद्ध आत्मा को इस तरह दिखलाती है जैसे कि दर्पण में कोई देखे। "यह एक ऐसा चेहरा है जिस पर कि समुद्र की गहराइयों की प्रशांति, बिना बादल के

नीले आसमान का नितरापन और मानवी दृष्टि से दूर का परम सौंदर्य साकार हुआ है।"

१७ : हिंदुस्तान का विदेशी व्यापार

ईस्वी सन् के पहले एक हज़ार बरसों में, हिंदुस्तान का व्यापार बराबर खूब फैला हुआ था, और हिंदुस्तानी व्यापारी बहुत-सी विदेशी मंडियों पर अधिकार किए हुए थे। यह व्यापार पूर्वी समुद्र के देशों में तो प्रचुररूप से होता ही था, उधर यह मेडिटेरेनियन के देशों तक फैला हुआ था। मिर्च और मसाले हिंदुस्तान से या हिंदुस्तान होकर पच्छिम को जाते थे; यह बहुधा हिंदुस्तानी या चीनी जहाज़ों में जाते; और यह कहा जाता है कि गाँथ अलैरिक रोम से ३००० पौंड मिर्च ले गया था। रोमन लेखकों ने यह शिकायत की है कि रोम से हिंदुस्तान और पूरब के देशों में, आमोद-प्रमोद की चीज़ों के बदले में बहुत-सा सोना बाहर जाता था।

यह व्यापार अधिकतर, क्या हिंदुस्तान में और क्या दूसरी जगह, उन सामग्रियों के अदल-बदल का होता था जो कि विशेष जगहों में पाई जाती थीं। हिंदुस्तान की धरती उपजाऊ थी और यहां कुछ चीज़ें बहुतायत से होती थीं जोकि दूसरी जगहों में नहीं होती थीं और चूंकि उसके लिए समुद्र का रास्ता सुगम था, इस रास्ते से वह चीज़ें विदेशों में भेजता था। वह व्यापार की चीज़ें पूर्वी समुद्रों से लाकर भी बाहर पहुँचाता था और इस तरह लड़ाई के व्यापार से भी लाभ उठाता था। लेकिन इसके अतिरिक्त भी उसे लाभ थे। बहुत पुराने समय से यह कपड़ा तैयार करता रहा है, उस काल से जब कि बहुत से दूसरे देश इस धंधे को नहीं जानते थे; इसलिए यहां पर कपड़े का धंधा उन्नति कर गया था। हिंदुस्तानी बुना हुआ कपड़ा दूर-दूर देशों में जाया करता था। बहुत आरंभ के ज़माने से यहां रेशमी कपड़ा भी बनता रहा है, यद्यपि शायद वह चीनी रेशम जैसा अच्छा न होता था, जोकि ईसा से पूर्व की चौथी सदी से ही यहां लाया जाता रहा है। हिंदुस्तानी रेशम के व्यवसाय ने यहां बाद में उन्नति की होगी, हालाँकि जान पड़ता है कि यह बहुत विशेष उन्नति न रही होगी। कपड़े रँगने की कला में अवश्य विशेष उन्नति हुई जान पड़ती है; और पक्के रंग तैयार करने के यहां विशिष्ट ढंग थे। इनमें से एक नील का रंग था और इसे 'इंडिगो' कहते हैं। यह ऐसा शब्द है जोकि यूनानियों ने

'इंडिया' से बनाया था। शायद इस रंगाई के धंधे की जानकारी ने हिंदुस्तान के विदेशों से व्यापार को बहुत आगे बढ़ाया।

ईस्वी सन् की आरंभ की सदियों में रसायन-शास्त्र हिंदुस्तान में और और देशों की अपेक्षा शायद अधिक उन्नति कर चुका था। इसके बारे में मेरी जानकारी बहुत नहीं है; लेकिन हिंदुस्तानी रसायन-शास्त्रियों और वैज्ञानिकों के प्रमुख सर पी० सी० राय ने, जिन्होंने कि हिंदुस्तानी वैज्ञानिकों की कई पीढ़ियों को तैयार किया है, एक किताब 'हिस्ट्री अव् हिंदू केमिस्ट्री' लिखी है। उस काल में रसायन-शास्त्र कीमियागरी और धातु-शास्त्र से बहुत संबंध रखता था। एक प्रसिद्ध हिंदुस्तानी रसायन और धातु-शास्त्री नागार्जुन हुआ है, और नामों की समानता की वजह से कुछ लोगों ने सुझाव दिया है कि यही पहली सदी ईस्वी का बड़ा दार्शनिक था। लेकिन इस बात में बहुत संदेह है।

प्राचीन हिंदुस्तानी लोहे को ताव देना जानते थे, और हिंदुस्तानी फ़ौलाद और लोहे की दूसरे मुल्कों में क़द्र होती थी, विशेपकर लड़ाई के कामों में। बहुत-सी और धातुओं की यहां लोगों को जानकारी थी और औषधि के लिए धातुओं के द्रव्य तैयार किए जाते थे। भट्टी से टपकाने और कंकड़-पत्थर फूँककर चूना बनाने का काम लोगों को अच्छी तरह मालूम था। औषवविज्ञान ने क़ाफी उन्नति कर ली थी। मध्ययुग तक प्रयोगों में पर्याप्त उन्नति होती रही, यद्यपि यह प्रयोग अधिकतर पुराने ग्रंथों के आधार पर हुआ करते थे। शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान का अध्ययन होता था।

आकाशविद्या, जोकि सबसे पुराना विज्ञान है, विद्यापीठों के पाठ्यक्रम का एक नियमित अंग थी और प्रायः इसे फलित ज्योतिष से मिला-जुला दिया जाता था। एक बहुत शुद्ध पंचांग तैयार किया जा चुका था और यह अब भी चलता है। आकाशविद्या का ज्ञान, व्यवहार की दृष्टि से उन लोगों के बड़े काम का होता जो समुद्री यात्रा पर निकलते, बल्कि प्राचीन हिंदुस्तानियों को अपने आकाश-ज्ञान पर गर्व रहा है। उन्होंने अरबी आकाश-ज्ञान से परिचय कर लिया था, जोकि अधिकतर सिकंदरिया से लिया गया था।

यह बताना कठिन है कि यंत्रों ने कहां तक उन्नति की थी; लेकिन जहाज़ों का बनाना एक ऐसा व्यवसाय था जो कि खूब चलता था। और भी तरह-तरह के 'यंत्रों' के परिचय मिलते हैं; विशेपकर लड़ाई में काम आने वाले यंत्रों के। कुछ

उत्साही और विश्वासी हिंदुस्तानियों ने इससे तरह-तरह के पेचीदा यंत्रों की कल्पना कर ली है। फिर भी यह मालूम पड़ता है कि औज़ारों के प्रयोग में और रसायन-शास्त्र और धातु-शास्त्र की जानकारी में हिंदुस्तान किसी भी देश की अपेक्षा पिछड़ा हुआ न था। इससे व्यापार के मामले में उसे लाभ पहुँचता, और कई सदियों तक वह कई विदेशी मंडियों को अपने वश में रख सका।

१८ : प्राचीन हिंदुस्तान में गणितशास्त्र

चूंकि प्राचीन हिंदुस्तानी ऊँचे दिमाग़ वाले और सूक्ष्म बातों पर सोच-विचार करने वाले लोग थे, इसलिए हमें आशा ही करनी चाहिए कि वह गणितशास्त्र में बढ़े-चढ़े रहे होंगे। यूरोप ने आरंभ में अंक-गणित और बीज-गणित अरबों से सीखा—इसी से उन्होंने संख्याओं को 'अरबी संख्याओं' का नाम दिया—लेकिन अरबों ने स्वयं उन्हें पहले हिंदुस्तान से सीखा था। हिंदुस्तानियों ने गणित में जो जो अचरजभरी उन्नत की थी उसे अब लोग अच्छी तरह से जानते हैं और यह माना जाता है कि अंक-गणित और बीज-गणित की नींव बहुत पहले ही हिंदुस्तान में पड़ी थी। एक गिनती के चौखटे की मदद से गिनने के भद्दे ढंग और रोमन और इसी तरह की संख्याओं के इस्तैमाल ने बहुत दिनों तक उन्नति को रोक रक्खा था, जब कि शून्यांक मिलाकर दस हिंदुस्तानी अंकों ने, मानव के मस्तिष्क को इन बंधनों से मुक्त कर दिया, और अंकों के स्वभाव पर बहुत प्रकाश डाला। यह अंकों के चिह्न और देशों में प्रयोगों में आने वाले चिह्नों से बिल्कुल भिन्न थे। आज वह इतने प्रचलित हैं कि हम उन्हें माने बैठे हैं, लेकिन उनमें क्रांतिकारी उन्नति के बीज थे। हिंदुस्तान से बग़दाद होते हुए पच्छिमी दुनिया में पहुँचने में इन्हें सदियां लग गई।

डेढ़ सौ साल हुए, नैपोलियन के समय में, लाप्लास ने लिखा था : "यह हिंदुस्तान है जिसने हमें सभी संख्याओं को दस चिह्नों के द्वारा प्रकट करने का युक्तिपूर्ण ढंग बताया, जिससे कि हर एक चिह्न का एक अपना मूल्य है और एक उसके स्थान की वजह से मिला हुआ मूल्य है। यह एक गहरा और महत्वपूर्ण विचार है जोकि अब हमें इतना सीधा-सादा जान पड़ता है कि हम उसकी विशेषताओं को भूल जाते हैं। लेकिन इसकी सादगी ही से जो सरलता हमारी गणनाओं में हो गई है उसने अंकगणित को उपयोगी आविष्कारों की पहली कोटि में ला दिया है; और

हम इस कारनामे के महत्व को तव समझेंगे जव कि हम यह याद रखेंगे कि प्राचीन काल के दो सव से वड़े व्यक्तियों अर्थात् आर्कमीदिस और अपोलोनियस की प्रतिभा से भी यह विचार वच निकला था।"

हिंदुस्तान में ज्यामिति, अंकगणित और वीज-गणित का आरंभ हमें वहुत प्राचीन काल तक पहुँचा देता है। शायद आरंभ में वैदिक वेदियों पर चित्रों के वनाने में एक तरह के ज्यामितीय वीज-गणित का प्रयोग किया जाता था। सवसे प्राचीन पुस्तकों में, एक वर्गाकार को आयत में जिसका एक पक्ष (अ क्ष = स) दिया गया हो वदलने की रीति वताई गई है। हिंदू संस्कारों में ज्यामिति-चित्र अव भी आम-तौर से उपयोग में आते हैं। ज्यामिति ने हिंदुस्तान में उन्नति ज़रूर की लेकिन इस विषय में यूनान और सिकंदरिया आगे वढ़ गए। अंकगणित और वीज-गणित में ही हिंदुस्तान आगे वना रहा। स्थान-मूल्य की दशमलव विधि और शून्यांक के आविष्कार या आविष्कारकों का पता नहीं। शून्यांक के सवसे पहले प्रयोग का जो अव तक पता लगा है वह लगभग २०० ई० पू० के एक शास्त्रीय ग्रंथ में है। यह संभव विचार किया जाता है कि स्थान-मूल्य का ढंग ईसाई सन् के आरंभ के लगभग आविष्कार किया गया। शून्य जिसके अर्थ कुछ नहीं के हैं आरंभ में एक विंदी के रूप में था। वाद में यह एक छोटे वृत्त के रूप में वदल गया। यह और अंकों की तरह एक अंक समझा जाता था। प्रो० हाल्स्टेड ने इसके गहरे महत्व के वारे में इस तरह लिखा है : "शून्य के चिह्न की रचना के महत्व को चाहे जितना वढ़ा के कहा जाय, अत्युक्ति न होगी। एक ऐसी चीज़ को जो हवाई और कुछ न हो एक स्थिति और नाम दे देना, एक चित्र और प्रतीक में वदल देना, जिसमें कि मदद करने की शक्ति आ जाय, हिंदू जाति की ही विशेषता है जहां कि इसका जन्म हुआ।"

इस ऐतिहासिक घटना को लेकर इस समय के एक और गणितज्ञ ने वड़ी ज़ोर-दार प्रशंसा की है। डानज़िग अपनी पुस्तक 'नंवर' में लिखता है : "पाँच हज़ार साल के इस लंवे ज़माने में न जाने कितनी सभ्यताएं उठीं और गिरीं और इनमें से हर एक अपने साहित्यकला, दर्शन और धर्म की विरासत छोड़ गई। लेकिन गिनती के क्षेत्र में, जोकि मनुष्य की पहली कला रही है, सव कुछ मिलाकर उनके क्या कारनामे रहे ? गिनती का ढंग इतना भोंडा और ग़ैर-लचीला था कि उन्नति को असभंव वना देने वाला; जोड़ने के ढंग इतने सीमित कि मामूली हिसाव के लिए

भी विशेषज्ञ की मदद लेनी पड़े। आदमी इन तरीक़ों को हज़ारों साल तक प्रयोग में लाता रहा लेकिन इनमें कोई मार्के का सुधार न कर सका, इसमें एक भी मतलब का विचार न जोड़ सका...यह सही है कि अँधेरे युगों में विचार बहुत धीरे-धीरे उन्नति करते थे, फिर भी उसके मुक़ाबले में गिनती के इतिहास को देखा जाय तो विशेषकर गतिहीन और अटका हुआ जान पड़ता है। इस दृष्टि से देखने से उस अनजाने हिंदू का कारनामा, जिसने कि हमारे सन् की पहली सदियों में किसी समय स्थान-मूल्य के सिद्धांत का आविष्कार किया, एक लोकव्यापी महत्व का कारनामा हो जाता है।"

डानज़िग को आश्चर्य इस बात का है कि यूनान के बड़े गणितज्ञों में से किसी ने इसका आविष्कार क्यों न किया। क्या यह बात है कि यूनानी प्रयोगात्मक विज्ञान को हेठा समझते थे, और अपने बच्चों की शिक्षा तक को गुलामी के सुपुर्द कर देते थे? अगर ऐसा है, तो यह कैसे हुआ कि जिस राष्ट्र ने हमें ज्यामिति दी और उसे इतना आगे बढ़ाया, वह बीज-गणित के मोटे सिद्धांत भी हमें न दे सका?

शून्यांक और स्थान-मूल्य वाली दशमलव विधि स्वीकार कर लेने से हिंदुस्तान में अंक-गणित और बीज-गणित की उन्नति के द्वार तेजी से खुल गए। बटे चालू हुए और बटों वाले गुणा-भाग; त्रैराशिक निकला और उसे पूर्ण बनाया गया; वर्ग और वर्गमूल; उसके साथ-साथ वर्गमूल का चिह्न निकला; धन और धन-मूल; ऋण-चिह्न; ज्या की तालिकाएं उपयोग में आईं; π का मूल्य ३·१४१६ ठहराया गया; अनजानी राशियों के लिए बीज-गणित में वर्णमाला के अक्षरों का उपयोग हुआ; सामान्य और वर्ग समीकरण का विचार उठा; शून्यांक के गणित की छान-बीन हुई। शून्यांक की परिभाषा इस तरह दी गई हैं: अ–अ = ०; अ + ० = अ; अ–० = अ; अ × ० = ०; अ ÷ ० = अनगिनित संख्या। ऋण. राशियों की कल्पना भी की गई है। इस तरह $\sqrt{४} = \pm २$।

गणित की यह और दूसरी प्रगतियां पाँचवीं से बारहवीं सदी के बीच होने वाले प्रसिद्ध अनेक गणितज्ञों की पुस्तकों में दी गई हैं। इससे पहले के भी ग्रंथ हैं। (ईसा से पूर्व की आठवीं सदी के लगभग का 'बौद्धायन'; ईसा से पूर्व की पाँचवीं सदी के 'आपस्तंब और कात्यायन' जिनमें ज्यामिति के प्रश्नों, विशेषकर त्रिभुज, आयत और वर्ग के प्रश्नों को बताया गया है। लेकिन बीज-गणित पर जो सबसे पुरानी पुस्तक मिलती है वह ज्योतिषी आर्यभट्ट की है, जिसका जन्म ४७६ ई०

में हुआ था। ज्योतिष और गणित पर उसने अपनी किताब जब लिखी तब उसकी आयु केवल २३ साल की थी। आर्यभट्ट ने, जिसे कि कभी-कभी बीज-गणित का आविष्कारक बताया जाता है, अपने से पहले के लेखकों से कम-से-कम कुछ अंशों में सहायता ली होगी। हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र में दूसरा बड़ा नाम जो आता है वह भास्कर प्रथम का है (५२२ ई०) और उसके बाद ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) हुआ, और वह भी एक ज्योतिषी था। शून्यांक के नियमों का वर्णन किया और इस विद्या में और भी उन्नति की। इसके बाद लगातार कई गणितज्ञ हुए हैं जिन्होंने कि अंक-गणित और बीज-गणित पर पुस्तकें लिखी हैं। अंतिम बड़ा नाम भास्कर द्वितीय का है, जिसका जन्म १११४ ई० में हुआ था। उसने ज्योतिष, बीज-गणित और अंक-गणित, इन पर तीन पुस्तकें लिखी हैं। उसकी गणित की पुस्तक का नाम 'लीलावती' है, जोकि गणित की पुस्तक के लिए कुछ अनूठा नाम है, क्योंकि यह एक औरत का नाम है। इस पुस्तक में एक लड़की के बार-बार हवाले आते हैं, जिसे कि 'हे लीलावती' करके पुकारा गया है, उसके बाद किसी दिए गए प्रश्न को समझाया गया है। यह समझा जाता है (यद्यपि इसका प्रमाण नहीं है) कि लीलावती भास्कर की बेटी थी। पुस्तक की शैली स्पष्ट और सरल है और ऐसी है कि उसे छोटी उम्र के लोग समझ सकें। यह पुस्तक संस्कृत स्कूलों में, कुछ हद तक अपनी शैली के कारण, अब भी उपयोग में आती है।

गणित-शास्त्र पर पुस्तकें ('नारायण,' ११५०, 'गणेश', १५४५) बनती रहीं, ऐसा जान पड़ता है, लेकिन जो काम हो चुका था उन्हें इनमें केवल दुहराया गया है। हिंदुस्तान में, गणित-शास्त्र में, बारहवीं सदी के बाद जब तक कि हम वर्तमान काल तक नहीं आ जाते हैं, मौलिक काम बहुत थोड़ा हुआ है।

आठवीं सदी में, खलीफा अलमंसूर के राज्य-काल में (७५३-७७४), कई हिंदुस्तानी विद्वान् बग़दाद गए, और जिन पुस्तकों को वह अपने साथ ले गए थे, उनमें ज्योतिष और गणित की भी पुस्तकें थीं। शायद इसके पहले भी, हिंदुस्तानी गिनती के अंक बग़दाद पहुँच चुके थे, लेकिन यह पहला नियमित संपर्क था और आर्यभट्ट की और दूसरी पुस्तकों के अरबी तर्जुमे हुए। इन्होंने अरबी दुनिया में गणित और ज्योतिष की उन्नति पर असर डाला और वहां हिंदुस्तानी अंक प्रचलित हुए। बग़दाद उस ज़माने में विद्या का एक बड़ा केंद्र था, और यूनानी और यहूदी आलिम वहां जमा हुए थे, और इन लोगों के साथ-साथ यूनानी दर्शन, ज्यामिति और

विज्ञान वहां पहुँचे थे। बग़दाद का सांस्कृतिक असर मध्य-एशिया से लेकर स्पेन तक सारी इस्लामी दुनिया में पहुँचा था और इस समस्त प्रदेश में अरबी तर्जुमों के ज़रिए हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र का ज्ञान फैल गया था। अरब् इन अंकों को 'हिंदसा' कहते थे और अंकों के लिए अरबी शब्द 'हिंदसा' ही है, जिसके माने हैं 'हिंद से आया हुआ।'

अरबी दुनिया से यह नई गणित, शायद स्पेन के मूरों के विद्यालयों द्वारा यूरोपीय देशों में पहुँची और यूरोपीय गणित-शास्त्र की इससे बुनियाद पड़ी। यूरोप में इन नए 'हिंदसों' का विरोध हुआ। वह काफ़िरों के निशान समझे जाते थे, और उनके आमतौर पर प्रयोग में आने में कई सौ साल लग गए। सबसे पहला प्रयोग जो हुआ वह सिसली के एक सिक्के में ११३४ में हुआ; इंग्लिस्तान में इसका पहला प्रयोग १४९० में हुआ।

यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि हिंदुस्तानी गणित की जानकारी, और विशेषकर अंकों के स्थान-मूल्य की पद्धति की जानकारी, पच्छिमी एशिया में बग़दाद में हिंदुस्तानी विद्वानों के जाने से पहले पहुँच चुकी थी। सीरिया के एक विद्वान् भिक्खु ने जिसका कि सीरियनों को घृणा से देखने वाले कुछ यूनानी विद्वानों के गर्व से दिल बहुत दुखा था, उनकी एक शिकायत में कुछ दिलचस्प वाक्य लिखे हैं। उसका नाम सेवेरस सेबोख्त था और वह दजला नदी के किनारे के एक धर्माश्रम में रहा करता था। उसने ६६२ ई० में लिखा है और यह जताने की कोशिश की है कि सीरिया के लोग यूनानियों से किसी तरह घटकर नहीं हैं। मिसाल के तौर पर वह हिंदुस्तानियों का हवाला देता है: "मैं हिंदुओं के विज्ञान का बयान बिल्कुल न करूँगा, वह सीरिया वाले जैसे लोग नहीं हैं, ज्योतिष-विज्ञान की उनकी सूक्ष्म खोजों को, जोकि यूनानियों और बैबिलोनिया वालों की खोजों से कहीं बढ़कर हैं, न बताऊँगा। उनकी गणना की रीति का तो बयान ही नहीं हो सकता। मैं केवल यह बताना चाहूँगा कि यह गणना नौ चिह्नों के सहारे की जाती है। अगर यूनानी भाषा बोलने ही की वजह से कोई समझता हो कि वह सारा विज्ञान जान गया है, तो उसे यह बातें भी जाननी चाहिए। तब उन्हें पता चलेगा कि दूसरे लोग भी हैं जो कुछ जानते हैं।"

हिंदुस्तान के गणित की चर्चा करते हुए हाल के ज़माने के एक असाधारण व्यक्ति की बरबस याद आती है। यह श्रीनिवास रामानुजम् था। दक्खिन हिंदुस्तान के एक ग़रीब ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर और उचित शिक्षा न पाकर, वह मदरास

पोर्ट ट्रस्ट में एक क्लर्क हो गया। लेकिन उसमें सहज प्रतिभा का एक न दव सकने-वाला गुण था, और वह अपने अवकाश के घंटों में अंकों और उनके समीकरण से अपना जी वहलाया करता था। सौभाग्य से एक गणितज्ञ का ध्यान इस पर गया और उसने इसका कुछ काम इंग्लिस्तान में केंब्रिज भेज दिया। वहां के लोगों पर इसका असर पड़ा और उसके लिए एक वज़ीफ़े का इंतज़ाम कर दिया गया। इस तरह उसने अपनी क्लर्की छोड़ी और वह केंब्रिज चला गया। थोड़े ही समय में उसने वहां कुछ वड़ा महत्वपूर्ण और मौलिक काम प्रस्तुत किया। इंग्लिस्तान की रायल सोसाइटी ने अपने नियमों को तोड़कर उसे अपना एक 'फ़ेलो' चुन लिया, लेकिन वह दो साल वाद ३३ साल की उम्र में शायद तपेदिक़ से मर गया। मेरा खयाल है कि जूलियन हक्सले ने उसके वारे में कहीं कहा है कि वह इस सदी का सवसे वड़ा गणितज्ञ था।

१९ : विकास और ह्रास

ईस्वी सन् के पहले हज़ार वरसों में हिंदुस्तान ने वहुत चढ़ाव और उतार देखे हैं; आक्रमणकारियों से लड़ाइयां हुईं और अंदरूनी कठिनाइयां सामने आई हैं। फिर भी एक ज़ोरदार उफ़ान लेता हुआ और चारों तरफ़ फैलता हुआ राष्ट्रीय जीवन इस काल में रहा है। संस्कृति उन्नति करती है, एक भरी-पूरी सभ्यता, दर्शन, साहित्य, नाटक, कला, विज्ञान और गणित-शास्त्र के फूल खिलाती है। हिंदुस्तान की आर्थिक व्यवस्था फैलती है, हिंदुस्तान का क्षितिज विस्तृत होता है और दूसरे देश इसके प्रभाव में आते हैं। ईरान, चीन, यूनानी दुनिया, मध्य-एशिया से संवंध वढ़ते हैं और इन सवसे ऊपर यह होता है कि पूर्वी समुद्र के देशों की तरफ़ वढ़ने की गहरी उमंग पैदा होती है, जिसका नतीजा यह होता है कि हिंदुस्तानी उपनिवेश स्थापित होते हैं और हिंदुस्तानी संस्कृति हिंदुस्तान की सरहदों से वहुत आगे तक पहुँचती है। इन हज़ार वरसों के वीच के ज़माने में, चौथी सदी के आरंभ से छठी सदी तक, गुप्त-साम्राज्य का वोल-वाला रहता है और इस दूर-दूर तक फैली हुई वौद्धिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का यह प्रतीक और संरक्षक वनता है। यह हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाता है और इस ज़माने के ग्रंथों में, जोकि संस्कृत साहित्य की निधि हैं, एक प्रशांत गंभीरता है, आत्म-विश्वास है, और उस काल के लोगों में इस वात का गर्व है कि वह इस सभ्यता के प्रखर मध्याह्न-काल में जीवित

हैं, और इसके साथ-साथ अपनी ऊँची मानसिक और कलात्मक शक्तियों को अधिक-से-अधिक उपयोग में लाने की उनमें उमंग है।

लेकिन इससे पूर्व कि वह सुनहला काल समाप्त हो, कमज़ोरी और ह्रास के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। पच्छिमोत्तर से सफ़ेद हूणों के दल-के-दल आते हैं और बार-बार मार भगाए जाते हैं। लेकिन उनका आना जारी रहता है और क्रमशः वह उत्तरी हिंदुस्तान में रास्ता कर लेते हैं। आधी सदी तक वह उत्तरी हिंदुस्तान में शासन भी करते हैं, लेकिन इसके बाद अंतिम गुप्त सम्राट्, मध्य-हिंदुस्तान के एक शासक, यशोवर्मन, के साथ मिलकर बड़ी कोशिश से उन्हें देश से निकाल बाहर करता है। इस लंबे संघर्ष के कारण हिंदुस्तान राजनीतिक दृष्टि से तथा लड़ाई की शक्ति की दृष्टि से भी कमज़ोर पड़ गया, और हूणों के बहुत संख्या में सारे उत्तरी हिंदुस्तान में बस जाने ने क्रमशः लोगों में एक भीतरी परिवर्तन भी पैदा कर दिया। जिस तरह कि और विदेशों से आने वाले यहां समाविष्ट हो चुके थे उसी तरह यह भी कर लिए गए, लेकिन इनकी छाप बनी रही और भारतीय-आर्यजातियों के प्राचीन आदर्श दुर्बल पड़ गए। हूणों के जो पुराने वर्णन मिलते हैं, वह उनकी हद दर्जे की कठोरता और बर्बरता के व्यवहारों से भरे हुए हैं; और इस तरह के व्यवहार युद्ध और शासन के हिंदुस्तानी आदर्शों से बिलकुल विपरीत हैं।

सातवीं सदी में, हर्ष के समय में, राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों ही तरह की पुनर्जागृति होती है। उज्जयिनी (आजकल का उज्जैन) जोकि गुप्तों की विशाल राजधानी थी, फिर कला और संस्कृति और एक बलशाली राज्य का केंद्र बनती है। लेकिन इसके बाद की सदियों में, यह भी कमज़ोर पड़ जाती है और इसका वैभव समाप्त हो जाता है। नवीं सदी में, गुजरात का मिहिरभोज छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान में एक केंद्रीय राज्य स्थापित करता है और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाता है। फिर एक साहित्यिक पुनर्जागृति होती है और इसका मुख्य पुरुष राजशेखर होता है। इसके बाद फिर ग्यारहवीं सदी के आरंभ में एक दूसरा भोज, जोकि बड़ा पराक्रमी और आकर्षक व्यक्ति है, सामने आता है, और उज्जयिनी फिर एक बड़ी राजधानी बनती है। यह भोज एक बड़ा अद्भुत मनुष्य था और इसने कई क्षेत्रों में प्रतिष्ठा हासिल की थी। यह वैयाकरण था, कोषकार था, और इसकी दिलचस्पी भैषज और ज्योतिष में भी थी। यह बड़ी इमारतों का निर्माण करने वाला था, कला और साहित्य का

संरक्षक भी था। यह स्वयं कवि और लेखक था और कई रचनाएं इसके नाम के साथ जुड़ी हुई हैं। उसका नाम लोक-कथाओं और कहानियों का—वड़प्पन, ज्ञान और उदारता के प्रतीक के रूप में—अंग वन गया है।

लेकिन इन चमकदार उदाहरणों के वावजूद हम देखते हैं कि हिंदुस्तान में एक भीतरी कमज़ोरी पैठ गई है, जो न केवल उसकी राजनीतिक प्रतिष्ठा वल्कि रचनात्मक प्रवृत्तियों को मंद कर देती है। इसके लिए कोई तिथि नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह प्रक्रिया धीमी गति से चलने वाली थी और इसने पहले उत्तरी हिंदुस्तान और वाद में दक्खिन में असर डाला। सच तो यह है कि इस समय दक्खिन हिंदुस्तान राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों हैसियतों से अधिक महत्व का वन गया। शायद इसका यह कारण रहा हो कि दक्खिन हिंदुस्तान आक्रमणकारियों के साथ वरावर लड़ाई में लगे रहने की मुसीवत और परेशानी से वचा रहा; शायद उत्तरी हिंदुस्तान की अव्यवस्था की दशा से वचने के लिए वहुत से लेखक और कलाकार और वड़े-वड़े वास्तुविशारद भागकर दक्खिन में जा वसे। दक्खिन के शक्तिशाली राज्यों ने, और उनके शानदार दरवारों ने लोगों को आकर्षित किया होगा, और उन्हें रचनात्मक कार्य के लिए वह अवसर दिया होगा जो उन्हें दूसरी जगह नहीं मिलता था।

लेकिन यद्यपि उत्तरी हिंदुस्तान सारे हिंदुस्तान पर प्रभावशाली नहीं था, जैसा कि वह वहुधा पहले रह चुका था, वल्कि छोटे-छोटे राज्यों में वँटा हुआ था, फिर भी यहां का जीवन भरा-पूरा था, और संस्कृति और दर्शन के वहुत से केंद्र अव भी यहां वर्तमान थे। सदा की तरह इस समय भी वनारस धार्मिक और दार्शनिक विचारों का गढ़ था, और प्रत्येक व्यक्ति, जोकि किसी नए सिद्धांत की या किसी पुराने सिद्धांत की नई व्याख्या को लेकर सामने आता, उसे अपने विचारों को मान्य कराने के लिए यहां आना पड़ता था। वहुत काल तक कश्मीर भी वौद्धों और ब्राह्मणों की संस्कृति और ज्ञान का वड़ा केंद्र रहा है। वड़े-वड़े विद्यापीठ रहे हैं, जिनमें कि नालंदा सवसे प्रसिद्ध था, और यहां के विद्वानों का सारे हिंदुस्तान में आदर था। नालंदा में शिक्षा पानेवाले पर संस्कृति की एक छाप-सी लग जाती थी। इस विद्यापीठ में भरती होना सहज न था, क्योंकि इसमें वही लोग भरती हो सकते थे जिन्होंने एक विशेष योग्यता प्राप्त कर ली हो। इसने स्नातकों को शिक्षा देने में विशेषता प्राप्त की थी, और यहां चीन, जापान और तिव्वत तक

से विद्यार्थी आते थे, बल्कि कहा जाता है कि कोरिया, मंगोलिया, और बुख़ारा से भी। धार्मिक और दार्शनिक विषयों के अलावा, जोकि बौद्धमत और ब्राह्मणमत दोनों ही के अनुसार पढ़ाए जाते थे, दुनिया की और व्यावहारिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। कला और स्थापत्य की शिक्षा के विभाग थे; वैद्यक का एक विद्यालय था; कृषि का विभाग था; गोधन और पशुओं का विभाग था। और यहां के बौद्धिक जीवन के बारे में कहा जाता है कि बराबर ज़ोरदार वाद-विवाद होते थे और मीमांसा चलती रहती थी। हिंदुस्तानी संस्कृति का विदेशों में प्रचार अधिकतर नालंदा के विद्वानों का काम रहा है।

इसके अतिरिक्त विक्रमशिला का विद्यापीठ था, जो कि बिहार में ही, आजकल के भागलपुर के पास था, और काठियावाड़ में वल्लभी था। गुप्तों के ज़माने में उज्जयिनी के विद्यापीठ की प्रतिष्ठा हुई। दक्खिन में अमरावती का विद्यापीठ था।

फिर भी, ज्यों यह हज़ार वर्ष समाप्त होने पर आते हैं, यह सब कुछ संस्कृति की तिपहरी जैसा लगता है। सवेरे की आभा बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी, और दुपहरी भी बीत गई थी। दक्खिन में अब भी कुछ दम और ज़ोर शेष था, और यह कुछ सदियों तक और चलता रहा; देश से बाहर हिंदुस्तान के उपनिवेशों में उत्साही और भरा-पूरा जीवन पाँच सौ वर्षों तक और बना रहा। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि हृदय मंद हो रहा था, उसकी धड़कनें धीमी पड़ रही थीं और धीरे-धीरे उसकी शिथिलता और अंगों में भी फैल रही थी। आठवीं सदी में होनेवाले शंकर के बाद दर्शन के मैदान में, कोई बड़ा आदमी नहीं हुआ, यद्यपि टीकाकारों और व्याख्या करनेवालों का एक लंबा सिलसिला मिलता है। शंकर भी दक्खिन हिंदुस्तान के थे। बौद्धिक साहस और जिज्ञासा का स्थान कठोर तर्क और अनुर्वर वाद-विवाद ले लेते हैं। ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म दोनों का ह्रास दिखाई देता है, और पूजा के गिरे हुए रूप सामने आते हैं, विशेषकर तांत्रिक पूजा और योग के कुछ विकृत रूप।

साहित्य में भवभूति (आठवीं सदी) अंतिम बड़ा व्यक्ति है। बहुत-सी पुस्तकें इसके बाद भी लिखी जाती रहीं, लेकिन शैली जटिल और बनावटी होती गई; न तो विचारों में और न उनके प्रकट करने के ढंग में ताज़गी रह गई। गणित में, भास्कर द्वितीय (बारहवीं सदी) अंतिम बड़ा नाम है। कला में, ई० बी० हैवेल

हमें इस ज़माने के बाद तक ले आते हैं। उनका कहना है कि कलात्मक उद्‌गार के रूप सातवीं-आठवीं सदी तक पक्के नहीं हो पाए थे, जब कि हिंदुस्तान की उच्च कोटि की मूर्ति-कला और चित्र-कला के अधिक नमूने तैयार हुए। उनके कहने के अनुसार सातवीं-आठवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक हिंदुस्तानी कला का सबसे ऊँचा काल रहा है, उसी तरह जिस तरह कि यूरोप में गाथिक कला के सबसे ऊँचे विकास का यह ज़माना रहा है। उनका कहना है कि सोलहवीं सदी में जाकर पुराने हिंदुस्तान की रचनात्मक प्रवृत्ति क्षीण होने लगी। यह विचार कहां तक सही है, मैं नहीं जानता; लेकिन मेरा ख़याल है कि कला के मैदान में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ही, उत्तरी हिंदुस्तान की अपेक्षा पुरानी परंपरा अधिक काल तक बनी रही।

उपनिवेशों को बसाने वाला अंतिम बड़ा गिरोह दक्खिन हिंदुस्तान से नवीं सदी में गया था, लेकिन चोल-वंशियों की समुद्री शक्ति ग्यारहवीं सदी तक बनी रही जब कि उन्हें श्रीविजय ने हराया और परास्त किया।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदुस्तान शुष्क हो रहा था और अपनी रचनात्मक शक्ति और प्रतिभा खो रहा था।

ब्यौरे के साथ यह बता सकना मुश्किल है कि हिंदुस्तान में ईस्वी सन् के पहले हज़ार साल के आखिर में, समाज की क्या हालत थी। लेकिन कमो-बेश विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान का फैलता हुआ अर्थ-तंत्र समाप्त हो चुका था और सिकुड़ने की तरफ़ उसका प्रबल रुझान हो चला था। शायद यह हिंदुस्तानी समाजी संगठन के बढ़ते हुए कट्टरपन और अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति का परिणाम था और इसके तह में यहां की वर्ण-व्यवस्था थी। जहां-जहां हिंदुस्तानी विदेशों में पहुँचे थे, जैसे दक्खिन-पूर्वी एशिया में, वहां-वहां उनके मस्तिष्क में, रीति-रिवाजों में और अर्थ-तंत्र में वह कड़ापन नहीं आया था और विकास और फैलाव के उनके सामने अवसर थे। इससे चार-पाँच सदी बाद तक वह इन नौ-आबादियों में पनपे और उन्होंने स्फूर्ति और रचनात्मक शक्ति दिखाई। लेकिन स्वयं हिंदुस्तान में अलग-थलग रहने की भावना ने उनकी रचनात्मक शक्ति को खोखला कर दिया और उनमें तंग-ख़याली, गुट्टबंदी और संकुचित दृष्टिकोण पैदा हो गया। जीवन इस तरह टुकड़े-टुकड़े में बँट और बँध गया कि हर एक व्यक्ति का धंधा निश्चित हो गया और सदा-सदा के लिए बन गया। और उसका संबंध दूसरों से बहुत कम रह गया। क्षत्रियों

का काम देश की रक्षा में लड़ाई करना रह गया और इस काम में दूसरों की या तो दिलचस्पी न रह गई थी या उन्हें इसके लिए आज्ञा न थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय वनिज-व्यापार करने वालों को नीची नज़र से देखने लगे। नीची ज़ात वालों को शिक्षा और उन्नति के अवसरों से वंचित रक्खा गया, और उन्हें अपने से ऊँची ज़ात वालों के अधीन रहना सिखलाया गया। बावजूद इसके कि शहरी अर्थ-व्यवस्था और उद्योगों ने ख़ासी उन्नति कर ली थी, राज्य का संगठन बहुत कुछ सामंतवादी था। शायद युद्ध-कला में भी हिंदुस्तान पिछड़ गया था। इन हालतों में, जबतक कि सारे ढाँचे को न पलट दिया जाय और शक्ति और योग्यता के नए सोते न खोल दिए जावें, उन्नति असंभव थी। ज़ात-पाँत के बंधनों से इसमें रुकावट पड़ती थी। इसने हिंदुस्तानी समाज में चाहे जो पायदारी या विशेषताएं पैदा की हों, स्वयं इसके अंदर इसके विनाश के बीज मौजूद थे।

: ४ :

नई समस्याएँ

१ : अरव वाले और मंगोल

जिस समय कि हर्ष उत्तरी हिंदुस्तान के एक वलशाली राज्य पर शासन कर रहा था, और चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग नालंदा विद्यापीठ में पढ़ रहा था, उस समय इस्लाम अरव में अपना रूप धारण कर रहा था। इस्लाम ने हिंदुस्तान में एक धार्मिक और राजनीतिक शक्ति के रूप में आकर वहुत से नए मसले खड़े किए, लेकिन यह वात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तानी परिस्थिति में अंतर ले आने में उसे वहुत समय लग गया। हिंदुस्तान पहुँचने में उसे लगभग छः सदियां लग गईं; और जव वह यहां पहुँचा उस वक़्त यह स्वयं वहुत-कुछ वदल चुका था। अरववाले, जोकि अपने उत्साह की वाढ़ में, एक प्रवल शक्ति के साथ फैलकर, स्पेन से लेकर मंगोलिया की सरहदों तक विजयी के रूप में पहुँच गये थे और जिन्होंने इन प्रदेशों में अपनी शानदार संस्कृति पहुँचाई थी, ख़ास हिंदुस्तान में न आए। वह पच्छिमोत्तरी किनारे तक पहुँचे और वहीं तक रह गए। अरवी सभ्यता का क्रमशः ह्रास हुआ और मध्य-पच्छिमी एशिया की तुर्की जातियां आगे आईं। यही तुर्क लोग थे और हिंदुस्तानी सरहद के अफ़ग़ानी थे, जोकि इस्लाम को हिंदुस्तान में एक राजनीतिक शक्ति की हैसियत से लाए।

कुछ तारीख़ों के सहारे यह घटनाएं हमें ठीक-ठीक समझ में आ जायँगी। इस्लाम का आरंभ ६२२ ई० में पैग़ंवर मुहम्मद की मक्का से मदीना को हिजरत के समय से कहा जा सकता है। मुहम्मद की मृत्यु १० साल वाद हुई। कुछ समय तो अरव में परिस्थिति को मज़वूत करने में लगा, और इसके वाद उन अद्भुत घटनाओं का सिलसिला शुरू हुआ जिन्होंने कि इस्लाम का झंडा उठानेवाले अरवों को पूरव में मध्य-एशिया तक और पच्छिम में सारे उत्तरी अफ़्रीका के महाद्वीपों को पार करते हुए स्पेन और फ़्रांस तक पहुँचाया। सातवीं सदी में और आठवीं के आरंभ तक वह इराक़, ईरान और मध्य-एशिया तक फैल चुके थे। ७१२ ई० में वह पच्छिमोत्तर

हिंदुस्तान में सिंध तक पहुँचे और वहीं ठहर गए। इस इलाक़े और हिंदुस्तान के अधिक उपजाऊ भागों के बीच एक बड़ा रेगिस्तान पड़ता था। पच्छिम में, अरबवालों ने अफ़्रीका और यूरोप के बीच के तंग समुद्री रास्ते को (जो अब जिब्राल्टर के जलडमरू के नाम से प्रसिद्ध है) पार किया और ७११ ई० में वह स्पेन में प्रविष्ट हुए। उन्होंने सारे स्पेन पर अधिकार कर लिया और पिरेनीज़ पहाड़ों को पार करके फ़्रांस पहुँचे। ७३२ में तूर्स (फ़्रांस) में उन्हें चार्ल्स मार्तेल ने हराया और उनकी बाढ़ रोकी।

यह एक ऐसी क़ौम की विजय-यात्रा थी, जिसका घर अरब के रेगिस्तानों में था और जिसने अबतक इतिहास में कोई बड़ा काम नहीं किया था, और इस हैसियत से यह बहुत मार्के की थी। उन्होंने अपनी बड़ी शक्ति अपने पैग़ंबर के ज़ोरदार और क्रांतिकारी व्यक्तित्व से और उनके इंसानी भाईचारे के संदेसे से प्राप्त की होगी। फिर भी यह ख़याल ठीक न होगा कि अरब सभ्यता का इस्लाम से पहले कोई अस्तित्व न था और वह आप-ही-आप यकायक उठ खड़ी हुई। इस्लामी आलिमों की प्रवृत्ति रही है कि अरब वालों के, इस्लाम से पूर्व के ज़माने को, जाहिलियत का ज़माना कहकर, ऐसा ज़माना बताकर जब कि लोगों में अज्ञान और अंधविश्वास फैला हुआ था, उसे गिराने की कोशिश करते हैं। और तहज़ीबों की तरह अरबी तहज़ीब का भी एक लंबा अतीतकाल रहा है, और इसका सामी क़ौमों, यानी फ़िनीशियन, क्रेटन, चैल्डियन, और इब्रानियों से गहरा संबंध रहा है। इसराईल वाले अधिक अलग-थलग रहने वाले हुए और रवादारी-पसंद चैल्डियनों से और औरों से उन्होंने अपना नाता तोड़ लिया। फिर भी सारे सामी इलाक़ों के आपस के संपर्क बने हुए थे, और कुछ हद तक उनकी एक आम पृष्ठभूमि थी। इस्लाम से पहले की अरब तहज़ीब ख़ास तौर पर यमन में पनपी। पैग़ंबर के समय में अरबी भाषा एक बड़ी उन्नत भाषा थी, और उसमें फ़ारसी, यहाँ तक कि हिंदुस्तानी शब्द मिल-जुल गए थे। फ़िनीशियनों की तरह अरबवाले भी समुद्र के द्वारा दूर-दराज़ का सफ़र, तिजारत करने के लिए, किया करते थे। दक्खिनी चीन में कैंटन के पास, इस्लाम से पूर्व के ज़माने में अरबवालों की नौ-आबादी थी।

फिर भी यह सही है कि इस्लाम के पैग़ंबर ने अपने क़ौमियों में एक नई जान फूंकी और उनमें विश्वास और उत्साह पैदा किया। अपने को एक नए दीन का अलमबरदार समझकर, उन्होंने अपने दिलों में ऐसी उमंगों और ऐसे आत्म-विश्वास

का अनुभव किया, जैसा कि अक्सर पूरी क़ौम पर छा जाता है और इतिहास को उलट-पलट देता है। उनकी कामयावी की निश्चित रूप से यह भी वजह रही है कि पच्छिमी और मध्य-एशिया और उत्तरी अफ़्रीक़ा के राज्य पस्ती की हालत में थे। उत्तरी अफ़्रीक़ा में विरोधी ईसाई फ़िरक़े आपस की लड़ाई में लगे हुए थे; और शक्ति प्राप्त करने के लिए लड़ी गई यह लड़ाइयां अक्सर ख़ूनी लड़ाइयां रही हैं। इस ज़माने में जिस तरह की ईसाइयत यहां फैली थी उसमें तंगदिली और असहिष्णुता स्पष्ट रूप से मौजूद थी और उनमें और अरवी मुसलमानों में वड़ा फ़र्क़ दिखता था, क्योंकि यह लोग इंसानी भाई-चारे का पैग़ाम लाए थे और रवादारी वरतना जानते थे। यही वजह थी कि ईसाइयों के झगड़ों से तंग आकर पूरी-की-पूरी क़ौमें उनके साथ हो लीं।

जो संस्कृति अरव वाले अपने साथ दूर देशों में ले गए वह स्वयं वरावर वदलती और उन्नति करती रही है। इस पर इस्लाम के नए विचारों की छाप ज़रूर थी, लेकिन इसे इस्लामी तहज़ीव का नाम देना वातों को उलझाना और शायद उन्हें ग़लत ढंग से पेश करना होगा। दमिश्क में राजधानी वनाकर उन्होंने जल्द ही अपने रहन-सहन के सीधे-सादे ढंग छोड़ दिए और एक ज्यादा रँगी-चुनी सभ्यता को अग्रसर किया। यह ज़मानां अरव और सीरिया की मिली-जुली संस्कृति का ज़माना कहा जा सकता है। वाइज़ैंटाइन के असर भी उन पर पड़े लेकिन जव वह हटकर वग़दाद में चले गए तो सवसे ज़्यादा असर पुरानी ईरान की परंपरा का पड़ा, और अरवी और ईरानी मिली-जुली संस्कृति ने तरक़्क़ी पाई और उन सारे इलाक़ों पर जिन पर कि उनका वस था, छा गई।

यद्यपि अरव वालों ने दूर-दूर देशों पर विजय प्राप्त की थी और यह विजय आसानी से कर सके थे, हिंदुस्तान में वह सिंध से आगे न उस समय ही वढ़ सके न वाद में ही। क्या इसकी यह वजह हो सकती है कि हिंदुस्तान इस समय भी इतना काफ़ी मज़वूत था कि हमलावरों को रोक सके? संभवतः यह वात सही है, क्योंकि दूसरी तरह से उस वात को समझाया नहीं जा सकता कि इसके कई सदियों वाद तक क्यों दर-असल कोई दूसरा हमला न हुआ। हो सकता है कि कुछ अंश में स्वयं अरवों के आपस के झगड़ों के कारण ऐसा हुआ हो। वग़दाद के केंद्रीय शासन से सिंध पृथक् हो गया और एक स्वतंत्र मुसलमानी रियासत वन गया। लेकिन यद्यपि कोई आक्रमण न हुआ, फिर भी हिंदुस्तान और अरव के संवंध वढ़े, यात्री आने-जाने

लगे, एलचियों का अदला-बदला हुआ और हिंदुस्तानी पुस्तकें, विशेषकर गणित और ज्योतिष की, बग़दाद पहुँचीं और उनके अरबी तर्जुमे हुए। बहुत से हिंदुस्तानी वैद्य बग़दाद गए। यह व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध केवल उत्तरी हिंदुस्तान से नहीं स्थापित हुए। इसमें हिंदुस्तान की दक्खिनी रियासतें भी शरीक हुईं, विशेषकर राष्ट्रकूट, जोकि हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट से व्यापार किया करते थे।

इस लगातार संबंध के कारण हिंदुस्तानियों का इस नए धर्म, इस्लाम, से परिचित हो जाना अनिवार्य था। इस नए धर्म को फैलाने के लिए प्रचारक भी आए और उनका स्वागत भी हुआ। मसजिदें बनाई गईं। इस पर न तो शासन ने, न जनता ने कोई आपत्ति की, और न किसी तरह के धार्मिक दंगे हुए। हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा यह थी कि सभी धर्मों और पूजा के सभी तरीक़ों के साथ सहिष्णुता बरती जाय। इस तरह इस्लाम हिंदुस्तान में राजनीतिक शक्ति की हैसियत मे आने से सदियों पहले धर्म की हैसियत से आ चुका था।

उमैया ख़लीफ़ाओं के शासन में जो अरबी साम्राज्य स्थापित हुआ उसकी राजधानी दमिश्क थी और यह एक विशाल शहर बन गया। लेकिन जल्द ही, ७५० ई० के लगभग अब्बासिया ख़लीफ़ाओं ने बग़दाद को राजधानी बना लिया। भीतरी झगड़े पैदा हुए और स्पेन केंद्रीय शासन से अलग हो गया, लेकिन बहुत दिनों तक फिर भी एक स्वतंत्र अरबी राज्य बना रहा। क्रमशः बग़दाद की सल्तनत भी कमज़ोर पड़ी और कई छोटी-छोटी रियासतों में बँट गई, और मध्य-एशिया से सेलजूक तुर्कों ने आकर बग़दाद में राजनीतिक शक्ति स्थापित कर ली, यद्यपि ख़लीफ़ा अब भी बना रहा। अफ़ग़ानिस्तान में सुल्तान महमूद ग़ज़नवी नाम का एक तुर्क उठ खड़ा हुआ जोकि बड़ा अच्छा सिपाही था और फ़ौजी कप्तान था। उसने ख़लीफ़ाओं की कुछ परवा न की, बल्कि उन्हें ताने देता रहा। लेकिन फिर भी बग़दाद इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक केंद्र बना रहा और दूर का स्पेन भी अपनी प्रेरणा के लिए उसका मुँह देखता। उस समय यूरोप विद्या, विज्ञान, कला और जीवन की सुविधाओं में पिछड़ा हुआ था। यह अरबी स्पेन था, और ख़ास तौर पर कारडोवा का विश्वविद्यालय था, जिसने कि यूरोप में उस सारे अंधकार-युग में ज्ञान और जिज्ञासा का दीपक जगाए रक्खा, और उसके प्रकाश ने यूरोपीय अंधकार को कुछ हद तक दूर किया।

ईसाइयों के मुसलमानों के खिलाफ़ धर्म-युद्ध (क्रूसेड) १०९५ ई० में आरंभ हुए और लगभग डेढ़ सदी तक चलते रहे। वह केवल दो उग्र धर्मों, कलीसा और हिलाल, की आपस की लड़ाई की हैसियत नहीं रखते थे। मशहूर इतिहासकार प्रोफ़ेसर जी० एम० ट्रेवेलियन ने बताया है कि "यह धर्म-युद्ध (क्रूसेड) नई स्फूर्ति से जगते हुए युरोप की पूरब तक पहुँचने की व्यापक उत्कंठा के सैनिक और धार्मिक पक्ष थे। और इन धर्म-युद्धों से जो पुरस्कार यूरोप लेकर वापस आया वह पवित्र ईसाई धर्म की स्थायी स्वतंत्रता न थी, न ईसाइयत की एकता थी, क्योंकि इन धर्म-युद्धों की कहानी ही इस बात को झुठला देती है। वह वास्तव में ले आया ललित कलाएं और हुनर, आराम के साधन, विज्ञान, और मानसिक जिज्ञासा—अर्थात् वह सभी वस्तुएं जिनसे कि साधु पीटर सबसे अधिक घृणा करता।"

अंतिम धर्म-युद्ध (क्रूसेड) के गौरवहीन ढंग से समाप्त होने से पहले ही, बीच एशिया में कुछ तूफ़ानी और तहलका मचा देनेवाली घटनाएं घटीं। चंगेज़ खां ने बरबादी ढहानेवाला अपना धावा पच्छिम की ओर आरंभ कर दिया। इसका जन्म मंगोलिया में ११५५ ई० में हुआ था और १२१९ में उसने अपना यह बड़ा धावा आरंभ किया, जिसने कि मध्य-एशिया को एक दहकते हुए वीराने में बदल दिया। उस समय वह कोई नौजवान अल्हड़ न था। बुखारा, समरक़ंद, हेरात और बल्ख़, यह आलीशान शहर, जिनमें से हर एक की आबादी दस लाख से अधिक थी, जलाकर खाक कर दिए गए। चंगेज़ रूस में कीव तक गया, फिर लौट आया। चूंकि बग़दाद उसके रास्ते में नहीं पड़ता था, इसलिए वह किसी तरह बच गया। १२२७ में, ७२ साल की अवस्था पाकर वह मरा। उसके उत्तराधिकारी और आगे यूरोप तक पहुँचे और १२५८ में हलाकू ने बग़दाद पर अधिकार किया और विद्या और कला के एक प्रसिद्ध केंद्र का, जहां कि पाँच सौ बरसों से दुनिया के हर एक हिस्से से आकर खज़ाने इकट्ठे हुए थे, अंत कर दिया। इसने, एशिया में, अरब और ईरान की मिली-जुली विशेष सभ्यता को, बड़ा धक्का पहुँचाया, यद्यपि यह सभ्यता मंगोलियों के ज़माने में भी जीवित रही—विशेषकर उत्तरी अफ़्रीक़ा और स्पेन में। आलिमों के दल-के-दल अपने ग्रंथों को लिए हुए बग़दाद से क़ाहरा और स्पेन पहुँचे और इन जगहों में कला और विद्या की एक नई जागृति हुई। लेकिन स्वयं स्पेन अरब वालों के हाथों से खिसक रहा था और १२३६ ई० में कारडोवा का पतन हो चुका था। इसके बाद और ढाई सदियों तक ग्रैनाडा का राज्य अरबी

संस्कृति का उज्ज्वल केंद्र बना रहा। १४९२ ई० में ग्रैनाडा भी फ़र्डिनैंड और इसाबेला के हाथों में चला गया और स्पेन में अरबी हुकूमत का अंत हुआ। इसके बाद अरबवालों का मुख्य केंद्र क़ाहिरा बन गया, यद्यपि यह तुर्कों के अधिकार में आ गया। आटोमन तुर्कों ने १४५३ ई० में क़ुस्तुंतुनिया को अधिकार में कर लिया, और इस तरह उन शक्तियों को प्रस्तुत किया, जिन्होंने कि बाद में यूरोपीय नव-जागृति को जन्म दिया।

एशिया और यूरोप में मंगोलों की यह विजय युद्ध की कला में एक नवीनता प्रस्तुत करती है। लिडेल हार्ट का कहना है कि "जहां तक वैरी को आश्चर्य में डाल देने और तेज़ गति की बात है, जहां तक सैनिक युक्तियों और बिना सामना किए हुए हमला करने की तरकीब का मामला है, उनके (मंगोलों के) हमले इतिहास में बराबरी नहीं रखते।" चंगेज़ खां यदि दुनिया का सबसे बड़ा फ़ौजी नेता नहीं है तो निःसंदेह सबसे बड़े नेताओं में से एक है। उसके और उसके शानदार वारिसों के आगे एशिया और यूरोप की बहादुरी तिनके की तरह थी, और इसे केवल एक संयोग समझना चाहिए कि पच्छिमी और बीच का यूरोप विजित होने से बच गया। इन मंगोलों से, यूरोप ने, सैनिक युक्तियों और युद्ध की कला के बारे में, नए पाठ सीखे। इन मंगोलों के द्वारा बारूद का उपयोग भी, जोकि चीन की चीज़ थी, उन्होंने जाना।

मंगोल हिंदुस्तान में नहीं आए। वह सिंधुनदी तक आकर रुक गए और दूसरी जगहों पर जाकर उन्होंने विजयें प्राप्त कीं। जब उनकी सल्तनत समाप्त हुई, तो एशिया में कई छोटी-छोटी रियासतें स्थापित हुईं, और फिर १३६९ ई० में, तैमूर ने, जोकि तुर्क था और मां की तरफ़ से चंगेज़ खां की औलाद होने का दावा करता था, चंगेज़ के कारनामों को दुहराने की कोशिश की। उसकी राजधानी, समरक़ंद, फिर एक सल्तनत का सदर-मुक़ाम बनी, यद्यपि यह सल्तनत अधिक दिनों की नहीं थी। तैमूर की मृत्यु के बाद, उसके वारिसों की दिलचस्पी फ़ौजी कारनामों में कम रही, बल्कि वह शांति का जीवन बसर करने और कलाओं को उन्नति देने में लगे रहे। मध्य-एशिया में तैमूरियों के नाम पर प्रसिद्ध एक नई जागृति हुई और इस वातावरण में तैमूर के एक वंशज, बाबर, ने जन्म लिया, और बड़ा हुआ। बाबर हिंदुस्तान में मुग़ल-वंश का संस्थापक था; वह शानदार मुग़लियों में पहला था। दिल्ली को उसने १५२६ में जीता।

चंगेज़ खां मुसलमान नहीं था, जैसा कि कुछ लोग इसलिए ख़याल करते हैं कि उसका नाम इस्लाम से मिल-जुल गया है। कहा जाता है कि वह शामाई धर्म का मानने वाला था, जोकि एक आसमानी धर्म था। यह धर्म क्या था मैं नहीं जानता, लेकिन नाम से वरवस उस शव्द की ओर ध्यान जाता है जोकि अरव वालों ने वौद्धों के लिए दे रक्खा था, अर्थात् शामानी, जोकि संस्कृत श्रमण से निकला है। उस जमाने में वौद्धधर्म के विगड़े हुए रूप एशिया के भिन्न भागों में फैले हुए थे, और इन भागों में मंगोलिया भी था; और यह संभव है कि चंगेज़ खां इनके असर में पला हो। यह एक वड़ी अटपटी कल्पना है कि इतिहास का सवसे वड़ा फ़ौजी विजेता शायद किसी तरह का वौद्ध था!

२ : अरवी सभ्यता के फूल का खिलना और हिंदुस्तान से संपर्क

एशिया और अफ़्रीक़ा के वड़े हिस्से और यूरोप का एक टुकड़ा जीत लेने के वाद अरववालों ने अपने मस्तिष्क को, दूसरे ही मैदानों में, विजय प्राप्त करने के लिए फेरा। सल्तनत मज़वूत की जा रही थी, वहुत से नए देश उसके दृष्टिपथ में आ चुके थे और वह इस दुनिया और उसके तरीक़ों को जानने के इच्छुक थे। आठवीं और नवीं सदियों के अरववालों में वड़े मार्के की वौद्धिक जिज्ञासा, विवेकपूर्ण चिंतन और वैज्ञानिक जाँच की भावना मिलती है। आम तौर पर, किसी भी धर्म में, जिसकी वुनियाद, निश्चित विचारों और विश्वासों पर होती है, आरंभ के दिनों में प्रवल विश्वास रहता है और उससे इधर-उधर हटना नहीं पसंद किया जाता न उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। यह विश्वास अरववालों को दूर-दूर तक ले गया था और उनकी विजयपूर्ण सफलता ने ही उनके विश्वास को और भी गहरा वना दिया होगा। फिर भी हम पाते हैं कि वह धार्मिक विश्वासों और हठवाद की हद को लांघकर, जड़वाद के सिद्धांतों पर भी सोच-विचार करते हैं और अपनी स्फूर्ति और उत्साह को साहसी विचार की ओर मोड़ते हैं। अरव यात्री, जोकि अपने ढंग में वेजोड़ थे, दूर मुल्कों में यह जानने और समझने के लिए जाते हैं कि वहां के लोग क्या कर-धर या विचार रहे हैं और उनके दर्शन, विज्ञान और रहन-सहन का क्या रवैया है। वाहर से विद्वान् वुलाकर वग़दाद में लाए गए, और पुस्तकें मँगाई गईं और ख़लीफा अल-मंसूर (आठवीं सदी के वीच में) ने खोज और तर्जुमे के इदारे कायम

किए जहां कि यूनानी, सिरियन, ज़ेंद, लातीनी और संस्कृत से तर्जुमे किए जाते थे। सिरियन, एशिया माइनर और लेवांट के पुराने मठों की पांडुलिपियों के पाने के लिए खूब छान-बीन हुई। ईसाई पादरियों ने सिकंदरिया के पुराने विद्यालयों को बंद कर दिया था और वहां के विद्वानों को निकाल दिया था। इनमें से बहुत से देश-निकाले लोग ईरान और दूसरी जगहों में चले गए थे। अब उन्हें बग़दाद में पनाह मिली और वह अपने साथ यूनानी दर्शन और विज्ञान और गणित ले आए—अर्थात् अफ़लातून और अरस्तू, बतलीमूस और उक्लैदिस से यहां के लोगों का परिचय कराया। यहां पर नस्तूरी और यहूदी विद्वान् और हिंदुस्तानी वैद्य, दार्शनिक और गणितज्ञ मौजूद थे। यह हालत हारूं रशीद और अल-मामून (आठवीं और नवीं सदियों में) खलीफ़ाओं के ज़माने तक चलती रही और उन्नति करती रही, और बग़दाद सभ्य दुनिया का विद्वानों का सबसे बड़ा केंद्र बन गया। इस काल में हिंदुस्तान से इसके बहुत से संपर्क रहे और अरब वालों ने हिंदुस्तानी गणित, ज्योतिष और औषध-विद्या से बहुत कुछ प्राप्त किया। और फिर भी, ऐसा जान पड़ता है कि इन संपर्कों के लिए प्रेरणा विशेष-रूप से अरबों की थी, और यद्यपि अरबों ने हिंदुस्तान से बहुत कुछ सीखा, हिंदुस्तानियों ने अरबों से ज्यादा नहीं सीखा। हिंदुस्तानी अपने घमंड में डूबे, अलग-थलग और जहां तक हो सका अपने ही खोल के भीतर समाए रहे। यह एक दुर्भाग्य की बात है क्योंकि बग़दाद और अरबी नवजागृति के बौद्धिक उभार ने हिंदुस्तानी मस्तिष्क को ठीक उस समय जगाया होता जब कि वह अपनी रचनात्मक शक्ति बहुत कुछ खो रहा था।

बग़दाद में, हिंदुस्तानी विद्या और विज्ञान के पढ़ने को, शक्तिशाली बरमक घराने वालों ने, जिनमें से कि हारूं रशीद के वजीर होते रहे हैं, बड़ा प्रोत्साहन दिया। यह घराना शायद पहले बौद्धधर्म का माननेवाला था और इसके बाद इसने धर्म बदल दिया था। हारूं रशीद की किसी बीमारी के अवसर पर मणक नाम का एक वैद्य हिंदुस्तान से बुलाया गया। मणक बग़दाद में बस गया और एक बड़े अस्पताल का व्यवस्थापक बना दिया गया। अरबी लेखकों का कहना है कि मणक के अतिरिक्त उस समय बग़दाद में छः और हिंदुस्तानी वैद्य रहा करते थे। ज्योतिष में अरबों ने हिंदुस्तानियों और सिकंदरिया वालों, दोनों से आगे उन्नति की और दो नाम उनके यहां मशहूर हैं—अल-ख्वारिज़्मी, जोकि नवीं सदी का गणितज्ञ और नजूमी था, और उमर ख़य्याम, जो कि बारहवीं सदी में कवि और

नजूमी दोनों हैसियतों से मशहूर हुआ। औषधशास्त्र में, अरब चिकित्सक और जर्राह एशिया और यूरोप में प्रसिद्ध थे। इनमें से सबसे प्रसिद्ध बुखारा का इब्नसीना था जोकि हकीमों का बादशाह कहलाया है। उसकी मृत्यु १०३७ ई० में हुई। अरब विचारकों और दार्शनिकों में एक बड़ा नाम अबू नस्र फ़ाराबी का है।

दर्शन में हिंदुस्तान का प्रभाव अधिक हुआ नहीं जान पड़ता। दर्शन और विज्ञान, इन दोनों के लिए अरब वाले यूनान और पुराने सिकंदरिया के विद्यालयों की तरफ़ झुकते थे। अफ़लातून और खास तौर पर अरस्तू ने अरब विचार पर गहरा असर डाला है और अब तक इस्लामी मदरसों में उनकी पढ़ाई, मूल की मदद से नहीं बल्कि अरबी शरहों के ज़रिये, खास मजमूनों की हैसियत से, होती है। सिकंदरिया की नौ-अफ़लातूनियत का प्रभाव भी अरबी मस्तिष्क पर हुआ और यूनानी दर्शन के जड़वादी विचार भी अरबों तक पहुँचे और इससे उनके यहां बुद्धिवाद और जड़वाद का आरंभ हुआ। जड़वादियों ने धर्म से प्रायः बिल्कुल इन्कार किया है। जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि बग़दाद में इन विभिन्न और विरोधी सिद्धांतों पर बहस-मुबाहिसा करने की पूरी स्वतंत्रता थी। धर्म और बुद्धि के बीच का यह मुबाहसा और झगड़ा बग़दाद से सारी अरबी दुनिया में फैला और स्पेन तक पहुँचा। खुदा की सीरत के बारे में मुबाहसे हुए और यह बताया गया कि उसमें उस तरह के किन्हीं गुणों का आरोप नहीं हो सकता, जिनका उसमें होना कहा जाता है। यह गुण इंसानी हैं। यह कहा गया कि खुदा को रहीम या नेक बताना उतनी ही पस्त और ला-मज़हब बात होगी जितना कि यह कहना कि उसके दाढ़ी है।

बुद्धिवादों से भौतिकवाद और संदेहवाद का रास्ता खुला। लेकिन बग़दाद की पस्ती और तुर्की ताक़त की उन्नति के साथ-साथ बुद्धिवादी जिज्ञासा की भावना मंद पड़ गई। लेकिन अरबी स्पेन में यह फिर भी जारी रही और स्पेन का एक मशहूर अरबी दार्शनिक तो धर्म से इन्कार करने की हद तक पहुँचा। यह इब्न रुश्द था, जो कि बारहवीं सदी में हुआ है। बताया जाता है कि उसने कहा था कि उसके ज़माने के सभी धर्म या तो बच्चों के लिए या मूर्खों के लिए हैं या ऐसे हैं कि उन पर अमल नहीं किया जा सकता। उसने वास्तव में ऐसा बयान किया या नहीं, यह कहा नहीं जा सकता, लेकिन जो परंपरा है उससे पता चलता है कि वह किस तरह का आदमी था, और अपने विश्वासों के लिए उसने कष्ट सहे। स्त्रियों को सार्व-

जनिक कामों में भाग लेने का अवसर मिलना चाहिए, इसके पक्ष में उसने ज़ोरों से लिखा है और कहा है कि वह इन कामों को पूरे तौर पर अंजाम दे सकती हैं। उसने यह भी सुझाव दिया है कि ऐसे लोगों को, जिनका इलाज नहीं हो सकता, और इसी तरह के दूसरे लोगों को मिटा देना चाहिए क्योंकि वह समाज पर एक बोझ हैं। स्पेन उस वक़्त यूरोप के और विद्या-केंद्रों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था, और कारडोवा के अरबी और यहूदी आलिमों की पेरिस में और दूसरी जगहों में बड़ी क़द्र होती थी।

पच्छिमी और मध्य-एशिया में अरबी सभ्यता ने जो फूल खिलाए उनकी प्रेरणा अरबी और ईरानी, इन दो आधारों से मिली। दोनों आपस में ख़ूब घुल-मिल गए, और उन्होंने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा किया। अरबों से शक्ति और जाँच की भावना आई, ईरानियों ने जीवन के भोग और कला पर ज़ोर दिया। तुर्की शासन में ज्यों-ज्यों बग़दाद का ह्रास हुआ त्यों-त्यों बुद्धिवादी और जिज्ञासा की भावना भी मिटी। चंगेज़ खां और मंगोलों ने इन सभी का अंत कर दिया। सौ साल बाद मध्य-एशिया फिर जागा और समरक़ंद और हेरात चित्र-कला और वास्तु-कला के केंद्र बने और उन्होंने अरब और ईरान की मिली-जुली सभ्यता की परंपरा में फिर से कुछ जान फूंकी। लेकिन अरबी बुद्धिवाद और विज्ञान फिर न जगे। इस्लाम एक ज्यादा सख़्त और बेलोच मज़हब बन गया जो कि फ़ौजी फ़तहों के लिए माफ़िक पड़ता था, दिमाग़ी फ़तहों के लिए नहीं। एशिया में इसके ख़ास नुमाइंदे अरब वाले न रहे बल्कि तुर्क और मंगोल (जो बाद में हिंदुस्तान में जाकर मुग़ल कहलाए) बने, और कुछ हद तक अफ़ग़ानी। पच्छिमी एशिया के यह मंगोल मुसलमान हो गए थे; सुदूर पूरब में और बीच के इलाक़ों में बहुत से बौद्ध बन गए थे।

३ : महमूद गज़नवी और अफ़गानी

आठवीं सदी के शुरू में, ७१२ ई० में, अरबवाले सिंध पहुँचे थे और उन्होंने वहां अधिकार कर लिया था। वहीं वह ठहर गए। लगभग पचास साल के भीतर स्वयं सिंध अरबी सल्तनत से अलग हो गया, यद्यपि यह एक छोटे स्वतंत्र मुसलमानी राज्य की हैसियत से बना रहा। लगभग तीन सौ साल बाद तक फिर कोई और हमला या धावा हिंदुस्तान पर न हुआ। १००० ई० के आस-पास, अफ़ग़ानिस्तान में ग़ज़नी के सुल्तान महमूद ने, जोकि तुर्क था, और जिसने कि मध्य-एशिया में

अच्छी शक्ति वना ली थी, हिंदुस्तान पर धावे शुरू किए। ऐसे वहुत से धावे हुए और यह धावे रक्तपातपूर्ण और क्रूर थे, और हर अवसर पर महमूद अपने साथ लूट का वड़ा खज़ाना ले गया। उसी ज़माने के एक आलिम, खीवा के रहने वाले अल्वेरूनी ने, इन हमलों का वयान किया है :"हिंदू धूल के कनों की तरह चारों तरफ तितर-वितर हो गए, और लोगों के मुँह में किसी पुराने क़िस्से की तरह उनकी याद रह गई। जो तितर-वितर होकर वच रहे वह सभी मुसलमानों की तरफ़ हद दर्जे की घृणा से देखते हैं।" इस शायराना वयान से हमें उस आफ़त का कुछ अंदाज़ मिलता है जो महमूद ने ढाई थी, फिर भी हमें यह याद रखना चाहिए कि महमूद ने उत्तरी हिंदुस्तान के सिर्फ़ एक टुकड़े को छुआ और लूटा था, जोकि उसके धावे के रास्ते में पड़े थे। सारा-का-सारा मध्य, पूरवी और दक्खिनी हिंदुस्तान उससे विलकुल वच गया था।

उस वक़्त और वाद में भी दक्खिन हिंदुस्तान में प्रवल चोल साम्राज्य का शासन था, जिसने कि समुद्री रास्तों को वश में कर रक्खा था, और जो जावा में श्रीविजय तक और सुमात्रा तक फैला हुआ था। पूरवी समुद्र के देशों में हिंदुस्तानी नौआवादियां भी उन्नति पर और वलशाली थीं। उनके और दक्खिनी हिंदुस्तान के वीच समुद्र-शक्ति वढ़ी हुई थी। लेकिन यह हिंदुस्तान को खुश्की की राह होने वाले हमले से न वचा सकी।

महमूद ने पंजाव और सिंध को अपने राज्य में मिला लिया और वह हर हमले के वाद ग़ज़नी लौट जाता रहा। वह कश्मीर न जीत पाया। इस पहाड़ी देश ने कामयावी के साथ उसे रोका और मार भगाया। उसे राजपूताने के रेगिस्तानी प्रदेश में भी गहरी हार खानी पड़ी जवकि वह काठियावाड़ में सोमनाथ से वापस आ रहा था। यह उसका आखिरी धावा था और इसके वाद वह फिर न लौटा।

महमूद ने और वहुत से विजेताओं की तरह विजयों में धर्म के नाम से लाभ उठाया। उसके लिए हिंदुस्तान केवल एक ऐसा देश था, जहां से वह माल और खजाना लूट कर अपने देश में पहुँचावे। उसने हिंदुस्तान में एक फ़ौज भरती की और उसे अपने एक प्रसिद्ध सिपहसालार की मातहत, जिसका कि नाम तिलक था, और जोकि एक हिंदुस्तानी और हिंदू था, कर दिया। इस फ़ौज का उपयोग उसने स्वयं अपने धर्मवालों के विरुद्ध मध्य एशिया में किया। उसकी यह वड़ी इच्छा थी कि अपनी राजधानी ग़ज़नी को मध्य और पच्छिमी एशिया के वड़े शहरों

के मुक़ाबले का बना दे, और इसलिए वह हिंदुस्तान से बहुत से कारीगर और मेमार ले गया था। इमारतों के बनाने में उसकी दिलचस्पी थी, और दिल्ली के क़रीब मथुरा शहर का उस पर बड़ा असर पड़ा। इसके बारे में उसने लिखा: "यहां हज़ारों इमारतें हैं जोकि मजहबियों के मज़हब की तरह मज़बूत हैं; यह मुमकिन नहीं कि उसकी यह स्थिति करोड़ों दीनार के ख़र्च किए बिना हुई हो। इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल से कम ज़माने में नहीं तैयार हो सकता।"

लड़ाइयों के बीच फ़ुरसत के समय में महमूद की दिलचस्पी इस बात में थी कि अपने देश की सांस्कृतिक रुझानों को विकसित करे, और उसने अपने यहां बहुत से प्रसिद्ध लोगों को इकट्ठा कर लिया था। इनमें से प्रसिद्ध फ़ारसी कवि फ़िरदौसी भी था, जिसने कि 'शाहनामा' रचा था, और जिसकी कि बाद में महमूद से अनबन हो गई थी। अल्बेरूनी, जोकि यात्री और आलिम था, उसका समकालीन हुआ है, और इसने अपनी पुस्तकों में उस समय के मध्य-एशिया के और पहलुओं की झाँकी प्रस्तुत की है। ख़ीवा में उसका जन्म हुआ था, लेकिन वह फ़ारसी ख़ांदान का था। वह हिंदुस्तान आया और यहां उसने ख़ूब यात्राएं कीं। वह दक्खिन के चोल राज्य के आबपाशी के बड़े कामों के हाल बताता है, यद्यपि इसमें संदेह है कि वह स्वयं दक्खिन हिंदुस्तान गया भी था। उसने कश्मीर में संस्कृत सीखी और हिंदुस्तान के धर्म, दर्शन, विज्ञान और कलाओं की जानकारी प्राप्त की। इससे पूर्व उसने यूनानी दर्शन को पढ़ने के लिए यूनानी भाषा भी सीखी थी। उसकी पुस्तकें न केवल ज्ञान का भंडार है, बल्कि उनसे हमें यह भी पता चलता है कि किस तरह लड़ाई और लूट-मार और क़त्ल के ज़माने में भी सब्र के साथ लोग इल्म हासिल करने में लगे रहते थे और किस तरह एक देश के लोग दूसरे देश वालों की बातों को उस समय भी समझने की कोशिश में लगे हुए थे, जब कि जोश और ग़ुस्से ने उनके आपस के संबंध को तीखा बना दिया था। हिंदुस्तानियों के बारे में अल्बेरूनी कहता है कि वह "गर्वीले, मूर्खतापूर्ण, घमंडी, अपने में संतुष्ट और मूढ़ हैं" और उनका विश्वास है कि "उनके देश जैसा दूसरा देश नहीं, उनकी क़ौम जैसी दूसरी क़ौम नहीं, उनके राजों जैसे दूसरे राजे नहीं और उनके विज्ञान जैसा दूसरों का विज्ञान नहीं।" शायद यह लोगों के विचार का बहुत-कुछ सही बयान है।

महमूद के हमले हिंदुस्तान के इतिहास की एक बड़ी घटना हैं, यद्यपि इनका राजनीतिक दृष्टि से सारे हिंदुस्तान पर कुछ बहुत असर नहीं पड़ा और हिंदुस्तान

का खासा हिस्सा अछूता रह गया। उनसे उत्तरी हिंदुस्तान की कमज़ोरी और ह्रास का पता चलता है और अल्बेरूनी के बयान इस बात पर और भी प्रकाश डालते हैं कि उत्तर और पच्छिम में राजनीतिक हालत कैसी बिगड़ी हुई थी। पच्छिमोत्तर में होने वाले यह बार-बार के आक्रमण हिंदुस्तान के बँधे हुए विचार और अर्थ तंत्र में बहुत से नए तत्व लेकर आए। सब से खास बात यह है कि वह यहां इस्लाम को ले आए, जो कि पहली बार अपनी क्रूर सैनिक विजयों के साथ यहां आया। अब तक, क़रीब तीन सौ साल पूर्व से, इस्लाम यहां शांति के साथ, एक धर्म की हैसियत से आया था, और उसने बिना झगड़े-फ़साद के, अपनी जगह और धर्मों के साथ-साथ बना ली थी। उसके इस नए ढंग ने लोगों में प्रबल मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं पैदा कीं और उनके दिलों में कडुआपन भर दिया। एक नए धर्म पर कोई आपत्ति न थी, लेकिन यदि कोई वस्तु बलपूर्वक उनके रहन-सहन के ढंग में बाधा डाले और उसे उलट-पलट दे तो इसके विरुद्ध उनके दिलों में गहरा विरोध था।

यह याद रहे कि हिंदुस्तान बहुत से धर्मों का मुल्क रहा है, यद्यपि हिंदूधर्म अपने अनेक रूपों में हावी रहा हो। जैनधर्म और बौद्धधर्म को छोड़ दिया जाय, जोकि अधिकतर हिंदूधर्म में समाविष्ट हो गए थे, तो भी ईसाई और इब्रानी धर्म रह जाते हैं। यह दोनों धर्म हिंदुस्तान में संभवतः ईसा से बाद की पहली सदी में आए थे, और दोनों ने इस देश में स्थान कर लिया था। दक्खिन हिंदुस्तान में बहुत से सिरियन ईसाई और नस्तूरी थे, और वह इस देश के वैसे ही अंग थे जैसे और लोग थे। यही हाल यहूदियों का था, और ज़रथुष्ट्र के अनुयायियों के उस छोटे से दल का भी था, जोकि ईरान से सातवीं सदी में हिंदुस्तान में आए थे। और यही हालत बहुत से मुसलमानों की भी थी जो कि उत्तर-पच्छिम से आकर पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गए थे।

महमूद विजेता की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का, एक सरहदी सूबा बन गया। फिर भी जब वह वहां शासक बन बैठा तो उसके पहले के तरीक़ों को दूर करने और कुछ हद तक सूबे के लोगों की खुशी हासिल करने की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब इतना दख़ल नहीं दिया जाता था, और फ़ौज में और हुकूमत में ऊँचे-ऊँचे ओहदों पर हिंदू नियुक्त किए जाने लगे थे। महमूद के ज़माने में इस प्रवृत्ति का आरंभ ही हो पाया था, बाद में इस रुझान ने और तरक्क़ी की।

महमूद १०३० ई० में मरा। उसकी मृत्यु के बाद एक सौ साठ से अधिक वर्षों तक कोई दूसरा आक्रमण न हुआ और न तुर्की शासन पंजाब से आगे बढ़ा। इसके बाद, शहाबुद्दीन ग़ोरी नाम के एक अफ़ग़ान ने ग़ज़नी पर अधिकार कर लिया और ग़ज़नवियों की सल्तनत का अंत हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया, फिर दिल्ली पर, लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया। शहाबुद्दीन अफ़ग़ानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक नई फ़ौज लेकर हिंदुस्तान में उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और ११९२ में वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा।

पृथ्वीराज एक लोकप्रिय नायक है और गीतों और कहानियों में अब भी प्रसिद्ध है, क्योंकि साहसी प्रेमी हमेशा लोकप्रिय होते हैं। वह अपनी प्रेमिका को उसके पिता, कन्नौज के राजा जयचंद के महल से भगा लाया था और बहुत से छोटे-छोटे राजों को, जो उसको वरने के लिए आए थे, चुनौती दी थी। थोड़े समय के लिए उसने अपनी प्रेमिका को अवश्य पा लिया था, लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि एक शक्तिशाली शासक से उसकी लड़ाई छिड़ गई और दोनों तरफ़ से बहुत से योद्धा काम आए। दिल्ली और मध्य-हिंदुस्तान के बहादुर आपस की लड़ाई में लग गए और बहुत ख़ून-ख़राबा हुआ। इस तरह एक स्त्री के लिए पृथ्वीराज ने अपनी जान गँवाई और अपना राज्य खोया, और दिल्ली, जोकि एक सल्तनत की राजधानी थी एक विदेशी आक्रमणकारी के हाथ में चली गई। लेकिन उसकी प्रेमकहानी अब भी कही जाती है और उसे नायक गिना जाता है और जयचंद को प्रायः देश-द्रोही समझा जाता है।

दिल्ली की इस विजय का यह अर्थ नहीं था कि सारा हिंदुस्तान विजित हो गया। चोल-वंश दक्खिन में अब भी शक्तिशाली था और दूसरे स्वतंत्र राज्य भी थे। अफ़ग़ानों को दक्खिन-हिंदुस्तान के अधिक भाग में अपनी हुकूमत फैलाने में और भी डेढ़ सदी लग गई। लेकिन दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मार्के की बात थी और नई व्यवस्था का यह एक प्रतीक था।

४ : भारतीय-अफ़ग़ान : दक्खिन हिंदुस्तान : विजयनगर : बाबर : समुद्री शक्ति

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेज़ों ने और कुछ हिंदुस्तानी इतिहासकारों ने

भी तीन वड़े हिस्सों में वाँटा है—प्राचीन या हिंदू, मुस्लिम, और अंग्रेज़ी काल। यह वँटवारा न वुद्धियुक्त है और न सही है; इससे धोखा होता है और यह हमारे सामने एक भ्रामक चित्र प्रस्तुत करता है। इसमें ऊपर के वर्गों के कुछ सतही परिवर्तनों का खयाल किया गया है, वनिस्वत इसके कि हिंदुस्तानियों के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की ख़ास-खास तव्दीलियों का खयाल किया गया है। तथा-कथित प्राचीन काल वड़ा विशाल है और परिवर्तनों से भरा हुआ है; उन्नति, ह्रास और फिर वरावर उन्नति का क्रम चलता है। जिसे मुस्लिम-काल या मध्य-युग कहते हैं उसमें भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, फिर भी यह ऊपर के लोगों तक सीमिति था। इसने हिंदुस्तानी जीवन के मुख्य क्रम पर अधिक प्रभाव नहीं डाला। वह आक्रमणकारी जोकि हिंदुस्तान में पच्छिमोत्तर से आए, अधिक प्राचीन काल में आनेवाले और आक्रमणकारियों की तरह हिंदुस्तान में समाविष्ट हो गए और उसके हो रहे। उनके वंश हिंदुस्तानी वंश कहलाए और आपस के शादी-व्याह के कारण जातियों का वहुत कुछ मेल-जोल हो गया। कुछ अपवादों को छोड़कर हमें जान-वूझ कर इस वात की कोशिश की गई जान पड़ती है कि आम लोगों के रीति-रिवाजों और तरीक़ों से छेड़-छाड़ न की जाय। उन्होंने हिंदुस्तान को अपना देश समझा और हिंदुस्तान के वाहर उनके कोई दूसरे लगाव न थे। हिंदुस्तान एक स्वतंत्र मुल्क वना रहा।

अंग्रेज़ों के आने ने एक वड़ा अंतर ला दिया, और पुरानी प्रथा वहुत कुछ जड़ से उखड़ चली। वह पच्छिम से एक विल्कुल नई प्रेरणा लाए जोकि यूरोप में पुनर्जागृति (रेनासां), सुधार (रिफ़र्मेशन) और इंग्लिस्तान की राजनीतिक क्रांति के समय से क्रमशः उन्नति कर रही थी और औद्योगिक क्रांति (इंडस्ट्रियल रिव्योलूशन) के आरंभ में जिसकी रूप-रेखा वन रही थी। अमरीका और फ़्रांस की क्रांतियों ने इसे और आगे वढ़ाया। अंग्रेज वाहरी, विदेशी और हिंदुस्तान में वे-मेल वने रहे और कुछ और होने की उन्होंने कोशिश न की। सवसे वड़ी वात तो यह है कि हिंदुस्तान के इतिहास में पहली वार उसका राजनीतिक नियंत्रण वाहर से लगाया गया और उसके अर्थतंत्र का केंद्र एक दूर देश में रहा। उन्होंने हिंदुस्तान को आधुनिक युग के एक उपनिवेश की तरह समझा, और हिंदुस्तान अपने लंवे इतिहास में पहली वार एक ग़ुलाम देश वना।

महमूद ग़ज़नी का आक्रमण निश्चित रूप से एक विदेशी, तुर्की, आक्रमण था

और उसका परिणाम यह हुआ कि पंजाब हिंदुस्तान के और हिस्सों से कुछ काल के लिए अलग रहा। जो अफ़ग़ान यहां बारहवीं सदी के अंत में आए थे उनकी बात दूसरी थी। वह भारतीय-आर्यजाति के लोग थे और हिंदुस्तान के लोगों से उनका निकट का संबंध था। वास्तव में लंबे समयों तक अफ़ग़ानिस्तान हिंदुस्तान का एक टुकड़ा होकर रहा है और उसे ऐसा होना ही था। उसकी भाषा पश्तो, बुनियादी तौर पर संस्कृत से निकली है। हिंदुस्तान या हिंदुस्तान से बाहर बहुत कम जगहें ऐसी हैं जहां कि हिंदुस्तानी संस्कृति की प्राचीन यादगारें और खँडहर, विशेषकर बौद्धकाल के, इतनी बहुतायात से हों, जितने कि अफ़ग़ानिस्तान में हैं। अधिक ठीक यह होगा कि अफ़ग़ान लोग भारतीय-अफ़ग़ान कहे जायँ।

आरंभ में उनका व्यवहार ऐसा रहा जैसा कि विजेताओं का विद्रोही लोगों के साथ होता है, यानी कड़ा और बेरहमी का। लेकिन जल्द ही यह नरम पड़ गए हिंदुस्तान उनका घर बन गया और दिल्ली उनकी राजधानी रही। अफ़ग़ानिस्तान जहां से वह आए थे, उनके राज्य के छोर के केवल एक हिस्से की हैसियत रखता था। हिंदुस्तानी बनने की क्रिया तेज़ी से चली और उनमें से बहुतों ने इस देश की स्त्रियों से ब्याह कर लिए। उनके बड़े सुल्तानों में से एक, अलाउद्दीन ख़िलजी ने एक हिंदू स्त्री के साथ ब्याह किया, और इसी तरह उसके बेटे ने भी। बाद के कुछ शासक जाति के तुर्क थे, जैसे क़ुतुबुद्दीन ऐबक, सुल्ताना रज़िया और इल्तुतमिश; लेकिन उमरा और फ़ौज अधिक अफ़ग़ान ही रही। दिल्ली एक सल्तनत की राजधानी के तौर पर चमकी। मरक्को का एक मशहूर अरब यात्री इब्न बतूता, जिसने कि बहुत से मुल्क और क़ाहरा और कुस्तुंतुनिया से चीन तक के बहुत से शहर देखे थें, शायद कुछ अत्युक्ति के साथ कहता है कि दिल्ली "जहान के सबसे बड़े शहरों में एक है।"

दिल्ली की सल्तनत दक्खिन की तरफ़ फैली। चोल राज्य का ह्रास हो रहा था, लेकिन उसकी जगह पर एक नई समुद्री शक्ति उठ खड़ी हुई थी। यह पांड्य राज की थी; इसकी राजधानी मदुरा में थी और इसका बंदरगाह पूरबी तट पर क्याल था। यह एक छोटा-सा राज्य था, लेकिन यहां व्यापार की एक बड़ी मंडी थी। चीन से वापस आते हुए मार्को पोलो यहां दो बार रुका था, सन् १२८८ में और फिर १२९३ में; और उसने इसे 'एक बड़ा और विशाल नगर' बताया है, जहां कि अरब और चीन के जहाज़ों का जमघट रहता था। वह बहुत बारीक मलमल का भी

चर्चा करता है जिसके तार मकड़ी के जालों जैसे लगते थे और जो हिंदुस्तान के पूरवी समुद्र-तट पर तैयार किया जाता था। मार्को पोलो हमें एक और दिलचस्प वात वताता है। अरव और ईरान से वहुत वड़ी संख्या में घोड़े दक्खिन-हिंदुस्तान में मँगाए जाते थे। दक्खिन-हिंदुस्तान की आव-हवा घोड़ा-कशी के लिए उपयुक्त नहीं आती थी, और घोड़ों की, दूसरे उपयोगों के अतिरिक्त, फ़ौजी कामों के लिए आवश्यकता पड़ती थी। घोड़ा-कशी के माफ़िक सवसे अच्छे मैदान मध्य और पच्छिमी एशिया में थे, और इस वात से कुछ हद तक इसका अंदाज़ लगेगा कि मध्य-एशिया की जातियां लड़ाई की कला में क्यों वढ़ी-चढ़ी थीं। चंगेज़ ख़ां के मंगोल वड़े शानदार घुड़सवार थे, और वे अपने घोड़ों से वड़ा लगाव रखते थे। तुर्क लोग भी अच्छे घुड़सवार थे, और अरव वालों की अपने घोड़ों के लिए मुहव्वत तो मशहूर ही है। उत्तरी और पच्छिमी हिंदुस्तान में, ख़ास तौर पर काठिया-वाड़ में घोड़ा-कशी के लिए कुछ अच्छे मैदान हैं, और राजपूत घोड़ों के वड़े शौक़ीन हैं। वहुत-सी छोटी-मोटी लड़ाइयां अक्सर किसी प्रसिद्ध घोड़े के ख़ातिर लड़ी गई हैं। दिल्ली के एक सुल्तान के वारे में यह कहानी कही जाती है कि उसने एक राजपूत सरदार के घोड़े को पसंद करके उससे उसे माँगा। हाड़ा सरदार ने लोदी वादशाह से कहा : "तीन चीज़ें हैं जिन्हें कि राजपूतों से कभी न माँगना चाहिये—उनका घोड़ा, उनकी स्त्री और उनकी तलवार।" और यह कहकर वह घोड़े को सरपट भगाता हुआ चला गया। वाद में इस घटना के कारण फ़साद हुआ।

चौदहवीं सदी के अंतिम भाग में, तुर्क या तुर्क-मंगोल जाति के तैमूर ने उत्तर से उतर कर दिल्ली सल्तनत को विध्वस्त कर दिया। वह हिंदुस्तान में चंद महीने ही रहा; वह दिल्ली आकर लौट गया। लेकिन जिस रास्ते वह आया उस रास्ते में सव जगहें उसने वीरान कर दीं और क़त्ल किए गए लोगों की खोपड़ियों के मीनार वना दिए; स्वयं दिल्ली मुर्दों का शहर वन गया। सौभाग्य से वह और आगे नहीं वढ़ा और पंजाव के कुछ हिस्सों और दिल्ली को ही यह भयानक दशा भुगतनी पड़ी।

दिल्ली को मृत्यु की इस नींद से उठने में वहुत वर्ष लग गए, और जव वह जगी भी तो एक वड़ी सल्तनत की राजधानी न रह गई थी। तैमूर के हमले ने इस सल्तनत को तोड़ दिया था, और उसकी खँडहरों पर दक्खिन में कई रियासतें

उठ खड़ी हुई थीं। इससे बहुत पूर्व, चौदहवीं सदी के शुरू में दो बड़े राज्य स्थापित हुए थे—गुलबर्ग जो बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध है और विजयनगर का हिंदू राज्य। दक्खिन के बहमनी राज्य का आरंभ और नामकरण दिलचस्प है। इस राज्य की स्थापना करनेवाला एक अफ़ग़ानी मुसलमान था जिसका कि शुरू के दिनों में गंगू ब्राह्मण नाम का एक संरक्षक था। उसकी कृतज्ञता को स्वीकार करते हुए इसने अपने ख़ानदान का नाम बहमनी (ब्राह्मण से) ख़ानदान रक्खा। गुलबर्ग अब पाँच रियासतों में बँट गया; इनमें से एक अहमदनगर था। अहमद निज़ाम शाह, जिसने कि १४९० में अहमदनगर क़ायम किया, बहमनी राजाओं के वज़ीर निज़ामुल्मुल्क भैरी का बेटा था। यह निज़ामुल्मुल्क भैरू नाम के एक ब्राह्मण ख़ज़ानची का बेटा था (इसी से इसका नाम भैरी पड़ा)। इस तरह अहमदनगर के राजवंश की जड़ देसी ही थी, और अहमदनगर की बहादुर औरत चाँदबीबी का ख़ून मिला-जुला था। दक्खिन हिंदुस्तान की सभी मुस्लिम रियासतें देसी और हिंदुस्तानी थीं।

तैमूर के दिल्ली को तबाह करने के बाद, उत्तरी हिंदुस्तान कमज़ोर बना रहा और टुकड़ों में बँट गया। उसके मुक़ाबले में दक्षिण हिंदुस्तान की हालत अधिक अच्छी थी और दक्खिनी राज्यों में सबसे बड़ा और बलशाली राज्य विजयनगर का था। इस राज्य ने उत्तर से भागे हुए बहुत से हिंदुओं को अपनी तरफ़ खींचा। उस ज़माने में लिखे हुए बयानों से यह पता लगता है कि यह शहर बहुत मालदार और सुंदर था। मध्य-एशिया का अब्दुल रज़्ज़ाक़ लिखता है कि "शहर ऐसा है जिसके मुक़ाबले का शहर सारी दुनिया में न आँखों देखा और न कानों से सुना है।" बाज़ारों के लिए मेहराब वाले रास्ते थे और आलीशान दालानें बनी हुई थीं और इन सबके बीच राजा का शानदार महल खड़ा था, "जिसके चारों तरफ़, पत्थर की कटी हुई, चिकनी और चमकदार नहरों से पानी के बहुत से सोते बहा करते थे।" सारा शहर बाग़ों से भरा पड़ा था और उन्हीं की वजह से, जैसा कि एक इटली के यात्री, निकोलो कांटी, ने १४२० में लिखा है, शहर की बाहर-बाहर दौड़ ६० मील लंबी थी। इसके बाद का यात्री पायस था, जोकि पुर्तगाली था और १५२२ में, इटली की नवजागृति के शहरों को देखकर आया था। उसका कहना है कि विजयनगर का शहर "रोम के इतना बड़ा और देखने में बहुत सुंदर है, और अपनी अनेक बावलियों, नहरों और फल के बाग़ों की वजह से बड़ा ही अनूठा

1526

और सुहावना है।" यह "दुनिया का सबसे भरा-पूरा शहर है" और "यहां सभी चीज़ों की बहुतायत" है। महल के कमरे तमाम हाथीदाँत की कारीगरी से भरे हुए थे, और उनके ऊपर गुलाब और कमल नक़्श किए हुए थे। "यह इतना सुंदर और मूल्यवान् है कि इसकी बराबरी का दूसरा शहर कहीं मिल सकना कठिन होगा।"

जिस समय कि दक्खिन में विजयनगर उन्नति पर था, उस समय दिल्ली की छोटी सल्तनत को एक नए वैरी का सामना करना पड़ा। उत्तरी पहाड़ी प्रदेशों से एक और आक्रमणकारी उतर कर आया और दिल्ली के पास पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में, जहां कि हिंदुस्तान के भाग्य का अक्सर निबटारा हुआ है, उसने १५२६ में दिल्ली के तख़्त पर अधिकार कर लिया। यह विजेता बाबर था, जो कि तुर्की-मंगोल था, और मध्य-एशिया के तैमूरिया ख़ानदान का था। उसीसे हिंदुस्तान की मुग़ल सल्तनत का आरंभ होता है।

बाबर की सफलता का कारण शायद दिल्ली की सल्तनत की कमज़ोरी ही नहीं थी, बल्कि यह भी थी कि उसके पास एक नया तोपख़ाना था, जैसा कि उस समय हिंदुस्तान में प्रयोग में नहीं आया था। इस समय से आगे हिंदुस्तान युद्ध के विज्ञान की तरक़्क़ी करने में पिछड़ता जाता है। यह कहना अधिक सही होगा कि सारा एशिया इस विज्ञान में जहां-का-तहां बना रहा जब कि यूरोप ने इसमें बराबर उन्नति की। महान् मुग़ल साम्राज्य (यद्यपि हिंदुस्तान में दो सौ साल तक यह शक्तिशाली बना रहा) शायद सत्रहवीं सदी के बाद यूरोपीय फ़ौजों के साथ बराबर के मुक़ाबले में ठहर न सकता था। लेकिन जब तक कि समुद्री रास्ते पर क़ाबू न हो कोई यूरोपीय सेना हिंदुस्तान तक पहुँच नहीं सकती थी। जो बड़ा परिवर्तन इन सदियों में होता रहा था वह यह था कि यूरोप के लोग समुद्री शक्ति में उन्नति कर रहे थे। दक्खिन में, तेरहवीं सदी में, चोल राज्य के गिरने के बाद, हिंदुस्तान की समुद्री शक्ति तेज़ी से घटी। पांड्य के छोटे से राज्य का समुद्र से संबंध होते हुए भी वह बहुत सुदृढ़ न था। हिंदुस्तान के उपनिवेशों का समुद्र पर प्रभाव फिर भी, पंद्रहवीं सदी तक, बना रहा, और उस समय अरब वालों ने उनसे बाज़ी जीत ली और उनके जल्द बाद पुर्तगालियों ने।

५ : मिली-जुली संस्कृति का विकास और समन्वय : पर्दा : कबीर : गुरु नानक : अमीर खुसरो

चाहे अपनी खुशी से उन्होंने ऐसा किया हो, चाहे परिस्थिति ने उन्हें विवश किया हो, अफ़ग़ान शासक और उनके साथ आनेवाले लोग हिंदुस्तान में समा गए। उनके खानदान पूरी तौर पर हिंदुस्तानी हो गए, और उनकी जड़ें हिंदुस्तान में फैलीं; उन्होंने हिंदुस्तान को अपना घर समझा और शेष दुनिया को विदेश माना। बावजूद राजनीतिक झगड़ों के, उन्हें लोगों ने भी ऐसा ही ख़याल किया, और बहुत से राजपूत राजों तक ने उन्हें अपना शासक समझा। लेकिन और राजपूत सरदार भी थे जिन्होंने उनका मातहत होने से इन्कार भी किया, और भयानक लड़ाइयां भी हुई। दिल्ली के प्रसिद्ध सुल्तान फ़ीरोज़शाह की मां हिंदू औरत थी; इसी तरह ग़यासुद्दीन तुग़लग की मां भी। अफ़ग़ान, तुर्क और हिंदू उमरावों में इस तरह की शादियां आम नहीं थीं, लेकिन फिर भी होती थीं। दक्खिन में गुलबर्ग के मुसलमान शासक ने विजयनगर की एक हिंदू राजकुमारी के साथ बड़ी धूमधाम के साथ ब्याह किया था।

ऐसा जान पड़ता है कि मध्य और पच्छिमी एशिया में हिंदुस्तानियों के बारे में बड़े अच्छे ख़याल थे। ग्यारहवीं सदी के पुराने ज़माने में, अर्थात् अफ़ग़ानों की विजय से पहले, इदरीसी नाम के एक मुसलमानी भौगोलिक ने लिखा था : "हिंदुस्तानी स्वभाव से इंसाफ़-पसंद हैं, और इससे अपने व्यवहार में कभी डिगते नहीं। उनकी नेकी, ईमानदारी और अपने वादों के प्रति वफ़ादारी मशहूर है।"

एक चालू शासन स्थापित हो गया और आवागमन के साधनों की विशेषकर उन्नति हुई, यद्यपि इसका कारण सैनिक सुविधाएं पैदा करना था। सरकार इस बात का खयाल करती थी कि स्थानीय रिवाज़ों में हस्तक्षेप न करे। फिर भी वह अधिक केंद्रीय हो चली थी। शेरशाह, (जिसका समय मुग़लों के काल के बीच में आ पड़ता है) अफ़ग़ान शासकों में सबसे योग्य था। उसने मालगुज़ारी की ऐसी प्रथा की नींव रक्खी कि उसे बाद में अकबर ने भी उठा लिया और फैलाया। अकबर का प्रसिद्ध वित्त-मंत्री, राजा टोडरमल, पहले शेरशाह के यहां इसी पद पर था। अफ़ग़ान हाकिम हिंदुओं को क्रमशः अधिक ओहदे देने लगे थे।

हिंदुस्तान और हिंदूधर्म पर अफ़ग़ानों की विजय के दो प्रभाव पड़े, और इनमें से दोनों एक-दूसरे को काटते हुए थे। तत्काल जो प्रभाव पड़ा वह यह था कि बहुत से लोग दक्खिन में चले गए और अफ़ग़ान शासन के प्रदेशों से दूर हो रहे। जो

वच रहे वह और कट्टर वन गए और अलग-थलग रहने लगे; वह अपने ही खोल में समा गए और अपनी वर्ण-व्यवस्था को और कड़ा करके विदेशी ढंगों और प्रभावों से अपने को वचाने की चिंता में लगे। दूसरी ओर विचार और जीवन के इन विदेशी ढंगों की ओर लोगों का क्रमशः और अनायास रुझान पैदा होने लगा। फिर एक समन्वय पैदा हुआ। इमारत की कला में नई शैलियां उपजीं; खाना-कपड़ा वदला और वहुत तरह के अंतर रहन-सहन में पैदा हो गए। यह समन्वय संगीत में विशेषकर प्रकट था, जिसने कि पुराने हिंदुस्तानी शास्त्रीय ढाँचे को वनाए रखते हुए अनेक दिशाओं में उन्नति की। फ़ारसी भाषा सरकारी दरवार की भाषा वन गई और वहुत से फ़ारसी शब्द साधारण प्रयोग में आने लगे। साथ-ही-साथ एक आम भाषा को भी प्रोत्साहन मिला।

हिंदुस्तान में जो वुरी वात पैदा हुई उनमें से एक परदे के रिवाज़ की तरक़्क़ी थी। ऐसा क्योंकर हुआ यह साफ़ नहीं, लेकिन आनेवालों की पुराने लोगों पर होनेवाली प्रतिक्रिया का यह नतीजा ज़रूर था। हिंदुस्तान में, इससे पूर्व मर्द और औरत अमीरों के वर्ग में तो कुछ अलग-अलग ज़रूर रहते थे, जैसा कि और देशों में भी, विशेषकर यूनान में था। दोनों के अलग-अलग रहने का कुछ इसी तरह का रिवाज़ ईरान में भी था, वल्कि सारे पच्छिमी एशिया में था लेकिन कहीं भी सख्त क़िस्म का परदा नहीं होता था। शायद इसका आरंभ वाइज़ेंटाइन दरवारियों के दायरे में हुआ, जहां कि ज़नानखाने की निगरानी के लिए ख्वाजासरा नियुक्त किए जाते थे। वाइज़ेंटाइन प्रभाव रूस में पहुंचा जहां कि ठीक महान पीटर के समय तक औरतें काफ़ी कड़े परदे में रक्खी जाती थीं। इसका तातारों से कोई संवंध न था जिनके वारे में यह वात प्रायः प्रचलित है कि वह अपनी औरतों को अलग नहीं रखते थे। अरव और फ़ारस की मिली-जुली सभ्यता पर वाइज़ेंटाइन रीति-रिवाज़ों का वहुत कुछ असर पड़ा और संभवतः ऊँचे वर्ग की स्त्रियों का अलग रहना चल पड़ा। फिर भी अरव में या पच्छिमी और मध्य-एशिया में स्त्रियों में कोई कड़ा परदा न होता था। जो अफ़ग़ानी उत्तरी हिंदुस्तान में दिल्ली की फ़तह के वाद आए उनके यहां परदे की कड़ी पावंदी न होती थी। तुर्की और अफ़ग़ान शहज़ादियां और वेगमें अक्सर घोड़े की सवारी, शिकार और मेल-मुलाक़ात के लिए निकला करती थीं। यह एक पुराना मुसलमानी रिवाज़ है, जिसकी पावंदी अव भी होती है, कि हज के सफ़र में उन्हें अपने चेहरों को खुला रखना चाहिए। मालूम पड़ता है कि

परदे के रिवाज़ की उन्नति हिंदुस्तान में मुग़लों के ज़माने में हुई, जबकि इसे हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ही में पद और इज़्ज़त की निशानी समझा जाने लगा। परदे की यह प्रथा विशेषकर ऊँचे वर्ग के लोगों में उन सभी जगहों में तेज़ी से फैली जहां कि मुसलमानों का प्रभाव था—अर्थात् उस बीच और पूरब के बड़े प्रदेश में जिसमें दिल्ली, संयुक्त-प्रांत, राजपूताना, बिहार और बंगाल आ जाते हैं। लेकिन यह कुछ अजीब बात है कि पंजाब और सरहदी सूबे में परदे की पाबंदी बहुत कड़ी नहीं है। दक्खिन और पच्छिम हिंदुस्तान में कुछ हद तक मुसलमानों को छोड़ कर परदे का रिवाज़ नहीं रहा है।

इसमें मुझे ज़रा भी शक नहीं कि हाल की सदियों में हिंदुस्तान के ह्रास के कारणों में से एक ख़ास कारण औरतों को परदे में रखने का रिवाज़ है। मुझे इसका और भी अधिक विश्वास है कि इस बर्बर रिवाज़ का पूरी तरह अंत होना हमारे समाजी जीवन की उन्नति के लिए अनिवार्य है। औरत को इससे नुक़सान पहुँचता है, यह ज़ाहिर-सी बात है, लेकिन जो नुक़सान मर्द को पहुँचता है, जो बढ़ते हुए बच्चे को पहुँचता है, जिसे कि अपना बहुत-सा वक़्त औरतों के साथ परदे में बिताना पड़ता है, वह कम बड़ा नहीं है। सौभाग्य से यह रिवाज़ हिंदुओं में बहुत तेज़ी से उठ रहा है, और मुसलमानों में कुछ धीमी रफ़्तार से।

अफ़ग़ान लोग दिल्ली की गद्दी पर जम चुके थे और पुराने और नए तरीक़ों के बीच समन्वय का स्थापित होना शुरू हो चुका था। इनमें से अधिक परिवर्तन ऊपर के वर्गों में हुए और उनका प्रभाव आम जनता पर, विशेषकर देहाती जनता पर नहीं पड़ा। उनका आरंभ दरबारी क्षेत्र में होता और वह शहरों और क़स्बों में फैलता। इस तरह एक ऐसा सिलसिला चला जो कि कई सदियों तक चलता रहा और उत्तरी हिंदुस्तान में एक मिली-जुली संस्कृति बढ़ती रही। दिल्ली, और जिसे अब संयुक्त प्रांत कहते हैं इसके केंद्र बने, जिस तरह कि यह पुरानी आर्य-संस्कृति के केंद्र रहे और अब भी हैं। लेकिन आर्य-संस्कृति का बड़ा हिस्सा खिसक कर दक्खिन पहुँचा, जोकि हिंदू कट्टरता का गढ़ बन गया।

तैमूर के हमले से दिल्ली की सल्तनत जब कमज़ोर हो गई तो जौनपुर (संयुक्त प्रांत) में एक छोटा-सा मुसलमानी राज्य क़ायम हुआ। सारी पंद्रहवीं सदी भर यह कला, और संस्कृति और धार्मिक सहिष्णुता का केंद्र रहा। उन्नति करती हुई जनसाधारण की भाषा हिंदी को यहां प्रोत्साहन मिला, और हिंदुओं और मुसलमानों

के धर्मों में समन्वय उत्पन्न करने के भी यत्न हुए। लगभग इसी समय उत्तर में दूर कश्मीर में भी, ज़ैनुलआबदीन नाम के एक मुसलमान राजा ने, अपनी सहिष्णुता और संस्कृत विद्या और पुरानी संस्कृति के प्रोत्साहन के लिए, यश प्राप्त किया।

सारे हिंदुस्तान में यह नया ख़मीर काम कर रहा था और लोगों के मस्तिष्कों में नए विचार कुरेद पैदा कर रहे थे। पुराने ज़माने की तरह, हिंदुस्तान में, इस नई परिस्थिति के पक्ष में एक प्रतिक्रिया चल रही थी, और विदेशी तत्वों को अपने में समाविष्ट करने के यत्न में वह अपने को कुछ बदल रहा था। इस ख़मीर में से नए ढंग के सुधारक उत्पन्न हुए जिन्होंने कि इस समन्वय के पक्ष में निश्चय के साथ उपदेश दिए और अक्सर वर्ण-व्यवस्था की निंदा या अवहेलना की। दक्खिन में पंद्रहवीं सदी में हिंदू रामानंद हुए और उनके और भी मशहूर चेले बनारस में कबीर हुए, जोकि मुसलमान जुलाहे थे। उत्तर में गुरु नानक हुए, जो कि सिख धर्म के संस्थापक माने जाते हैं। इन लोगों का असर उन मतों तक सीमित नहीं था जोकि इनके नाम पर प्रचलित हुए, बल्कि उससे कहीं अधिक विस्तृत था। सारे हिंदू धर्म पर इन नए विचारों का प्रभाव पड़ा और हिंदुस्तान का इस्लाम भी और जगहों के इस्लाम से भिन्न बन गया। इस्लाम के प्रबल एकेश्वरवाद का हिंदूधर्म पर प्रभाव पड़ा, और हिंदुओं के बहुत से देवी-देवताओं में विश्वास का कुछ असर हिंदुस्तानी मुसलमानों पर पड़े बग़ैर न रहा। हिंदुस्तानी मुसलमानों में से अधिक ऐसे थे जो नौ-मुस्लिम थे, और यहां की पुरानी परंपरा में पले थे, बाहर से आनेवाले मुसलमान अपेक्षाकृत थोड़े थे। मुस्लिम रहस्यवाद और सूफ़ी-मत की, जिसका आरंभ कदाचित् नए अफलातूनी मत से हुआ था, उन्नति हुई।

विदेशी लोगों के हिंदुस्तान में बराबर जज़्ब होने का सबसे मार्के का पता इस बात से लगता है कि मुल्क की आम भाषा को उन्होंने उठा लिया, यद्यपि फ़ारसी दरबार की भाषा बनी रही। आरंभ के मुसलमानों की लिखी हुई हिंदी की कई प्रसिद्ध किताबें हैं। इन लिखनेवालों में सबसे मशहूर खुसरो था, जोकि एक तुर्क था, और जिसका घराना संयुक्त-प्रांत में दो-तीन पीढ़ियों से बस गया था। यह चौदहवीं सदी में हुआ और इसने कई अफ़ग़ान सुल्तानों के ज़माने देखे थे। फ़ारसी का तो वह चोटी का शायर था; वह संस्कृत भी जानता था। वह बहुत बड़ा संगी-तज्ञ भी था, और हिंदुस्तानी संगीत में उसने कई नई बातें पैदा कीं। यह भी कहा जाता है कि हिंदुस्तान का आम-पसंद वाद्य-यंत्र सितार उसी का आविष्कार है।

उसने बहुत से विषयों पर लिखा है और विशेष-रूप से हिंदुस्तान की प्रशंसा की है और यह बताया है कि किन-किन बातों में हिंदुस्तान बढ़ा हुआ है। इनमें धर्म, दर्शन, तर्क-शास्त्र, भाषा और व्याकरण (संस्कृत), संगीत, गणित, विज्ञान और आम का फल बताए गए हैं!

लेकिन हिंदुस्तान में विशेषकर उसकी प्रसिद्धि का कारण उसके आम-पसंद गीत हैं, जिन्हें कि उसने लोगों की आम ज़बान हिंदी में लिखा है। उसने साहित्यिक माध्यम न चुनकर बड़ी बुद्धिमानी की, क्योंकि उसे मुट्ठी भर लोग ही समझ पाते। उसने गाँववालों की भाषा का ही नहीं प्रयोग किया, बल्कि उनके रीति-रिवाज़ और रहन-सहन के ढंग का भी वर्णन किया। उसने भिन्न-भिन्न रितुओं के गीत लिखे हैं, और हिंदुस्तान की पुरानी शास्त्रीय परंपरा के अनुसार हर एक रितु के लिए अलग राग और बोल हैं; उसने जीवन के विविध पहलुओं पर गीत रचे हैं—दुल्हन के आने पर, प्रेमी के वियोग पर, वर्षा-रितु पर, जब कि जली हुई धरती से नया जीवन फूट निकलता है। यह गीत अब भी दूर-दूर तक गाए जाते हैं और हम इन्हें उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान के किसी गाँव या शहर में सुन सकते हैं विशेषकर तब, जब कि वर्षा रितु आती है, और हर एक गाँव में आम और पीपल की शाखाओं में बड़े-बड़े झूले पड़ते हैं, और गाँव के सभी लड़के-लड़कियां उसे मनाने के लिए इकट्ठा होते हैं।

अमीर ख़ुसरो ने बहुत-सी पहेलियां भी रची हैं जो कि बच्चों और बड़ों, दोनों में ही बहुत चलती हैं। अपने जीवन में ही ख़ुसरो गीतों और पहेलियों के लिए मशहूर हो गया था। उसकी यह ख्याति बढ़ती ही रही है। मैं और कहीं भी ऐसी मिसाल नहीं पाता कि छः सौ साल पहले जो गीत लिखे गए हों वह अब भी आम-पसंद हों और अब भी शब्दों की फेर-फार के बिना, ज्यों-के-त्यों, गाए जाते हों।

६ : हिंदुस्तानी समाजी संगठन : वर्ग का महत्व

हिंदुस्तान के बारे में जो लोग भी कुछ जानते हैं, उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का हाल सुन रक्खा है। 'वर्ण' या 'जात' शब्द के प्रयोग से कुछ भ्रांति उत्पन्न होती है, क्योंकि अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग अर्थ लगाते हैं। साधारण यूरोपीय या उसीके जैसे विचारों वाला हिंदुस्तानी यह समझता है कि यह केवल वर्गों को पत्थर की तरह दृढ़ करके अलग-अलग कर देना है, और यह केवल इस बात की युक्ति है कि वर्ग-भेद बना रहे, ऊँचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए चोटी पर बने चले आवें और नीचे

वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए नीचे ही बने रहें। इस विचार में सचाई है, और आरंभ में शायद यह इस बात की तरकीब थी कि आर्य विजेता उन लोगों से न मिलने-जुलने पावें जिन्हें कि उन्होंने हराया था। आरंभ में चाहे इस व्यवस्था में लचीलापन रहा हो लेकिन जिस तरह इसने उन्नति की है, उससे निश्चय यही परिणाम निकलता है। लेकिन सचाई का यह केवल एक पक्ष है। और इस से यह नहीं पता चलता कि आखिर इस व्यवस्था में इतनी शक्ति और मज़बूती क्योंकर रही कि यह आज तक चली आ रही है। इसने बौद्धधर्म के प्रबल टक्कर को झेल लिया और अफ़ग़ान और मुग़ल शासन और इस्लाम के प्रसार की कई सदियां ही नहीं देखीं, बल्कि अनगिनित हिंदू सुधारकों के, जिन्होंने कि इसके विरुद्ध अपनी आवाज़ें बलंद कीं, वार सहे। यह तो केवल आज-कल ऐसा हुआ है कि उसकी बुनियाद पर ही हमला हो रहा है और इसका अस्तित्व ही जोखिम में है। इसका कारण विशेषकर हिंदू समाज में उपजी हुई कोई प्रबल प्रेरणा नहीं है, यद्यपि निश्चय ही ऐसी प्रेरणा मौजूद है; न यही कारण है कि पच्छिमी विचार हमारे बीच में आ गए हैं, यद्यपि ऐसे विचारों ने अवश्य अपना प्रभाव डाला है। जो परिवर्तन हमारी आँखों के सामने हो रहे हैं उनका कारण मुख्यतया यह है कि बुनियादी आर्थिक परिवर्तनों ने हिंदुस्तानी समाज के सारे ढाँचे को हिला दिया है और संभव है कि उसे पूरी तरह से उलट-पलट दें। जीवन की स्थितियों में परिवर्तन आ गया है, विचार के ढंग बदल रहे हैं, यहां तक कि अब असंभव जान पड़ता है कि वर्ण-व्यवस्था बनी रह सके। उसकी जगह क्या चीज़ ले लेगी यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि केवल वर्ण-व्यवस्था ही जोखिम में नहीं है। संघर्ष है सामाजिक संगठन के प्रश्न पर दो अलग-अलग दृष्टिकोणों में। एक तरफ़ है पुराना हिंदू विचार कि वर्ग या गिरोह संगठन की बुनियादी इकाई है; दूसरी तरफ पच्छिम का विचार है जो बहुत अधिक व्यक्तिवाद पर ज़ोर देता है, जो व्यक्ति को वर्ग से ऊपर रखता है।

यह संघर्ष हिंदुस्तान की ही विशेषता नहीं है: यह पच्छिम में भी और सारी दुनिया में चल रहा है, यद्यपि वहां इसने दूसरे रूप ग्रहण किए हैं। अब वर्ग और समाज के महत्व पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाने लगा है और सवाल यह पैदा हो गया है कि व्यक्ति और वर्ग के पक्षों के बीच समझौता कैसे कराया जाय। इस समस्या का हल अलग-अलग देशों में अलग-अलग रूप ले सकता है, फिर भी रुझान इस ओर है कि एक बुनियादी हल प्राप्त किया जाय, जोकि सब पर एक प्रकार से लागू हो।

सर जार्ज वर्डउड ने कहीं पर कहा है : "जब तक हिंदू अपनी वर्ण-व्यवस्था को क़ायम रखते हैं, तब तक हिंदुस्तान हिंदुस्तान बना रहेगा; लेकिन जिस दिन उन्होंने इसे छोड़ा, उस दिन से हिंदुस्तान न रह जायगा। यह शानदार प्रायद्वीप, गिर कर ऐंग्लो-सैक्सन साम्राज्य के घोर 'ईस्ट एंड' की हालत पर पहुँच जायगा।" वर्ण-व्यवस्था रहे चाहे न रहे हम ब्रिटिश साम्राज्य में उस हालत पर बहुत दिनों से गिर कर पहुँचे हुए हैं। और हर सूरत में, हमारी भविष्य की स्थिति चाहे भी जैसी हो, वह इस साम्राज्य की सरहद के भीतर नहीं सीमित रहेगी। लेकिन सर जार्ज वर्डउड ने जो कहा है, उसमें कुछ सचाई है, यद्यपि शायद उन्होंने इसे उस दृष्टि से नहीं देखा है। एक विशाल और पुराने सामाजिक संगठन के टूटने पर समाजी जीवन पूरी तौर पर तितर-बितर हो सकता है और सारे-के-सारे लोगों को मुसीबत का सामना करना पड़ सकता है, और व्यक्तियों के आचरण बड़े पैमाने पर विकृत रूप ले सकते हैं, अगर कोई दूसरा सामाजिक ढाँचा, जो कि जनता की प्रतिभा के अनुकूल हो उसकी जगह पर नहीं आ जाता। कदाचित् परिवर्तन के काल में तितर-बितर की दशा पैदा होना अनिवार्य है; यह स्थिति आज सारी दुनिया में काफ़ी फैली हुई है। शायद इस तरह की हालत से जो दुख और मुसीबतें आती हैं, उन्हीं के द्वारा लोग उन्नति करते हैं और जीवन के पाठ सीखते हैं और अपने को नई स्थितियों के अनुकूल ढाल लेते हैं।

फिर भी, हम एक व्यवस्था को केवल तोड़कर इस आशा में नहीं बैठे रह सकते कि कुछ अच्छा ही होगा; हमें उस भविष्य की, जिसके लिए कि हम काम कर रहे हैं, कोई कल्पना—वह अस्पष्ट कल्पना ही क्यों न हो—रखनी चाहिए। हम जगह खाली छोड़कर ही नहीं बैठ सकते, नहीं तो यह खाली जगह संभव है इस तरह भर जाय कि हमें पछताना पड़े। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने उस पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन को जानने और समझने की कोशिश करें जिसने कि लोगों पर इतना शक्तिशाली प्रभाव डाला है।

इस संगठन की नींव तीन विचारों पर थी : स्वतंत्र देहाती समाज, वर्ण-व्यवस्था और सम्मिलित कुटुंब। इन तीनों में ही वर्ग को बड़ाई दी गई है; व्यक्ति की जगह दूसरे दर्जे पर है। अलग-अलग इनमें से किसी विचार में बहुत अनोखापन नहीं, और इनमें से तीनों की बराबरी की व्यवस्थाएं हमें दूसरे देशों में भी मिल जायँगी, विशेषकर मध्य-युग में। पुराने हिंदुस्तानी प्रजातंत्रों की तरह सभी जगह आदिम

रूप में प्रजातंत्र मिल जायँगे। हिंदुस्तानी गाँव के समाज के ढंग के पुराने रूसी 'मीर' होते थे। वर्ण या ज़ात ख़ास तौर पर धंधों के अनुसार ही हैं, और यही प्रथा यूरोप के मध्ययुग के व्यावसायिक-संघों की रही है। चीन का सम्मिलित कुटुंव हिंदुस्तान के सम्मिलित कुटुंव से मिलता-जुलता है। मैं इन सवके वारे में इतनी जानकारी नहीं रखता कि इस वहस को आगे वढ़ाऊं और न मेरे उद्देश्य के लिए यह ज़रूरी ही है। सव कुछ लिए-दिए यह मानना पड़ेगा कि हिंदुस्तानी संगठन अपने ढंग का निराला था और यह समय के साथ-साथ और भी निराला हो गया।

७ : गाँव का स्वराज्य : शुक्र-नीति-सार

दसवीं सदी की एक पुरानी पुस्तक है, जिससे कि तुर्की और अफ़ग़ान हमलों से पूर्व की हिंदुस्तान की राजनीति-व्यवस्था का कुछ चित्र मिलता है। यह है शुक्राचार्य का 'नीति-सार'। इसमें केंद्रीय शासन के और शहर और गाँव के जीवन के संगठन का वर्णन मिलता है; साथ ही राज-सभा और वहुत से सरकारी महकमों के भी वयान हैं। गाँव की पंचायत, या चुनी हुई प्रतिनिधि-सभा के न्याय और व्यवस्था दोनों ही के संवंध में वड़े अधिकार थे और इसके सदस्यों को राजा के अधिकारी वहुत ही आदर की दृष्टि से देखते थे। यही पंचायत ज़मीन का वाँट करती थी और पैदावार का एक अंश कर के रूप में उगाहती थी, और गाँव की ओर से सरकार का अंश अदा किया करती थी। कई गाँव पंचायतों के ऊपर एक वड़ी पंचायत हुआ करती थी जो उनकी निगरानी करती और आवश्यकता पड़ने पर उनके कामों में हस्तक्षेप भी कर सकती थी।

कुछ पुराने शिलालेख हमें यह भी वताते हैं कि गाँव-पंचायतों के सदस्य किस तरह चुने जाते थे और उनमें क्या वातें गुण और दोष की समझी जाती थीं। अलग-अलग समितियां वनाई जाती थीं, जिनके लिए वार्षिक चुनाव होते थे और जिनमें स्त्रियां भाग ले सकती थीं। अच्छा आचरण न करने पर कोई भी सदस्य अपने पद से हटाया जा सकता था। सार्वजनिक रुपए-पैसों का ठीक-ठीक हिसाव न दे सकने पर कोई भी सदस्य अयोग्य ठहराया जा सकता था और अलग किया जा सकता था। पक्षपात रोकने के लिए वनाए गए एक दिलचस्प नियम का वर्णन मिलता है : सार्वजनिक पदों पर इन सदस्यों के निकट संवंधियों की नियुक्ति नहीं हो सकती थी।

इन गाँव-पंचायतों को अपनी स्वतंत्रता का बड़ा ध्यान रहता था और यह नियम बना हुआ था कि जब तक राजाज्ञा न मिली हो कोई भी सिपाही गाँव में प्रवेश नहीं पा सकता था। अगर किसी पदाधिकारी की शिकायत लोग करें तो 'नीतिसार' का कहना है कि राजा को 'अपने पदाधिकारियों का पक्ष न करके अपनी प्रजा का पक्ष लेना चाहिए।' यदि बहुत लोग शिकायत करें तो पदाधिकारी को पदच्युत कर देना चाहिए 'क्योंकि पद के मद से कौन उन्मत्त नहीं हो जाता।' राजा का जनता के बहुमत के अनुसार काम करने का कर्त्तव्य बताया गया था। 'लोकमत राजा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है; जिस तरह कि बहुत से तारों की बटी हुई रस्सी शेर को भी खींच लाती है।' 'पदाधिकरियों की नियुक्ति करते समय चरित्र और योग्यता का ध्यान रखना चाहिए—ज़ात या घराने का नहीं' और 'न वर्ण से और न पुरखों द्वारा ब्राह्मणत्व का भाव उत्पन्न किया जा सकता है।'

बड़े क़स्बों में बहुत से कारीगर और व्यापारी बसते थे और उनके संघ या समितियां और महाजनों के संगठन हुआ करते थे। इनमें से हर एक अपने घरेलू मामलों के नियंत्रण में स्वतंत्र था।

यह सब सूचनाएं बहुत अधूरी हैं, लेकिन इनसे और बहुत से दूसरे सूत्रों से पता चलता है कि शहरों और गाँवों में स्थानीय स्वराज की व्यापक व्यवस्था थी और जबतक उसे अपना कर का हिस्सा मिलता रहे केंद्रीय सरकार इसमें बहुत ही कम हस्तक्षेप करती थी। क़ानून में रिवाज पर बड़ा ज़ोर दिया जाता था और रिवाज के द्वारा स्थापित अधिकारों में राजनीतिक या सैनिक शक्ति शायद ही कभी हस्तक्षेप करती रही हो। आरंभ में खेती की प्रथा की बुनियाद सहयोग या सारे गाँव के मिल-जुलकर काम करने पर थी। व्यक्तियों और घरानों के कुछ अधिकार थे और कुछ कर्त्तव्य भी थे, और दोनों की रक्षा रिवाज द्वारा होती थी।

हिंदुस्तान में राजत्व धार्मिक बंधन के रूप में नहीं था। हिंदुस्तान की राजनीति के अनुसार अगर राजा अन्यायी या अत्याचारी हो, तो उसके विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार माना हुआ अधिकार था। दो हज़ार वर्ष पहले चीनी दार्शनिक मेंसियस ने जो कहा था वह हिंदुस्तान पर भी लागू होता है: "जब कि शासक अपनी प्रजा को घास और कूड़े की तरह समझे, तब प्रजा को उसे लुटेरे और दुश्मन की तरह समझना चाहिए।" यहां राजकीय अधिकारों की सारी कल्पना यूरोप की सामंती

कल्पना से भिन्न थी, जिसमें कि राजा को अपने राज्य के सब लोगों और वस्तुओं पर अधिकार प्राप्त था। यह अधिकार वहां राजा अपने सामंतों को दे देता था और यह लोग राजभक्ति की प्रतिज्ञा करते थे। इस तरह अधिकार की एक सीढ़ी तैयार हो जाती थी। धरती और उससे संबंध रखने वाले लोग सामंती लार्ड की और उसके द्वारा राजा की प्रजा हो जाते थे। हिंदुस्तान में इस तरह की कोई चीज़ नहीं थी; राजा को ज़मीन से कुछ कर उगाहने का अधिकार था, और कर उगाहने के इस अधिकार को ही यह दूसरों को दे सकता था। हिंदुस्तान में किसान सामंतों का ग़ुलाम नहीं होता था। ज़मीन की कोई कमी न थी, इसलिए किसान को बेदख़ल करने में कोई लाभ भी न था। इस तरह हिंदुस्तान में ज़मीदारी की वैसी प्रथा न थी जैसी कि पच्छिम में थी; न किसान व्यक्तिगत रूप से अपनी ज़मीन का मालिक हुआ करता था। यह दोनों विचार बहुत बाद में अंग्रेज़ों के द्वारा प्रस्तुत हुए हैं और इनके भयंकर नतीजे भी हुए हैं।

विदेशियों की विजय के साथ-साथ देश में लड़ाइयां और तबाहियां आईं, विद्रोह हुए और उनका दमन हुआ, और नए हाकिमों ने अपने हथियारों के ज़ोर पर भरोसा किया। देश के रिवाजी क़ानून की बंदिशों को यह हाकिम अक्सर तोड़ सकते थे। इसके गंभीर परिणाम हुए और स्वतंत्र गाँवों की आज़ादी में कमी आई, और बाद में मालगुज़ारी की वसूलयाबी के तरीक़ों में बहुत-से परिवर्तन हुए। फिर भी अफ़ग़ान और मुग़ल हाकिमों ने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा कि पुराने रीति-रिवाजों में दख़ल न दिया जाय और कोई बुनियादी अदल-बदल न किए जायँ, और हिंदुस्तानी जीवन का समाजी और आर्थिक ढाँचा पहले जैसा बना रहा। ग़यासुद्दीन तुग़लक ने अपने हुक्कामों को इस बात की ख़ास हिदायतें दे रक्खी थीं कि रिवाजी क़ानून की रक्षा होनी चाहिए और रियासती मामलों को धर्म से, जो जाती पसंद की चीज़ है, अलग रखना चाहिए। लेकिन काल के चक्र और लड़ाइयों के कारण और इस वजह से कि सरकार में केंद्रीयता बढ़ती जा रही थी, रिवाजी क़ानून का बल कम होता गया। फिर भी गाँवों की स्वतंत्रता बनी रही। इसका टूटना अंग्रेज़ी हूकुमत में जाकर आरंभ हुआ।

८ : वर्ण-व्यवस्था : सम्मिलित कुटुंब

हैवेल का कहना है कि "हिंदुस्तान में धर्म हठवाद की हैसियत नहीं रखता

वल्कि आत्मिक उन्नति और जीवन की विभिन्न स्थितियों को ध्यान रखते हुए मानवी आचार का एक चालू सिद्धांत है।" प्राचीन काल में, जब कि भारतीय आर्य-संस्कृति की रूप-रेखा बन रही थी उस समय धर्म को ऐसे लोगों की आवश्यकता का ध्यान रखना पड़ा जो कि बौद्धिक और आत्मिक विकास की दृष्टि से इतने विभिन्न थे जितने कि हो सकते हैं। एक तो वन में रहने वाले आदिम लोग थे, फिर जादू-टोने और आत्माओं में विश्वास करने वाले और प्रतीक-पूजक लोग थे और सभी तरह के अंध-विश्वासी आदमी थे, दूसरे ऐसे लोग भी थे जो आध्यात्मिक विचार की सबसे ऊँची सीढ़ियों तक पहुँच चुके थे। इन दोनों छोरों के बीच विश्वास और आचार के अनेक स्तर थे। कुछ लोग तो ऊँचे-से-ऊँचे विचारों में लगे हुए थे लेकिन ऐसे विचार अधिकतर लोगों की पहुँच से वाहर थे। ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन ने उन्नति की, विश्वासों में कुछ समानताएं भी पैदा हुई; फिर भी संस्कृति और व्यक्तिगत प्रकृति के भेदों के कारण बहुत से भेद शेष रह गए। भारतीय-आर्य दृष्टिकोण तो यह था कि किसी भी विश्वास को वलपूर्वक न दवाया जाय, और किसी दावे को रद्द न किया जाय। हर एक वर्ग को स्वतंत्रता थी कि वह अपने आदर्शों की, अपनी-अपनी समझ और बौद्धिक स्तर के अनुसार, पूर्ति करने में लगे। समन्वय के यत्न होते थे, लेकिन किसी विश्वास का विरोध नहीं किया जाता था, न उसे दवाया जाता था।

वर्ण-व्यवस्था, सेवाओं और धंधों के वुनियाद पर वनी हुई, एक वर्ग-व्यवस्था थी। समान नियम लागू किए विना, और हर एक वर्ग को पूरी स्वतंत्रता देते हुए, इसका उद्देश्य सभी वर्गों को एक व्यवस्था के अंदर ले आना था। इसके विस्तृत दायरे के भीतर एक पत्नी रखने, एक से अधिक पत्नी रखने और ब्रह्मचर्य की, सभी प्रथाएं थीं; जिस तरह और रीति-रिवाजों, विश्वासों और आचारों के साथ सहिष्णुता बरती जाती थी उसी तरह इन सबसे भी रवादारी बरती जाती थी। हर एक स्तर पर जीवन को वनाए रक्खा गया था। किसी भी अल्प-संख्यक दल को, बहु-संख्यक दल की अधीनता स्वीकार करने की आवश्यकता न थी। शर्त यही थी कि लोग इतने काफ़ी हो जायँ कि उनका एक विशिष्ट वर्ग कहला सके, और वह वर्ग की हैसियत से वना रह सके। दो वर्गों के बीच जाति, धर्म, रंग, संस्कृति और मानसिक विकास के अपार भेद हो सकते थे।

व्यक्ति का विचार, एक वर्ग के सदस्य के रूप में ही किया जाता था; अगर

वह वर्ग के अस्तित्व में बाधक नहीं है, तो जो चाहे वह करने के लिए स्वतंत्र था। उसे अपने वर्ग के धंधे में बाधा डालने का कोई अधिकार नहीं था। हां, अगर वह इतना शक्तिशाली हो, और इतने साथी इकट्ठा कर सके कि उसका एक अलग वर्ग बन सके तो वह एक नया वर्ग खुशी से स्थापित कर सकता था। अगर वह किसी वर्ग में बैठ नहीं सकता तो इसके यह अर्थ होते कि जहां तक दुनिया के सामाजिक व्यवहार हैं, वह उनके योग्य नहीं। ऐसी हालत में वह संन्यासी हो सकता था, और वर्ण को, हर एक वर्ग को और कार्य-क्षेत्र को छोड़ सकता था और घूमता-फिरता रह कर जो चाहे कर सकता था।

यह याद रखना चाहिए कि जहां हिंदुस्तानी सामाजिक प्रवृत्ति यह थी कि व्यक्ति की अपेक्षा वर्ग या समाज के दावे को ऊँचा समझा जाय, वहां धार्मिक विचार और आध्यात्मिक खोज के मामलों में व्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल दिया गया है। मुक्ति और ब्रह्म-ज्ञान के दरवाजे सब के लिए खुले थे—हर वर्ग के लिए चाहे वह ऊँचा हो चाहे नीचा। यह मुक्ति या ज्ञान वर्ग के लिए नहीं हो सकते थे; यह पूरी तौर पर व्यक्ति के लिए होते। इस मुक्ति की खोज के बारे में कोई बँधे नियम नहीं थे, और समझा यह जाता था कि सभी मार्गों से इस तक पहुँचा जा सकता है।

मुख्य-मुख्य वर्ण कौन थे? अगर हम क्षण भर के लिए उन लोगों को छोड़ दें जिन्हें कि वर्ण से बाहर समझा जाता था, अर्थात् अछूतों को, तो फिर ब्राह्मण थे, जो पुरोहित, गुरु और विचारक होते थे; क्षत्रिय, जो शासक और युद्ध करने वाले लोग थे; वैश्य, सौदागरी, तिजारत, महाजनी आदि करते थे; और शूद्र थे, जो कि किसानी और दूसरे काम किया करते थे। इन सब में शायद एक ही वर्ण खूब संगठित और अलग-थलग रहने वाला था, अर्थात् ब्राह्मणों का। क्षत्रिय अपने वर्ग को, विदेशों से आनेवाले लोगों और देश में शक्ति और पद हासिल कर लेने वाले लोगों, दोनों के व्यक्तियों को लेकर अपनी संख्या बढ़ाते रहते थे। वैश्य लोग विशेषकर व्यापार और महाजनी करते थे और कुछ और पेशों में भी थे। खेती-बाड़ी और घरेलू नौकरी-चाकरी शूद्रों के मुख्य धंधे थे। ज्यों-ज्यों नए धंधे निकलते थे या दूसरे कारणों से, नई जातों के बनने का सिलसिला बराबर जारी रहता था, और पुरानी जातों का दर्जा समाज के भीतर उन्नति करता जाता था। यह सिलसिला हमारे समय तक चला आया है। कभी-कभी नीची जात वाले जनेऊ

पहन लेने लग जाते हैं जोकि केवल ऊँची जात वालों के लिए ही बना समझा जाता है। इन सब बातों से विशेष अंतर न उत्पन्न होता, क्योंकि जात का एक दायरा निश्चित था और हर जात का धंधा या पेशा अलग होता। यह केवल मान का प्रश्न हुआ करता। कभी-कभी नीचे वर्गों के लोग अपनी योग्यता के कारण राज्य में ऊँचे ओहदों तक उन्नति करके पहुँच जाते थे, लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।

दलित जाति के और अछूत लोग कौन होते थे? 'दलित जाति' एक नया नामकरण है और एक अस्पष्ट ढंग से समाज के बिलकुल नीचे के तल की कुछ जातों पर लागू होता है। इनके और औरों के बीच कोई निश्चित विभाजक-रेखा नहीं है। उत्तरी हिंदुस्तान में, बहुत थोड़े से लोग, जो कि भंगी या मेहतर का काम करते हैं, अछूत समझे जाते हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में इनकी गिनती कहीं बड़ी है। इनका आरंभ कैसे हुआ और गिनती में यह इतने बढ़ कैसे गए, यह बता सकना बड़ा कठिन है। शायद वह लोग जो गंदे समझे जाने वाले पेशों में लगे थे पहले ऐसे समझे जाते थे और बाद में उनके साथ ऐसे किसानी करने वाले मजदूर जुड़ गए जिनकी अपनी ज़मीन न थी।

हिंदुओं में आचार की शुद्धता का बेहद कड़ा विचार रहा है। इसका एक अच्छा परिणाम रहा और बहुत से बुरे परिणाम भी हुए। अच्छा परिणाम तो शरीर की स्वच्छता थी। नित्य का स्नान हिंदुओं के जीवन का एक मुख्य अंग रहा है, इसमें अधिकतर दलित-वर्ग भी शरीक हैं। सफ़ाई का यह विचार वैज्ञानिक न समझना चाहिए, क्योंकि वही व्यक्ति जोकि दिन में दो बार स्नान करेगा बिना संकोच के ऐसा पानी पी लेगा जो कि साफ़ नहीं है और जिसमें कीटाणु भरे पड़े हैं। यह भी देखने में आएगा कि सफ़ाई का ख़ुद कोई विचार नहीं पैदा होता, बल्कि इसलिए उसका ख़याल किया जाता है कि इसे धर्म की आज्ञा का रूप दिया गया है। जहां यह धर्म की आज्ञा के रूप में नहीं, वहां 'सफ़ाई का दर्जा स्पष्टतया गिरा हुआ होता है।

आचार-विचार-संबंधी शुद्धता का बुरा परिणाम यह हुआ कि अलग-रहने की प्रवृत्ति, और छूत-छात ने उन्नति की, और ग़ैर-बिरादरी वालों के साथ बैठकर खाना-पीना मना किया गया। और यह बात इतनी बढ़ी कि दुनिया भर में ऐसी मिसाल और कहीं नहीं मिलती। इसका नतीजा यह भी हुआ कि कुछ ख़ास जातों

वाले इसलिए अछूत समझे जाने लगे, कि उन्हें ऐसे आवश्यक धंधों में लगना पड़ता था जो कि गंदे समझे जाते हैं। आमतौर पर अपने ही जात वालों के साथ खाने का रिवाज सभी जातों में फैला। यह रिवाज ऊँची ज़ात वालों के यहां से उठ रहा है। लेकिन नीची जात वालों में, जिनमें कि दलित जातियां भी हैं, यह अब भी चल रहा है।

जब आपस में खाने-पीने की इतनी मनाही रही तो विभिन्न जातवालों के बीच शादी-व्याह के बारे में क्या कहना है? कुछ मिली-जुली शादियों का होना तो अनिवार्य था लेकिन सब कुछ लेकर, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि हर एक जात ने अपनी ही हद के अंदर शादी-व्याह बनाए रक्खा। नीचे के स्तर के कुछ वर्गों के बारे में कभी-कभी कहा जाता है कि यह जात से बाहर के हैं। वास्तव में कोई भी वर्ग, यहाँतक कि अछूत लोग भी वर्ण-व्यवस्था के चौखटे के बाहर नहीं है। दलित वर्ग और अछूत लोगों की अपनी अलग जातें हैं, उनकी पंचायतें अलग हैं, जोकि उनकी बिरादरी के लोगों की हैं और उनके आपस के मामलों को तै करती रहती हैं। लेकिन इनमें से बहुतों को गाँव के आम जीवन से बाहर करके बेरहमी से सताया गया है।

इस तरह पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन की दो मुख्य बातें थीं, एक स्वतंत्र गाँवों का होना, और दूसरी वर्ण-व्यवस्था। तीसरी बात थी मिले-जुले कुटुंब की प्रथा, जिसके सभी लोग आम जायदाद के मिले-जुले हिस्सेदार होते थे और जो बच रहते थे वह सभी विरासत के मालिक होते थे। बाप या कोई और बड़ा कुटुंब का कर्ता हुआ करता था, लेकिन उसका काम प्रबंध-कर्ता का होता था। प्राचीन रोम में 'पैटर फ़ैमिलियास' की जो हैसियत होती थी वह उसकी न थी। किन्हीं हालतों में, अगर फ़रीक़ चाहें, तो जायदाद का बटवारा हो सकता था। इस मिली-जुली जायदाद में कुटुंब के सभी लोगों का हिस्सा समझा जाता था, चाहे वह कमाते हों, चाहे न कमाते हों। अनिवार्य रूप से इसके यह अर्थ होते कि सभी को थोड़ा-थोड़ा निश्चित रूप से मिल जाता और कुछ को बहुत अधिक हिस्सा मिले ऐसा न होता था। यह एक प्रकार का बीमा था। जिससे कि वह लोग भी लाभ उठा लेते थे जोकि शरीर से अपंग होते या जिनके मस्तिष्क ठीक न होते। इस तरह पर जहां कि एक तरफ़ सबके गुज़र-बसर का प्रबंध हो जाता था, वहां चूंकि काम करने की पाबंदी न थी इसलिए काम भी ढीले तरीक़े पर होता और उसका लाभ

भी थोड़ा ही हो पाता। व्यक्तिगत लाभ या उत्साह पर वल न दिया जाता वल्कि इस वात पर कि वर्ग और कुटुंव का क्या लाभ है। एक वड़े कुटुंव में पलने और रहने का वच्चे पर यह प्रभाव होता कि अपने को वड़ा समझने का विचार नरम पड़ जाता और उसमें समाजी सहानुभूति की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती।

प्रजातंत्री परिपाटी से लोग अच्छी तरह परिचित ही न थे, वल्कि उसे समाजी जीवन में, स्थानीय शासन में, व्यापारी संघों में, धार्मिक समुदायों आदि में आम तौर पर वरतते थे। वर्ण-व्यवस्था की और जो भी वुराइयां हों, उसने हर एक वर्ग के भीतर यह प्रजातंत्री ढंग वनाए रक्खा। कार्य-संचालन, चुनाव और वहस के लंवे नियम होते थे। आरंभ की वौद्ध सभाओं के वारे में लिखते हुए मार्क्विस अव् ज़ेटलैंड ने कहा है: "वहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि हिंदुस्तान में, दो हज़ार या इससे भी ज़्यादा वर्ष पूर्व, वौद्धों की सभाओं में हमारी अपनी आजकल की पार्लमेंट की कार्यशैली मिलती है। सभा के गौरव का निर्वाह करने के लिए एक विशिष्ट पदाधिकारी नियुक्त किया जाता था—यह हाउस अव् कामन्स के 'मिस्टर स्पीकर' का पूर्व-रूप था। एक और पदाधिकारी इसलिए नियुक्त होता था कि जव ज़रूरत हो एक निश्चित 'कोरम' का प्रवंध करे—यह हमारी व्यवस्था के 'पार्लमेंटरी चीफ़ ह्विप' के जवाव का पदाधिकारी होता था। सदस्य लोग कोई भी विपय प्रस्तुत करने के लिए प्रस्ताव ले आते थे, फिर इस पर विवाद होता था। कुछ स्थितियों में एक ही वार विवाद का होना पर्याप्त होता था, दूसरी स्थितियों में इसका तीन वार होना अनिवार्य होता; यह पार्लमेंट के इस दस्तूर की पेशवंदी थी कि किसी भी विल को क़ानून के रूप में आने से पहले उसे पार्लमेंट के सामने तीन वार पढ़ा जाना चाहिए। अगर विचारणीय विपय पर मतभेद होता तो उसे वहुमत से तै किया जाता, और 'वैलट' या गुप्त चिट्ठी के द्वारा मत गणना होती।"

इस तरह हिंदुस्तान के पुराने सामाजिक ढाँचे में कुछ गुण थे; और वास्तव में यह गुण न रहे होते तो वह इतने दिनों तक क़ायम न रह पाता। इसके पीछे हिंदुस्तानी संस्कृति का दार्शनिक आदर्श था—इंसानी एकता का; और इनमें धन-दौलत हासिल करने पर नहीं वल्कि भलाई, सौंदर्य और सचाई पर ज़ोर दिया गया था।

९ : वावर और अकवर : हिंदुस्तानी वनने का क्रम

अव फिर पीछे वापस चलिए। अफ़ग़ान लोग हिंदुस्तान में वस गए थे और

हिंदुस्तानी वन गए थे। उनके हाकिमों के सामने पहले यह प्रश्न था कि लोगों के विरोध को किस तरह कम किया जाय, फिर उनको अपने पक्ष में कैसे किया जाय। इसलिए उनकी निश्चित नीति यह रही कि अपने आरंभ के निर्दय ढंग को नर्म किया जाय, और उन्होंने वाहरी विजेताओं की हैसियत से नहीं, वल्कि हिंदुस्तान में जन्मे और पले हुए लोगों की हैसियत से शासन करने का प्रयत्न किया। जो वात आरंभ में नीति के ढंग पर वरती गई वह, ज्यों-ज्यों इन पच्छिमोत्तरी लोगों पर हिंदुस्तान के वातावरण का प्रभाव पड़ा और उसने इन्हें अपने में समाविष्ट किया, त्यों-त्यों एक अनिवार्य प्रवृत्ति वनती गई। ऊपर से तो यह सिलसिला चलता ही रहा, जनता में भी, अपने-आप ऐसे प्रवल सोते फूट निकले जिनका उद्देश्य विचारों और रहन-सहन के ढंग में एक समन्वय पैदा करना था। एक मिली-जुली संस्कृति दिखाई देने लग गई और ऐसी नींव पड़ गई, जिस पर कि अकवर ने वाद में इमारत खड़ी की।

अकवर हिंदुस्तान के मुग़ल वंश का तीसरा वादशाह था, फिर भी वास्तव में इसी ने सल्तनत की वुनियाद पक्की की। उसके वावा वावर ने १५२६ में दिल्ली के तख्त पर अधिकार किया था, लेकिन वह हिंदुस्तान के लिए परदेसी था और वरावर अपने को परदेसी समझता रहा। वह उत्तर से, एक ऐसी जगह से आया था, जहां कि उसने अपने मध्य-एशियाई देश में तैमूरियों की नई जागृति देखी थी और जहां कि ईरान की कला और संस्कृति का उसपर गहरा प्रभाव पड़ा था। अपने साथी-संगियों से मिलने की, वहां की सोहवतों की, और जीवन की उन सुविधाओं की जोकि वग़दाद और ईरान से वहां फैली थीं उसे वरावर चाह वनी रही। उन उत्तरी पर्वत-प्रदेशों के वर्फ़िस्तान की और फ़रग़ाना के अच्छे गोश्त और फल-फूलों की उसे गहरी चाह होती थी। जो कुछ उसने यहां देखा उससे चाहे जैसी निराशा उसे हुई हो, वह कहता है कि हिंदुस्तान एक वहुत ही अच्छा देश है। हिंदुस्तान में आने के चार साल वाद वावर मर गया, और उसका वहुत-सा समय युद्ध में और आगरा की राजधानी को सजाने में वीता।

वावर ने हिंदुस्तान वहुत कम देखा और चूंकि वह चारों तरफ़ से विरोधी लोगों में घिरा हुआ था, इसलिए वहुत कुछ चीज़ें उसके देखने से रह गईं। लेकिन उसके वयान से इस वात का पता चलता है कि उत्तरी हिंदुस्तान का वहुत कुछ सांस्कृतिक ह्रास हो चुका था। कुछ तो इसकी वजह थी तैमूर का किया हुआ

विध्वंस; कुछ यह कि बहुत से विद्वान् और कलाकार और प्रसिद्ध कारीगर दक्खिन हिंदुस्तान में चले गए थे। बाबर का कहना है कि होशियार काम करने वालों और कारीगरों की कमी न थी, लेकिन कारीगर में सृजन का कौशल न रह गया था। यह भी जान पड़ता है कि जीवन की सुविधाओं और आराम की चीजों में हिंदुस्तान ईरान की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ था।

पीछे के युगों में, जैसा कि संस्कृत-काल के साहित्य और चित्रों से पता लगता है, लोगों की रुचि के परिमार्जन में कमी न थी और उन कालों को देखते हुए रहन-सहन का कक्ष बहुत ऊँचा और आडंबरपूर्ण था। उस समय भी जब कि बाबर हिंदुस्तान में आया दक्खिन के विजयनगर के बारे में बहुत से यूरोपीय यात्रियों ने बयान किया है कि कला, संस्कृति, सुरुचि, सुविधाओं का यहां का स्तर बहुत ऊँचा था।

लेकिन उत्तरी हिंदुस्तान में सांस्कृतिक ह्रास बहुत स्पष्ट है। बँधे-तुले विश्वासों और एक कट्टर सामाजिक संगठन ने समाजी प्रयत्नों और उन्नति में रुकावट डाली। इस्लाम के और बाहर के बहुत से लोगों के, जिनके रहन-सहन अलग थे, आने से इन विश्वासों और इस संगठन पर असर पड़ा। हिंदुस्तान में बहुत-से परिवर्तन हुए और कला और इमारतों और दूसरी सांस्कृतिक दिशाओं में नई प्रेरणाएं देखने में आईं। लेकिन यह सब इस बात का नतीजा था कि पुरानी दुनिया की ऐसी दो शैलियों का आपस में संपर्क हुआ जो कि अपनी उठान के दिनों की जीवनी शक्ति और रचनात्मक शक्ति खो चुकी थीं और जोकि कट्टरपन के चौखटों में घिरी हुई थीं। हिंदुस्तानी संस्कृति बहुत प्राचीन और थकी हुई थी; अरब ईरान की मिली-जुली संस्कृति की दुपहरी भी कब की ढल चुकी थी, और उसका पुराना कौतूहल का भाव और बौद्धिक साहस, जिसके लिए कि अरब वाले प्रसिद्ध थे, अब न दिखते थे।

बाबर का व्यक्तित्व आकर्षक है; वह नई जागृति का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करने वाला शहज़ादा है, जोकि साहसी और बहादुर है, और कला, साहित्य और रहन-सहन का प्रेमी है। उसके पोते अकबर में और भी आकर्षण है और गुणों में भी वह उससे कहीं बढ़कर है। योग्य सेनापति की हैसियत से वह साहसी और दिलेर है, फिर भी उसमें बड़ी दया और कोमलता भी है; वह आदर्शवादी और सपनों को देखनेवाला है, फिर भी वह कार्य-क्षेत्र का आदमी है; लोगों का ऐसा नेता है कि अपने

अनुयायियों में गहरी स्वामिभक्ति उकसा सके। योद्धा की हैसियत से उसने हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों पर विजय प्राप्त की, लेकिन उसकी निगाहें एक दूसरी ही तरह की विजय पर लगी हुई थीं, वह लोगों के दिलों और दिमाग़ों पर फ़तह हासिल करना चाहता था। उसकी इन मजबूर कर देने वाली आँखों में, जैसा कि उसके दरबार के एक पुर्तगाली जेज़ुइट ने हमें बताया है 'धूप में दमकते हुए समुंदर' की-सी झलक थी। अखंड हिंदुस्तान के पुराने स्वप्न ने उसमें नया रूप ग्रहण किया, और यह एकता केवल राजनीतिक एकता न थी, बल्कि ऐसी थी कि सब लोगों को एक चेतना में ढालने वाली थी। सन् १५५६ से लेकर, अपने राज्य-काल के लगभग पचास साल तक उसने बराबर यही कोशिश की। बहुत से राजपूत सरदारों को जो किसी तरह दूसरे के क़ाबू में आने वाले न थे, उसने अपनी तरफ़ मिला लिया। उसने एक राजपूत राजकुमारी से ब्याह किया और इस तरह उसका बेटा जहाँगीर आधा मुग़ल और आधा राजपूत हिंदू था। जहाँगीर का बेटा शाहजहाँ भी एक राजपूत माता की कोख से पैदा हुआ था। इस तरह यह तुर्क-मंगोल वंश तुर्क या मंगोल होने की बनिस्बत कहीं ज़्यादा हिंदुस्तानी था। अकबर राजपूतों का बड़ा प्रशंसक था और उनसे अपना संबंध मानता था, और अपनी ब्याह-संबंधी और दूसरी नीति से उसने राजपूत राजाओं से मित्रता बना ली थी, उसकी वजह से उसकी सल्तनत में बड़ी पायदारी आई। मुग़लों और राजपूतों के इस सहयोग ने, जोकि बाद के राज्य-कालों में भी बना रहा, न केवल शासन और सेना पर प्रभाव डाला, बल्कि कला, संस्कृति और रहन-सहन पर भी। मुग़ल अमीर क्रमशः और भी अधिक हिंदुस्तानी होते गए और राजपूतों पर ईरानी संस्कृति का प्रभाव पड़ा।

अकबर ने बहुत से लोगों को अपने पक्ष में कर लिया, और बनाए रक्खा लेकिन वह राजपूताना में मेवाड़ के राणा प्रताप के गर्व और अदम्य भाव का दमन करने में सफल न हुआ; और राणा प्रताप ने, एक ऐसे व्यक्ति से जिसे कि वह विदेशी विजेता समझता था संबंध जोड़ने से जंगल में मारा-मारा फिरना कहीं अच्छा समझा।

अकबर ने अपने गिर्द बहुत से चमत्कारी लोगों को इकट्ठा कर लिया था, जो कि उसके आदर्शों के समर्थक थे। इनमें अबुलफ़ज़्ल और फ़ैज़ी नाम के दो प्रसिद्ध भाई थे और बीरबल, राजा मानसिंह, और अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना थे। उसका दरबार नए-नए धर्मों के लोगों के और उन लोगों के जिनके पास नए विचार थे या नए आविष्कार थे मिलने-जुलने की जगह बन गया। उसकी सब तरह के विचारों

की रवादारी, और उसका सब तरह के विश्वासों और मतों का प्रोत्साहन इस हद तक पहुँचा कि कुछ ज्यादा कट्टर मुसलमान उससे अप्रसन्न हो गए। उसने एक ऐसे समन्वित धर्म का भी प्रचार करने की कोशिश की जोकि सबको मान्य होता। इसी के राज्य में, उत्तर हिंदुस्तान में, हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक मेल-जोल ने एक लंबा डग आगे बढ़ाया। स्वयं अकबर जितना मुसलमानों में लोक-प्रिय था, उतना ही हिंदुओं में भी। मुग़ल वंश की स्थापना ऐसी दृढ़ता से हो गई मानो वह हिंदुस्तान का अपना वंश हो।

१० : एक मिली-जुली संस्कृति का विकास

अकबर ने इमारत ऐसी मजबूत खड़ी की थी कि बावजूद कुछ ढीले उत्तरा-धिकारियों के वह एक सौ साल तक और बनी रही। मुग़लों के क़रीब-क़रीब हर एक राज्य-काल के बाद, तख्त के लिए शाहज़ादों में आपस की लड़ाइयां हुईं, जिनसे कि केंद्रीय शक्ति निर्बल पड़ी। लेकिन दरबार की तड़क-भड़क बनी रही, और आलीशान मुग़ल बादशाहों की ख्याति सारे एशिया और यूरोप में फैल गई। आगरा और दिल्ली में दर्शनीय इमारतें तैयार हुईं जिनमें कि प्राचीन हिंदुस्तानी आदर्शों के साथ एक नई सादगी और ऊँचे दर्जे का डौल मिलता है। यह भारतीय मुग़ल-कला, उत्तरी और दक्खिनी हिंदुस्तान के मंदिरों की और दूसरी इमारतों की पस्त और बहुत रँगी-चुनी, विस्तृत सजावट वाली कला से स्पष्ट रूप से भिन्न है। चोटी के मेमारों और कलावंतों ने प्रेम के हाथों से आगरे में ताजमहल खड़ा किया।

आलीशान मुग़लों में से अंतिम, अर्थात् औरंगज़ेब ने, घड़ी को उल्टी चलाने की कोशिश की और इस कोशिश में उसे तोड़ ही दिया। जबतक कि मुग़ल बादशाहों ने राष्ट्रीय प्रवृत्ति का साथ दिया और जबतक वह एक मिली-जुली राष्ट्रीयता को तैयार करने और देश के भिन्न तत्त्वों का समन्वय करने के यत्न में रहे, तबतक उनकी दृढ़ता बनी रही। जब औरंगज़ेब ने इस प्रवृत्ति का विरोध और उसे दबाना आरंभ किया और हिंदुस्तानी शासक की हैसियत से नहीं, बल्कि मुसलमान शासक की हैसियत से राज्य करना चाहा तब मुग़ल सल्तनत टूटने लगी। अकबर और कुछ हद तक उसके उत्तराधिकारियों के काम पर पानी फिर गया, और वह बहुत-सी शक्तियां जिन्हें कि अकबर की नीति ने वश में कर रक्खा था फिर स्वतंत्र हो गईं और उन्होंने सल्तनत को चुनौती दी। नए आंदोलन उठ खड़े हुए, जिनके

दृष्टिकोण संकुचित अवश्य थे, लेकिन जो उभरती हुई राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व करते थे; और यद्यपि वह इतने शक्तिशाली नहीं थे कि स्थिर शासन स्थापित कर सकें, फिर भी ऐसे अवश्य थे कि मुग़ल सल्तनत को तोड़-फोड़ दें।

पच्छिमोत्तर से आनेवाले आक्रमणकारियों और इस्लाम ने हिंदुस्तान को काफ़ी ज़ोरदार टक्कर दी थी। इसने हिंदू-समाज में पैठी हुई बुराइयों को खोलकर दिखा दिया था, अर्थात् ज़ात-पाँत की सड़ांध को, अछूतपने को, और अलग-थलग रहने के रवैये को एक बेतुकी हद तक पहुँचा देने को। इस्लाम के भाई-पने के और इस धर्म के मानने वालों की उसूली बराबरी के ख़याल ने उन लोगों पर प्रबल प्रभाव विशेषरूप से डाला जिन्हें कि हिंदू-समाज के भीतर बराबरी का दर्जा देने से इंकार किया गया था। विचारों के इस संघर्ष से बहुत से नए आंदोलन उठे जिनका उद्देश्य एक धार्मिक समन्वय स्थापित करना था। बहुतों ने धर्म बदला लेकिन इसमें से अधिक नीची ज़ातों के लोग थे और मुख्यतया बंगाल के। कुछ ऊँची ज़ात के लोगों ने भी नए धर्म को स्वीकार किया, या तो इसलिए कि वास्तव में उसमें उन्होंने विश्वास पाया, लेकिन अधिकतर राजनीतिक और आर्थिक कारणों से। शासकों के धर्म को स्वीकार करने में स्पष्ट लाभ थे।

इस व्यापक मत-परिवर्तन के बावजूद, हिंदू-धर्म अपने विविध रूपों में देश का मुख्य धर्म बना रहा—यह ठोस, अलग-थलग रहने वाला, अपने में पूर्ण और अपनी जगह पर पक्का था। ऊँचे वर्ण के लोगों में विचारों के क्षेत्र में, अपने बड़प्पन में कोई संदेह न पैदा हुआ, और दर्शन और अध्यात्म की समस्याओं का हल प्राप्त करने की दृष्टि से वह इस्लाम के दृष्टिकोण को अनगढ़-सा समझते रहे। इस्लाम को वहदानियत भी उन्हें अपने धर्म में मिलती थी और साथ ही अद्वैतवाद था, जो कि उनके अधिकतर दर्शन की नींव में था। हर एक को स्वतंत्रता थी कि वह चाहे इन सिद्धांतों को स्वीकार करे, चाहे पूजा के अधिक सादे और प्रचलित ढंगों को अपनावे। वह वैष्णव होकर ईश्वर में व्यक्तिगत विश्वास कर सकता था और उसे अपनी भक्ति समर्पित कर सकता था। या अगर दार्शनिक विचारों का आदमी हो, तो वह अध्यात्म और गूढ़ दर्शन के सूक्ष्म विचारों की सैर कर सकता था। यद्यपि उनका समाजी संगठन वर्ग के आधार पर हुआ था, धर्म के मामले में हिंदू बड़े व्यक्तिवादी थे; धर्मप्रचार में न उनका विश्वास था, और अगर कोई धर्म बदल लेता था तो न इसकी उन्हें परवाह थी। जिस बात पर उन्हें आपत्ति होती

थी वह यह थी कि उनके समाजी संगठन से छेड़-छाड़ की जाय। अगर कोई दूसरा वर्ग अपने ढंग पर चलना चाहता था तो इससे उन्हें बहस न थी, वह ऐसा करने के लिए स्वतंत्र था। यह बात ध्यान देने की है कि जिन्होंने इस्लाम धर्म ग्रहण किया उन्होंने सामूहिक रूप से अपने वर्ग के साथ-साथ ऐसा किया; वर्ग की भावना का इतना जोर था। ऊपर के वर्ग के लोग इक्का-दुक्का निजी ढंग पर धर्म भले ही बदलें, बहुधा नीचे वर्ग के लोग, दल-के-दल या गाँव-के-गाँव मिलकर नया धर्म स्वीकार करते थे। इस तरह से जहां तक वर्ग से संबंध है उसके जीवन में और उसके कामों में अंतर न आया था; वह पहले जैसे चलते रहते थे; पूजा के तरीक़ों में छोटे-मोटे परिवर्तन अवश्य हो जाते थे। इसी वजह से आज देखते हैं कि कुछ ख़ास पेशे या हुनर ऐसे हैं जो कि बिलकुल मुसलमानों के हाथ में हैं। इस तरह कपड़ा बुनने का काम अधिकतर, और बहुत हिस्सों में तो अकेले मुसलमान ही करते हैं। यही स्थिति जूते के सौदागरों और क़स्साबों की भी है। दर्जी प्रायः मुसलमान ही मिलेंगे। वर्ग की व्यवस्था टूट रही है, इसलिए बहुत से लोग दूसरे पेशे भी ग्रहण करने लगे हैं। इसने पेशेवरों के वर्ग को बाँटने वाली लकीर कुछ-कुछ मिटा दी है। दस्तकारी और देहाती उद्योग-धंधों का, अंग्रेज़ी हुकूमत के आरंभ में, जो जान-बूझकर विनाश किया गया था, उसने और बाद में एक नए औपनिवेशिक अर्थ-तंत्र ने बहुत से पेशेवरों और दस्तकारों की, विशेषकर जुलाहों की रोजी छीन ली। जो इस मुसीबत से बचे रहे, वह या तो किसानी करने वाले मज़दूर बन गए, या अपने संबंधियों के साथ छोटे-मोटे खेतों के खेतिहर हो गए।

उस ज़माने में, धर्म बदल कर, इस्लाम मत स्वीकार कर लेने पर, कदाचित् कोई ख़ास विरोध नहीं होता था—यह लोग चाहे इक्का-दुक्का हों चाहे गिरोह के गिरोह—सिवाय इसके कि जब किसी तरह बल का प्रयोग होता हो। इस धर्म-परिवर्तन को मित्र और संबंधी भले ही न पसंद करें लेकिन हिंदू, यों इसे महत्त्व न देते थे। उस ज़माने की इस लापरवाही के रुख़ से आज की हालत बिलकुल उल्टी है, आज धर्म के परिवर्तन पर बड़ा शोर मचता है और यह परिवर्तन चाहे इस्लाम के पक्ष में हो चाहे ईसाईमत के पक्ष में, इसे नापसंद किया जाता है। अधिक इसके राजनीतिक कारण हैं, और इनमें मुख्यतया धर्म के आधार पर निर्वाचन-क्षेत्रों का बन जाना है। हर एक धर्म बदलने वाले आदमी के बारे में यह ख़याल किया जाता है कि उसने एक धार्मिक गुट्ट की जन-संख्या बढ़ाई। और अंततः उसके

प्रतिनिधित्व और राजनैतिक शक्ति में वृद्धि की। इस उद्देश्य से जनसंख्या-गणना में भी हेर-फेर करने की कोशिश की जाती है। लेकिन राजनीतिक कारणों से हटकर भी, हिंदूधर्म में दूसरे धर्म वालों को दीक्षा देने की, और जो धर्म से अलग हो गए हैं उन्हें वापस ले लेने की रुचि पैदा हो गई है। हिंदूधर्म पर इस्लाम के जो प्रभाव पड़े हैं उनमें यह भी एक है, यद्यपि व्यवहार में इसकी वजह से हिंदुस्तान में दोनों में संघर्ष पैदा होते हैं। कट्टर हिंदू इसे अब भी नहीं पसंद करते।

कश्मीर में मुसलमान बनाने का एक लंबा सिलसिला रहा है, जिससे वहां की ६५ फ़ी सदी आबादी आज मुसलिम है, यद्यपि इसने बहुत से अपने पुराने हिंदू रिवाजों को बनाए रक्खा है। उन्नीसवीं सदी के बीच में, इस रियासत के हिंदू शासक ने यह पाया कि इनमें से बहुत अधिक संख्या में लोग एक साथ हिंदू धर्म में वापस आने के लिए राजी या इच्छुक हैं। उसने बनारस के पंडितों के पास अपने आदमियों को भेजकर पुछवाया कि ऐसा किया जा सकता है या नहीं। पंडितों ने इस तरह के मत-परिवर्तन के विरुद्ध व्यवस्था दी, और मामला वहीं पर समाप्त हो गया।

हिंदुस्तान में बाहर से आने वाले मुसलमान कोई नया आचार या राजनीतिक और आर्थिक ढाँचा अपने साथ नहीं लाए। बावजूद इसके कि इस्लाम सभी धर्म के लोगों को भाई मानता है, उनमें गिरोहबंदियां थीं और उनका दृष्टिकोण सामंतवादी था। कारीगरी और उद्योग-धंधों के संगठन की दृष्टि से, उस समय हिंदुस्तान में जो हालत थी, उससे वह पिछड़े हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान के समाजी संगठन और आर्थिक जीवन पर बहुत कम प्रभाव पड़ा। यह जीवन अपनी पुरानी गति से चलता रहा और सभी लोग, वह चाहे हिंदू हों, चाहे मुसलमान, इसके भीतर अपनी-अपनी जगह पर जम गए थे।

स्त्रियों के पद में ह्रास हुआ। पुराने विधानों में भी उत्तराधिकार के मामले में, और घर में उनके दर्जे के बारे में, न्याय नहीं बरता गया था—फिर भी उन्नीसवीं सदी के इंग्लिस्तान के क़ानून की अपेक्षा इन पुराने विधानों में स्त्रियों का अधिक ध्यान रक्खा गया था। यह उत्तराधिकार-संबंधी क़ानून, हिंदुओं की सम्मिलित कुटुंब प्रथा का ध्यान रखकर, बनाए गए थे। और सम्मिलित जायदाद दूसरे कुटुंब में न चली जाय इसका बचाव करते थे। विवाह के बाद स्त्री दूसरे कुटुंब की हो जाती थी। आर्थिक दृष्टि से वह अपने बाप, या पति या बेटे की आश्रित

समझी जाती थी, लेकिन उसकी अपनी जायदाद हो सकती थी और होती थी। बहुत तरह से उसकी आदर प्रतिष्ठा होती थी और उसे समाजी और सांस्कृतिक कामों में हिस्सा लेने की पर्याप्त स्वतंत्रता थी। हिंदुस्तानी इतिहास में प्रसिद्ध स्त्रियों के नाम भरे पड़े हैं, जिनमें विचारक और दार्शनिक भी हैं और शासक और योद्धा भी। यह स्वतंत्रता बराबर कम होती रही। उत्तराधिकार के बारे में इस्लामी क़ानून स्त्रियों के पक्ष में अधिक न्यायपूर्ण था, लेकिन वह हिंदू स्त्रियों पर लागू न होता था। जो परिवर्तन उनके सामने आया वह उनके विरुद्ध पड़ने वाला था, अर्थात् परदे का रिवाज बहुत कड़ा हो गया—मुसलमान औरतों में यह और भी कड़ा था। यह रिवाज उत्तर में सब जगह और बंगाल में भी फैल गया, लेकिन दक्खिन और पच्छिम इस बुरी प्रथा से बचे रहे। उत्तर में भी यह रिवाज ऊँचे वर्ग के लोगों में ही रहा, और सौभाग्य से आम जनता इससे बची रही। स्त्रियों को अब शिक्षा के कम अवसर प्राप्त होते थे और अब वह अधिकतर अपनी गृहस्थी में घिर गई थीं। फिर भी प्रसिद्ध स्त्रियों की बहुत-सी मिसालें उस ज़माने में और बाद में भी मिलती हैं, जिनमें विदुषी भी हैं और शासन करने वाली भी। अठारहवीं सदी में लक्ष्मी देवी ने मिताक्षरा पर, जो कि मध्ययुग का प्रसिद्ध स्मृति-ग्रंथ है, बड़ी टीका तैयार की। आगे बढ़ने के बहुत से रास्तों को बंद करके, और एक पाबंद जीवन में घेरकर स्त्रियों को यह बताया गया कि सतीत्व की रक्षा उन का परम धर्म है और इसका नाश परम पाप है। यह था पुरुषों का बनाया हुआ सिद्धांत, लेकिन पुरुष इसे अपने ऊपर लागू नहीं करते थे। तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य, हिंदी रामायण में, जिसका उचित रूप से आदर है, और जोकि जहांगीर के काल में रचा गया था, स्त्रियों का जो चित्र खींचा है वह हद दर्जे का अन्याय और पक्षपात प्रकट करने वाला है।

कुछ तो यों कि हिंदुस्तान के अधिकतर मुसलमान हिंदू-धर्म से मत-परिवर्तन किए हुए लोग थे, और कुछ इसलिए कि हिंदू-मुसलमानों का यहां लंबे ज़माने तक, विशेषकर उत्तरी हिंदुस्तान में, साथ रहा, दोनों के बीच बहुत-सी आम बातें, आदतें, रहन-सहन के ढंग और रुचियां पैदा हो गई थीं, जो कि संगीत, चित्रकारी, इमारतों, खाने, कपड़े और एक-सी परंपरा में दिखाई देती हैं। वह मिल-जुल कर शांति के साथ एक क़ौम के लोगों की तरह रहा करते थे, एक-दूसरे के जलसों और त्योहारों में शरीक होते थे, एक बोली बोलते थे, और बहुत-कुछ एक ही ढंग से रहते थे, और

जिन आर्थिक समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ता वह भी एक-सी थीं। अमीर लोग और वह लोग जिनके पास ज़मीनें थीं और उनके पिछ-लगे, दरवार का रुख़ देखते थे। (वह लोग ज़मींदार या ज़मीन के मालिक न होते थे। वह लगान वसूल न करते थे, वल्कि उन्हें सरकारी माल-गुज़ारी वसूल करने और उसे अपने काम में लाने की आज्ञा मिली रहती थी। यह हक़ आम तौर पर हीन-हयाती हुआ करता था।) इनकी एक पेचीदा और आडंवर वाली और रंगी-चुनी आम संस्कृति अलग तैयार हो गई। यह एक से कपड़े पहनते, एक-सा खाना खाते, एक-सी कलाओं में दिलचस्पी लेते थे। इनके दिल-वहलाव फ़ौजी थे, शिकार और मर्दानगी के खेल। इनकी पसंद का ख़ास खेल चौगान (पोलो) होता और हाथियों की लड़ाई भी इनके यहां वहुत आम-पसंद थी।

गाँव के आम लोगों का, और इसके अर्थ होते हैं कि जनसंख्या के अधिकतर भाग का, जीवन अधिक संगठित था, और मिले-जुले आधार पर स्थापित था। गाँव के सीमित घेरे के अंदर हिंदुओं और मुसलमानों के गहरे संवंध होते थे। वर्ण-व्यवस्था यहां कोई रुकावट नहीं डालती थी, और हिंदुओं ने मुसलमानों की भी एक जात मान ली थी। अधिकतर मुसलमान ऐसे थे जिन्होंने अपना पुराना धर्म वदल लिया था, और पुरानी परंपरा को अव भी भूले न थे। वह हिंदू विचारों, कथाओं और पुराणों की कहानियों से परिचित होते थे, यह एक तरह का काम करते, एक-सी ज़िंदगी विताते, एक-से कपड़े पहनते और एक ही वोली वोलते थे। यह एक-दूसरे के त्यौहारों में शरीक होते और कुछ अर्ध-धार्मिक त्यौहार ऐसे भी होते जो दोनों के लिए एक-से थे। इनके लोकगीत एक ही थे। इनमें से अधिकतर किसान, दस्तकारी करने वाले या देहाती धंधे करने वाले लोग होते थे।

एक तीसरा वड़ा गिरोह, जोकि अमीरों और किसानों व दस्तकारों के वीच का था, व्यापारियों और तिजारत-पेशा लोगों का था। यह अधिकतर हिंदुओं का था, और यद्यपि इसे कोई राजनैतिक शक्ति प्राप्त न थी, फिर भी आर्थिक संगठन वहुत कुछ इसीके क़ावू में था। इस वर्ग के लोगों के मुसलमानों से संपर्क, ऊपर और नीचे के दोनों ही वर्गों के लोगों की अपेक्षा कम थे। वाहर से आए हुए मुसलमानों का रुख़ सामंतवादी था और तिजारत की तरफ़ वह झुकते न थे। इस्लाम की यह मनाही भी, कि सूद न खाना चाहिए, उनके तिजारत के रास्ते में अड़चन पैदा करने वाली थी। वह अपने को शासकवर्ग का और अमीर समझते थे और सरकारी

ओहदेदार, माफ़ीदार या फ़ौजी अफ़सर हुआ करते थे। बहुत से विद्वान भी थे जिनका कि दरबार से लगाव रहता था या जो धार्मिक या दूसरी संस्थाओं की देख-रेख करते थे।

मुग़लों के ज़माने में बहुत से हिंदुओं ने दरबार की भाषा फ़ारसी में किताबें लिखीं। इनमें से कुछ अपने ढंग की किताबों में चोटी की रचनाएं मानी जाती हैं। साथ-ही-साथ मुसलिम आलिमों ने संस्कृत से पुस्तकों के फ़ारसी में तर्जुमे किए और हिंदी में भी किताबें लिखीं। हिंदी के सबसे प्रसिद्ध कवियों में दो हैं, मलिक मुहम्मद जायसी, जिसने कि 'पद्मावत' लिखी, और अब्दुल रहीम खानखाना, जोकि अकबरी दरबार के अमीरों में था और जिसपर अकबर के बेटे की देख-रेख की ज़िम्मेदारी थी। खानखाना अरबी, फ़ारसी और संस्कृत का विद्वान् था और उसकी हिंदी कविता ऊँचे दर्जे की है। कुछ काल तक वह शाही फ़ौज का सिपहसालार भी था। फिर भी उसने मेवाड़ के राणा प्रताप की प्रशंसा की है, जो कि बराबर अकबर से लड़ता रहा और जिसने कि अकबर के आगे हथियार न डाले।

अकबर को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई, क्योंकि उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान के विभिन्न लोगों के बीच उसने एकता की भावना पैदा कर दी। एक विदेशी शासन-वर्ग का अस्तित्व इस में रुकावट डालता था, फिर धर्म और जात-पाँत की रुकावटें थीं। यह रुकावटें दूर नहीं हुईं, लेकिन उनके बावजूद एकता की भावना ने उन्नति की। लोगों का यह आकर्षण उसके व्यक्तित्व के लिए न था बल्कि जिस ढाँचे का उसने निर्माण किया था उसके लिए था। उसके बेटे और पोते, जहांगीर और शाहजहां ने उस ढाँचे को स्वीकार किया और उसकी हदों के भीतर काम करते रहे। यह बहुत विशेष योग्यता के लोग न थे, लेकिन उन्हें अपने राज्यकाल में सफलता मिली और यह इसलिए कि जो रास्ता अकबर ने दृढ़ता के साथ बना दिया था उस पर वह चलते रहे। इनके बाद औरंगजेब आया, जो इनसे कहीं अधिक योग्य था, लेकिन जो दूसरे ही ढाँचे का आदमी था। वह इस बने हुए रास्ते से हटकर चला और इस तरह उसने अकबर के काम पर पानी फेर दिया। फिर भी वह उसे बिलकुल न मिटा सका। और यह बड़ी आश्चर्य की बात है कि बावजूद उसके और उसके कमजोर और निकम्मे उत्तराधिकारियों के, अकबर के तैयार किए हुए ढाँचे का आदर लोगों के दिलों में बना रहा।

११ : औरंगज़ेब समय की प्रगति का विरोध करता है : हिंदू जातीयता की उन्नति : शिवाजी

शाहजहां फ़्रांस के 'शानदार वादशाह' चौदहवें लुई का समकालीन था और उस समय मध्य-यूरोप में तीस साल वाला युद्ध हो रहा था। उधर जब वारसाई का महल तैयार हो रहा था, यहां आगरे में ताजमहल और मोती मसजिद और दिल्ली में जुम्मा मस्जिद और शाही महल के दीवाने-आम और दीवाने-खास तैयार हुए। परियों जैसी दर्शनीय यह सुंदर इमारतें मुग़ल शान-शौकत की चरम सीमा की नुमाइंदगी करती हैं। दिल्ली के दरवार और तख्ते-ताऊस की शान वारसाई से कहीं वढ़-चढ़कर थी। लेकिन वारसाई की तरह यह भी ग़रीव और दलित लोगों के आधार पर क़ायम थी। गुजरात और दक्खिन में भयानक अकाल पड़ा हुआ था।

इस वीच इंग्लिस्तान की समुद्री शक्ति वढ़ और फैल रही थी। यूरोपीयनो में केवल पुर्तगालियों को अकवर ने देखा था। उसके वेटे जहांगीर के समय में अंग्रेज़ी जहाज़ी वेड़े ने हिंदसागर में पुर्तगालियों को हराया और पहले जेम्स का राजदूत सर टामस रो, १६१५ में जहांगीर के दरवार में उपस्थित हुआ। उसे कोठियां स्थापित करने की आज्ञा मिल गई। सूरत में कोठी आरंभ की गई और १६३९ में मद्रास की नींव पड़ी। सौ साल से अधिक समय तक हिंदुस्तान में किसी ने अंग्रेज़ों को कोई महत्त्व न दिया। समुद्री रास्तों के मालिक अव अंग्रेज़ वन वैठे थे और उन्होंने पुर्तगालियों को लगभग हटा दिया था, इस घटना का मुग़ल वादशाहों या उनके सलाहकारों के लिए कोई महत्त्व न था। जव कि औरंगज़ेव के समय में मुग़ल साम्राज्य स्पष्ट रूप से निर्वल पड़ रहा था, उस समय अंग्रेज़ों ने लड़कर अपना अधिकार वढ़ाने का एक संगठित प्रयत्न किया। यह १६८५ की घटना है। औरंगज़ेव यद्यपि निर्वल हो रहा था और वैरियों से घिरा था, अंग्रेज़ों को हटाने में सफल हुआ। इस समय से पूर्व ही फ़ारासीसी भी हिंदुस्तान में पैर जमाने की जगह पा चुके थे। ठीक उस समय जव कि हिंदुस्तान की राजनीतिक और आर्थिक हालत विगड़ रही थी, यूरोप की वाढ़ लेती हुई शक्तियां हिंदुस्तान और पूर्वी देशों में फैल रही थीं।

फ़्रांस में चौदहवें लुई का लंवा राज्य-काल चल रहा था और यह आने वाली क्रांति के वीज वो रहा था। इंग्लिस्तान में उन्नति करते हुए मध्यवर्ग ने अपने राजा

का सिर काट दिया था। क्रामवेल की थोड़े ज़माने की प्रजासत्ता चमक चुकी थी, दूसरा चार्ल्स आ और जा चुका था, और दूसरा जेम्स भाग चुका था। बहुत कुछ एक नए व्यापारी-वर्ग का प्रतिनिधित्व करनेवाली पार्लामेंट राजा को दबाकर शक्तिशाली बन बैठी थी।

यह समय था, जब कि एक घरेलू युद्ध के बाद, अपने बाप शाहजहां को क़ैद करके, औरंगजेब मुग़लों के तख़्त पर बैठा। अकबर ही का एक ऐसा व्यक्तित्व था जो इस परिस्थिति का अंदाज़ा लगा सकता था और उन नई शक्तिओं को, जो उठ रही थीं, वश में ला सकता था। शायद वह भी इस सल्तनत के विनाश को थोड़े समय के लिए रोक सकता था, उसे बचा न सकता था। औरंगज़ेब अपने ज़माने को भी अच्छी तरह समझ न पाया; वह उल्टी चाल चलने वाला आदमी था और अपनी सारी योग्यता और उत्साह के बावजूद, उसने अपने पूर्वजों के काम को मिटाने की कोशिश की। वह धर्मांध और नीरस व्यक्ति था और उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम न था। हिंदुओं पर पुराना और घृणित 'जज़िया' कर लगाकर और उनके बहुत से मंदिरों को तुड़वा कर उसने अपनी बहुत बड़ी प्रजा को बुरी तरह नाराज़ कर दिया। उसने अभिमान रखने वाले राजपूतों को भी, जोकि मुग़ल सल्तनत के खंभे थे, अप्रसन्न कर दिया। उत्तर में सिख उठ खड़े हुए, जोकि हिंदू और मुसलमानी विचारों के एक प्रकार के समन्वय की नुमाइंदगी करने वाले लोग थे लेकिन जिन्होंने दमन से बचने के लिए एक फ़ौजी बिरादरी बना ली थी। हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र तट के निकट के योद्धा मराठों को भी उसने नाराज़ कर दिया, जोकि प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे, और जिनके यहां उस समय एक चमत्कारी सेना-नायक पैदा हो चुका था।

यह सही है कि ऐसे ज़माने में जब कि एक बड़ी सल्तनत टूट रही हो और बहुत से हिंदुस्तानी और विदेशी साहसी अपने-अपने लिए छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लेने के प्रयत्न में हों, आजकल के अर्थ में, जातीयता का अस्तित्व मुश्किल से हो सकता था। हर एक साहसी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहता था; हर एक गिरोह अपनी-अपनी चिंता में था। जो इतिहास इस समय हमारे सामने आता है उसमें केवल इन साहसियों का वर्णन है, और वह इन साहसियों के कारनामों को जितना आगे लाता है उतना उन महत्त्व वाली घटनाओं को नहीं, जो सतह के नीचे-नीचे घट रही थीं। फिर भी हमें इस बात की झलक मिल जाती है कि यद्यपि बहुत से

साहसी इस समय मैदान में थे, सब लुटेरे ही न थे। विशेषकर मराठों की एक अधिक विस्तृत कल्पना थी और ज्यों-ज्यों उनकी शक्ति बढ़ी इस कल्पना ने भी विस्तार पाया। वारेन हेस्टिंग्स ने १७८४ में लिखा था : "हिंदुस्तान और दक्खिन के सब लोगों में मराठे ही एक ऐसे हैं, जिनमें जातीयता का सिद्धांत मिलता है, और इसकी राष्ट्र के हर एक व्यक्ति पर छाप है, और अगर उनके राज्य पर कोई आपत्ति आई तो यह शायद उनके सरदारों में उद्देश्य का एका पैदा कर दे।" कदाचित् उनकी यह जातीय भावना उन प्रदेशों तक सीमित थी जहां कि मराठी भाषा बोली जाती है। फिर भी मराठे अपनी राजनीतिक और सैनिक व्यवस्था और व्यवहार में उदार थे और उनके भीतर आपस में जनसत्ता की भावना थी। इन सब बातों से उनमें मजबूती पैदा होती थी। शिवाजी औरंगज़ेब से लड़ा अवश्य, लेकिन उसने मुसलमानों को अपने यहां बराबर नौकरियां भी दीं।

आर्थिक संगठन का टूट जाना भी मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने का एक कारण रहा है। किसानों के बलवे बार-बार होते रहते थे और इनमें से कुछ बड़े पैमाने पर हुए थे। १६६९ से लेकर जाट किसानों ने बार-बार दिल्ली सल्तनत के विरुद्ध और राजधानी से निकट ही, विद्रोह किया। निम्नवर्ग वालों का एक दूसरा बलवा सतनामियों का था जिनके बारे में एक मुग़ल अमीर ने कहा था कि "यह कमीने विद्रोहियों का एक गिरोह है, जिसमें कि सुनार, बढ़ई, मेहतर, चमार और दूसरे नीच लोग शामिल हैं।" अबतक शाहज़ादे और अमीर और उन्हीं के दर्जे के आदमी विद्रोह किया करते थे। अब एक दूसरा ही वर्ग इसका प्रयोग कर रहा था।

उस समय जब कि सल्तनत में फूट और विद्रोह फैल रहे थे, मराठों की नई शक्ति उन्नति पर थी और अपने को पच्छिमी हिंदुस्तान में दृढ़ कर रही थी। शिवाजी, जिसका जन्म १६२७ में हुआ था, पहाड़ी प्रदेशों के हट्टे-कट्टे छापामार लोगों का एक आदर्श नेता था, और उसके सवार दूर-दूर तक छापा मारने जाते थे, यहां तक कि उन्होंने सूरत शहर को, जहां कि अंग्रेजों की कोठियां थीं, लूटा, और मुग़ल सल्तनत के दूर के हिस्सों पर 'चौथ' कर लगाया। शिवाजी उभरती हुई हिंदू जातीयता का प्रतीक था और पुराने साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करता था, वह साहसी था और उसमें नेतृत्व के बड़े गुण थे। उसने मराठों को एक सुदृढ़ और सम्मिलित सैनिक दल का रूप दिया, उन्हें एक राष्ट्रीय पृष्ठभूमि दी, और ऐसी शक्ति बना दिया, जिसने कि मुग़ल सल्तनत को बिगाड़कर छोड़ा। वह १६८० में मरा, लेकिन

मराठों की शक्ति बढ़ती गई, यहां तक कि वह हिंदुस्तान की एक महान शक्ति बन गई।

१२ : शक्ति प्राप्त करने के लिए मराठों और अंग्रेज़ों का युद्ध : अंग्रेज़ों की जीत

औरंगज़ेब की मृत्यु से बाद के सौ सालों में, हिंदुस्तान पर अधिकार पाने के लिए, कई शक्तियों के दाँव-पेच चलते रहे। मुग़ल सल्तनत तेज़ी के साथ टूटकर बिखर गई थी, और शाही सूबेदार स्वतंत्र बन बैठे थे। फिर भी दिल्ली के मुग़ल उत्तराधिकारी का इतना मान बना हुआ था कि उस समय भी जब कि वह बेबस और दूसरों के हाथों में क़ैदी था, नाम के लिए, उसी के नाम पर शासन जारी रहा। इन छोटे-छोटे राज्यों की कोई विशेष शक्ति या अपना महत्त्व न था, सिवाय इसके कि वह शक्ति के मुख्य दावेदारों की मदद कर सकते थे, या उनके रास्ते में रुकावटें पैदा कर सकते थे। दक्खिन में अपनी सैनिक स्थिति के कारण, आरंभ में हैदराबाद के निज़ाम का एक विशेष महत्व जान पड़ता था; लेकिन जल्द ही यह मालूम पड़ गया कि यह महत्त्व बिलकुल बनावटी है, जोखिम और ख़तरे से अपने को बचाते हुए, दूसरों की मुसीबतों से लाभ उठाने की और दोरुख़े-पन की यह विशेष योग्यता थी। सर जान शोर ने इसे "हद दर्जे का गया-बीता, शक्तिहीन. . . .और इसलिए ग़ुलामी में डूबने की ओर प्रवृत्त" बताया है। मराठे निज़ाम को अपने मातहत ख़िराज देनेवाले सरदारों में से एक समझते थे। इससे बचने की और स्वतंत्रता जताने की कोशिश निज़ाम ने की नहीं कि उसे मराठे तुरंत दंड देते थे और उसकी निर्बल और दब्बू सेना को मार भगाते थे। उसने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की बढ़ती हुई ताक़त की शरण ली और अपनी इस ताबेदारी के द्वारा रियासत बनाए रक्खी। और जब अंग्रेज़ों की मैसूर के टीपू सुल्तान के विरुद्ध जीत हुई तब वास्तव में हैदराबाद रियासत नें बिना किसी ख़ास कोशिश के अपना रक़बा बहुत बढ़ा लिया।

सन् १७८४ में, हैदराबाद के निज़ाम के बारे में लिखते हुए, वारेन हेस्टिंग्स कहता है: "उसकी रियासत छोटी है और थोड़ी मालगुज़ारी वाली है; उसकी सैनिक शक्ति बहुत ही तुच्छ है; और वह ख़ुद कभी भी बहादुरी या साहस के लिए प्रसिद्ध नहीं रहा है। बल्कि इसके विरुद्ध, उसका ख़ास उसूल यह रहा जान

पड़ता है कि पड़ोसियों में लड़ाई भड़काई जाय, और ख़ुद उसमें हिस्सा लिए वग़ैर उनके झगड़ों और कमज़ोरियों से फ़ायदा उठाया जाय, और लड़ाई से वचने के लिए चाहे जैसा नीचा देखना पड़े, देख लिया जाय।"

अठारहवीं सदी में, हिंदुस्तान में, अधिकार के चार दावेदार थे: दो इनमें से हिंदुस्तानी थे और दो विदेशी। हिंदुस्तानी थे मराठे, और दक्खिन में हैदरअली और उसका वेटा टीपू सुल्तान; विदेशी थे अंग्रेज़ और फ़्रांसीसी। सदी के पहले आधे हिस्से में ऐसा जान पड़ता था कि इनमें से मराठे सारे हिंदुस्तान पर शासन स्थापित कर लेंगे और मुग़ल सल्तनत के उत्तराधिकारी वन जायेंगे। सन् १७३७ में ही उनकी सेनाएं दिल्ली के फाटकों तक पहुँच गई थीं, और कोई शक्ति इतनी वलशाली न रह गई थी कि उनका सामना कर सके।

ठीक उस समय (१७३९ में) एक नई वला आई। पच्छिमोत्तर से ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा; उसने वड़ी मार-काट और लूट मचाई, और यहां से वेशुमार ख़ज़ाना और 'तख़्ते ताऊस' ले गया। उसके लिए यह धावा कोई कठिन काम न था, क्योंकि दिल्ली के शासक कमज़ोर और नामर्द हो चुके थे, लड़ाई के आदी न रह गए थे, और मराठों से नादिरशाह का सामना न हुआ। एक अर्थ में, उसके धावे ने मराठों का काम सहज कर दिया था, जोकि वाद के सालों में पंजाव में भी फैल गए। दुवारा ऐसा जान पड़ा कि हिंदुस्तान मराठों के हाथ में चला जायगा।

नादिरशाह के हमले के दो परिणाम हुए। एक तो यह कि दिल्ली के मुग़ल हाकिमों का, अधिकार का रहा-सहा दावा ख़त्म हो गया; अव से वह धुँधली परछाई जैसे और नाम के हाकिम वन गए, और जिस किसी के हाथ में शक्ति हो उसकी कठपुतली होते। वहुत हद तक नादिरशाह के आने से पूर्व भी उनकी यह हालत हो चुकी थी; उसने इस सिलसिले को पूरा कर दिया। फिर भी परंपरा और स्थापित रिवाजों का ऐसा ज़ोर होता है कि अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी उनके पास प्लासी की लड़ाई के पूर्व तक भेंट और ख़िराज भेजते रहे; और उसके वाद भी वहुत दिनों तक कंपनी अपनी हैसियत दिल्ली के वादशाह के मुख़्तार की समझती रही और १८३५ तक उसी के नाम में सिक्के ढलते रहे।

नादिरशाह के हमले का दूसरा नतीजा यह हुआ कि अफ़ग़ानिस्तान हिंदुस्तान से अलग हो गया। अफ़ग़ानिस्तान, जो मुद्दतों से हिंदुस्तान का हिस्सा रह चुका

था, अब अलग होकर नादिरशाह की सल्तनत का हिस्सा बन गया। कुछ दिनों बाद, एक स्थानीय विद्रोह की वजह से, नादिरशाह को उसी के अफ़सरों ने क़त्ल कर दिया, और अफ़ग़ानिस्तान स्वतंत्र राज्य बन गया।

नादिरशाह की वजह से मराठों पर कोई आँच न आई थी, और वह पंजाब में फैलते रहे। लेकिन १७६१ में, एक अफ़ग़ान आक्रमणकारी, अहमदशाह दुर्रानी, ने उन्हें बुरी तरह से हराया। यह उस समय अफ़ग़ानिस्तान का शासक था। इस आफ़त में मराठों की फ़ौज के चुने हुए लोग काम आए और कुछ समय के लिए उनका साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न जाता रहा। क्रमशः उन्होंने अपने को सँभाला, और मराठों का साम्राज्य कई स्वतंत्र राज्यों में बँट गया। पूना के पेशवा की संरक्षता में इनका एक गुट्ट अवश्य स्थापित रहा। बड़े राज्यों के सरदारों में ग्वालियर के सिंधिया, इंदौर के होलकर और बड़ोदा के गायकवाड़ थे। पच्छिमी और मध्य-हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से पर इस गुट्ट का अब भी प्रभाव था, लेकिन पानीपत में अहमदशाह के द्वारा मराठों की हार ने उन्हें बहुत कमज़ोर कर दिया था और ठीक उसी समय अंग्रेज़ी कंपनी हिंदुस्तान में एक महत्त्वपूर्ण शासन की हैसियत से सिर उठा रही थी।

बंगाल में, क्लाइव ने, जालसाज़ी और विद्रोह को बढ़ावा देकर, और बहुत कम लड़ाई लड़कर, १७५७ में, प्लासी का युद्ध जीत लिया! यह ऐसी तारीख़ है जिससे कि अक्सर हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी साम्राज्य का आरंभ माना जाता है। यह एक अप्रिय आरंभ था। और उसका यह कड़ुआ स्वाद कुछ बराबर ही बना रहा। जल्द ही सारा बंगाल और बिहार अंग्रेज़ों के हाथ में आ गया और उनके शासन के आरंभ के नतीजों में यह भी था कि १७७० में दोनों सूबों में एक भयानक अकाल पड़ा, जिसने कि इस हरे-भरे और ख़ूब आबाद प्रदेश की तिहाई आबादी साफ़ कर दी।

दक्खिन में, अंग्रेज़ों और फ़रासीसियों के बीच जो लड़ाई हो रही थी, वह उन दोनों के बीच होने वाले लोक-व्यापी युद्ध का अंग थी। इसमें अंग्रेज़ सफल हुए और फ़रासीसी लगभग हिंदुस्तान से अलग कर दिए गए।

फ़रासीसियों के समाप्त हो जाने से अब तीन शक्तियां शेष रहीं, जिनमें कि हिंदुस्तान में अधिकार प्राप्त करने के लिए झगड़ा था—अर्थात् मराठों का गुट्ट; दक्खिन में हैदरअली, और अंग्रेज़। बावजूद इसके कि प्लासी में उनकी जीत हुई थी और वह बंगाल और बिहार में फैल गए थे, हिंदुस्तान में शायद ही कोई यह ख़याल

करता रहा हो कि ब्रिटिश यहां की सबसे बड़ी शक्ति बन जायँगे। देखनेवाला अब भी मराठों को पहली जगह देता। यह लोग पच्छिमी और मध्य-हिंदुस्तान में सब जगह यहां तक कि दिल्ली तक फैले हुए थे और इनके साहस ओर युद्ध करने के गुणों की प्रसिद्धि थी। हैदरअली और टीपू सुल्तान प्रबल विरोधी थे, जिन्होंने कि अंग्रेज़ों को बुरी तरह हराया और ईस्ट इंडिया कंपनी की शक्ति को प्रायः समाप्त कर दिया। लेकिन यह लोग दक्खिन तक सीमित रहे और सारे हिंदुस्तान में जो कुछ होता था उस पर उनका कोई सीधा असर न था। हैदरअली एक अद्भुत आदमी था और हिंदुस्तान के इतिहास का एक प्रधान पुरुष। उसका एक तरह का राष्ट्रीय आदर्श था और उसमें एक कल्पनाशील नेता के गुण थे। बराबर एक कष्टकर बीमारी का शिकार रहते हुए भी उसने आत्म-संयम और मेहनत करने की अद्भुत शक्ति दिखाई। औरों की अपेक्षा उसने बहुत पहले यह अनुभव किया कि समुद्री शक्ति का बड़ा महत्त्व है और इस शक्ति के आधार पर अंग्रेज़ों का कैसा ज़ोर बँध सकता है। उसने मिल-जुल कर इन्हें देश से निकाल बाहर करने के लिए एक संगठन तैयार करने का भी प्रयत्न किया और इस सिलसिले में, मराठों, निज़ाम और अवध के शुजाउद्दौला के पास संदेश भेजे। लेकिन इसका हासिल कुछ न रहा। उसने अपना समुद्री बेड़ा तैयार करना शुरू किया और मालद्वीप टापू पर अधिकार कर लिया और उसे जहाज़ बनाने और समुद्री कार्यवाहियों का अड्डा बनाया। अपनी सेना के साथ कूच करते हुए वह रास्ते में एक स्थान पर मर गया। उसके बेटे टीपू ने जहाज़ी बेड़े को सुदृढ़ करने के काम को जारी रक्खा। टीपू ने नैपोलियन और कुस्तुंतुनिया के सुल्तान के पास भी संदेश भेजे।

उत्तर में, रंजीतसिंह की अधीनता में, पंजाब में, एक सिख रियासत तैयार हो रही थी, जो बाद में कश्मीर और पच्छिमोत्तर के सरहदी सूबे तक फैली। लेकिन वह भी एक किनारे की रियासत थी और हिंदुस्तान पर अधिकार पाने के लिए जो लड़ाई हो रही थी उस पर उसका अधिक प्रभाव न था। ज्यों-ज्यों अठारहवीं सदी समाप्त होने पर आई यह स्पष्ट हो गया कि लड़ाई केवल दो शक्तियों में है, अर्थात् मराठों और अंग्रेज़ों में। और सभी राज्य और प्रदेश इन दोनों के मातहत या इनसे जुड़े हुए थे।

मैसूर के टीपू सुल्तान को, अंग्रेज़ों ने, अंत में १७९९ में हरा दिया और इससे अब मराठों और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच लड़ाई के लिए मैदान खाली

हो गया। चार्ल्स मेटकाफ़ ने, जोकि हिंदुस्तान के सबसे योग्य अंग्रेज़ी अफ़सरों में से एक था, १८०६ में लिखा था : "हिंदुस्तान में दो से अधिक बड़ी शक्तियां नहीं हैं, ब्रिटिश और मराठे, और शेष रियासतों में से हर एक इन दोनों में से एक के असर में है। जितने इंच हम पीछे हटेंगे, वह इनके अधिकार में आवेंगे।" लेकिन मराठा सरदारों में आपस में वैर चल रहा था और अंग्रेज़ों ने इनसे अलग-अलग लड़कर इन्हें हराया। इन्होंने कुछ मार्के की लड़ाइयां जीती थीं, विशेषकर १८०४ में आगरे के पास इन्होंने अंग्रेज़ों को बुरी तरह परास्त किया। लेकिन १८१८ में मराठा शक्ति अंत में कुचल दी गई और मध्य-हिंदुस्तान में उसका प्रतिनिधित्व करनेवाले बड़े-बड़े सरदारों ने हार मानकर ईस्ट इंडिया कंपनी का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उस समय अंग्रेज़ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े हिस्से के बेरोक शासक बन गए, जोकि देश पर सीधे या अपने कठपुतले और अधीन राजों द्वारा शासन करते थे। पंजाब और कुछ दूर के हिस्से अब भी उनके अधिकार से बाहर थे, लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी सल्तनत जम चुकी थी और बाद में सिखों, गोरखों और बर्मियों से इनकी जो लड़ाइयां हुईं उन्होंने नक़्शा भर दिया।

१३ : संगठन और यंत्र-कला में अंग्रेज़ों की श्रेष्ठता और हिंदुस्तान का पिछड़ा होना

ईस्ट इंडिया कंपनी आरंभ में व्यापार के लिए स्थापित हुई थी, और उसका सैनिक प्रयोग केवल इस व्यापार की रक्षा करना था। क्रमशः, प्रायः इस तरह कि लोगों को पता भी न चला, इसने अपना प्रदेश बढ़ा लिया था, और जो विशेष ढंग इसने ग्रहण किया वह यह था कि स्थानीय झगड़ों में, विरोधी दलों में से किसी एक को मदद देना। कंपनी की सेनाएं ज़्यादा अच्छी सिखाई गई थीं और जिसकी ओर भी वह सहायता देती, उसे लाभ पहुँचता, और कंपनी अपनी सहायता के लिए ख़ासा मूल्य वसूल करती। इस तरह कंपनी की शक्ति बढ़ी और उसके सैनिक प्रयोग ने उन्नति की। लोग इन सेनाओं को इस तरह देखने लगे कि वह किराए पर ली जा सकती हैं। जब लोगों को इस बात का पता चला कि अंग्रेज़ किसी की मदद करने वाले नहीं थे बल्कि अपना ही खेल खेल रहे थे, और वह था हिंदुस्तान में राजनैतिक शक्ति स्थापित करना; उस समय तक वह देश में अपने को दृढ़ता से स्थापित कर चुके थे।

विदेशियों के विरुद्ध एक भावना निश्चित रूप से मौजूद थी, और यह बाद के वर्षों में और भी बढ़ी। लेकिन एक आम और व्यापक राष्ट्रीय भावना से यह बहुत दूर की चीज़ थी। पृष्ठभूमि में सामंतवाद था, और लोग स्थानीय नेताओं के प्रति स्वामिभक्ति दिखाते थे। जैसा कि चीन के लड़ाके सरदारों के ज़माने में हुआ था, देश की व्यापक मुसीबतों ने लोगों को इस बात पर विवश किया कि जो भी सैनिक नेता नियमित वेतन दे सकता हो और लूट के अवसर देता हो, उसके यहां नौकरी कर ली जाय। ईस्ट इंडिया कंपनी की फ़ौजों में अधिक हिंदुस्तानी सिपाही होते थे। केवल मराठों में कुछ राष्ट्रीय भावना थी, और यह भावना स्थानीय सरदारों की वफ़ादारी भर नहीं थी; फिर भी यह राष्ट्रीय भावना तंग और सीमित थी। उन्होंने अपने व्यवहार से वीर राजपूतों को अपने विरुद्ध कर लिया। बजाय इसके कि यह उनकी मैत्री प्राप्त करते, उन्हें यह वैरी बना बैठे, या अधिक से अधिक असंतुष्ट जागीरदार। स्वयं मराठा सरदारों में तीखा वैमनस्य था और बावजूद इसके कि पेशवा के अधीन उनका एक गुट्ट-सा था उनमें कभी-कभी गृह-युद्ध हुआ करता था। कठिन अवसरों पर यह एक-दूसरे के काम न आते, और अलग-अलग लड़कर यह हरा दिए जाते थे।

फिर भी मराठों ने बहुत से योग्य व्यक्ति पैदा किए जो राजनीतिज्ञ भी थे और योद्धा भी, और इनमें नाना फड़नवीस, पेशवा बाजीराव (प्रथम), ग्वालियर के महदजी सिंधिया और इंदौर के यशवंतराव होलकर की गिनती होनी चाहिए, और हमें उस अद्‌भुत नारी को भी न भूलना चाहिए अर्थात् इंदौर की रानी अहिल्या बाई को। उनके सैनिक अच्छे होते थे, अपनी जगह पर डटे रहने वाले और मृत्यु का वीरता से सामना करने वाले। लेकिन इस सारी बहादुरी के पीछे युद्ध के ज़माने में और शांति के काल में भी बहुधा केवल एक जाँबाज़ी और अताईपन होता, जो कि एक आश्चर्य की बात है। दुनिया के बारे में उनका अज्ञान हद दर्जे का था और उनकी हिंदुस्तान के भूगोल की भी जानकारी सीमित थी। जो बात और भी बुरी थी वह यह थी कि वह इस बात का पता लगाने का कष्ट भी नहीं उठाना चाहते थे कि बाहर क्या हो रहा है और उनके वैरी क्या करने में लगे हुए हैं। इन हालतों में दूरंदेशी वाली राजनीतिज्ञता और व्यावहारिक सक्रियता की क्या गुंजाइश हो सकती थी? उनकी गति और वेग से बहुधा वैरी आश्चर्य में आकर घबरा उठते थे, लेकिन युद्ध को यह केवल कुछ बहादुरी के धावे समझने और इससे अधिक

कुछ नहीं। छापेमार लड़ाई में-वह वेजोड़ थे। वाद में उन्होंने अपनी सेनाओं को अधिक नियमित ढंग से संगठित किया, परिणाम यह हुआ कि एक ओर वह जिरह-वक्तर से वोझिल हुए, दूसरी तरफ़ उनकी वेगपूर्ण गति जाती रही, और वह इन नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को आसानी से न वना पाए। वह अपने को होशियार समझते थे और थे भी; लेकिन सुलह की हालत में या युद्ध में उन्हें धोखा दे सकना कठिन न था, क्योंकि वह एक पुराने और दक़ियानूसी चौखटे में घिरे हुए थे और उससे वाहर निकलना न चाहते थे।

हिंदुस्तानी शासकों ने आरंभ में ही विदेशियों की सिखाई हुई फ़ौजों की तरतीव और नियमन की श्रेष्ठता देख ली थी। वह फ़रासीसी और अंग्रेज़ी अफ़सरों को अपनी फ़ौजों को क़वायद कराने के लिए रखने लगे थे, और इन दोनों की प्रतिस्पर्द्धा ने हिंदुस्तानी फ़ौजों की तैयारी में मदद पहुँचाई। हैदरअली और टीपू को समुद्री शक्ति के महत्त्व का भी कुछ ध्यान था, और उन्होंने अंग्रेज़ों को चुनौती देने के लिए एक समुद्री वेड़ा तैयार करने की कोशिश भी की, लेकिन यह काम उन्होंने देर में आरंभ किया और सफल न रहा। मराठों ने भी इस दिशा में एक हल्की कोशिश की। हिंदुस्तान में, उस ज़माने में, जहाज़ वना करते थे, लेकिन थोड़े वक़्त में एक वेड़ा खड़ा कर देना आसान न था, विशेषकर तव, जव कि वरावर विपक्षी का सामना करना पड़े। जव फ़रासीसी शक्ति समाप्त हुई तो वहुत से फ़रासीसी अफ़सरों को भी, जोकि हिंदुस्तानी हुकूमतों की फ़ौजों में थे, जाना पड़ा। जो विदेशी अफ़सर वच रहे थे, अर्थात् अंग्रेज़, वह प्रायः संकट के अवसरों पर अपने मालिकों का साथ छोड़ देते थे, और कुछ अवसरों पर दग़ा देकर उन्हें फ़ौज और ख़जाने के साथ वैरियों के (अंग्रेज़ों के) सिपुर्द कर देते थे। हिंदुस्तानी शक्तियों का, विदेशी अफ़सरों पर भरोसा करना, न केवल उनके सैनिक संगठन का पिछड़ापन प्रकट करता है, वल्कि ऐसा भी था कि इससे उन्हें वहुधा धोखा खाना पड़ता था और इन अफ़सरों के विश्वास के योग्य न होने की वजह से उन्हें खतरा रहता था। हिंदुस्तानी राज्यों के पदाधिकारियों में और सेना में अक्सर अंग्रेज़ों को गुप्त रूप से मदद पहुँचानेवाले हुआ करते थे।

अगर मराठे अपने गुट्ट और सामुदायिक राष्ट्रीयता के वावजूद दीवानी और फ़ौजी संगठन में पिछड़े हुए थे, तो दूसरी हिंदुस्तानी शक्तियां तो और भी पिछड़ी हुई थीं। राजपूत साहसी अवश्य थे, लेकिन उनके ढंग सामंतवादी थे।

वे वीर होते हुए भी वह नाकारा थे और आपस की फूट में पड़े रहते थे। उनमें से बहुतेरे, सामंतवादी स्वामिभक्ति की भावना से, और कुछ अंशों में अकबर की पुरानी नीति के फलस्वरूप, मिटती हुई दिल्ली की हुकूमत के पक्षपाती बने रहे। लेकिन दिल्ली की हुकूमत इतनी कमज़ोर हो चुकी थी कि वह इससे लाभ न उठा सकी, और राजपूतों का ह्रास होता रहा और यह दूसरों के हाथों के खिलौने बन गए, और अंत में मराठा सिंधिया के प्रभाव में आ गए। उनके कुछ सरदारों ने अपनी रक्षा करने के लिए होशियारी से जोड़-तोड़ लगाने की कोशिशें कीं। उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान के बहुत से मुस्लिम हाकिम और सरदार उतने ही सामंतवादी और विचारों में उतने ही पिछड़े हुए थे जितने कि राजपूत लोग। उनका होना-न-होना बराबर था, बल्कि आम लोगों की मुसीबतों और झंझटों को यह और बढ़ाते रहते थे। इनमें से कुछ ने मराठों का संरक्षण स्वीकार कर लिया।

नेपाल के गोरखे बड़े ऊँचे दर्जे के और ढंग के सिपाही थे, और ईस्ट इंडिया कंपनी की किसी भी फ़ौज से अच्छे नहीं तो बराबरी के अवश्य थे। यद्यपि इनका संगठन पूरी तौर पर सामंतवादी था, फिर भी इन्हें अपने देश से ऐसा गहरा प्रेम था कि यह उसकी रक्षा के लिए जी तोड़कर लड़ने वाले थे। अंग्रेज़ इनसे दहशत खा गए, लेकिन हिंदुस्तान की मुख्य लड़ाई में इनके कारण कोई अंतर न पैदा हुआ।

मराठों ने, उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान के उन बड़े प्रदेशों में, जहां कि वह फैल गए थे, अपने को दृढ़ नहीं बनाया। वह आए और चले गए, उन्होंने जड़ नहीं पकड़ी। शायद ठीक उस ज़माने में, लड़ाई की जीत और हार की वहज से, कोई भी जड़ नहीं पकड़ सकता था; और वास्तव में अंग्रेज़ी अधिकार के या अंग्रेज़ी सरपरस्ती में आए इलाक़ों की हालत कहीं बुरी थी, और अंग्रेज़ों ने या उनके शासन ने वहां जड़ नहीं पकड़ी थी।

एक तरफ़ मराठे थे (और उनसे भी अधिक दूसरी हिंदुस्तानी शक्तियां थीं) जोकि अताईपन और जाँबाज़ी के ढंगों पर अमल करते थे; दूसरी ओर हिंदुस्तान में आए हुए अंग्रेज़ थे जो पूरी तरह चुस्त थे। बहुत से ब्रिटिश नेता काफ़ी साहसी थे, लेकिन उनकी नीति में कोई जाँबाज़ी न थी, और इसके लिए सभी अपने-अपने दायरों में मुस्तैदी से काम किया करते थे। एडवर्ड टामसन लिखता है : "ईस्ट इंडिया कंपनी के दफ़्तर के सहायक, हिंदुस्तान की देशी रियासतों के दरबार में, ऐसे-ऐसे योग्य लोग रहे हैं, जैसे कि ब्रिटिश साम्राज्य में शायद ही किसी ज़माने

में एक साथ हुए हों।" इन दरबारों में ब्रिटिश रेजिडेंटों का एक मुख्य काम यह होता था कि मंत्रियों और पदाधिकारियों को रिश्वतें दे-देकर उन्हें बिगाड़ते रहें। एक इतिहासकार का कहना है कि उनकी जासूसी प्रथा पक्की थी। उन्हें दरबारी बातों की और वैरियों की सेना की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी, जबकि इन सामना करने वालों को यह पता न होता कि अंग्रेज़ क्या कर रहे हैं या क्या करने वाले हैं। अंग्रेज़ों के मददगार विश्वासघाती लोग बराबर काम करते रहते थे और संकट के अवसरों पर, या जब कि लड़ाई सरगर्मी पर होती तब अपने दलों को छोड़कर उनसे आ मिलते और इससे बड़ा अंतर पैदा हो जाता। लड़ाई आरंभ होने से पूर्व वह लड़ाइयां जीते होते थे। यही बात प्लासी में हुई और यही बार-बार सिख-लड़ाइयों के समय तक होती रही। विश्वासघात की एक मार्के की मिसाल ग्वालियर के सिंधिया के एक ऊँचे पदाधिकारी की थी, जिसने कि चुपके से अंग्रेज़ों से समझौता कर लिया था, और जोकि ठीक लड़ाई के समय अपनी सारी सेना के साथ अंग्रेज़ों की ओर चला गया। इसका इनाम उसे इस तरह मिला कि सिंधिया (जिससे कि विश्वास-घात हुआ था) की रियासत से ही एक टुकड़ा अलग करके, उसे एक नई रियासत बनाकर उसका शासक बना दिया गया। यह रियासत अब भी है, लेकिन उस आदमी का नाम विश्वासघात और दग़ाबाज़ी का पर्याय हो गया है, उसी तरह जिस तरह कि हाल में क्वीस्लिंग का नाम बन गया है।

इस तरह, अंग्रेज़ एक ऊँचे दर्जे के राजनीतिक और सैनिक संगठन का प्रतिनिधित्व करते थे, जोकि ख़ूब दृढ़ था, और उनके यहां बड़े योग्य नेता थे। अपने दुश्मनों के मुक़ाबले में उनकी जानकारी कहीं बढ़ी-चढ़ी थी और वह हिंदुस्तान की फूट और यहां की शक्तियों के आपस के झगड़ों से पूरा लाभ उठाते थे। चूंकि उनकी समुद्री ताक़त भी थी, इसलिए उन्हें सुरक्षित सैनिक अड्डे भी मिले हुए थे और मदद प्राप्त करने के साधन उनके लिए खुले थे। थोड़े समय के लिए हार भी गए तो वह फिर शक्ति इकट्ठी करके दुबारा आक्रमण आरंभ कर सकते थे। प्लासी की लड़ाई के बाद, बंगाल के हाथ में आ जाने से, उन्हें बड़ी दौलत मिली थी, और इस तरीक़े पर मराठों से और दूसरों से भी लड़ाई जारी रखने के साधन प्राप्त हो गए थे, और हर नई जीत के साथ-साथ यह साधन बढ़ते ही जाते थे। अगर हिंदुस्तानी शक्तियां हारती थीं तो उनके लिए तबाही आ जाती थी, और इसका वह कोई इलाज न कर पाते थे।

जंग और जीत और लूट-मार के इस काल ने मध्य-हिंदुस्तान और राजपूताना और दक्खिन और पच्छिम में यह स्थिति कर दी थी कि वहुत से प्रदेशों में शासन ही न रह गया था और वहां मार-धाड़ और वेवसी और मुसीवत का आलम था। उन पर से फ़ौजें गुज़र जाती थीं और उसके पीछे लुटेरे आते थे और वहां के मुसीवत के मारे लोगों की कोई खवर लेने वाला न था। जो आता वह उनके माल-असवाव को लूटने ही के लिए आता। हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों की दशा प्रायः वैसी ही गई थी, जैसी कि तीस साल की लड़ाई के समय में मध्य-यूरोप की थी। स्थिति आम तौर पर सभी जगह विगड़ी हुई थी, लेकिन सव से अधिक विगड़ी हालत उन प्रदेशों की थी जहां कि अंग्रेज़ों का अधिकार था या उनका संरक्षण था। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि "जो चित्र मद्रास में, या अवध और हैदरावाद की अधीन रियासतों में, हमें देखने में आता है, उससे भयावह चित्र की कल्पना नहीं की जा सकती; इन जगहों में मुसीवतों की हवा आई हुई थी। इनकी वरावरी में वह प्रदेश जहां कि नाना (फड़नवीस, मराठा राजनीतिज्ञ) की हुकूमत थी, अमन-चैन के नख़्लिस्तान जैसे थे।"

इस ज़माने से ठीक पहले हिंदुस्तान के वड़े हिस्सों में, वावजूद मुग़लों के शासन के टूट जाने के, वद-अमनी से वहुत वचत थी। वंगाल में एक हद तक स्वतंत्र मुग़ल सूवेदार अलावर्दी के लंवे राज्य-काल में शांतिपूर्ण शासन था और व्यापार उन्नति कर रहा था, जिससे कि सूवे की दौलत वढ़ रही थी। अलावर्दी की मृत्यु के कुछ समय वाद प्लासी की लड़ाई (१७५७) हुई और ईस्ट इंडिया कंपनी दिल्ली के वादशाह की मुख़्तार वन वैठी, यद्यपि वह वस्तुतः विलकुल स्वतंत्र थी और जो चाहती थी कर सकती थी। इसके वाद कंपनी और उसके गुमाश्तों और मुख़्तारों ने वंगाल की लूट-खसोट आरंभ की। प्लासी के कुछ साल वाद मध्य-हिंदुस्तान में इंदौर की अहिल्यावाई का राज्यकाल आरंभ हुआ और यह तीस साल (१७६५-१७९५) तक वना रहा। यह वात कहावत के दर्जे तक प्रसिद्ध है कि इस काल में पूरा-पूरा अमन-चैन रहा; अच्छा शासन स्थापित था और लोगों में खुशहाली फैली। वह एक वड़ी योग्य शासन और संगठन करने वाली स्त्री थी और अपने जीवन-काल में उसने लोगों से वड़ा आदर पाया और मरने के वाद उसकी कृतज्ञ प्रजा ने उसे धार्मिक प्रतिष्ठा दी। इस तरह, उस काल में, जव कि वंगाल और विहार ईस्ट इंडिया कंपनी की नई हुकूमत पस्ती की दशा में थी और संगठित लूट की

वजह से तबाह हो रही थी और वहां राजनीतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था फैली हुई थी, जिसकी वजह से भयानक अकाल पड़ रहे थे, मध्य-हिंदुस्तान में और मुल्क के बहुत से दूसरे हिस्सों में लोग खुशहाल थे।

अंग्रेज़ों ने शक्ति और धन अवश्य प्राप्त कर लिया था, लेकिन वह अच्छी हुकूमत या किसी तरह की हुकूमत के, अपने को, ज़िम्मेदार नहीं समझते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों की दिलचस्पी नफ़े और ख़ज़ाने में थी, अपने अधीन आए हुए लोगों की हालत सुधारने या उनकी रक्षा भी करने में नहीं थी। विशेषकर उनकी अधीन रियासतों में शक्ति और उत्तरदायित्व के बीच कोई संबंध न रह गया था।

हमें बहुधा बताया जाता है, जिससे हम भूल न जायें, कि अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान को अराजकता और अंधकार से बचाया। यह बात इस हद तक सही है कि इस काल के बाद, जिसे कि मराठों ने 'भयानक समय' बताया है, उन्होंने व्यवस्थित शासन स्थापित किया। लेकिन जो अराजकता और अंधकार फैला, उसकी कम-से-कम कुछ ज़िम्मेदारी ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति, और हिंदुस्तान में उस कंपनी के नुमाइंदों पर अवश्य है। इस बात की भी कल्पना की जा सकती है कि बिना अंग्रेज़ों की सहायता के भी, जिसे वह देने के लिए इतने तुले हुए थे, हिंदुस्तान में, अधिकार पाने के लिए लड़ी गई लड़ाई के अंत में शांति और व्यवस्थित हुकूमत क़ायम हो जाती। ऐसी सूरतें हिंदुस्तान में, उसके पांच हज़ार वर्षों के इतिहास में, और दूसरी जगहों में, पहले भी पैदा हो चुकी हैं।

१४ : रंजीतसिंह और जयसिंह

यह स्पष्ट है कि हिंदुस्तान विदेशियों की विजय का शिकार इसलिए हुआ कि उसके लोगों में त्रुटियां थीं और अंग्रेज़ एक ऊँची और उन्नतिशील समाजी व्यवस्था की नुमाइंदगी करने वाले थे। दोनों तरफ़ के नेताओं के बीच स्पष्ट अंतर था; हिंदुस्तानी—वह चाहे जितने योग्य हों—विचार और व्यवहार के तंग दायरे में रहनेवाले लोग थे, और उन्हें इस बात का पता न था कि दूसरी जगहों में क्या हो रहा है, और इसलिए वह बदलती हुई स्थितियों में, अपने को ठीक-ठीक बिठा न पाए। अगर कुछ व्यक्तियों में बातों को जानने की रुचि पैदा भी हुई तो वह उन घेरों को तोड़ न पाते थे, जिनमें कि वह बंधे हुए और क़ैद थे। इसके प्रत्युत

अंग्रेज़ वहुत कार्यकुशल लोग थे,और उनके देश और फ्रांस और अमरीका में होने वाली घटनाओं ने उन्हें जगा दिया था। दो वड़ी क्रांतियां वीत चुकी थीं। फ़रासीसी क्रांति के सैनिकों के और नैपोलियन के धावों ने सारी युद्ध की कला वदल दी थी। अनजान से अनजान अंग्रेज़, अपनी हिंदुस्तान-यात्रा के वीच में, दुनिया के कई हिस्सों को देख चुका होता था। स्वयं इंग्लिस्तान में मार्के की खोजें हो चुकी थीं, जिनका परिणाम यह हुआ था कि वहां कल-कारखानों की क्रांति हो गई थी, यद्यपि शायद वहुत ही थोड़े लोग ऐसे थे जो इसके दूर तक पहुँचने वाले प्रभाव का अंदाज़ा लगा सकते थे। लेकिन परिवर्तन का ख़मीर ज़ोरों से काम कर रहा था, और लोगों पर प्रभाव डाल रहा था। इन सवके पीछे वह प्रसारशील स्फूर्ति थी जिसने कि अंग्रेज़ों को सुदूर देश में भेजा।

जिन लोगों ने हिंदुस्तान का इतिहास लिखा है, वह लड़ाइयों और हंगामों और राजनीतिक और सैनिक नेताओं के वर्णन में इतने फँस गए हैं, कि उन्होंने यह वहुत कम लिखा कि हिंदुस्तान के मतिष्क में क्या परिवर्तन हो रहे थे, और उसकी समाजी और आर्थिक व्यवस्था किस ओर जा रही थी। इस गँदले वर्णन के भीतर से वीच-वीच में और अकस्मात् कुछ झलकियां मिल जाती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस भयानक युग में लोग साधारणतया पस्त और कुचले हुए से थे, दुर्भाग्य के चक्र को चुपके से सहन कर लेते थे, एक चकाचौंध और उदासीनता का उन पर आलम छाया हुआ था। वहुत से व्यक्ति ऐसे अवश्य रहे होंगे, जिनमें वातों को समझने की इच्छा थी, और जो उन नई शक्तियों को समझना चाहते थे जो कि काम कर रही थीं, लेकिन घटनाओं की वाढ़ में वह आ गये थे, और उन पर प्रभाव न डाल सके।

उन व्यक्तियों में, जिनमें जिज्ञासा भरी हुई थी, महाराजा रंजीतसिंह था जो कि एक जाट सिख था, और जिसने पंजाव में एक राज्य वना लिया था; यह राज्य वाद में कश्मीर और सरहदी सूवे तक फैला। उसमें त्रुटियां थीं और वुरी आदतें भी थीं, फिर भी वह एक अद्भुत मनुष्य था। जैकमों नाम का फ़रासीसी उसे "हद दर्जे का वहादुर" वताता है, और कहता है कि "यह प्रायः पहला हिंदुस्तानी था, जिसमें कि मैंने जिज्ञासा का भाव देखा था। लेकिन उसकी जिज्ञासा ऐसी थी कि वह सारे राष्ट्र की उदासीनता की कमी को पूरा करने वाली थी। उसकी वात-चीत से हमेशा डर लगता था।" इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुस्तानी

हमेशा अलग-थलग रहने वाले होते हैं, उनमें भी विशेपकर ऊँचे मस्तिष्क वाले लोग। इनमें से बहुत कम ने हिंदुस्तान में आनेवाले विदेशी सैनिक नेताओं और साहसियों से राह-रस्म रखना पसंद किया होगा, क्योंकि उनके बहुत से कारनामों ने, उनमें भय पैदा किया होगा। इस तरह विचारशील लोग विदेशियों से जहाँतक होता बचकर अपनी प्रतिष्ठा बचाए रखते, और उनसे केवल रस्मी अवसरों पर भेंट करते या उस समय जब कि मिलना अनिवार्य हो जाता। जिन हिंदुस्तानियों से अंग्रेज़ मिलते वह आमतौर पर या तो लोककुशल होते या जी-हुज़ूरी वाले, जो उन्हें और मंत्रियों को घेरे रहते और प्रायः घूसखोर और षड्यंत्री, हिंदुस्तानी दरबारी होते।

रंजीतसिंह बौद्धिक जिज्ञासा वाला मनुष्य ही न था, उसमें बड़ी मानवता भी थी—उस समय जब कि हिंदुस्तान और सारी दुनिया में निर्दयता और पाशविकता छाई हुई थी। उसने एक राज्य बनाया और बलशाली सेना खड़ी कर ली, फिर भी वह ख़ून-ख़राबी पसंद नहीं करता था। प्रिंसेप ने लिखा है कि "एक अकेले आदमी ने इतना बड़ा राज्य इतने कम पापों के साथ कभी न स्थापित किया था।" चाहे जैसा जुर्म हो उसने मृत्यु का दंड उड़ा दिया था — उस समय जब कि इंग्लिस्तान में, छोटी-छोटी चोरियों के लिए भी मृत्यु की सज़ाएं दी जाती थीं। आसबार्न, जो उससे मिला था, लिखता है: "जंग के मौक़ों को छोड़कर उसने कभी किसी की जान न ली, यद्यपि स्वयं उसके जीवन पर कई बार हमले हुए थे, और उसका राज्य, बहुत से अधिक सभ्य शासकों की अपेक्षा, निर्दयता और दमन के कामों से मुक्त पाया जायगा।"

एक दूसरा, और और ही ढंग का हिंदुस्तानी राजनीतिज्ञ राजपूताना में जयपुर का सवाई जयसिंह था। उसका समय कुछ और पूर्व का है। १७४३ में उसकी मृत्यु हुई। औरंगज़ेब के मरने से बाद के काल में जो टूट-फूट हुई, उस समय यह हुआ है। वह इतना पर्याप्त चतुर और लोक-कुशल था कि एक के बाद एक तेज़ी से आने वाले धक्कों से और परिवर्तनों से अपने को सँभाल सका। उसने दिल्ली के बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली। जबकि उसने देखा कि आगे बढ़ते हुए मराठे इतने दृढ़ हैं कि उन्हें रोका नहीं जा सकता तो उसने बादशाह की ओर से उनसे समझौता कर लिया। लेकिन उसके राजनीतिक और सैनिक कारनामों में मेरी रुचि नहीं है। वह एक वीर योद्धा और पक्का कूटनीतिज्ञ था, लेकिन वह इससे कहीं बढ़कर

था। वह गणितज्ञ था और ज्योतिप जानने वाला था, वैज्ञानिक था और नगर-निर्माण करने वाला था, और इतिहास के अध्ययन में उसकी दिलचस्पी थी।

जयसिंह ने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, वनारस और मथुरा में वड़ी-वड़ी वेधशालाएं तैयार कराईं। पुर्तगाली पादरियों से यह जानकर कि पुर्तगाल में ज्योतिप का ज्ञान उन्नति पर है, उसने, एक पादरी के साथ अपना एक व्यक्ति पुर्तगाल के राजा एमैनुएल के दरवार में भेजा। एमैनुएल ने अपने दूत ज़ेवियर डि सिल्वा को डिला हायर की तालिकाओं के साथ जयसिंह के पास भेजा। इन तालिकाओं का, अपनी तालिकाओं से मिलान करने पर, वह इस परिणाम पर पहुँचा कि पुर्तगाली तालिकाएं कम शुद्ध थीं, और उनमें कई अशुद्धियां थीं। इन अशुद्धियों का कारण उसने यह वताया कि जिन यंत्रों का व्यवहार किया गया था, उनके 'व्यास घटिया' थे। जयसिंह हिंदुस्तानी गणित का पूरा जानकार तो था ही, उसने पुरानी यूनानी पुस्तकें भी देखी थीं और यूरोप में उसके समय में गणित में जो उन्नति हुई थी, उसे भी जानता था। उसने यूक्लिड आदि कुछ यूनानी पुस्तकों के, और सम तथा गोलीय त्रिकोणमिति, और लघुगणकों के निर्माण और व्यवहार पर, यूरोपीय ग्रंथों के संस्कृत में अनुवाद कराए थे। उसने ज्योतिप की अरवी किताबों के भी तर्जुमे कराए थे।

उसने जयपुर शहर की स्थापना की। नगर-निर्माण में दिलचस्पी रखते हुए उसने अपने समय के वहुत से यूरोपीय शहरों के नक़्शे इकट्ठे किए और फिर अपना नक़्शा तैयार किया। जयपुर के अजायवघर में पुराने यूरोपीय शहरों के इन नक़्शों में से कई अव भी सुरक्षित हैं। जयपुर के शहर का नक़्शा इतना अच्छा और वुद्धिमानी से तैयार किया गया था कि वह अव भी नगर-निर्माण की एक मिसाल पेश करता है।

थोड़ी ही उम्र के भीतर-भीतर, और युद्धों और दरवारी षड्यंत्रों में फँसे रहते हुए भी, जयसिंह ने यह सव और वहुत कुछ और भी किया। जयसिंह की मृत्यु से ठीक चार साल पहले, नादिरशाह का हमला हुआ था। किसी भी ज़माने में और कहीं भी, जयसिंह एक मार्के का आदमी हुआ होता। राजपूताने के विशिष्ट सामंतवादी वातावरण में पैदा होकर, हिंदुस्तान के इतिहास के एक इतने अँधियारे समय में जव कि टूट-फूट, युद्ध और हंगामे ही दिखाई पड़ते थे, उसके वैज्ञानिक कारनामे वड़े महत्त्व के हैं। इससे यह पता चलता है कि हिंदुस्तान में वैज्ञानिक

जिज्ञासा का लोप नहीं हुआ था ; और कोई ऐसा खमीर काम कर रहा था कि अगर उसे अवसर दिया जाता तो बड़े मूल्यवान परिणाम सामने लाता । यह बात नहीं कि जयसिंह अपने समय का एक अनोखा मनुष्य रहा हो और एक अप्रिय और अनुपयुक्त वातावरण में उत्पन्न हुआ अकेला विचारक रहा हो । वह अपने युग की उपज के अनुरूप था, और उसने अपने साथ काम करने वाले बहुत से वैज्ञानिकों को इकट्ठा कर लिया था । इनमें से कुछ को, उसने समाज के रिवाज और रोक की परवाह न करके, पुर्तगाल में एलची बनाकर भेजा था । ऐसा संभव जान पड़ता है कि देश में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों तरह के वैज्ञानिक काम के लिए अच्छी-खासी सामग्री उपस्थित थी, लेकिन उसे विकास का अवसर न मिला । दुर्व्यवस्था और हंगामों के समाप्त हो जाने के बाद भी वैज्ञानिक-कामों के लिए अधिकारियों से कोई बढ़ावा न मिला ।

१५ : हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि : दो इंग्लिस्तान

जिस समय कि यह सब गहरे प्रभाव रखनेवाले राजनीतिक उलट-फेर हो रहे थे हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी ? वी० ऐन्स्टी ने लिखा है कि ठीक अठारहवीं सदी तक "उत्पादन, कौशल, और व्यापारिक संगठन के हिंदुस्तानी ढंग संसार के किसी हिस्से में प्रचलित ढंगों की अपेक्षा नीचे न ठहरेंगे ।" हिंदुस्तान व्यापारिक माल पैदा करनेवाला एक बहुत ही उन्नत देश था, और अपने यहां से तैयार किया हुआ माल यूरोप और दूसरे देशों में भेजता था । उसकी महाजनी की व्यवस्था बहुत अच्छी और देश भर में खूब संगठित थी, और बड़े-बड़े व्यापारियों की हुंडियां हिंदुस्तान में सब जगह सकारी जाती थीं, और हिंदुस्तान ही क्या ईरान, काबुल, हेरात, ताशक़ंद और मध्यएशिया की और जगहों में भी स्वीकार की जाती थीं । व्यापारी संगठन स्थापति हो गए थे, और गुमाश्तों, माल पहुँचानेवालों, और दलालों और बीच के व्यापारियों का जाल-सा बिछा हुआ था । जहाज़ बनाने का धंधा ज़ोरों पर था और नैपोलियन के ज़माने की लड़ाइयों में एक अंग्रेज़ी एडमिरल का खास जहाज़ (फ़्लैग शिप) हिंदुस्तान के एक कारखाने का बना हुआ था । वास्तव में तिजारत और व्यापार और माली मामलों में, कारखानों की क्रांति (इंडस्ट्रियल रेवोल्यूशन) के ज़माने से पहले तक, हिंदुस्तान किसी भी देश के बराबरी की उन्नति कर चुका था । यदि देश में शांति और स्थायी शासन के लंबे समय न

बीतें होते और यातायात के मार्ग आने-जाने और व्यापार के लिए सुरक्षित न होते, तो ऐसी उन्नति असंभव होती।

विदेशी साहसिक आरंभ में हिंदुस्तानी तिजारती माल की अच्छाइयों से खिंचकर यहां आए, क्योंकि इस माल की यूरोप में वड़ी खपत थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का आरंभ के दिनों में मुख्य धंधा ही हिंदुस्तानी माल का, यूरोप में रोज़गार करना था, और यह तिजारत कंपनी के लिए वड़े लाभ की सिद्ध हुई, और कंपनी के हिस्सेदारों को लंबे नफ़े मिलते रहे। चीज़ों की तैयारी के ढंग हिंदुस्तान में ऐसे अच्छे और संगठित थे, और हिंदुस्तान के कारीगरों और शिल्पियों की हुनरमंदी इस दर्जे की थी, कि वह तैयारी के ज़्यादा ऊँचे ढंग से जोकि उस समय इंग्लिस्तान में प्रचलित हो रहे थे वड़ी सफलता से मुक़ावला कर सकते थे। जिस समय कि इंग्लिस्तान के कल-कारख़ानों का महान् युग आरंभ हुआ, उस समय हिंदुस्तानी माल वहां पटा पड़ता था और उसे भारी चुंगी लगाकर और कुछ चीज़ों का आना तो विल्कुल वंद करके, रोकना पड़ा।

सन् १७५७ में, अर्थात् उसी साल जव कि प्लासी की लड़ाई हुई, क्लाइव ने वंगाल के मुर्शिदावाद को "लंदन के इतना विस्तृत, आवाद और संपन्न शहर" वताया है, "भेद इतना है कि इनमें से पहले, मुर्शिदावाद, में ऐसे लोग हैं जो लंदन की अपेक्षा वेहद मालामाल हैं।" पूर्वी वंगाल में ढाका का शहर अपनी वारीक मलमल के लिए प्रसिद्ध था। यह दो शहर, महत्त्व के होते हुए भी, हिंदुस्तान के वाहरी छोर के क़रीव के थे। इस विस्तृत देश में, सभी जगह और भी वड़े शहर और वहुत वड़े व्यापार के केंद्र थे, और तेज़ी से समाचार और व्यापारभाव की जानकारी पहुँचाने के लिए वड़ी कुशल व्यवस्था की गई थी। वड़े-वड़े व्यापारियों के यहां, वहुधा लड़ाई तक के समाचार, ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों के पास आए समाचारों से वहुत पहले पहुँच जाते थे। इस तरह हिंदुस्तान का अर्थ-तंत्र कल-कारखानों की क्रांति से क़ब्ल, जितनी उन्नति संभव थी, उतनी उन्नति कर चुका था।

यद्यपि हिंदुस्तानी व्यापारियों और माल तैयार करने वालों के वर्ग अमीर थे, और सारे देश में फैले हुए थे और उनका आर्थिक व्यवस्था पर वश था, फिर भी उनमें राजनीतिक शक्ति नहीं थी। शासन स्वेच्छाचारी और अव भी वहुत हद तक सामंतवादी थी। वास्तव में, शायद जितनी सामंतवादी इस समय में थी उतनी

हिंदुस्तान के इतिहास में और कभी भी पहले नहीं रही थी। इस वजह से कोई शक्तिशाली मध्यवर्ग नहीं था, या ऐसा वर्ग भी जोकि शक्ति अपने हाथ में कर लेने के लिए सचेत हो, जैसा कि पच्छिमी देशों में था। आमतौर से लोग उदासीन और गुलामी की मनोवृत्ति रखनेवाले हो रहे थे। इस तरह एक खाई पैदा हो गई थी, जिसका भरना, क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए आवश्यक था।

उस समय, अंग्रेज़, राजनीतिक दृष्टि से, कहीं अधिक उन्नत थे। उनके यहां राजनीतिक क्रांति हो चुकी थी और उन्होंने अपने राजा की शक्ति से ऊपर पार्लमेंट की शक्ति स्थापित कर ली थी। उनके मध्यवर्ग के लोग, अपनी नई शक्ति की चेतना रखते हुए, खूब फैलना चाहते थे। यह जीवनी शक्ति और स्फूर्ति जोकि उन्नति करनेवाले और प्रगतिशील समाज के लक्षण हैं, इंग्लिस्तान में साफ़ तौर पर दिखाई देते हैं। यह कई प्रकार सामने आते हैं, सबसे अधिक उन आविष्कारों और खोज़ों में सामने आते हैं जिन्होंने कि कल-कारखानों की क्रांति का आवाहन किया।

यह सब होते हुए भी, अंग्रेज़ी शासक-वर्ग कैसा था? अमरीका के मशहूर इतिहासकार, चार्ल्स और मेरी बेयर्ड ने हमें बताया है कि अमरीका की क्रांति की कामयाबी ने अमरीका के शाही प्रदेशों से किस तरह अंग्रेज़ी शासक-वर्ग को अचानक दूर कर दिया। "यह वर्ग एक बर्बर ज़ाब्ता फ़ौजदारी का अभ्यस्त था, और अभ्यस्त था एक तंग, असहिष्णु यूनिवर्सिटी की व्यवस्था का; एक ऐसी हुकूमत का जिसकी कल्पना नौकरियों और अधिकारों के एक बड़े समूह के रूप में की गई है; खेतों और दूकानों में मेहनत करनेवाले पुरुषों और स्त्रियों को घृणा से देखने का, जनता को शिक्षा देने से इंकार का; एक स्थापित धर्म को मुनकिरों और कैथलिकों पर लादने का; देहातों और गाँवों में ज़मीदारों और पादरियों के राज का; फ़ौज और जहाज़ी नौकरियों में बेरहमी और अत्याचार का; ज़मीदारों की हुकूमत की रोक-थाम करनेवाली उस प्रथा का जिसमें जेठे बेटे को उत्तराधिकारी माना जाता है; पदों, निठल्ले ओहदों और पेंशनों की खातिर राजा की चापलूसी में लगे हुए झुंड-के-झुंड भुक्कड़ लोगों का; और धर्म और राज की ऐसी व्यवस्था का जो कि घमंड और लूट के इस बड़े ढेर के बोझ को जनता पर लादती है। अंग्रेज़ी राजा की नौ-आबादियों की प्रजा की, इस बोझ के पहाड़ से, अमरीका के क्रांतिकारियों ने रक्षा की। इस मुक्ति के दस-बीस साल के भीतर उन्होंने क़ानून और नीति में वह सुधार कर दिए, जिनके वास्ते मातृभूमि (इंग्लिस्तान) में सौ या इससे अधिक साल के

निरंतर आंदोलन की आवश्यकता पड़ी—और जिनकी बदौलत इन सुधारों के लिए आंदोलन करने वाले राजनीतिज्ञों को अंग्रेजी इतिहास में अमर स्थान दिया गया।"

अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा पर, जोकि स्वतंत्रता के इतिहास का एक सिवान है, १७७६ में दस्तखत हुए थे, और छः साल बाद नौ-आबादियां इंग्लिस्तान से अलग हो गई। तब उनकी असली मानसिक, आर्थिक और समाजी क्रांति आरंभ हुई। अंग्रेज़ों की प्रेरणा से, इंग्लिस्तान के नमूने पर ज़मीन की जो व्यवस्था क़ायम हो गई थी वह बिलकुल बदल दी गई। बहुत से विशेष अधिकार उठा दिए गए और बड़ी ज़मींदारियों को ज़ब्त करके उन्हें टुकड़ों में बाँट दिया गया। जागरण और बौद्धिक और आर्थिक सरगर्मी और उद्योग का एक जोशीला ज़माना आया। सामंतवादी निशानियों से और विदेशी अधिकार से मुक्त होकर स्वतंत्र अमरीका ने उन्नति के लंबे डग भरे।

फ्रांस में, बड़ी क्रांति ने, बैस्टील के क़ैदखाने को, जोकि पुरानी व्यवस्था का प्रतीक था, तोड़ डाला, और राजा और सामंतवाद को हटाकर दुनिया के सामने मानवी अधिकारों की घोषणा की।

फिर इस समय इंग्लिस्तान में क्या हुआ? अमरीका और फ्रांस के इन क्रांतिकारी परिवर्तनों से भय खाकर, इंग्लिस्तान और भी प्रतिक्रियावादी हो गया, और उसका भयानक और बर्बर ज़ाब्ता फ़ौजदारी और भी बर्बर बन गया। जब १७६० में, तीसरा जार्ज गद्दी पर बैठा तब १६० ऐसे जुर्म थे जिनके लिए मर्दों, औरतों और बच्चों को मृत्यु का दंड मिल सकता था। जब १८२० में, उसका राज्य-काल समाप्त हुआ, तब इस भयानक सूची में लगभग सौ ऐसे जुर्म और जुड़ चुके थे, जिनके लिए मृत्यु का दंड निश्चित किया गया था। ब्रिटिश सेना के साधारण सिपाही के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता था, जैसा कि जानवरों के साथ भी न होता हो, ऐसी निर्दयता और बेरहमी बरती जाती थी कि रोंगटे खड़े होते हैं। मृत्यु की सज़ाएं साधारण थीं, और उससे भी अधिक साधारण बात थी सरे-आम कोड़े लगाने का रिवाज। सैकड़ों कोड़े तक लगाए जाते थे यहां तक कि या तो मौतें हो जाती थीं, या ज्यों-त्यों बच गए तो सज़ा पानेवालों के कुचले हुए जिस्म घावों के भरने के दिन तक इस दंड की कहानी कहते रहते थे।

इस मामले में, और बहुत-सी दूसरी बातों में जिनका कि मानवता और व्यक्ति की प्रतिष्ठा से संबंध है, हिंदुस्तान कहीं आगे था और उसकी सभ्यता कहीं ऊँची थी।

उस युग में हिंदुस्तान में, इंग्लैंड या यूरोप के मुक़ाबले में अधिक साक्षरता थी, यद्यपि शिक्षा का ढर्रा पुराना था। शायद नागरिकों के लिए सुविधाएं भी अधिक थीं। यूरोप में आम जनता की दशा बहुत पिछड़ी हुई थी और हिंदुस्तान की जनता की हालत के मुक़ाबले में अच्छी न थी। लेकिन भारी अंतर यह था कि पच्छिमी यूरोप में नई शक्तियां और जीवित धाराएं स्पष्ट रूप से काम कर रही थीं, और उनके साथ-साथ परिवर्तन पैदा हो रहे थे; हिंदुस्तान में स्थिति कहीं अधिक स्थिर और रुकी हुई थी।

इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया। १६०० में, जब रानी एलिज़बेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को परवाना दिया, उस वक्त शेक्सपियर जीवित था और उसका लिखना जारी था। १६११ में इंजील का स्वीकृत अंग्रेज़ी अनुवाद निकला; १६०८ में मिल्टन का जन्म हुआ। उसके बाद हैंपडेन और क्रामवेल सामने आए और राजनीतिक क्रांति हुई। १६६० में, इंग्लिस्तान की रायल सोसाइटी स्थापित हुई, जिसने कि विज्ञान को उन्नति देने में इतना भाग लिया। सौ साल बाद, १७६० में, कपड़ा बुनने की तेज़ ढरकी का आविष्कार हुआ, उसके बाद जल्दी-जल्दी, एक-एक करके, कातने की कल, भाप के इंजन और मशीन के करघे निकले।

इन दो इंग्लिस्तान में से कौन-सा इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया? शेक्सपियर और मिल्टन वाला; उदार बातों और लेखों और वीरता के कारनामों वाला; राजनीतिक क्रांति और आज़ादी के हक़ में लड़ाई करने वाला; विज्ञान और कला कौशल की उन्नति वाला इंग्लितान यहां आया, या वहशियाना ज़ाब्ता फ़ौजदारी वाला, बर्बर व्यवहार करने वाला, और सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी इंग्लिस्तान आया? क्योंकि दो इंग्लिस्तान रहे हैं, जिस तरह कि हर एक देश में जातीय चरित्र के दो पहलू होते हैं। एडवर्ड टामसन ने लिखा है: "हमारी सभ्यता की सबसे ऊँचे और साधारण स्तरों के बीच इंग्लिस्तान में हमेशा एक बड़ा अंतर रहा है; मुझे बड़ा शक है कि इस तरह की चीज़ और भी किसी देश में—जिससे हम अपना मुक़ाबला करना चाहेंगे—है या नहीं; और यह अंतर इतनी धीमी गति से घट रहा है, अक्सर यह जान पड़ता है कि यह घट ही नहीं रहा है।"

दोनों इंग्लिस्तान एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए साथ-साथ चल रहे हैं और एक-दूसरे से जुदा नहीं किए जा सकते; न यही हो सकता था कि इनमें से एक दूसरे को बिलकुल भुलाकर, हिंदुस्तान में आवे। फिर भी हर एक बड़े व्यवहार

में एक ही आगे आता है, और दूसरे पर हावी रहता है, और यह अनिवार्य था कि हिंदुस्तान में यह ग़लत क़िस्म का इंग्लिस्तान अपना खेल खेले, और इस प्रगति में ग़लत क़िस्म के हिंदुस्तान से उसका संपर्क हो और इसे बढ़ावा मिले।

अमरीका के संयुक्त राष्ट्र की स्वतंत्रता का, प्रायः वही समय है जो कि हिंदुस्तान के स्वतंत्रता खोने का है। पिछली डेढ़ सदियों पर दृष्टि डालते हुए, एक हिंदुस्तानी, किंचित् लालच भरी और आकांक्षा भरी दृष्टि से, उस बड़ी उन्नति को देखता है, जोकि अमरीका ने इस काल में कर ली है, और इसका मिलान उन बातों से करता है जो कि हिंदुस्तान में हुई हैं, या नहीं हो पाई हैं। निःसंदेह यह सही है कि अमरीकनों में बहुत से गुण हैं, और हम में बहुत-सी कमज़ोरियां हैं, और अमरीका में बिलकुल नया मैदान था और लिखने के लिए उनके पास एक साफ़ स्लेट थी, जबकि हम पुरानी यादों और परंपराओं से जकड़े हुए थे। शायद फिर भी यह बात कल्पना में न आने वाली नहीं है कि अगर ब्रिटेन ने (उसी के शब्दों में) हिंदुस्तान का यह भारी बोझ न सँभाला होता और हम इतने लंबे काल तक स्वतंत्रता की कठिन कला, जिससे हम इतने अपरिचित थे, सिखाने की कोशिश न की होती, तो हिंदुस्तान न केवल अधिक स्वतंत्र और संपन्न होता बल्कि विज्ञान और कला में, और उन सभी बातों में जो जीवन को जीने के योग्य बनाती हैं, कहीं अधिक उन्नति कर चुका होता।

: ५ :

अंतिम दर्शन (१)

ब्रिटिश राज्य का सुदृढ़ होना पड़ना और राष्ट्रीय आंदोलन का आरंभ

१ : साम्राज्य की विचारधारा : नई जाति

एक अंग्रेज़ ने जो हिंदुस्तान से और उसके इतिहास से खूब परिचित है, यह लिखा है, कि, "कदाचित् और किसी बात की अपेक्षा, जो हमने की हो, हमारा हिंदुस्तान के इतिहास को लिखना ज्यादा खलता है!" हिंदुस्तान के ब्रिटिश शासन के इतिहास में, हिंदुस्तान को सबसे ज्यादा बुरा क्या लगता है, यह कहना मुश्किल है; सूची लंबी है और उसमें कई तरह की बातें हैं। लेकिन यह सच है कि, हिंदुस्तान के इतिहास का, और विशेषकर ब्रिटिश युग का, अंग्रेज़ों द्वारा वर्णन बेहद बुरा लगता है। प्रायः सदा ही इतिहास विजेताओं द्वारा लिखा जाता है और उसमें उनका दृष्टिकोण मिलता है, या कम-से-कम विजेता के वर्णन को प्रधानता दी जाती है और वही सबसे ऊपर माना जाता है। बहुत संभव है कि हिंदुस्तान में आर्यों के बारे में, आरंभ के जो वर्णन मिलते हैं ऐसे ही हों अर्थात् पुराणों और परंपराओं में आर्यों की बड़ाई की गई हो और विजित जनता के प्रति अन्याय हुआ हो। कोई व्यक्ति अपने-आपको जातीय दृष्टिकोण या सांस्कृतिक बंधनों से बिलकुल बचा नहीं सकता, और जिस समय जातियों या देशों के बीच झगड़ा होता है, उस समय निष्पक्षता के प्रयत्न को भी अपनी जनता के प्रति विश्वासघात समझा जाता है। इस झगड़े की, एक हद दर्जे की मिसाल है लड़ाई। उसमें जहां तक शत्रु-राष्ट्र का सवाल है, सारी निष्पक्षता और सारा न्याय उठाकर ताक़ में रख दिया जाता है। मस्तिष्क अनुदार होता है और सिवाय एक चीज़ के उसमें और हरएक चीज़ के लिए दरवाज़ा बंद हो जाता है। उस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है अपने कामों को ठीक ठहराना और दुश्मन के कामों की निंदा करना और उसको काला

करके सामने लाना। किसी बहुत ही गहरे कुए के तले में सच छिपा रहता है और झूठ को खुल्लम-खुल्ला और निर्लज्जता से, महत्व दिया जाता है।

उस समय भी जब कि खुले प्रकार से युद्ध चालू नहीं होता, विरोधी देशों और स्वार्थों में प्रायः छिपा हुआ संघर्ष चलता रहता है। और उस देश में जहां शासन विदेशी हो यह संघर्ष तो जन्म-जात होता है। जनता के मस्तिष्क पर उसका असर होता है और उसके विचारों और काम-काज की धारा बदल जाती है, युद्ध की मनोवृत्ति कभी भी बिलकुल लुप्त नहीं होती।

वर्तमान काल का हिंदुस्तान का इतिहास, अर्थात् ब्रिटिश युग का इतिहास, आजकल की घटनाओं से इतना ज़्यादा जुड़ा हुआ है, कि उसका मतलब लगाने में हमारे ऊपर आजकल के पक्षपातों और भावनाओं का एक प्रबल प्रभाव होता है, इस बात की संभावना है कि अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी दोनों ही भूल करें, यद्यपि निश्चय ही उनकी भूलें विरोधी दिशाओं में होंगी। उन काग़ज़-पत्रों और उल्लेखों, का अधिकतर हिस्सा, जिससे इतिहास का रूप तैयार होता है, और वह लिखा जाता है, ब्रिटिश स्रोतों से आता है और उसमें अनिवार्य ढंग से ब्रिटिश दृष्टिकोण होता है। ठीक उन्हीं परिस्थितियों ने, जिनसे हार और फूट हुई, इस कहानी के हिंदुस्तानी पक्ष का उचित बयान होने से रोक दिया और जो कुछ भी काग़ज़-पत्र थे, उनको १८५७ के महान् विद्रोह में नष्ट कर डाला गया। जो कुछ बच रहे वे घरों में छिपा दिए गए और इस डर से कि हानि पहुँच सकती है वे प्रकाशित न हो सके। वे काग़ज़-पत्र अलग-अलग बिखरे रहे; उनके बारे में किसी को खबर भी नहीं थी और उनमें से अधिकतर, उन कीड़ों-मकोड़ों के हमले की वजह से जिनकी देश में कोई कमी नहीं है, हस्तलिखित हालत में ही बरबाद हो गए। एक बाद के ज़माने में, जब इनमें से कुछ पत्र मिल गए, तो उन्होंने कितनी ही ऐतिहासिक घटनाओं पर एक नई रोशनी डाली। उन स्मृतियों और परंपराओं का समूह भी था जो बहुत पुराने ज़माने का नहीं था, बल्कि उस समय का था, जब कि हमारे दादे और परदादे उन घटनाओं के साक्षी और कभी-कभी शिकार थे। इतिहास के रूप में इस परंपरा का मूल्य चाहे न हो, फिर भी उसका महत्त्व है, क्योंकि उससे आज के हिंदुस्तानी मस्तिष्क की पृष्ठभूमि समझाने में मदद मिलती है। हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों की दृष्टि में जो बदमाश था वह हिंदुस्तानियों के लिए अक्सर एक शूरवीर होता था, और वे लोग जिनको अंग्रेज़ों ने प्रसन्न होकर सम्मान दिए अधिकतर

हिंदुस्तानियों की दृष्टि में देशद्रोही रहे। और वह धव्वा उनके वारिसों पर लगा आता है।

हिंदुस्तान पर पच्छिमी संस्कृति का आघात, एक गतिशील समाज और 'आधुनिक' चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था, जो मध्यकालीन विचार-धारा से वँधा हुआ था और जो अपने ढंग से कितना ही उन्नत या रंगा-चुना हो, अपनी जन्मजात त्रुटियों के कारण उन्नति नहीं कर सकता था। हिंदुस्तान के सामाजिक प्रतिक्रियावादी समुदायों को वढ़ावा मिला, और उनकी स्थिति दृढ़ हुई, और उन सब लोगों का, जो राजनीतिक और सामाजिक रद्दो-वदल चाहते थे, विरोध हुआ। जो कुछ परिवर्तन हुआ भी वह तो उनके वावजूद था या वह उनकी दूसरी कार्रवाइयों के अचानक नतीजे की तरह था। भाप के एंजिन और रेल का आरंभ, मध्यकालीन ढाँचे में परिवर्तन की ओर एक वड़ा क़दम था, लेकिन उसमें अंग्रेज़ों का इरादा अपने राज्य को सुदृढ़ करने का था, वे और उससे विदेश के अंदरूनी हिस्सों को अपने फ़ायदे के लिए चूसने में सुविधा चाहते थे। हिंदुस्तान में ब्रिटिश अधिकारियों की नीति और उसके कुछ अचानक नतीजों में एक विरोध है, और उससे उलझन पैदा होती है और ख़ुद वह नीति ढँक जाती है। पश्चिम के इस आघात की वजह से हिंदुस्तान में परिवर्तन तो हुए, लेकिन वह हिंदुस्तान के अंग्रेज़ों के वावजूद हुए।

सामंतवादी ज़मींदार, और उनके भाई-वंद, जो इंग्लैंड से हिंदुस्तान में हुकूमत करने के लिए आए, दुनिया के ऊपर एक सामंतवादी दृष्टि रखते थे। उनके लिए हिंदुस्तान एक वहुत वड़ी जागीर थी जिसकी मालिक ईस्ट इंडिया कंपनी थी और ज़मींदार अपनी जागीर और अपने काश्तकारों का सवसे अच्छा और स्वाभाविक प्रतिनिधि था। जव ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदुस्तान की अपनी इस जागीर को ब्रिटिश वादशाह को सौंप दिया तो हिंदुस्तान के खर्चे पर उसे एक वहुत वड़ी रक़म हरजाने के तौर पर दी गई, लेकिन वह दृष्टिकोण उसके वाद भी वरावर वना रहा। (और उस वक़्त से हिंदुस्तान कर्ज़दार वना। यह हिंदुस्तान के ख़रीद की क़ीमत थी, जो ख़ुद हिंदुस्तान ने दी थी) और तव हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार ज़मींदार वन गई। वे करोड़ों आदमी, जो हिंदुस्तान में रहते थे और काम करते थे, वे तो सिर्फ़ ज़मींदार के किसी-न-किसी ढंग के काश्तकार थे, जिनको अपना किराया या कर देना होता था, और जिनको स्वाभाविक सामंतवादी ढाँचे में अपनी

जगह रखनी होती थी। उस ढाँचे को चुनौती देना, उनके लिए, विश्व के नैतिक आधार के विरुद्ध एक पाप था। हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के बारे में ऐसी धारणा बुनियादी तौर पर बदली नहीं है, यद्यपि अब उसे दूसरे ढंग से प्रकट किया जाता है। वह पुराना तरीक़ा, जिसमें खुले तौर पर मनमाना कर वसूल किया जाता था, अब बदल गया है और उसकी जगह टेढ़े और कुटिल तरीक़ों ने ले ली है।

हिंदुस्तान के हितों को अपने हितों से एक करके दिखाने की भावना, ऊँची हुकूमती नौकरियों में, जोकि पूरी तरह ब्रिटिश हाथों में थी, सबसे अधिक तेज़ थी। बाद के बरसों में ये नौकरियां उस गुथी हुई और सुसंगठित संस्था में परिणत हो गईं जिसे इंडियन सिविल सर्विस का नाम मिला। एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों यह, "दुनिया की सबसे सुदृढ़ 'ट्रेड यूनियन' थी।" वे हिंदुस्तान का संचालन करते थे, वे स्वयं हिंदुस्तान थे और कोई भी वस्तु जो उनके हितों को चोट पहुँचाती थी, अनिवार्य रूप से हिंदुस्तान के लिए घातक होनी चाहिए। इंडियन सिविल सर्विस के द्वारा और उस इतिहास से जो ब्रिटिश जनता के सामने रखा गया उसके अलग-अलग स्तरों में यही धारणा अलग-अलग हद तक फैल गई। शासक-वर्ग तो स्वभावतः बिलकुल इसी तरह सोचता था, लेकिन मज़दूरों और किसानों पर भी कुछ हद तक इसका असर हुआ, और यद्यपि अपने ही देश में उनकी एक नीची जगह थी, फिर भी उन्होंने शासन और साम्राज्य का घमंड अनुभव किया। वही मज़दूर और किसान जब हिंदुस्तान में आता तो वह यहां अनिवार्य रूप से शासक वर्ग का हो जाता। हिंदुस्तान के इतिहास और उसकी संस्कृति से वह बिलकुल अनजान होता और वह हिंदुस्तान के अंग्रेज़ों में प्रचलित विचार-धारा को ही स्वीकार कर लेता क्योंकि जाँचने या लागू करने के लिए उसके पास कोई दूसरा मापदंड नहीं होता था। अधिक-से-अधिक उसमें एक धुँधली नेकनीयती होती, लेकिन वह भी उस ढाँचे के अंदर कड़ाई से जकड़ी हुई होती। सौ साल तक यह विचार-धारा ब्रिटिश जनता के हर हिस्से में पैठती रही और एक राष्ट्रीय विरासत बन गई। वह तो एक निश्चित और अविचल धारणा थी जो हिंदुस्तान के संबंध में उनके दृष्टिकोण का संचालन करती, और उसने गुप्त रूप से उनके घरेलू दृष्टिकोण पर भी प्रभाव डाला। स्वयं हमारे ही युग में वह विचित्र समुदाय, जिसके पास कोई निश्चित मापदंड या सिद्धांत नहीं था और जिसको बाहरी दुनिया की अधिक जानकारी नहीं थी, अर्थात् ब्रिटिश मज़दूर पार्टी के नेतागण, हिंदुस्तान की इस व्यवस्था

के सब से अधिक कट्टर समर्थक रहे हैं। कभी-कभी उन्हें अपनी घरेलू और औपनिवेशिक नीति में, अपनी बातों और अपने व्यवहार में विरोध दिखाई देता और उनमें एक धुँधली सी बेचैनी भर जाती। लेकिन चूंकि वे अपने को विशेपकर सहज बुद्धि वाला व्यवहारिक आदमी समझते हैं, अपने अंतरतम की सारी उथल-पुथल को वे कड़ाई से दवा देते हैं।

वाइसरायों को, जो हिंदुस्तान में इंग्लैंड से सीधे ही आते हैं, इंडियन सिविल सर्विस के ढाँचे से मेल बिठाना होता है, और उन्हीं पर निर्भर रहना पड़ता है। इंग्लैंड के अधिपति और शासक-वर्ग का होने की वजह से उनको प्रचलित आई० सी० एस० दृष्टिकोण को अपनाने में कोई दिक़्क़त नहीं होती और निरंकुश सत्ता जिसकी कहीं और मिसाल नहीं मिलेगी उनके आचरण और अभिव्यक्ति के ढंग में बारीक रद्दो-बदल पैदा करती है। अधिकार आदमी को बिगाड़ देता है, लेकिन निरंकुश अधिकार तो बिलकुल ही बिगाड़ देता है, और आज की विस्तृत दुनिया में न तो किसी आदमी को इतनी बड़ी जनता पर ऐसा निरंकुश अधिकार मिला है और न मिलता है जैसा कि हिंदुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को। वाइसराय एक ऐसे ढंग से बातचीत करता है जिसको न तो इंग्लैंड के प्रधान मंत्री और न संयुक्त राष्ट्र के राष्ट्रपति ही अपना सकते हैं। अगर उसकी कोई दूसरी मुमकिन मिसाल हो सकती है तो वह हिटलर की है। और यह बात केवल वाइसराय में ही नहीं है बल्कि उसकी कौंसिल के अंग्रेज़ सदस्यों में, गवर्नरों में, यहां तक कि उन छुटभइयों में भी है जो मजिस्ट्रेट या महकमों के सेक्रेटरियों की हैसियत से काम करते हैं। वे एक ऐसी ऊँची चोटी से बातचीत करते हैं जहां पहुँचा नहीं जा सकता और उनको केवल इस बात का ही पक्का विश्वास नहीं होता कि जो कुछ वे कहते या करते हैं वह ठीक है, बल्कि इस बात का भी कि जो कुछ वह कहते या करते हैं, उसके बारे में छोटे-छोटे मर्त्यलोक के प्राणी, चाहे कुछ भी सोचें, उनको उसे सही मानना होगा क्योंकि शक्ति और शान उन्हीं की है।

वाइसराय की कौंसिल के कुछ सदस्यों की नियुक्ति सीधे इंग्लैंड से ही होती है और वे इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य नहीं होते। आमतौर पर उनके आचरण में और सिविल सर्विस वालों के आचारण में एक अंतर होता है। उस ढाँचे में वे काम तो क़ाफ़ी आसानी से करते हैं, लेकिन उनमें पूरी तरह से सुरक्षित अधिकार

की श्रेष्ठ और आत्म-संतोषी गंध नहीं होती। कौंसिल के हिंदुस्तानी सदस्यों में, जो देखने में बड़े लोग हैं, चाहे जितने या जैसे बुद्धिमान हों, यह बात और भी कम होती है। चाहे उनका पद कितना ही बड़ा क्यों न हो, जो हिंदुस्तानी सिविल सर्विस में हैं, वे उस विशेष दायरे में नहीं होते। उनमें से कुछ अपने साथियों की नक़ल करने का प्रयत्न करते हैं लेकिन कोई विशेष सफलता के साथ नहीं। उनमें एक ऐसा दिखावा आ जाता है कि वे उपहास्य हो जाते हैं।

मुझे याद है कि जब मैं लड़का था, उन दिनों हिंदुस्तान के ब्रिटिश-संचालित अखबार सरकारी खबरों—नौकरी, तबादला और तरक्क़ी की खबरों-से भरे रहते थे। उनमें यहां के अंग्रेज़ समुदाय के कार्य-क्रम का, पोलो, घुड़दौड़, नाच और नाटकों का, ही चर्चा होता था। हिंदुस्तान की जनता के बारे में, उसके राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक या सांस्कृतिक जीवन के बारे में शायद ही कोई बात होती। उन अखबारों के पढ़ने से तो इस बात का अटकल भी नहीं होता था कि कहीं हिंदुस्तानियों का भी अस्तित्व है।

हिंदुस्तान में अंग्रेजी क्लब आमतौर पर प्रादेशिक नामों से पुकारे जाते हैं—जैसे बंगाल क्लब, इलाहाबाद क्लब आदि। वे अंग्रेजों तक या यूरोपियनों तक ही सीमित होते हैं। उनका प्रादेशिक नाम होने पर या इस बात पर कि इनमें एक विशेष समुदाय ही होता है, और वे बाहरवालों को शामिल करना पसंद नहीं करते, कोई आपत्ति नहीं हो सकती। लेकिन इन नामों की बुनियाद उस ब्रिटिश विचार पर है कि वे ही असली हिंदुस्तान हैं, वे ही असली बंगाल या असली इलाहाबाद हैं। और सब तो केवल फ़ालतू लोग हैं, जो अपनी जगह पहचानें तो उनकी कुछ क़ीमत भी है, नहीं तो उनसे सिर्फ़ परेशानी ही बढ़ती है। यूरोपियनों से इतर लोगों का बहिष्कार एक जातीय कारण से अधिक होता, बनिस्बत इस वजह के कि वे लोग जिनकी संस्कृति एक-सी है अपनी फ़ुर्सत के समय में मनोरंजन या सामाजिक मेल-जोल के अवसर पर बाहरी लोगों का प्रवेश नहीं चाहते। मुझे स्वयं इस बात में कोई आपत्ति नहीं कि विशुद्ध अंग्रेज़ी या यूरोपियन क्लब हों और शायद ही कोई हिंदुस्तानी उनमें घुसना चाहे। लेकिन जब इस सामाजिक बहिष्कार की बुनियाद साफ़ तौर से जातीयता पर होती है, और जब कि शासक-वर्ग अपनी श्रेष्ठता का दिखावा करता है तो इसका दूसरा रूप हो जाता है। बंबई के एक प्रसिद्ध क्लब में जिसमें (सिवाय एक नौकर की हैसियत से) किसी भी हिंदुस्तानी को, चाहे वह किसी

देशी रियासत का राजा ही क्यों न हो, या बड़ा उद्योगपति ही क्यों न हो, दर्शकों के कमरे तक में जाने पर प्रतिबंध था।

हिंदुस्तान में भेद-भाव अंग्रेज़ बनाम हिंदुस्तानी के रूप में नहीं है। यह ऐसा है कि एक तरफ़ यूरोपियन हैं; और दूसरी तरफ़ एशियाई। हिंदुस्तान में हर एक यूरोपियन, चाहे वह जर्मन हो, पोल हो या रूमानियन, आप ही आप शासक जाति का सदस्य बन जाता है। रेल के डिब्बों पर, स्टेशन पर ठहरने के कमरों पर, पार्कों में बेंचों पर लिखा होता है "केवल यूरोपियनों के लिए।" दक्षिण अफ़रीका में या दूसरी जगहों में ही यह कोई कम बुरी बात नहीं है, लेकिन स्वयं अपने ही देश में यह बात बहुत अधिक अपमानजनक है, और अपनी गुलामी की याद दिलाती है।

यह सच है कि जातीय श्रेष्ठता और शाही अहंकार के इस ऊपरी दिखावे में धीरे-धीरे परिवर्तन होता जा रहा है, लेकिन गति बहुत धीमी है, और प्रायः ऐसी घटनाएं होती रहती हैं जिनसे पता लगता है कि यह परिवर्तन ऊपरी है।

अंग्रेज़ सजग और समझदार होते हैं, लेकिन जब वह दूसरे देशों में जाते हैं तो उनमें अपने आसपास की जानकारी का एक विचित्र अभाव होता है। हिंदुस्तान में जहां शासक-शासित संबंध की वजह से, वास्तविक समझदारी कठिन होती है, इस जानकारी का अभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि यह सब जानबूझ कर है जिसमें वह केवल वही देखें जोकि वह देखना चाहते हैं, और बाक़ी सबके लिए आँखें बंद रखें। इस वर्ण-व्यवस्था के देश में, अंग्रेज़ों ने, विशेषकर इंडियन सिविल सर्विस वालों ने एक जाति बनाई है जो बहुत कड़ी है और सबसे अलग-थलग रहने वाली है। यहांतक कि उस जाति में सिविल सर्विस के हिंदुस्तानी सदस्यों का भी वास्तव में प्रवेश नहीं है यद्यपि वे उसी का बिल्ला पहने रहते हैं और उनके नियमों का पालन करते हैं।

२ : बंगाल की लूट से इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति को सहायता

सत्रहवीं सदी के आरंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी को मुग़ल साम्राट् से सूरत में एक कोठी चालू करने की आज्ञा मिल गई थी। कुछ साल बाद उसने दक्खिन में कुछ ज़मीन ख़रीदी, और मद्रास की नींव डाली। सन् १६६२ में पुर्तगाल की ओर से दहेज में इंग्लैंड के चार्ल्स द्वितीय को बंबई का टापू भेंट किया गया, और उसने

उसे कंपनी को दे दिया। सन् १६९० में कलकत्ते की नींव पड़ी। इस तरह सत्रहवीं सदी के अंत तक अंग्रेज़ों को हिंदुस्तान में पैर रखने की कई जगहें मिल गई थीं, और उन्होंने हिंदुस्तानी समुद्र-तट पर अपने कई अड्डे क़ायम कर लिए थे। वे अंदर की ओर धीरे-धीरे बढ़े। सन् १७५७ में प्लासी की लड़ाई से पहली बार उनके अधिकार में एक बहुत बड़ा प्रदेश आया, और कुछ ही बरसों में बंगाल, बिहार, उड़ीसा, और पूर्वी तट उनके अधिकार में आ गए। दूसरा बड़ा पग, क़रीब चालीस साल बाद, उन्नीसवीं सदी के आरंभ में उठाया गया। और इससे वे दिल्ली के दरवाज़े तक आ पहुँचे। तीसरा अगला बड़ा पग १८१८ में, मराठों की आख़िरी हार के बाद था; और सिख-युद्ध के बाद, १८४९ में, चौथे पग से चित्र ही पूरा हो गया।

इस तरह अंग्रेज़ मद्रास के शहर में २०० वर्षों से हैं; बंगाल, बिहार आदि पर उनकी हुकूमत को १८७ वर्ष हो गए; दक्खिन की ओर उन्होंने अपना राज्य क़रीब १४५ वर्ष पहले बढ़ाया। संयुक्त प्रदेश, मध्य-हिंदुस्तान और पच्छिमी हिंदुस्तान में जमे हुए उन्हें क़रीब १२५ साल हुए; और पंजाब में वे ९५ बरस पहले जमे। (यह हिसाब, जून १९४४ से जब कि यह किताब लिखी जा रही है, लगाया गया है) मद्रास का शहर एक बहुत छोटा-सा हिस्सा है और अगर उसे छोड़ दें तो बंगाल और पंजाब के अधिकार के बीच में केवल १०० साल का अंतर है। इस बीच ब्रिटिश नीति और शासन के ढंग में बार-बार परिवर्तन होते रहे। ये परिवर्तन इंग्लैंड के नए परिवर्तनों और हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के सुसंगठन को ध्यान में रखते हुए हुए। हर नए जीते हुए हिस्से के साथ व्यवहार इन परिवर्तनों के अनुसार अलग-अलग होता और साथ ही वह इस बात पर भी निर्भर करता कि जिस शासक-समुदाय को अंग्रेज़ों ने हराया था वह किस ढंग का था। इस तरह बंगाल में, जहां जीत बहुत आसानी से हुई, मुस्लिम ज़मींदारों को शासक-वर्ग समझा गया और ऐसी नीति अपनाई गई कि उनकी शक्ति टूट जाय। दूसरी तरफ़ पंजाब में शक्ति सिखों से छीनी गई थी और वहां अंग्रेज़ों और मुसलमानों में कोई बुनियादी झगड़ा नहीं था। हिंदुस्तान के अधिकतर हिस्से में अंग्रेज़ों के विरोधी मराठे रहे थे।

एक मुख्य ध्यान देने की बात यह है कि हिंदुस्तान के वे हिस्से जो अंग्रेज़ों के अधिकार में सबसे अधिक समय से रहे हैं आज सबसे, अधिक ग़रीब हैं। हिंदुस्तान के सबसे ज़्यादा ग़रीब हिस्से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से

हैं। रहन-सहन का सबसे अच्छा कक्ष पंजाब में है। अंग्रेज़ों के आने से पहले बंगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रांत था। इन विषमताओं के कई कारण हो सकते हैं। लेकिन यह बात समझ पाना कठिन है कि बंगाल, जो इतना धनी और समृद्धिशाली था, ब्रिटिश शासन के १८७ वर्षों में, अंग्रजों द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहां की जनता को स्वायत्त शासन की कला सिखाने की प्रबल कोशिशों के बावजूद, आज ग़रीब, भूखे और मरते हुए लोगों का भयानक समूह है।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन का पहला पूरा अनुभव बंगाल को हुआ। उस राज्य का आरंभ खुल्लम-खुल्ला लूट-मार से हुआ, और उसमें अधिक से अधिक ज़मीन का लगान केवल जीवित किसान से ही नहीं, बल्कि उसके मरने पर भी वसूल किया जाता था। हिंदुस्तान के अंग्रेज इतिहासकार एडवर्ड टामसन और जी० टी० गैरट हमको बताते हैं कि, "अंग्रेज़ों के मन में धन का इतना प्रबल लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज और पिज़ारों के युग के स्पेन-वासियों के समय से लेकर आजतक उसकी मिसाल नहीं मिल सकती। विशेषकर बंगाल में तो उस समय तक शांति नहीं हो सकती थी जब तक कि वह चूसते-चूसते खोखला न रह जाय।" "इसके बाद कितने ही वर्षों तक अंग्रेज़ी व्यवहार की भयंकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव विशेषरूप से ज़िम्मेदार था।"—वही क्लाइव, वही साम्राज्य-निर्माता, जिसकी मूर्ति लंदन में इंडिया आफ़िस के सामने खड़ी है। यह तो खुली हुई लूट थी। यहां तक कि वह वक़्त आया कि बंगाल को अत्यंत भयंकर अकालों ने नष्ट कर दिया। हिंदुस्तान में आरंभ की पीढ़ियों में, ब्रिटिश राज्य में जो हिंसा, धनलोलुपता, पक्षपात और अनैतिकता थी, उसका अटकल भी लगाना मुश्किल है। एडवर्ड टामसन ने कहा है, और यह बात केवल बंगाल के संबंध में ही नहीं कही गई है: "ब्रिटिश हिंदुस्तान के आरंभ के इतिहास का ध्यान आता है, जोकि शायद दुनिया भर में, राजनीतिक छल की सबसे बड़ी मिसाल है।"

आरंभ के वर्षों में ही इसका परिणाम यह हुआ कि १७७० का अकाल पड़ा जिसने बंगाल और बिहार की क़रीब एक तिहाई आबादी को समाप्त कर दिया। लेकिन यह सब प्रगति के पक्ष में हुआ था और बंगाल इस बात पर घमंड कर सकता है कि इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की, अमेरिकन लेखक ब्रुक्स ऐडम्स हमको बताता है—कि यह किस तरह हुआ: "हिंदुस्तानी दौलत

के (इंग्लैंड में) आने से और राष्ट्र की पूँजी में वहुत वड़ी वृद्धि हो जाने से, केवल उसकी शक्ति का भंडार ही नहीं वढ़ा वल्कि उससे उसकी गति में लचीलेपन के साथ-साथ वहुत तेज़ी भी आई। प्लासी के वाद वहुत जल्दी ही वंगाल की लूट लंदन में पहुँचने लगी और तुरंत ही उसका असर हुआ मालूम देता है, क्योंकि सव प्रामाणिक लेखक इस वात से सहमत हैं कि अद्योगिक क्रांति सन् १७७० से शुरू हुई। शायद जव से दुनिया शुरू हुई है किसी भी पूँजी से कभी भी इतना लाभ नहीं हुआ जितना कि हिंदुस्तान की लूट से, क्योंकि, क़रीव-क़रीव पचास वरस तक ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी मुक़ावला करने वाला नहीं था।"

३ : हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों और खेती की वरवादी

आरंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य काम, और वह उद्देश्य जिसके लिए उसकी स्थापना हुई थी, यह था कि हिंदुस्तान से तैयार माल, जैसे कपड़ा आदि और साथ ही मसालों को, पूर्व से यूरोप ले जाकर वेचा जाय, जहाँ कि इन चीज़ों की वहुत माँग थी। इंग्लैंड में, औद्योगिक प्रक्रिया में उन्नति के साथ ही, उद्योगपति पूँजीवादियों का एक नया वर्ग वना, और उसने इस नीति में परिवर्तन की माँग पेश की। उसकी वजह से हिंदुस्तानी चीज़ों के लिए ब्रिटिश वाज़ार वंद करना और ब्रिटिश माल के लिए हिंदुस्तानी वाज़ार खोलना था। इस नए वर्ग का ब्रिटिश पार्लामेंट पर असर हुआ और वह हिंदुस्तान में और ईस्ट इंडिया कंपनी के काम-काज में अधिक दिलचस्पी लेने लगा। आरंभ में क़ानून द्वारा ब्रिटेन में हिंदुस्तानी माल पर रोक लगा दी गई और चूंकि हिंदुस्तान के निर्यात-व्यापार में ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिपत्य था इसलिए इस रोक का असर विदेशी वाज़ारों पर भी पड़ा। इसके वाद इस वात का प्रवल प्रयत्न हुआ कि देश के अंदर ही ऐसे टैक्स आदि लगाए जायँ, कि हिंदुस्तानी माल कम जगह पहुँचे और महँगा पड़े और इस देश के अंदर स्वयं हिंदुस्तानी माल का चलन रोका गया। दूसरी तरफ़ ब्रिटिश माल पर कोई रोक नहीं थी। हिंदुस्तानी कपड़े का कारवार नष्ट हो गया और जुलाहों व दूसरे लोगों की वहुत वड़ी तादाद पर इसका असर हुआ। वंगाल और विहार में इसकी गति तेज़ थी और दूसरी जगहों में जैसे-जैसे ब्रिटिश राज्य फैलता गया और रेलें वनती गईं, इसका धीरे-धीरे असर हुआ। पूरी उन्नीसवीं सदी में यह क्रम जारी

रहा और साथ ही कई पुराने धंधे भी बरबाद हो गए। इनमें समुद्रों के जहाज़ बनाने का धंधा था, शीशे का, काग़ज़ का, धातुओं के काम करनेवालों का धंधा था और कई दूसरी तरह के कलाकारों के धंधे थे।

कुछ हद तक यह अनिवार्य था, क्योंकि पुराने ढंग का नई औद्योगिक प्रक्रिया से संघर्ष हुआ। लेकिन राजनीतिक और आर्थिक दबाव से इसकी गति तेज़ कर दी गई और नए तरीक़ों को हिंदुस्तान में काम में लाने की कोई कोशिश नहीं हुई। वास्तव में कोशिश तो इस बात की हुई कि ऐसा होने न पावे और इस तरह हिंदुस्तान की आर्थिक उन्नति को रोक दिया गया। हिंदुस्तान में मशीनें बाहर से मँगाई नहीं जा सकती थीं। एक ऐसी ख़ाली जगह पैदा हो गई थी जिसको केवल ब्रिटिश माल से भरा जा सकता था और इसकी वजह से बड़ी तेज़ी से बेकारी और ग़रीबी बढ़ी। आधुनिक औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था स्थापित हुई और हिंदुस्तान औद्योगिक इंग्लैंड का एक खेतिहर उपनिवेश बन गया जो कच्चा माल देता और इंग्लैंड के तैयार माल को अपने यहां खपाता।

कारीगर-पेशा लोगों के समाप्त हो जाने की वजह से बहुत बड़े पैमाने पर बेकारी फैली। ये करोड़ों आदमी जो अबतक तरह-तरह के सामान तैयार करने के काम में और अलग-अलग धंधों में लगे हुए थे, अब क्या करते? वे कहां जाते? अब उनका पुराना पेशा खुला हुआ नहीं था और नए पेशे के लिए रास्ता रुका हुआ था। हां, वे मर सकते थे; असह्य हालत से बचने का यह रास्ता तो हमेशा खुला होता है। और वे लोग करोड़ों की तादाद में मरे भी। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल लार्ड बेंटिंक ने १८३४ में कहा था, "व्यापार के इतिहास में ऐसा कष्टकर उदाहरण पाना कठिन है। जुलाहों की हड्डियां हिंदुस्तान के मैदानों को सफ़ेद किए हुए हैं।"

फिर भी उनमें से बहुत बड़ी तादाद में लोग बच रहे, और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश नीति देश के अंदरूनी हिस्सों में फैलती गई और बेकारी पैदा हुई ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती गई। इन झुंड-के-झुंड कारीगरों के पास कोई काम नहीं था और उनकी सारी पुरानी कारीगरी बेकार थी। उन लोगों ने जमीन की ओर निगाह उठाई, क्योंकि जमीन अब भी मौजूद थी। लेकिन जमीन पूरी तौर पर घिरी हुई थी, वह उनको लाभ के साथ खपा नहीं सकती थी। इस तरह वे जमीन पर एक बोझ बन गए, और वह बोझ बढ़ता गया और उसके साथ ही देश की ग़रीबी बढ़ती गई और

रहन-सहन का मापदंड वेहद गिर गया। हुनरदारों और कारीगरों के खेती पर वरवस लौटने के आंदोलन से कृपि और उद्योग-धंधों का संतुलन विगड़ता गया। धीरे-धीरे लोगों के लिए खेती ही अकेला धंधा रह गया; क्योंकि और कोई धंधा या काम नहीं था जिससे पैसा पैदा किया जा सके।

हिंदुस्तान में धीरे-धीरे देहात वढ़ता गया। हर प्रगतिशील देश में पिछली सदी में खेती से उद्योग-धंधों की तरफ़ और गांव से क़स्बे के लिए आवादी का रुझान हुआ है, लेकिन ब्रिटिश नीति की वजह से यहां उलटो ही वात थी। इस संबंध में आँकड़े ध्यान देने लायक़ है। उन्नीसवीं सदी के वीच में, यह वताया जाता है कि जनसंख्या का ५१ फ़ीसदी खेती पर निर्भर था; हाल ही में उसका अनुपात का अंदाज़ है ७४ फ़ीसदी (यह अंदाज़ लड़ाई छिड़ने से पहले का है)। यद्यपि लड़ाई के दौरान में औद्योगिक काम में वहुत लोग लगे हैं, फिर भी आवादी की वढ़वार की वजह से १६४१ की जनगणना के अनुसार खेती पर निर्वाह करने वाले लोगों का अनुपात वढ़ गया है। कुछ वड़े-वड़े शहरों की वढ़ती से (जोकि मुख्यतया छोटे क़स्बों के रहनेवालों के आ जाने से हुई है) एक सरसरी निगाह से देखनेवाले को भूल हो सकती है और उससे उसे हिंदुस्तानी स्थिति का ठीक अटकल न होगा।

इस तरह हिंदुस्तानी जनता की भयंकर ग़रीवी की यह असली वुनियादी वजह है। और यह अपेक्षाकृत हाल के ही समय की है। दूसरे कारण, जिनसे यह ग़रीवी वढ़ी है, वे खुद—वीमारी और निरक्षरता—इस ग़रीवी का, अपर्याप्त भोजन आदि का, परिणाम हैं। वहुत अधिक आवादी होना एक दुर्भाग्य की वात है, और जहां कहीं आवश्यक हो सकता हो इसको कम करने के उपाय काम में लाने चाहिएं, फिर भी यहां की आवादी के घनत्व का उद्योग-धंधों में वढ़े-चढ़े देशों की आवादी से मिलान किया जा सकता है। यह आवादी जरूरत से ज्यादा सिर्फ़ उसी देश के लिए है जो खेती पर अत्यधिक निर्भर है, और एक उचित अर्थ-व्यवस्था में सारी आवादी उपयोगी काम में लग सकती है और उससे देश की संपत्ति वढ़ेगी। वास्तव में घनी आवादी तो कुछ विशेप भागों में जैसे वंगाल में और गंगा के मैदानों में ही है, और वहुत से विस्तृत प्रदेश अव भी छितरे वसे हुए हैं। यहां यह वात याद रखने की है कि ग्रेट ब्रिटेन हिंदुस्तान की अपेक्षा दूने से भी अधिक घना वसा हुआ है।

उद्योग-धंधों का संकट तेज़ी से खेती के काम में भी फैल गया और वह वहां पर एक स्थायी संकट हो गया। (वँटवारे की वजह से) खेत दिन-व-दिन ज़्यादा

छोटे और इतने ज्यादा बिखरे हुए होने लगे कि अंदाज़ नहीं किया जा सकता। खेतिहरी क़र्ज़ का बोझ बढ़ने लगा और ज़मीन बहुधा साहूकारों के क़ब्ज़े में पहुँच जाती। दसियों लाख की तादाद में बे-ज़मीन मज़दूर बढ़ गए। हिंदुस्तान एक औद्योगिक पूँजीवादी शासन के अधीन था। लेकिन उसकी अर्थ-व्यवस्था उस युग की थी जिसमें पूँजीवाद आरंभ नहीं हुआ था, फिर भी उस अर्थ-व्यवस्था में से कई एक ऐसी चीज़ें निकली हुई थीं, जिनसे पैसा पैदा किया जा सकता था। हिंदुस्तान आधुनिक औद्योगिक पूँजीवाद का बेबस एजेंट बन गया, जिसमें उसकी सारी बुराइयां तो थीं लेकिन लाभ एक भी नहीं था।

यह बात स्पष्ट है कि औद्योगिक उन्नति के लिए हिंदुस्तान में बराबर साधन रहे हैं। यहां संगठन-सामर्थ्य है, टेकनीकल योग्यता है, हुनरदार काम करनेवाले हैं और हिंदुस्तान के लगातार शोषण के बाद भी कुछ पूँजी बच रही है। ब्रिटिश पार्लामेंट की जाँच-कमेटी के सामने सन् १८४० में गवाही देते हुए इतिहासकार मांटगुमरी मार्टिन ने कहा—"हिंदुस्तान का औद्योगिक सामर्थ्य उतनी ही है जितनी कि उसका कृषि-सामर्थ्य। और वह व्यक्ति जो उसे खेतिहर देश की ही हैसियत में लाना चाहता है वह उसे सभ्यता के पैमाने में गिराना चाहता है।" और हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों ने ठीक यही चीज़ करने की जी-जान से बराबर कोशिश की और हिंदुस्तान में सौ-पचास बरस के शासन के बाद उनको कितनी क़ामयाबी मिली है इसका अंदाज़ हिंदुस्तान की वर्तमान दशा से हो सकता है। जब से हिंदुस्तान में आधुनिक उद्योग-धंधों को बढ़ाने की मांग हुई है (और मेरा ऐसा ख्याल है कि यह मांग कम-से-कम १०० बरस पुरानी है), हमसे यह कहा जाता है कि हिंदुस्तान तो खास तौर से खेतिहर देश है और यह उसके (हिंदुस्तान के) ही हित में है कि वह खेती से लगा रहे।

अब किसी भी व्यक्ति के लिए हिंदुस्तान की औद्योगिक उन्नति को रोकना कठिन है, लेकिन अब भी जब कभी कोई विस्तृत और व्यापक योजना तैयार की जाती है तो हमारे ब्रिटिश मित्र, जो हम पर अब भी अपनी सलाह की बौछार करते रहते हैं, इस बात की चेतावनी देते हैं कि खेती की अवहेलना न की जाय—और उसको पहली जगह दी जाय। मानो कोई भी हिंदुस्तानी जिसमें रत्ती भर भी बुद्धि है खेती की अवहेलना कर सकता है, और किसान को भुला सकता है। हिंदुस्तानी किसान से ही हिंदुस्तान नहीं है तो और किससे है? उसकी ही उन्नति और बेहतरी

पर हिंदुस्तान की उन्नति निर्भर होगी। लेकिन खेती-संबंधी हमारा संकट, जो बहुत गंभीर है, वास्तव में उद्योग के संकट से, जिससे कि वह पैदा हुआ, जुड़ा हुआ है। दोनों का विच्छेद नहीं हो सकता और न उनका अलग-अलग निबटारा किया जा सकता है। उनके बीच जो असंतुलन है उसको दूर करना आवश्यक है।

आधुनिक उद्योग-धंधों में पनपने की, हिंदुस्तान की सामर्थ्य का अटकल उस सफलता से लगाया जा सकता है जो आगे बढ़ने का अवसर मिलने पर उसने प्राप्त की है। वास्तव में यह सफलता, हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार और ब्रिटेन के स्थापित स्वार्थों के प्रबल विरोध के बावजूद हुई है। उसको पहला वास्तविक अवसर १९१४-१८ की लड़ाई के काल में मिला जब कि ब्रिटिश माल के आने में रुकावट हो गई। हिंदुस्तान ने उसका लाभ उठाया तो, लेकिन ब्रिटिश की वजह से वह लाभ अपेक्षाकृत बहुत कम हद तक ही उठाया जा सका। तब से सरकार पर बराबर दबाव रहा है कि हिंदुस्तानी उद्योग-धंधों की उन्नति के लिए सारी रुकावटों और उन स्थापित स्वार्थों को, जो रास्ता रोकते हैं, दूर करके सुविधा दी जाय। प्रकट रूप में तो सरकार ने इसे अपनी नीति के रूप में मंजूर कर लिया लेकिन वैसे सरकार ने हर वास्तविक उन्नति को और विशेषकर बुनियादी धंधों की उन्नति को रोका है। हिंदुस्तानी उद्योग की उन्नति का आरंभ में खुला विरोध था और बाद में उसकी जगह छिपे विरोध ने ले ली, और वह भी उतना ही कारगर रहा है। जब हम हिंदुस्तान में ब्रिटिश आर्थिक नीति को पीछे फिर कर देखते हैं तो यह मालूम होता है कि हिंदुस्तान की जनता की वर्तमान ग़रीबी, इस नीति का अनिवार्य परिणाम है।

४ : हिंदुस्तान राजनीतिक और आर्थिक हैसियत से पहली बार एक दूसरे देश का पुछल्ला बनता है।

नया पूँजीवाद सारी दुनिया में जो बाज़ार तैयार कर रहा था उससे प्रत्येक दशा में हिंदुस्तान के आर्थिक ढाँचे पर प्रभाव पड़ता। ऐसे गाँव, जहां कि बाहरी मदद की आवश्यकता न थी, और जहां परंपरा से धंधे आपस में बंटे हुए थे, अब अपने पुराने रूप में बच नहीं सकते थे। लेकिन जो परिवर्तन हुआ वह स्वाभाविक क्रम में नहीं था और उसने हिंदुस्तानी समाज की सारी आर्थिक नींव को अस्तव्यस्त कर दिया। एक ऐसा ढाँचा जिसके पीछे सामाजिक अनुमति और नियंत्रण थे, और जो जनता के सांस्कृतिक उत्तराधिकार का अंग था, यकायक ही अपने आप

बदल दिया गया और एक दूसरा ढांचा, जिसका संचालन बाहर से होता था, लाद दिया गया। हिंदुस्तान दुनिया के बाजार में नहीं आया बल्कि वह ब्रिटिश ढांचे का, एक नौ-आबादी और खेतिहरी की हैसियत रखने वाला, पुछल्ला बन गया।

गांवों के धंधों की बर्बादी से इन लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन बिगड़ गया, श्रम का परंपरा से चला आया विभाजन टूट गया और अलग-अलग कामों वाले आदमियों की इस बहुत बड़ी संख्या को किसी समुदाय के काम में सहज में नहीं लगाया जा सकता था। ज़मींदारी प्रथा के जारी करने से ज़मीन की मालिकी के बारे में एक बिलकुल नई धारणा बनी और उससे इन लोगों पर एक और प्रबल चोट हुई। अबतक जो धारणा थी उसमें ज़मीन पर तो इतना नहीं बल्कि ज़मीन की उपज पर विशेषकर सामूहिक स्वामित्व था। शायद अंग्रेज गवर्नर इसको पूरी-पूरी तरह समझ नहीं पाए, लेकिन शायद कुछ अपनी वजहों से उन्होंने खास तौर पर जानबूझ कर अंग्रेज़ी व्यवस्था जारी की। वे स्वयं भी तो अंग्रेज़ों के ज़मींदारवर्ग के प्रतिनिधि थे। आरंभ में तो उन्होंने थोड़े समयों के लिए मालगुज़ार नियुक्त किए। अर्थात् वे लोग जिन पर ज़मीन का लगान या मालगुज़ारी वसूल करने और उसको सरकार को अदा करने की ज़िम्मेदारी थी। बाद में यही लोग बढ़कर ज़मींदार हो गए। ज़मीन और उसकी उपज पर से गांव वालों का नियंत्रण हटा दिया गया। अबतक उस समूची जाति के लिए जो विशेष हित या विशेष स्वार्थ था, अब वह इस नए ज़मीन के मालिक की निजी संपत्ति हो गई। इससे ग्रामीणों के मिले-जुले और सहयोगपूर्ण जीवन की व्यवस्था टूट गई और धीरे-धीरे सहयोगपूर्ण काम और सेवाओं का ढांचा भी लुप्त होने लगा।

ज़मीन को इस ढंग से जायदाद बना देने से केवल एक बड़ा आर्थिक परिवर्तन ही नहीं हुआ बल्कि उसका असर अधिक गहरा हुआ और उसने सहयोगपूर्ण सामुदायिक सामाजिक ढांचे की सारी हिंदुस्तानी धारणा पर ही चोट की। ज़मीन के मालिकों का एक नया वर्ग सामने आया : एक ऐसा वर्ग जिसको ब्रिटिश सरकार ने खड़ा किया था और जो बहुत हद तक उस सरकार से मिला-जुला था। पुराने ढांचे के टूटने से नई समस्याएं पैदा हुई और शायद इस नई हिंदू-मुस्लिम समस्या का आरंभ वहीं पर पाया जा सकता है। ज़मींदारी प्रथा पहले-पहल बंगाल और बिहार में जारी की गई, जहां उस ढांचे ने जो स्थायी बंदोबस्त के नाम से मशहूर

है, बड़े-बड़े ज़मींदार बनाए गए। बाद में यह अनुभव किया गया कि यह व्यवस्था सरकार के लिए लाभदायक नहीं है; क्योंकि मालगुज़ारी तै थी, और बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इसलिए हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में कुछ निश्चित समय के ही लिए नया बंदोबस्त किया गया। यहां समय-समय पर मालगुज़ारी बढ़ती रही। कुछ सूबों में किसानों को ही मालिक बनाया गया। मालगुज़ारी की वसूलयाबी में बेहद कड़ाई के कारण सभी जगह और विशेषकर बंगाल में यह नतीजा हुआ कि पुराने ज़मीन के मालिक बर्बाद हो गए और उनकी जगह नए मालदार व्यापारियों ने ले ली। इस तरह बंगाल मुख्यतया हिंदू ज़मींदारों का प्रांत हो गया और यद्यपि उनके काश्तकार हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे, लेकिन उनमें अधिकतर मुसलमान ही थे।

अंग्रजों ने अपने अंग्रेज़ी नमूने के बड़े-बड़े ज़मींदार बनाए और उसकी मुख्य वजह यह थी कि कुछ थोड़े से आदमियों से बरतना और निबटना कहीं अधिक सहज था, बनिस्बत इसके कि काश्तकारों की एक बहुत बड़ी संख्या से सीधा व्यवहार किया जाय। उद्देश्य तो यह था कि लगान के रूप में, अधिक-से-अधिक रुपया जल्दी-से-जल्दी वसूल किया जाय। अगर ज़मीन का मालिक ठीक समय में काम न कर पाता तो तुरंत उसको निकाल दिया जाता और उसकी जगह दूसरे को दे दी जाती। साथ ही यह बात भी आवश्यक समझी गई कि एक ऐसा वर्ग भी पैदा कर दिया जाय जिसके स्वार्थ और अंग्रेज़ों के स्वार्थ एक हों। हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों के मस्तिष्क में विद्रोह का डर भरा हुआ था, और उन्होंने अपने पत्रों में इसका बार-बार चर्चा किया। गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने, १८२९ में, कहा था, "यदि व्यापक सार्वजनिक उपद्रव या क्रांति के विरुद्ध सुरक्षा का अभाव था तो मैं यह कहूँगा कि चाहे स्थायी बंदोबस्त कई ढंग से बुरा रहा है, लेकिन उससे कम-से-कम यह लाभ अवश्य है कि उसने मालदार ज़मींदारों का एक ऐसा बहुत बड़ा समुदाय निश्चित रूप से पैदा कर दिया है जिसका ब्रिटिश राज्य के जारी रखने में बहुत बड़ा स्वार्थ है और जिसका आम जनता पर पूरा वश है।"

इसके अतिरिक्त हिंदुस्तानी सेना थी, जिसमें अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों सिपाही होते, लेकिन बहुधा सिर्फ़ अंग्रेज़ ही होते। इसका बराबर, विशेषकर १८५७ के विद्रोह के बाद, पुनर्संगठन किया गया, और अंत में यह ब्रिटिश फ़ौज की एक इकाई बन गई। इसका प्रबंध इस तरह किया गया कि इसके विभिन्न भागों में

एक सम-तौल बना रहे और बड़ी जगहें अंग्रेज़ों के पास रहें। "मुख्य बात तो यह है कि काफ़ी यूरोपीय फ़ौजों के द्वारा स्थिति वश में रहे, नहीं तो देश के लोगों का एक-दूसरे के विरुद्ध जोड़-तोड़ लगाया जाय।" यह बात १८५८ की फ़ौज के पुनर्संगठन के सिलसिले में सरकारी रिपोर्ट में कही गई है। इस फ़ौज का सबसे पहला काम वह था जो एक अधिकार बना रखने वाली फ़ौज का होता है। इसको 'आंतरिक सुरक्षा-फ़ौज' कहा जाता था और इसका अधिक भाग ब्रिटिश था। सरहदी सूबे में, हिंदुस्तानी ख़र्चे पर, अंग्रेज़ी फ़ौजों के सीखने का मैदान क़ायम हुआ था। 'फ़ील्ड आर्मी', जिसमें अधिकतर हिंदुस्तानी थे, विदेशों में लड़ने के लिए थी, और उसने कई ब्रिटिश साम्राज्यवादी लड़ाइयों में, भाग लिया और इसके ख़र्चे का बोझ हिंदुस्तान पर डाला गया। इस बात का भी प्रबंध किया गया कि हिंदुस्तानी सेना शेष जनसंख्या से अलग रहे।

इस तरह हिंदुस्तान को (अंग्रेज़ों द्वारा) अपने जीते जाने का, फिर ईस्ट इंडिया कंपनी से ब्रिटिश ताज के हाथों में पहुँचने का, ब्रिटिश साम्राज्य का बर्मा आदि दूसरी जगहों में फैलने का, अफ़्रीका, फ़ारस आदि पर चढ़ाई का और स्वयं हिंदुस्तानियों से ही अपनी रक्षा का ख़र्च भुगतना पड़ा। साम्राज्यवादी अफ़सरों के लिए उसे केवल फ़ौजों के अड्डे की तरह ही नहीं बरता गया। और उसके लिए उसे कुछ देना तो दूर रहा बल्कि इसके अलावा ब्रिटिश फ़ौज की इंग्लैंड में शिक्षा के लिए भी उसको ख़र्च देना होता था। इस रक़म को 'कैपिटेशन' शीर्षक में लिया जाता था। वास्तव में ब्रिटेन के हर ढंग के कामों का, जैसे चीन और फ़ारस में कूट-नीतिज्ञ या राजनीतिक प्रतिनिधियों के रखने का ख़र्च, हिंदुस्तान से इंग्लैंड तक की टेलीग्राफ़ लाइन का पूरा ख़र्च, भूमध्य सागर में जहाज़ी बेड़े को रखने के ख़र्च का एक हिस्सा और यहां तक कि लंदन में तुर्की के सुल्तान का स्वागत करने तक का ख़र्च हिंदुस्तान को ही देना होता था।

निश्चय ही हिंदुस्तान में रेलों का बनाना बहुत आवश्यक और अच्छा था; लेकिन उसमें बेहद अपव्यय किया गया। हिंदुस्तानी सरकार ने उस सारी पूंजी पर, जो उसमें लगी, ५% ब्याज देने की गारंटी कर दी और कितने ख़र्चे की उचित रूप से आवश्यकता थी इसका अनुमान या इसकी जांच करना भी आवश्यक नहीं समझा। सारी ख़रीदारियां इंग्लैंड में हुईं।

सरकारी सिविल ढाँचा भी अपव्यय से भरा हुआ था और उसमें ऊँची तनख़्वाहों

वाली जगहें यूरोपियनों के लिए सुरक्षित थीं। शासन-यंत्र के हिंदुस्तानी बनाने की गति बहुत धीमी थी, और वह भी केवल बीसवीं सदी में ही दिखाई दी। यह प्रक्रिया हिंदुस्तानी हाथों में शक्ति लाने के बजाय ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने का एक और दूसरा प्रकार सिद्ध हुई। वास्तविक महत्व की जगहें ब्रिटिश हाथों में बनी रहीं और शासन में हिंदुस्तानी ब्रिटिश राज्य के एजेंटों की तरह ही काम कर सकते थे।

इन सब युक्तियों के अतिरिक्त वह नीति थी जो ब्रिटिश राज्य के युग में बराबर जान-बूझ कर बरती गई, जिसमें हिंदुस्तानियों में फूट डाली गई और एक गिरोह को, दूसरे गिरोह पर चोट पहुँचाते हुए, बढ़ावा दिया गया। ब्रिटिश राज्य के आरंभ के काल में इस नीति को खुले तौर पर स्वीकार किया गया और वास्तव में एक साम्राज्यवादी शक्ति के लिए यह नीति स्वाभाविक थी। राष्ट्रीय आंदोलन की उन्नति के बाद उस नीति ने एक कुटिल और अधिक भयानक रूप ले लिया और यद्यपि उस नीति के अस्तित्व को माना नहीं गया, लेकिन उसको पहले से भी अधिक तीव्रता से बरता गया।

हमारी आज की लगभग सारी बड़ी समस्याएं, जैसे राजा और नवाब; अल्पसंख्यक समस्या; विभिन्न देशी और विदेशी स्थापित स्वार्थ; उद्योग-धंधों का अभाव और खेती की अवहेलना; समाज-संबंधी नौकरियों का बेहद पिछड़ापन और जनता की भयंकर ग़रीबी; ब्रिटिश राज्यकाल में ही और ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप पैदा हुई हैं। शिक्षा की ओर एक विशेष प्रवृत्ति रही है। केये की 'लाइफ़ अव् मेटकाफ़' में यह कहा गया है कि, "ज्ञान के विस्तार का यह डर एक बड़ा रोग बन गया......जो सरकारी अधिकारियों को हर तरह की चिंता में डाल कर बेहद परेशान करता और छापेख़ानों और बाइबिलों की बाबत सोच कर उनके रोंगटे खड़े हो जाते। उन दिनों हमारी यह नीति थी कि हिंदुस्तान के रहनेवालों को अधिक से अधिक बर्बरतापूर्ण हालत में और अँधेरे में रखा जाय, और उनमें किसी भी ढंग से ज्ञान का प्रकाश फैलाने की कोशिश का, चाहे वह हमारी तरफ़ से होती या और किसी तरफ़ से, ज़ोरदार विरोध किया जाता।"

५ : हिंदुस्तानी रियासतें

हिंदुस्तान में हमारी एक बहुत बड़ी समस्या रजवाड़ों या देशी रियासतों की है। ये रियासतें दुनिया भर में अपने ढंग की अनोखी हैं और उनमें आपस में

राजनीतिक और सामाजिक हालतों में, और लंबाई-चौड़ाई में, बहुत बड़ा अंतर है। गिनती में वे ६०१ हैं। इनमें से लगभग पंद्रह काफ़ी बड़ी समझी जा सकती हैं, और इनमें सबसे बड़ी रियासतें हैं हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर, त्रावणकोर, बड़ोदा, ग्वालियर, इंदोर, कोचीन, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, भोपाल और पटियाला। तब कुछ मझोली रियासतें हैं, और फिर कई सौ छोटी-छोटी रियासतें हैं, जिनके वर्ग क्षेत्र बहुत कम हैं। यहां तक कि उनमें से कुछ तो नक़्शे में सुई की नोंक से अधिक बड़ी नहीं हैं। ये छोटी रियासतें अधिक तर काठियावाड़, पच्छिमी हिंदुस्तान और पंजाब में हैं।

इनमें से कुछ रियासतें इतनी बड़ी हैं जितना कि फ़्रांस है और कुछ एक औसत किसान के खेत के ही बराबर हैं। लेकिन उनमें इसके अलावा और भी कितने ही ढंग के भेद हैं। उद्योग-धंधों की दृष्टि से मैसूर सबसे अधिक उन्नत है; शिक्षा की दृष्टि से मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन ब्रिटिश भारत से बहुत आगे हैं। (यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि त्रावणकोर में सार्वजनिक-शिक्षा का संगठन सन् १८०१ से शुरू हुआ (इंग्लैंड में यह सन् १८७० से शुरू हुआ)। इस समय त्रावणकोर में पुरुषों की साक्षरता ५८ प्रतिशत है और स्त्रियों की साक्षरता ४१ प्रतिशत है)। वैसे ज्यादातर रियासतें बहुत ज्यादा पिछड़ी हुई हैं और कुछ तो बिलकुल सामंतवादी हैं। वे सभी निरंकुश हैं यद्यपि उनमें से कुछ ने जनता द्वारा चुनी हुई कौंसिलें स्थापित कर दी हैं जिनके अधिकार बहुत अधिक सीमित हैं। हैदराबाद में, जोकि सब से बड़ी रियासत है, एक अजीब ढंग की सामंतवादी हुकूमत है और वहां पर नागरिक स्वतंत्रता तो नहीं के बराबर है। यही दशा राजपूताना और पंजाब की अधिकतर रियासतों की है। नागरिक स्वतंत्रता का अभाव तो सभी रियासतों में दिखाई देता है।

ये रियासतें इकट्ठी नहीं हैं; वे सारे हिंदुस्तान में फैली हुई हैं, और टापुओं की तरह हैं; और ग़ैर-रियासती हिस्सों से घिरी हुई हैं। उनकी बहुत बड़ी संख्या तो एक अर्धस्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था को भी बनाए रखने में असमर्थ है; यहां तक कि उनमें से सबसे बड़ी रियासतें भी अपनी स्थिति की वजह से, अपने पड़ोसी हिस्सों के पूरे-पूरे सहयोग के बिना अपनी अर्थ-व्यवस्था नहीं चला सकती। अगर रियासती और ग़ैर-रियासती हिंदुस्तान में आर्थिक-संघर्ष हो तो रियासतों को आर्थिक प्रतिबंधों और टैक्स आदि के द्वारा झुकाया जा सकता है। यह बात बिलकुल स्पष्ट है

क़ि राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टि से ये रियासतें, यहांतक कि उनमें से सवसे वड़ी रियासतें भी, अलग नहीं की जा सकतीं, और उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता। इस तरह उनकी गाड़ी चल नहीं सकती, और साथ ही इसकी वजह से वाक़ी हिंदुस्तान को भी वहुत वड़ी हानि होगी। सारे हिंदुस्तान में वे विरोधी प्रदेश हो जायेंगे और अगर उन्होंने रक्षा के लिए विदेशी शक्ति का सहारा लिया तो यह वात स्वयं स्वतंत्र हिंदुस्तान के लिए भयावह होगी। वास्तव में यदि सारा ही हिंदुस्तान, जिसमें रियासतें भी शामिल हैं, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से एक ही ऐसी सत्ता के अधीन न होता जो कि उनकी रक्षा करती है, तो ये रियासतें तो आज जीवित भी न होतीं। उस मुमकिन संघर्ष के अलावा, जो रियासती और ग़ैर-रियासती हिंदुस्तान में होता रहता, यह वात याद रखने की है कि रियासत के निरंकुश शासक पर, उसकी ही प्रजा द्वारा, जो स्वतंत्र संस्थाओं की माँग करती, दवाव पड़ता। इस स्वतंत्रता के प्राप्त करने के प्रयत्न ब्रिटिश शक्ति की सहायता से दवा दिए गए हैं, या रोक रखे गए हैं।

अपनी वनावट की वजह से स्वयं उन्नीसवीं सदी में ही ये रियासतें उन परिस्थितियों में वेमेल हो गईं। आज की हालतों में हिंदुस्तान को बीसियों पृथक् और स्वतंत्र इकाइयों में वाँटने की योजना भी नामुमकिन है। इससे केवल सदा-सदा का संघर्ष ही नहीं पैदा होगा, वल्कि सारी योजना-वद्ध आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति भी नामुमकिन हो जावेगी। यहां हमको यह वात याद रखनी चाहिए कि जव ये रियासतें वनीं, और जव इन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी से संधियां कीं, तो उस समय उन्नीसवीं सदी के आरंभ में यूरोप वहुत से छोटे-छोटे राज्यों में वँटा हुआ था। तव से कई लड़ाइयों और कई क्रांतियों ने यूरोप की शक्ल ही वदल दी है, और आज भी इसकी शक्ल वदल रही है, लेकिन वाहरी दवाव से हिंदुस्तान की शक्ल तो पत्थर की तरह जड़ हो गई थी, और उसको वदलने नहीं दिया गया। यह वात विलकुल असंगत मालूम होती है कि हम १४० वरस पहले की किसी संधि को उठा लें, जो आमतौर पर लड़ाई के मैदान में या उसके तुरंत वाद दो प्रतिद्वंद्वी सेनापतियों में तै हुई, और यह कहें कि यह अस्थायी समझौता तो हमेशा चलेगा। उस सुलहनामे में रियासती जनता को कुछ कहने का अवसर नहीं मिला था और उस समय एक ओर एक ऐसी व्यापारी संस्था थी जिसका केवल अपने स्वार्थों से या अपने लाभ से तात्पर्य था। इस व्यापारिक संस्था ने ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट के एजेंट की

तरह काम नहीं किया, बल्कि सिद्धांत रूप में उसने उस दिल्ली-सम्राट् के एजेंट की तरह काम किया जोकि शक्ति और अधिकार का स्रोत समझा जाता था, इस बात से कि ईस्ट इंडिया कंपनी हिंदुस्तान में उस अधिकार के बल-बूते पर काम कर रही थी जोकि मुग़ल सम्राट् ने 'दीवानी' के रूप में उसे दिया था, वह ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट के सीधे हस्तक्षेप से मुक्त थी। हां, एक-दूसरे ढंग से अगर पार्लमेंट चाहती तो चार्टर को रद्द कर सकती थी, या उसे फिर से जारी करते समय नई शर्तें लगा सकती थी। यह विचार कि इंग्लैंड का बादशाह, या पार्लमेंट सिद्धांत से नाम-मात्र के दिल्ली के सम्राट् के एजेंट या मातहत की तरह काम करे, इंग्लैंड में पसंद नहीं किया गया, और इसलिए वह बराबर ईस्ट इंडिया कंपनी के कामों से अलग रहा। हिंदुस्तान' लड़ाइयों में जो रुपया खर्च हुआ वह हिंदुस्तानी रुपया था, और उसको ईस्ट इंडिया कंपनी ने ही वसूल किया और उसी ने उसको ख़र्च किया।

बाद में जब ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार में आए हुए प्रदेश का क्षेत्रफल बढ़ गया और उसका राज्य सुदृढ़ हो गया तो ब्रिटिश पार्लमेंट ने हिंदुस्तानी मामलों में अधिक रुचि लेना आरंभ किया। सन् १८५८ में हिंदुस्तानी ग़दर और विद्रोह के धक्के के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदुस्तान का राज्य (हिंदुस्तान के ख़र्चे पर, बदले में रुपया पाकर) ब्रिटिश ताज को सौंप दिया। उस तबादले में हिंदुस्तानी रियासतों और शेष हिंदुस्तान को अलग-अलग नहीं माना गया। सारे हिंदुस्तान को एक इकाई की तरह बरता गया और हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तानी सरकार द्वारा काम करती, जिसका प्रभुत्व रियासतों के ऊपर भी था। ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट से इनका कोई अलग संबंध नहीं था। वे तो हर तरह से उस सरकारी ढाँचे के हिस्से थे, जिसका प्रतिनिधित्व हिंदुस्तानी सरकार करती थी। बाद के बरसों में इस सरकार ने जब कभी उसकी बदलती हुई नीति के लिए ऐसा उचित जान पड़ा, इन संधियों की अवहेलना की और रियासतों के ऊपर अपना आधिपत्य जमा लिया।

इस तरह जहां तक देशी रियासतों का सवाल है ब्रिटिश ताज तो उस चित्र म आता ही नहीं था। यह तो केवल हाल के ही बरसों की बात है कि रियासतों की तरफ़ से किसी ढंग की स्वतंत्रता का अधिकार जताया गया है, और यह कहा गया है कि हिंदुस्तान सरकार के अलावा उनका ब्रिटिश ताज से विशेष संबंध है। यहां एक ध्यान देने की बात यह है कि ये संधियां तो केवल कुछ रियासतों के साथ हैं;

केवल चालीस रियासतें ही संधियों से संबंधित हैं। और शेष को तो सनदें मिली हुई हैं। हिंदुस्तानी रियासतों की आवादी का तीन-चौथाई इन चालीस रियासतों में है और उनमें से छै में इस आवादी का हिस्सा एक तिहाई से भी ज़्यादा है।

सन् १९३५ के 'गवर्नमेंट अव् इंडिया एक्ट' में पहली वार ब्रिटिश पार्लमेंट का रियासतों और शेष हिंदुस्तान के साथ संबंध में कुछ भेद-भाव किया गया। रियासतों को हिंदुस्तान सरकार के निरीक्षण और नियंत्रण से हटाकर वाइसराय के मातहत कर दिया गया और उसको इस सिलसिले में राजा का प्रतिनिधि (क्राउन रेप्रेजेंटेटिव) कहा गया। साथ ही वाइसराय हिंदुस्तानी सरकार का अध्यक्ष भी था। हिंदुस्तान सरकार का राजनीतिक विभाग, जिस पर रियासतों का उत्तरदायित्व था, अव वाइसराय की एग्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के अधिकार से हटकर केवल वाइसराय के ही अधीन कर दिया गया।

इन रियासतों की सत्ता कैसे शुरू हुई? कुछ तो विलकुल नई थीं, जिनको अंग्रेज़ों ने ही वनाया; और कुछ मुग़ल सम्राट् की वनाई हुई थीं, और अंग्रेज़ों ने उनको सामंतवादी शासक के रूप में वने रहने दिया; लेकिन कुछ को, विशेषतया मराठा सरदारों को, अंग्रेज़ी फ़ौजों ने हराया और फिर उनको सामंत पद दिया। प्रायः इन सभी का पता ब्रिटिश राज्य के, आदिकाल में मिल सकता है; उनका इतिहास इससे अधिक पुराना नहीं है। अगर कुछ समय के लिए उनकी स्वतंत्र सत्ता रही भी, तो वह स्वतंत्रता केवल थोड़े से ही काल के लिए रही और वह लड़ाई से या लड़ाई की धमकी से समाप्त हो गई। इनमें से कुछ रियासतें—और ये रियासतें विशेषकर राजपूताने में हैं—मुग़लों के समय से पहले की हैं। त्रावणकोर का एक वहुत पुराना, लगभग १००० वरस का, इतिहास है। कुछ राजपूतवंश ऐतिहासिक काल से भी पहले के वताए जाते हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्यवंशी हैं और उनका वंश-वृक्ष उसी तरह है जैसे जापान के मिकाडो का। लेकिन यह राजपूत सरदार मुग़ल-सामंत वन गए, वाद में मराठों के अधीन हुए और अंत में अंग्रेज़ों के अधीन हो गए। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधियों ने "अव राजाओं को अपनी ठीक जगह पर ला दिया, और उस अव्यवस्था से, जिसमें वह डूवे हुए थे, उनको ऊपर उठा दिया। जव उनको इस तरह उठाकर फिर से स्थापित किया तो ये राजे इतने असहाय और वेवस थे जितनी कि दुनिया के आरंभ से आज तक कोई भी शक्ति रही हो। अगर ब्रिटिश सरकार ने हस्तक्षेप

न किया होता तो राजपूत रियासतें लुप्त हो गई होतीं और मराठा रियासतें टूट-फूट गई होतीं। जहां तक अवध या निज़ाम के राज्यों का सवाल है उनका तो कोई अस्तित्व ही नहीं था। वे तो जीवित केवल इस वजह से मालूम देती थीं, कि उनकी रक्षक शक्ति उनमें साँस फूँकती जाती थी।"

आज की प्रमुख रियासत हैदरावाद आरंभ में छोटी-सी थी। उसकी सीमाएं टीपू सुल्तान की हार के वाद और मराठा युद्ध के वाद वढ़ाई गईं। यह वढ़ती अंग्रेज़ों की वजह से हुई और इस खुली शर्त पर कि निज़ाम उनकी मातहती में काम करेगा। वास्तव में टीपू की हार के वाद उसके राज्य का हिस्सा पहले मराठा नेता पेशवा को भेंट किया गया था, लेकिन उसने इन शर्तों पर लेने से इंकार कर दिया।

दूसरी सवसे वड़ी रियासत कश्मीर को, सिख-युद्ध के वाद, ईस्ट इंडिया कंपनी ने, मौजूदा महाराजा के परदादे को वेच दिया था। वाद में हुकूमत में वद-इंतज़ामी का वहाना लेकर, उसको व्रिटिश नियंत्रण में ले लिया गया। वाद में महाराजा के अधिकार उसको वापिस लौटा दिए गए। मैसूर की वर्तमान रियासत को टीपू के साथ लड़ाइयों के वाद, अंग्रेज़ों ने वनाया। वहुत समय तक वह स्वयं व्रिटिश हुकूमत में ही रही।

अगर हिंदुस्तान में सचमुच ही कोई स्वतंत्र राज्य है तो वह है नैपाल; जोकि उत्तरी-पूर्वी सीमा पर है, और उसकी स्थिति अफ़ग़ानिस्तान से मिलती-जुलती है। हां, एक तरह से वह सारे हिंदुस्तान से अलग है। और सव रियासतें तो उस घेरे में आ गई जिसको 'सहायक संधि' के नाम से पुकारा जाता है, जिसमें सारी असली शक्ति व्रिटिश सरकार के हाथों में होती और वह रेज़ीडेंट या एजेंट के द्वारा काम करती। प्राय: राजा के मंत्री भी व्रिटिश पदाधिकारी होते, जिनको उसके ऊपर वलपूर्वक लाद दिया जाता। लेकिन सुशासन और सुधार की सारी जिम्मेदारी उस शासक पर ही होती जो इन परिस्थितियों में दुनिया में सव से अधिक दृढ़-निश्चयी होने पर भी कुछ नहीं कर सकता था (और आमतौर से उस शासक में न तो कोई निश्चय ही होता, और न कोई योग्यता ही होती)।

इन रियासतों की सरकारें वहुधा खराव होती थीं, लेकिन हर सूरत में वे विलकुल लाचार भी होती थीं। इन रियासतों में कुछ व्रिटिश रेज़ीडेंट या एजेंट ईमानदार और भले होते थे, लेकिन आमतौर पर उनमें इन दोनों में से एक भी वात

नहीं थी, और वे विना किसी ज़िम्मेदारी के अपने विशेषाधिकारों का उपयोग करते थे। इन अंग्रेज़ साहसिकों ने, जो अपनी राष्ट्रीयता और शासन की सहायता के कारण अपने को सुरक्षित समझते थे, रियासती खज़ानों में गज़व कर दिया। उन्नीसवीं सदी के पहले पचास वरसों में, इन रियासतों में और विशेषकर अवध और हैदरावाद में, जो कुछ हुआ उस पर विश्वास करना कठिन है। सन् १८५७ के विद्रोह से कुछ ही पहले, अवध व्रिटिश भारत में छीनकर शामिल किया गया।

उस समय व्रिटिश नीति इस तरह अधिकार करने के पक्ष में थी और व्रिटिश शासन के द्वारा रियासत को हथियाने के लिए हर वहाने से लाभ उठाया जाता। लेकिन १८५७ के ग़दर और महाविद्रोह ने, रियासती मामलों में उस नीति का मूल्य व्रिटिश सरकार को जता दिया। कुछ छोटे-छोटे अपवादों को छोड़ कर, हिंदुस्तानी रजवाड़े, उस विद्रोह से अलग ही नहीं रहे, वल्कि उन्होंने कुछ जगहों पर अंग्रेज़ों को उसे कुचलने में मदद दी। इससे व्रिटिश नीति का रियासतों की तरफ़ रुख़ वदल गया, और यह तै किया गया कि उनको वनाए रखा जाय, और यही नहीं, वल्कि उनको और अधिक दृढ़ किया जाय।

कुछ राजा अच्छे हैं, कुछ वुरे हैं; लेकिन अच्छे राजाओं को पग-पग पर रोक दिया जाता है। वर्ग के रूप में वे पिछड़े हुए हैं, उनका दृष्टिकोण सामंतवादी है, और व्रिटिश सरकार के साथ व्यवहार के अतिरिक्त जवकि वह विशेष रूप से अदव से पेश आते हैं, उनके ढंग स्वायत्त हैं। शेवलंकर ने हिंदुस्तानी रियासतों के वारे में सही ही कहा है, कि "वे हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों का पांचवां दस्ता है।"

६ : हिंदुस्तान में व्रिटिश राज्य की विरोधात्मक वातें : राममोहन राय : समाचारपत्र : सर विलियम जोन्स : वंगाल में अंग्रेज़ी शिक्षा

हिंदुस्तान में व्रिटिश राज्य के इतिहास पर विचार करते हुए हमको पग-पग पर एक विशेष विरोधाभास मिलता है। अंग्रेज़ों का हिंदुस्तान में इसलिए आधिपत्य हुआ और वे दुनिया की एक प्रमुख शक्ति इसलिए वन गए कि वे वड़ी मशीनों की नई औद्योगिक संस्कृति के अगुआ थे। वे एक ऐसी नई ऐतिहासिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे जो दुनिया को वदलने जा रही थी, और यद्यपि उनको पता नहीं था, वे परिवर्तन और क्रांति के प्रवर्तक थे। फिर भी सिवाय उस परिवर्तन के

जो उन्हें अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और देश और जनता का अपने लाभ के लिए शोषण करने के सिलसिले में आवश्यक मालूम हुए, उन्होंने हर तरह के परिवर्तन को जान-बूझ कर रोका। उनका उद्देश्य और दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी था। कुछ हद तक तो उसकी वजह, उस सामाजिक वर्ग की पृष्ठभूमि थी, जिसके कि वे सदस्य थे; लेकिन विशेषकर उसकी वजह यह थी कि वे जान-बूझकर प्रगतिशील दिशा में परिवर्तन को रोकना चाहते थे। क्योंकि उस परिवर्तन से हिंदुस्तानी जनता सुदृढ़ होती और उसका नतीजा यह होता कि हिंदुस्तान पर अंग्रेज़ी प्रभुत्व घट जाय। जनता का डर उनकी सारी विचार-धारा और सारी नीति में समाया हुआ था; क्योंकि न तो वे उस जनता में घुलना-मिलना ही चाहते थे और न वे ऐसा कर ही सकते थे। उनको तो एक विदेशी शासक-समुदाय की तरह अलग, और एक बिलकुल भिन्न और विरोधी जनता से घिरा रहना था। परिवर्तन हुए और कुछ तो प्रगतिशील दिशाओं में भी हुए, लेकिन वे ब्रिटिश नीति के बावजूद हुए, यद्यपि उनको उत्तेजना, पच्छिम के संपर्क में आने से अंग्रेज़ों द्वारा ही मिली।

व्यक्तिगत रूप से अंग्रेज़ों ने, जिनमें शिक्षा-प्रसार में दिलचस्पी रखनेवाले लोग थे, पूर्व में दिलचस्पी रखनेवाले लोग थे, संपादक थे और मिशनरी लोग थे, और साथ ही और दूसरे आदमियों ने हिंदुस्तान में पच्छिमी संस्कृति लाने में एक महत्वपूर्ण भाग लिया, और अपनी इस कोशिश में उनको बहुधा स्वयं अपनी सरकार से झगड़ना पड़ा। उस सरकार को आधुनिक शिक्षाप्रसार के प्रभाव का डर था और इसी से उसने उनके रास्ते में बहुत-सी अड़चनें डालीं, फिर भी हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी विचार, साहित्य और राजनीतिक परंपरा का प्रवेश करा देने का श्रेय उन योग्य और उत्सुक अंग्रेज़ों को है जिन्होंने अपने चारों तरफ़ हिंदुस्तानी विद्यार्थियों के उत्साही समुदायों को इकट्ठा किया और जिन्होंने अपनी संस्कृति के फैलाने की बड़ी ज़ोरदार कोशिशें कीं। खुद ब्रिटिश सरकार भी, जिसको शिक्षा नापसंद थी, परिस्थितियों से विवश हुई और उसको अपने बढ़ते हुए काम के लिए क्लर्कों को तैयार करने और उनको शिक्षा देने का प्रबंध करना पड़ा। इन छोटी-छोटी जगहों में काम करने के लिए इंग्लैंड से बड़ी संख्या में आदमियों को लाकर रखना उसकी बिसात के बाहर था। इस तरह धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार हुआ, और यद्यपि वह बहुत सीमित थी और ग़लत ढंग की थी, फिर भी उसने नए और सक्रिय विचारों के लिए मस्तिष्क को प्रवृत्त किया।

छापने की मशीन को, और वास्तव में हर एक मशीन को ही, हिंदुस्तानी मस्तिष्क के लिए भड़काने वाली और ख़तरनाक समझा गया। उनको किसी भी ढंग से वढ़ावा नहीं देना था क्योंकि उससे औद्योगिक उन्नति हो सकती थी, और राजद्रोह फैल सकता था। ऐसा कहा जाता है कि एक वार हैदरावाद के निज़ाम ने विलायती मशीनें देखने की इच्छा प्रकट की, तो इस पर वहां के रेज़ीडेंट ने उसके लिए एक छापने की मशीन और एक हवा भरने का पंप मँगा दिया। निज़ाम की क्षणिक उत्सुकता के शांत हो जाने के वाद ये चीज़ें एक तरफ़ कर दी गईं। लेकिन जव कलकत्ते की सरकार ने यह सुना तो उसने रेज़ीडेंट के प्रति अपनी अप्रसन्नता प्रकट की और एक हिंदुस्तानी रियासत में छापने की मशीन चलाने पर तो उसको विशेष रूप से फटकारा। इस पर रेज़ीडेंट ने कहा कि अगर सरकार चाहे तो वह उस मशीन को ख़ुफ़िया तौर पर तुड़वा सकती है।

लेकिन जहां निजी छापेख़ानों को वढ़ावा नहीं दिया गया, वहां साथ ही सरकार का काम विना छपाई के चल नहीं सकता था और इसलिए कलकत्ता, मद्रास और दूसरी जगहों में सरकारी छापेखाने खोले गए। पहला निजी छापाख़ाना वैप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में चलाया, और पहला अख़वार एक अंग्रेज़ ने कलकत्ते में सन् १७८० में निकाला।

पच्छिम का असली प्रभाव और संघर्ष तो जीवन के व्यावहारिक पहलू पर हुआ, जो स्पष्टतया पूर्व की अपेक्षा श्रेष्ठतर था। नए तरीक़ों की—रेल, छापेख़ानों, दूसरी मशीनों और लड़ाई के अधिक होशियारी के तरीक़ों की—अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ये तरीक़े, परोक्ष रूप से पुराने तरीक़ों को धकेल कर ऊपर आ गए और हिंदुस्तान के मस्तिष्क में संघर्ष पैदा हुआ। सवसे अधिक स्पष्ट और गहरा परिवर्तन यह था कि पुरानी खेतिहरी की व्यवस्था हट गई और उसकी जगह व्यक्तिगत संपत्ति और जमींदारी की विचारधारा ने ली, अर्थ-व्यवस्था में रुपए का लालच हुआ और ज़मीन एक खरीदारी की चीज़ हो गई। जो चीज़ पहले रिवाज के वल पर दृढ़ता से जमी हुई थी अव रुपए से उखड़ गई।

खेती-संवंधी, शिक्षा-संवंधी, टेकनीकल और वौद्धिक—यह सभी परिवर्तन हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों से वहुत पहले वंगाल में देखन में आए। उसकी वजह यह थी कि वंगाल में और दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा ब्रिटिश राज्य ५० वरस पहले स्थापित हो चुका था। इसी से अठारहवीं सदी के पिछले पचास वरसों में और

उन्नीसवीं सदी के पहले पचास वरसों में, बंगाल ने ब्रिटिश भारतीय जीवन में एक प्रमुख भाग लिया। बंगाल सिर्फ़ ब्रिटिश शासन का ही केंद्र नहीं था वल्कि उसने अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे हिंदुस्तानियों के पहले दल को तैयार किया, जो ब्रिटिश शक्ति की छाया में ही हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में फैल गए। बंगाल में, उन्नीसवीं सदी में, कितने ही महापुरुष उत्पन्न हुए, जिन्होंने शेष हिंदुस्तान का सांस्कृतिक और राजनीतिक मामलों में पथ-प्रदर्शन किया, और उन्हीं के प्रयत्नों से आगे चल कर नया राष्ट्रीय आंदोलन साकार हुआ।

ब्रिटिश राज्य से पहले बंगाल मुग़ल साम्राज्य का एक बाहरी सूबा था। मध्यकालीन युग के आरंभ में वहां के हिंदुओं में कई गंदे ढंग की पूजाएं और तांत्रिक रस्म चालू थे। तब हिंदू सुधार आंदोलन आरंभ हुआ और उसका सामाजिक रीतियों और क़ानूनों पर असर हुआ। चैतन्य ने, जो एक बड़े विद्वान् थे और बड़ी निष्ठा और भावना के व्यक्ति थे, श्रद्धा की बुनियाद पर एक प्रकार का वैष्णवधर्म स्थापित किया और बंगाल की जनता पर बहुत प्रभाव डाला। बंगालियों में ऊँची बौद्धिक प्रतिभा और उतनी ही दृढ़ भावुकता का एक विचित्र सम्मिश्रण हुआ। उन्नीसवीं सदी के पिछले वरसों में प्रेम और मानव-सेवा की निष्ठा की इस परंपरा के एक दूसरे संत-स्वभाव के व्यक्ति रामकृष्ण परमहंस थे। उनके नाम पर एक सेवा की संस्था स्थापित हुई जिसकी सामाजिक सेवाओं का लेखा बेजोड़ है। रामकृष्ण मिशन के सदस्य पुराने फ़्रैंसिस्कनों की तरह धैर्य और प्रेम के साथ सेवा करने के आदर्श से भरे हुए हैं, और क्वेकरों की तरह वे कुशल हैं, और उनमें दिखावा नहीं है। वे लोग चिकित्सालय और शिक्षासंबंधी संस्थाएं चलाते हैं, और जब कभी हिंदुस्तान में कहीं भी और कभी-कभी विदेशों में कोई व्यापक दुर्घटना होती है, तो वे वहां की पीड़ित जनता को सहारा देने में और उनकी सेवा करने में लग जाते हैं।

रामकृष्ण पुरानी हिंदुस्तानी परंपरा के प्रतिनिधि थे। उनसे पहले, अठारहवीं सदी में ही बंगाल में एक और प्रमुख व्यक्ति हो चुके थे। वह थे राजा राममोहन राय। वह एक नए ढंग के आदमी थे। उनमें पुरानी और नई दोनों ही तरह की शिक्षा का मेल था। वे हिंदुस्तानी विचार-धारा और हिंदुस्तानी दर्शनशास्त्र से सुपरिचित थे, और साथ ही वे संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के विद्वान् थे। वे उस हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की उपज थे जो उस समय हिंदुस्तान के सांस्कृतिक वर्ग के लोगों में फैली थी। हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के आने से और साथ ही उसकी कई तरह

की श्रेष्ठता की वजह से, राममोहन राय के जिज्ञासु और साहसी मस्तिष्क ने, उनकी संस्कृति के आधारों को जानना चाहा। उन्होंने अंग्रेज़ी पढ़ी, लेकिन इतना पर्याप्त न था; उन्होंने पश्चिम के धर्म और वहां की संस्कृति के स्रोत को खोज पाने के लिए यूनानी, लातीनी और इब्रानी भाषायें पढ़ीं। दार्शनिक और विद्वत्तापूर्ण रुचि की वजह से राममोहन राय अनिवार्य रूप से पुराने साहित्य की ओर झुके। उनके विषय में चर्चा करते हुए पूर्वी विषयों के जानकार मोनियर विलयम्स ने कहा है : "दुनिया के वह पहले आदमी हैं, जिन्होंने धर्मों का आपस में मिलान करते हुए अध्ययन करने की परिपाटी में खोज की।" फिर भी, साथ-ही-साथ, वे शिक्षा को आधुनिक ढाँचे में ढालने के लिए चिंतित थे; और वे उसे पुरानी परिपाटी के चंगुल से निकालना चाहते थे। उन प्रारंभ के दिनों में भी वे वैज्ञानिक तरीक़ों के पक्ष में थे, और उन्होंने गवर्नर-जनरल को गणित, भौतिक-विज्ञान, रसायन, जीव-विज्ञान आदि दूसरी उपयोगी विद्याओं की, शिक्षा की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए लिखा।

वे केवल एक विद्वान् और अन्वेषक ही नहीं थे; वे एक सुधारक भी थे। आरंभ में उन पर इस्लाम का असर हुआ था, और बाद में कुछ हद तक ईसाईधर्म का, लेकिन फिर भी वह अपने धर्म में दृढ़ता के साथ जमे रहे। हां, उस धर्म को उन्होंने उन कुरीतियों और कुप्रथाओं से, जो उस समय उससे जुड़ गई थीं, छुड़ाने की कोशिश की। सती-प्रथा को बंद करने के लिए उन्हीं के आंदोलन की वजह से विशेष-रूप से सरकार ने उस पर रोक लगाई।

राममोहन राय हिंदुस्तानी अखबारों के स्थापित करने वालों में एक थे। सन् १७८० के बाद हिंदुस्तान के अंग्रेज़ों ने कई अख़बार निकाले। ये साधारणतया सरकार की कड़ी आलोचना करते और सरकार से बहुधा उनका झगड़ा होता और उन पर प्रतिबंध रहता। हिंदुस्तान में अखबारों की स्वतंत्रता के लिए सबसे पहले अंग्रेज़ों ने आवाज़ उठाई। इन अंग्रेज़ों में से एक जेम्स व्लिल्क बकिंघम थे, जिनकी अब भी याद की जाती है। सरकार की वजह से इनको हिंदुस्तान छोड़कर बाहर जाना पड़ा। पहला अख़बार, जिस पर हिंदुस्तानी नियंत्रण था और जिसका संपादन भी हिंदुस्तानियों ने किया, सन् १८१८ में (अंग्रेज़ी भाषा में) निकला। और उसी साल श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट पादरियों ने बंगला में दो पत्र—एक मासिक और एक साप्ताहिक—निकाले। हिंदुस्तानी भाषा में सामयिक रूप से निकलने वाले यह पहले पत्र थे। उसके बाद अंग्रेज़ी में और हिंदुस्तानी भाषाओं में कई अख़बार

और कई सामयिक पत्र कलकत्ता, बंबई और मद्रास से कुछ ही समय के अंदर निकलने लगे।

इसी बीच में अखबारों की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई शुरू हो चुकी थी। सन् १८१८ में सुपरिचित रेगुलेशन नं० ३ का जन्म हुआ जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को बिना मुक़दमा चलाए नज़रबंद किया जा सकता था।

राममोहन राय का कई अखबारों से संबंध था, उन्होंने अंग्रेज़ी और बँगला इन दो भाषाओं की मिली-जुली एक पत्रिका निकाली और बाद में उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र फ़ारसी भाषा में प्रकाशित किया, जिसका सारे हिंदुस्तान में चलन हो सके। उस समय हिंदुस्तान में फ़ारसी ही सारे संस्कृत-समाज की भाषा थी। लेकिन १८२३ में प्रेस नियंत्रण के लिए नए क़ानून बनने पर, इसको बंद होना पड़ा। राममोहन राय ने और दूसरे आदमियों ने इस क़ानून का प्रबल विरोध किया; यहां तक कि उन्होंने इंग्लैंड में मंत्रिमंडल के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा।

राममोहन राय के संपादकीय काम का, विशेषकर उनके सुधार आंदोलन से संबंध था। कट्टर समुदायों को उनका समन्वयवादी और विश्व-बंधुत्व का दृष्टि-बिंदु बहुत नापसंद था और वे उनके बहुत से सुधारों का भी विरोध करते थे। लेकिन उनके अपने भी कट्टर समर्थक थे। इन्हीं में ठाकुर परिवार भी था, जिसने बाद में बंगाल की नई जागृति में एक मुख्य भाग लिया। राममोहन राय दिल्ली सम्राट् की ओर से इंग्लैंड गए, और वहां ब्रिस्टल में ही उनकी मृत्यु हो गई।

राममोहन राय ने, और ठाकुर-कुटुंब ने अंग्रेज़ी घर पर पढ़ी। कोई अंग्रेज़ी स्कूल या कालेज उस समय नहीं थे, और सरकारी नीति हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी सिखाने के घोर विरुद्ध थी। सन् १७८१ में सरकार ने कलकत्ते में हिंदू कालेज और कलकत्ता मदरसा स्थापित किए। पहली संस्था संस्कृत की पढ़ाई के लिए थी, और दूसरी संस्था अरबी की पढ़ाई के लिए। सन् १७८१ में बनारस में एक संस्कृत कालेज खोला गया। शायद १८१० के बाद ईसाई पादरियों की तरफ़ से अंग्रेज़ी सिखाने के लिए कुछ स्कूल खुले। सन् १८१० के बाद सरकारी क्षेत्रों में भी ऐसे विचार के लोग हुए जो अंग्रेज़ी पढ़ाने के पक्षपाती थे, लेकिन उनके मत का विरोध किया गया। जो भी हो प्रयोग के रूप में दिल्ली के अरबी स्कूल में अंग्रेज़ी दर्जे भी शुरू किए गए और ऐसे दर्जे कलकत्ते की कुछ संस्थाओं में भी खोले गए। अंग्रेज़ी पढ़ाने के पक्ष में अंतिम निर्णय सन् १८३५ के फ़रवरी के मैकॉले के शिक्षा-संबंधी

नोट से हुआ। वाद में कलकत्ते में प्रेसीडेंसी कालेज स्थापित हुआ। सन् १८५७ में कलकत्ता, वंबई और मद्रास की युनिवर्सिटियों का काम शुरू हुआ।

अगर एक तरफ़ हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी पढ़ाने के विरुद्ध था तो दूसरी ओर ब्राह्मण विद्वान् कुछ दूसरे ही कारणों से, अंग्रेज़ों के संस्कृत पढ़ाने के और भी अधिक विरुद्ध थे। जब सर विलियम जोन्स, जो पहले से ही कई भाषाएँ जानते थे और जो एक वड़े विद्वान् थे, हिंदुस्तान की सुप्रीम कोर्ट के जज वनकर आए तो उन्होंने संस्कृत सीखने की अपनी इच्छा प्रकट की। और यद्यपि वहुत वड़ा पारितोषिक देने को कहा गया, लेकिन कोई भी ब्राह्मण, एक विदेशी और विधर्मी को देववाणी सिखाने को तैयार नहीं हुआ। जोन्स को अंत में वहुत कठिनाई से एक अ-ब्राह्मण वैद्य मिले जो अपनी विशेष शर्तों पर ही संस्कृत पढ़ाने को तैयार थे। हिंदुस्तान की प्राचीन भाषा को सीखने के लिए जोन्स इतने अधिक उत्सुक थे कि उन्होंने सारी शर्तें मान लीं। संस्कृत ने और विशेषकर पुराने भारतीय नाटकों ने उनको मोह लिया। उन्हीं के लेखों और अनुवादों से यूरोप को पहली वार संस्कृत साहित्य के भंडार की झलक मिली। सन् १७८४ में जोन्स ने वंगाल एशियाटिक सोसाइटी स्थापित की जो वाद में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कहलाई। हिंदुस्तान अपने प्राचीन साहित्य की खोज के लिए जोन्स और दूसरे यूरोपीय विद्वानों का वहुत आभारी है।

छापने की मशीन के चलन और उपयोग से प्रचलित हिंदुस्तानी भाषाओं की वृद्धि को वहुत वड़ा प्रोत्साहन मिला। इनमें से कुछ भाषाएँ, जैसे हिंदी, वँगला, गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल और तेलगू वहुत काल से केवल प्रचलित ही नहीं थीं वल्कि उनमें साहित्य-निर्माण हो चुका था। उनकी वहुत-सी पुस्तकें साधारण जनता में ख़ूव प्रचलित थीं। अधिकतर ये महाकाव्य या कविताएं या गीतों और भजनों के संग्रह के रूप में होतीं, जिनको आसानी से याद रखा जा सकता था। उनमें उस समय प्रायः कोई गद्य साहित्य नहीं था। अधिक गंभीर लेख संस्कृत और फ़ारसी में होते थे, और प्रत्येक सुसंस्कृत आदमी के लिए उनमें से किसी एक को जानना ज़रूरी था। इन दो प्राचीन भाषाओं का एक प्रभाव का क्षेत्र रहा और उनसे आम लोगों की प्रांतीय भाषाओं की उन्नति में रुकावट हुई। पुस्तकों की छपाई से और अख़वारों से इन प्राचीन भाषाओं का गढ़ टूटा और शीघ्र ही प्रांतीय भाषाओं में गद्य-साहित्य की उन्नति हुई। उस समय के ईसाई पादरियों ने, विशेषकर श्रीरामपुर

के बैप्टिस्ट मिशनरियों ने इस काम में बहुत मदद की। ग़ैर-सरकारी तौर पर पहले-पहल उन्होंने ही छापेखाने स्थापित किए थे और बाइबिल को हिंदुस्तानी भाषाओं में, गद्य में, अनुवाद करने के उनके प्रयत्नों को काफ़ी सफलता मिली।

सुपरिचित भाषाओं से काम लेने में कोई कठिनाई नहीं थी। लेकिन ईसाई पादरी और भी आगे बढ़े और उन्होंने कुछ छोटी और अविकसित भाषाओं को भी अपनाया और उनको स्वरूप दिया। उन भाषाओं के लिए उन्होंने व्याकरण बनाए और शब्द-कोष तैयार किए। यहांतक कि उन्होंने पहाड़ियों और जंगल के आदि-वासियों की बोल-चाल की भाषा को सीखा और उसके लिए लिपि भी निकाली। इस तरह, यद्यपि ईसाई धर्म-प्रचारकों का काम हिंदुस्तान में सदा ही प्रशंसनीय नहीं रहा, लेकिन इस दिशा में और साथ ही लोक-साहित्य के संकलन के सिलसिले में उन्होंने सचमुच ही हिंदुस्तान की बहुत सेवा की है।

शिक्षा-प्रसार के सिलसिले में ईस्ट इंडिया कंपनी को जो झिझक थी वह ठीक सिद्ध हुई, क्योंकि सन् १८३० में कलकत्ते के हिंदू कालेज के विद्यार्थियों की एक टोली ने कुछ सुधारों की माँग की। (इस कॉलेज में केवल संस्कृत ही पढ़ाई जाती थी और अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं पढ़ाई जाती थी)। उन्होंने कंपनी की राजनीतिक शक्ति को सीमित करने और अनिवार्य रूप से निःशुल्क शिक्षा देने की माँग की। हिंदुस्तान में निःशुल्क शिक्षा अति प्राचीन समय से प्रचलित थी। वह शिक्षा पुराने ढंग की थी, और कोई बहुत अच्छी या लाभदायक नहीं थी, लेकिन वह बिना किसी ख़र्च के ग़रीब विद्यार्थी को भी मिलती थी। उसमें शिक्षक की कुछ व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती थी। इस मामले में हिंदू और मुस्लिम परंपराएं एक-सी थीं।

जहां एक ओर इस नई शिक्षा के प्रसार को जान-बूझकर रोका गया, वहां बंगाल में पुरानी शिक्षा बहुत हद तक समाप्त कर दी गई थी। जब बंगाल में अंग्रेज़ अधिकारी बन बैठे तब मुआफ़ी की ज़मीनें बहुत बड़ी मात्रा में थीं, अर्थात् उन ज़मीनों का सरकार को कोई लगान नहीं दिया जाता था। इनमें से बहुत-सी व्यक्तिगत थीं, लेकिन अधिकतर शिक्षा-संबंधी संस्थाओं के लिए दान के रूप में थीं। उन पर पुराने ढंग के प्रारंभिक स्कूलों की एक बहुत बड़ी संस्था का निर्वाह होता था। इनके अलावा कुछ ऊँची शिक्षा की फ़ारसी की संस्थाएं थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी इस बात के लिए चिंतित थी कि जल्दीसे रुपया बनाया जाय ताकि इंग्लैंड में हिस्से-दारों को डिविडेंड दिए जा सकें। डाइरेक्टरों का बराबर तक़ाज़ा बना रहता था।

इसलिए जान-बूझकर यह नीति बरती गई कि इन मुआफ़ी की ज़मीनों को ज़ब्त कर लिया जाय। उनकी मुआफ़ी के असली सबूत माँगे गए लेकिन वे पुरानी सनदें या तो खो गई थीं या उनको दीमक ने खा लिया था। इसलिए ये मुआफ़ियां रद्द कर दी गईं, उन लोगों से क़ब्ज़ा छीन लिया गया और स्कूलों और कॉलिजों के निर्वाह की आमदनी का अंत हो गया। इस तरह एक बहुत बड़ा वर्गफल छीना गया और बहुत से पुराने घराने नष्ट हो गए। वे शिक्षण-संस्थाएं जो इस मुआफ़ी पर गुज़र करती थीं बंद हो गईं और उनसे संबंध रखनेवाले अध्यापकों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो गई।

इस प्रकार बंगाल का पुराना सामंतवादी वर्ग, जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे, और साथ ही वे लोग, जो इनके सहारे गुज़र करते थे, बर्बाद हुए। एक वर्ग के रूप में मुसलमान अधिक सामंतवादी थे और मुआफ़ी का लाभ उठानेवाले भी अधिकतर वही थे, इसलिए हिंदुओं की अपेक्षा उनकी अधिक हानि हुई। हिंदुओं में मध्यम-वर्ग के लोगों की मुसलमानों की अपेक्षा कहीं बड़ी संख्या थी जो व्यापार और व्यवसाय में या दूसरे पेशों में लगी हुई थी। ये लोग बदली स्थिति से अधिक सहज में मेल बिठा सकते थे और उन्होंने तेज़ी से अंग्रेज़ी शिक्षा को अपनाया। साथ ही वे अंग्रेज़ों के लिए छोटी नौकरियों में ज़्यादा उपयोगी थे। मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा से अलग रहे और बंगाल में स्वयं अंग्रेज़ी शासक उनके विरुद्ध थे। उनको यह डर था कि पुराने शासक-वर्ग के बचे हुए ये हिस्से कहीं उपद्रव न करें। इस तरह आरंभ में बंगाली हिंदुओं को छोटी सरकारी नौकरियों में एकाधिपत्य मिल गया और वे लोग उत्तरी सूबों में भी भेजे गए। बाद में पुराने घरानों के कुछ बचे हुए मुसलमानों को भी इन नौकरियों में शामिल कर लिया गया।

अंग्रेज़ी शिक्षा से हिंदुस्तानी क्षितिज विस्तृत हुआ, अंग्रेज़ी साहित्य और संस्थाओं के लिए दिल में आदर हुआ, हिंदुस्तानी जीवन के कुछ पहलुओं और उसकी कुछ रीतियों के खिलाफ़ विद्रोह हुआ और राजनीतिक सुधार की माँगें बढ़ीं। इस नए पेशेवर वर्ग ने राजनीतिक हलचल में नेतृत्व किया, और सरकार के सामने अपने पक्ष को रखा। वास्तव में अंग्रजी पढ़े-लिखे- इन पेशेवर लोगों का एक नया वर्ग बन गया और जो आगे चल कर सारे ही हिंदुस्तान में फैलनेवाला था। यह एक ऐसा वर्ग था जिस पर पच्छिमी विचारों और रीतियों का असर था और जो आम लोगों से अलग रहा करता था। सन् १८५२ में कलकत्ते में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन

स्थापित हुआ। यह इंडियन नेशनल कांग्रेस का अग्रज था, लेकिन अभी सन् १८८५ में होने वाली कांग्रेस के आरंभ तक तो एक पीढ़ी का विलंब था। इस काल में १८५७-५८ का विद्रोह हुआ, उसका दमन हुआ, और उसके नतीजे सामने आए। उस सदी के बीच में बंगाल में और उत्तरी और केंद्रीय हिंदुस्तान में जो अंतर था वह यह था कि जहां एक ओर बंगाल में नए पढ़-लिखे (ख़ास तौर से हिंदू लोग) अंग्रेज़ी साहित्य और विचारों से प्रभावित हो चुके थे, और राजनीतिक वैधानिक सुधार के लिए इंग्लैंड की तरफ़ आँखें उठाए हुए थे, वहां दूसरी तरफ़ ये दूसरे हिस्से विद्रोह की भावनाओं से खौल रहे थे।

और जगहों की अपेक्षा में बंगाल में ब्रिटिश राज्य का और पच्छिम का असर अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। खेतिहरी अर्थ-व्यवस्था बिलकुल टूट गई थी, और पुराना सामंतवादी वर्ग समाप्त कर दिया गया था। उनकी जगह नए ज़मीन के मालिक आ गए थे, जिनका ज़मीन से परंपरा का लगाव बहुत ही कम था, और जिनमें पुराने सामंतवादी ज़मींदारों के गुण तो प्रायः कोई भी नहीं थे, लेकिन जिनमें उनकी अधिकतर बुराइयां अवश्य थीं। किसानों को अकाल और लूट का सामना करना पड़ा, और वे बेहद ग़रीब हो गए। तरह-तरह के कारीगर लोगों के वर्ग तो क़रीब-क़रीब मिटा ही दिए गए। इन टूटी-फूटी बुनियादों पर ऐसे नए समुदाय और नए वर्ग खड़े हुए जो कि ब्रिटिश राज्य की उपज थे और जो उससे कितने ही रूपों में संबंधित थे। साथ ही वे सौदागर लोग थे, जो ब्रिटिश कार-बार और तिजारत के दलाल थे और जो उसकी जूठन से पलते थे। इनके अलावा छोटी नौकरियों में और विद्वत्तापूर्ण व्यवसायों में वे पढ़े-लिखे लोग थे जो विभिन्न परिमाण में अंग्रेज़ी विचारों से प्रभावित हुए थे और जो प्रगति के लिए ब्रिटिश शक्ति की ओर आशा से आँखें लगाए हुए थे। इनमें हिंदू समाज के सामाजिक ढाँचे और उसकी कट्टर रीतियों के विरुद्ध विद्रोह हुआ। उन्होंने प्रेरणा के लिए अंग्रेज़ी उदारता और संस्थाओं की ओर आँखें उठाईं।

बंगाल के हिंदुओं के ऊपरी दर्जे पर यह असर हुआ। हिंदुओं की आम जनता पर कोई प्रकट में असर नहीं हुआ और शायद वहां के हिंदू नेताओं ने भी आम जनता के बारे में कुछ नहीं सोचा। कुछ गिने-चुने आदमियों को छोड़कर, मुसलमानों पर कोई प्रभाव नहीं हुआ, और वे जान-बूझकर इस नई शिक्षा से अलग रहे। वह पहले भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, अब और भी अधिक पिछड़ गए। उन्नीसवीं

सदी में बंगाल में कितने ही प्रतिभाशाली हिंदू हुए, लेकिन उस काल में बंगाल में उस प्रतिभा का शायद एक भी मुसलमान नेता नहीं हुआ। जहाँतक साधारण जनता का प्रश्न है, हिंदुओं और मुसलमानों में कोई भी खास अंतर नहीं था। उन दोनों में आदतों का, रहन-सहन का, भाषा का, ग़रीबी और तकलीफ़ का एक-सा हाल था।

ब्रिटिश संबंध के आरंभ के ये सब परिणाम और विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक और राजनीतिक आंदोलन, जो उनकी वजह से बंगाल में हुए, हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी दिखाई देते हैं, लेकिन कम और अलग-अलग परिमाण में। दूसरी जगहों में सामंतवादी ढाँचे का और पुरानी अर्थ-व्यवस्था का अंत धीरे-धीरे हुआ, और अपेक्षाकृत कम हद तक हुआ। वास्तव में उस ढांचे ने विद्रोह किया और यहां तक कि कुचले जाने के बाद भी वह थोड़ा-बहुत बच रहा। उत्तरी हिंदुस्तान के मुसलमान, बंगाल के अपने धर्म-भाइयों की अपेक्षा सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ऊँचे थे, लेकिन पच्छिमी शिक्षा से वे भी अलग रहे। हिंदुओं ने इस शिक्षा को अधिक सरलता से अपनाया और वे पच्छिमी विचारों से अधिक प्रभावित हुए। छोटी सरकारी नौकरियों में और दूसरे अच्छे पेशों में मुसलमानों की अपेक्षा हिंदू कहीं अधिक थे। केवल पंजाब में यह अंतर इतना अधिक नहीं था।

सन् १८५७-५८ में विद्रोह भड़का, और उसे कुचल दिया गया; लेकिन बंगाल क़रीब-क़रीब उससे अछूता रहा। पूरी उन्नीसवीं सदी में, वहां अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्ग ने, इंग्लैंड की ओर श्रद्धा से देखा, और उन्होंने इंग्लैंड की मदद से और उसके सहयोग से आगे बढ़ने की आशा की। संस्कृति के मैदान में एक नई जागृति हुई और बँगला भाषा की असाधारण उन्नति हुई और बंगाल के नेता राजनीतिक हिंदुस्तान के नेता के रूप में सामने आए।

७ : सन् १८५७ का बड़ा ग़दर : जातीय अहंकार

लगभग एक सदी तक ब्रिटिश शासन में रह कर बंगाल ने उससे अपना मेल बिठा लिया था। किसान अकाल से बर्बाद हो गए थे, और नए आर्थिक बोझों से पिस रहे थे। नए पढ़े-लिखे लोग पच्छिम की तरफ़ देख रहे थे और यह आशा कर रहे थे कि अंग्रेज़ी उदारता के परिणामस्वरूप उन्नति होगी। यही बात कमो-बेश दक्खिनी और पच्छिमी हिंदुस्तान में, मद्रास और बंबई में थी। लेकिन उत्तरी

सूबों में इस तरह का कोई भी झुकाव नहीं था और विद्रोह की भावना आम जनता में, और विशेषकर सामंतवादी सरदारों और उनके अनुयायियों में बढ़ रही थी। जनता में भी असंतोष और ज़ोरदार ब्रिटिश-विरोधी भावनाएं खूब फैली थीं। ऊँचे वर्ग के लोगों को इन विदेशियों की अकड़ और उनका अपमान-जनक व्यवहार बहुत अखरता। जनता को ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों के लालच या अनजानपन की वजह से बहुत कष्ट उठाने पड़ते। ये अधिकारी उनकी बहुत काल से प्रचलित रीतियों की अवहेलना करते और देशवासियों के विचारों पर कोई ध्यान ही नहीं देते। एक बहुत बड़ी जनसंख्या पर मनमानी करने की शक्ति से उनके मस्तिष्क फिर गए थे और उन्हें कोई भी रोक सह्य नहीं थी। यहांतक कि नई न्याय-प्रणाली, जो उन्होंने स्थापित की वह भी एक आतंक की वस्तु बन गई, क्योंकि एक तो उसमें बहुत-सी उलझनें थीं और दूसरे न्यायाधीश देश की भाषा और प्रथाओं से अपरिचित थे।

सन् १८१७ में ही सर टॉमस मुनरो ने गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्स को ब्रिटिश शासन के लाभ बताने के बाद कहा: "लेकिन ये लाभ बहुत मँहगे पड़े हैं। जनता की राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय स्वभाव, और जनता को जो वस्तु भी सम्माननीय बनाती है उसके बलिदान की क़ीमत पर ये लाभ खरीदे गए हैं।.......इस लिए अंग्रेज़ी शक्ति से हिंदुस्तान को जीतने का नतीजा यहां की जनता को उठाने की जगह उसको गिराना होगा। शायद जीत की ऐसी कोई भी मिसाल नहीं है जिसमें देशवासियों को सरकारी काम से इतना ज़यादा अलग कर दिया गया है जितना कि ब्रिटिश भारत में।"

इस तरह मुनरो ने शासकीय ढाँचे में हिंदुस्तानियों को शामिल करने के लिए कहा। एक साल बाद मुनरो ने फिर कहा: "विदेशी विजेताओं ने देशवासियों के साथ हिंसा का और बहुधा बहुत अधिक बेरहमी का बर्ताव किया है लेकिन किसी ने भी उनसे इतनी घृणा का बर्ताव नहीं किया है जितना कि हमने। किसी ने भी सारी जनता को अविश्वसनीय बताकर ईमानदारी के लिए असमर्थ बताकर इतना कलंकित नहीं किया जितना कि हमने। हमने केवल उसी जगह उनको भरती करना ठीक समझा जहां हमारा काम उनके बिना चल नहीं सकता था। यह बात केवल अनुदार ही नहीं मालूम देती, बल्कि अनुचित है कि हम विजित जनता के चरित्र को ही कलंकित कर दें।"

दो सिख लड़ाइयों के बाद सन् १८५० तक ब्रिटिश शासन पंजाब में फैला दिया गया। महाराजा रंजीतसिंह, जिन्होंने पंजाब के सिख शासन को बढ़ाया और बनाए रखा था, सन् १८३९ में मर गए। सन् १८५६ में अवध को छीन लिया गया। वैसे तो क़रीब पचास बरसों से अवध ब्रिटिश शासन में ही था क्योंकि वह एक अधीन राज्य था; वहां का नाममात्र का शासक बेबस था और बहुत बिगड़ा हुआ था और वहां पर ब्रिटिश रेज़ीडेंट सर्वशक्तिमान् था। उसमें मुसीबतों की हद हो गई थी और उसमें 'सहायक संधि' के ढाँचे की सारी बुराइयां दिखाई देती थीं।

मई सन् १८५७ में, मेरठ की हिंदुस्तानी फ़ौज ने विद्रोह किया। विद्रोह का गुप्त रूप से बहुत अच्छा संगठन किया गया था। लेकिन नियत समय से पहले ही इस उभार से नेताओं की सारी योजना ही बिगड़ गई। यह केवल एक सैनिक विद्रोह से कहीं अधिक बड़ी चीज़ थी। उसने बड़ी तेज़ी से एक बड़े विद्रोह का रूप ले लिया, और वह हिंदुस्तानी स्वतंत्रता की लड़ाई बन गई। साधारण जनता के सार्वजनिक विद्रोह के रूप में यह लड़ाई दिल्ली, (वर्तमान) संयुक्त-प्रांत, बिहार और मध्य-हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी। विशेषकर यह एक सामंतवादी विद्रोह था जिसके अगुआ सामंतवादी सरदार या उनके साथी थे और जिसमें विदेशी-विरोधी व्यापक भावनाओं से सहायता मिली। अनिवार्य रूप से इसकी निगाह बचे-खुचे मुग़ल राजवंश पर थी, जोकि अब भी दिल्ली के महलों में था; लेकिन दुर्बल, अशक्त और बूढ़ा हो गया था। इस विद्रोह में हिंदुओं और मुसलमानों, दोनों ने ही भाग लिया।

इस विद्रोह में ब्रिटिश शासन को अपना पूरा-पूरा ज़ोर लगाना पड़ा। लेकिन अंत में उसका दमन हिंदुस्तानी सहायता से हुआ। पुराने शासन की सारी जन्मजात कमज़ोरियां ऊपर आ गईं। यह शासन विदेशी राज्य को उखाड़ फेंकने की अपनी अंतिम जी-तोड़ कोशिश कर रहा था। सामंतवादी सरदारों को विस्तृत प्रदेशों में आम जनता की सहानुभूति प्राप्त थी, लेकिन वे लाचार थे, असंगठित थे और उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श या सामूहिक हितकर उद्देश्य नहीं था। इतिहास में वे अपना काम पूरा कर चुके थे और आगे उनके लिए कोई जगह नहीं थी। उनमें ऐसे भी बहुत से लोग थे जिनकी विदेशी राज्य के विरुद्ध होने वाले विद्रोह से सहानुभूति तो थी, लेकिन जिन्होंने सयानेपन से काम लिया और अलग खड़े हुए इस बात को देखते रहे कि कौन-सा पक्ष अधिक सबल है और किसकी जीत की संभावना है।

वहुत से लोगों ने देश-द्रोहियों का काम किया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रजवाड़े या तो अलग रहे, या उन्होंने अंग्रेज़ों की मदद की; क्योंकि जो कुछ भी उनके पास था, उसे जोखिम में वह डालना न चाहते थे। नेताओं में कोई भी राष्ट्रीय एकता लानेवाली भावना नहीं थी, केवल एक विदेशी-विरोधी भावना थी और उसके साथ अपने सामंतवादी विशेषाधिकारों को वनाए रखने की इच्छा थी; और यह उस राष्ट्रीय भावना की जगह नहीं ले सकती थी।

अंग्रेज़ों को गुरखों की मदद मिली लेकिन उससे भी अधिक आश्चर्य की वात यह है कि उन्हें सिखों की मदद मिली। सिख उनके दुश्मन रहे थे और अंग्रेजों ने कुछ ही वरस पहले उनको हराया था। यह सचमुच ही अंग्रेज़ों के लिए एक प्रशंसा की वात थी या वुराई की, यह अपने-अपने ख़याल की वात है। हां, यह अवश्य प्रकट है कि उस समय हिंदुस्तानी जनता को एक सूत्र में वाँधने वाली राष्ट्रीय भावना की कमी थी। आजकल जैसी राष्ट्रीयता तो अभी आने को थी; अभी हिंदुस्तान को वहुत कष्ट और मुसीवतें सहनी थीं, इससे पूर्व कि वह उस पाठ को सीखे जो उसे सच्ची स्वतंत्रता देता। किसी पराजित आदर्श के लिए अर्थात् सामंतवादी ढाँचे के लिए लड़ने से स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती थी।

विद्रोह में छापामार लड़ाई करनेवाले कुछ मार्के के नेता सामने आए। उनमें एक तो फ़ीरोजशाह था; जो दिल्ली के वहादुरशाह का संवंधी था। लेकिन उनमें सवसे ज्यादा प्रतिभावान् नेता था तांत्या टोपी, जिसने अंग्रेज़ों को उस समय भी कितने ही महीनों तक परेशान किया, जवकि हार उसके सामने स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थी। अंत में जव वह नर्मदा को पार करके मराठा प्रदेशों में अपने ही आदमियों से स्वागत और सहायता पाने की आशा से पहुँचा तो केवल उसका स्वागत ही नहीं हुआ, वल्कि उसके साथ दग़ा भी की गई। इन सवके ऊपर एक नाम और है जिसके लिए साधारण जनता के मन में अव भी सम्मान है, और वह नाम है लक्ष्मीवाई का, जो झाँसी की रानी थी, जिसकी अवस्था वीस वरस की थी और जो लड़ते-लड़ते मर गई। उन अंग्रेज सेनापतियों ने, जिन्होंने उसका सामना किया, उसके वारे में यह कहा कि वह विद्रोही नेताओं में 'सर्वोत्तम और सव से ज्यादा वहादुर' थी।

ग़दर के अंग्रेज़ी स्मारक कानपुर में और दूसरी जगहों में वना दिए गए हैं। उन हिंदुस्तानियों के, जिन्होंने अपनी जानें दीं, कोई स्मारक नहीं हैं। कभी-कभी

विद्रोही हिंदुस्तानियों ने बड़ा क्रूर और वर्वरता-पूर्ण व्यवहार किया; वे लोग असंगठित थे, दवे हुए थे और वे अक्सर ब्रिटिश अत्याचारों की खवरों से नाराज़ हो उठते थे। लेकिन इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है, जिसने हिंदुस्तान के मस्तिष्क पर अपनी छाप डाली और मेरे सूवे में तो विशेष रूप से, गाँवों और क़स्बों में, उसकी याद वनी हुई है। प्रत्येक व्यक्ति उसको भूल जाना चाहेगा, क्योंकि वह एक वड़ी भयानक और घृणास्पद तस्वीर है और यद्यपि वर्तमान युद्ध में नाज़ियों द्वारा वर्वरता के नए मापदंड वन गए हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसमें मनुष्य अपने वुरे-से-वुरे रूप में सामने आता है। लेकिन उसको केवल उस समय भुलाया जा सकता है जव कि वह सचमुच ही गुजरे ज़माने की चीज़ हो जाय और उसका वर्तमान समय से कोई संबंध न रहे। लेकिन जव याद दिलाने वाली कड़ियां मौजूद हैं और जव कि उन घटनाओं के पीछे की भावना वनी हुई है और दिखाई देती है तो हमारी जनता में उनकी याद भी वनी रहेगी और उसका असर दिखाई देगा।

विद्रोह और उसके दमन का, इतिहास में वहुत ही ग़लत और झूठा चित्र दिया गया है। उसके वारे में हिंदुस्तानी क्या सोचते हैं, इस वात का पुस्तकों के पन्नों में शायद ही कहीं पता लगता हो। सावरकर ने 'दि हिस्ट्री अव् दि वार अव् इंडियन इंडिपैंडेंस' नामक पुस्तक क़रीव तीस साल पहले लिखी, लेकिन वह पुस्तक तुरंत ही ज़ब्त कर ली गई और वह अव भी ज़ब्त है। कुछ स्पष्टभापी और संमाननीय अंग्रेज़ इतिहासकारों ने कभी-कभी परदा उठाया है और हमको उस जातीय अहंकार और उस शासकीय मनोवृत्ति की झलक मिली है जो एक वहुत वड़े पैमाने पर व्यापक थी। केये और मैलेसन की 'हिस्ट्री अव् दि म्यूटिनी' में और टामसन और गैरेट की 'राइज़ एंड फ़ुलफ़िलमेंट अव् ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में जो वयान दिए गए हैं उनकी भयंकरता से आदमी वेचैन हो उठता है। "हर एक हिंदुस्तानी, जो अंग्रेज़ों की तरफ़ से लड़ नहीं रहा था स्त्रियों और वच्चों का हत्यारा माना गया। दिल्ली के रहने वालों का (और उनमें ऐसे भी लोग थे जो हमारी सफलता की खुली तौर पर अपनी इच्छा प्रकट करते थे) क़त्ले-आम करने का हुक्म दे दिया गया।" तैमूर और नादिरशाह के दिन याद आगए लेकिन यह नया आतंक तो इतने अधिक समय तक रहा और इतने वड़े हिस्सों में कि उनके कारनामे भी फीके पड़ गए। लूट-मार की सरकारी तौर पर एक हफ़्ते के लिए इजाज़त

मिली और वह क़रीव एक महीने तक जारी रही। उसके साथ क़त्ले-आम भी जारी था।

स्वयं इलाहावाद के मेरे ही शहर और ज़िले में और उसके पड़ोस में जनरल नील ने अपने ख़ूनी मुक़दमे किए। सिपाही और ग़ैर-सिपाही सभी ख़ूनी मुकदमे कर रहे थे और वे अवस्था या स्त्री-पुरुष का विचार किए विना और विना मुक़दमे के ही देशी व्यक्तियों का क़त्ल कर रहे थे। हमारी ब्रिटिश पार्लमेंट के पुराने काग़ज़ों में, गवर्नर-जनरल की रिपोर्टों में, यह वात दर्ज है, "कि वाग़ियों की तरह वूढ़ी औरतों और वच्चों का भी वलिदान कर दिया जाता है। उनको जान-बूझ कर फांसी नहीं दी गई वल्कि गाँवों में आग लगाकर ही उनको मार डाला गया. . . . और जो वच रहे उनको गोली मार दी गई।" यही वात कानपुर में हुई, लखनऊ में हुई, और दूसरी जगहों में हुई।

जनरल नील की, उसके कृतज्ञ देशवासियों द्वारा, मूर्ति खड़ी की गई—हिंदुस्तान के ख़र्चे से। वह मूर्ति तो ब्रिटिश राज्य का सच्चा प्रतीक है जैसा कि वह उस समय था और वाद में रहा। निकॉल्सन की मूर्ति पुरानी दिल्ली में अव भी नंगी तलवार ताने खड़ी है।

इस पुराने इतिहास का चर्चा करना वुरा है लेकिन उन घटनाओं के पीछे जो भावना थी, वह उन घटनाओं के साथ ही समाप्त नहीं हुई। वह वच रही और अव भी जव कभी कोई संकट आता है तो वही चीज़ फिर दिखाई देती है। अमृतसर और जलियांवाला वाग़ के वारे में दुनिया जानती है लेकिन ग़दर के वाद जो कुछ हुआ है उसका उसको पता नहीं है, यहां तक कि उसका भी जोकि हमारे ही ज़माने में हुआ है और जिसने नई पीढ़ी में तीखापन भर दिया है। साम्राज्यवाद और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर राज्य वुरा होता है। वही वात जातीय अहंकार के साथ है। लेकिन अगर साम्राज्यवाद और जातीय अहंकार जुड़ जावें तो उनसे तो एक वहुत ही भयंकर हालत होगी और अंत में उससे संवंधित सभी लोगों का अधःपतन होगा। इंग्लैंड के भविष्य के इतिहासकारों को इस वात पर विचार करना होगा कि इंग्लैंड के पतन में उसके साम्राज्यवाद और उसके जातीय अहंकार का कितना भाग रहा—उन चीज़ों का असर जिन्होंने उसके सार्वजनिक जीवन को दूषित कर दिया था और जिन्होंने उसे अपने ही इतिहास और साहित्य के पाठों का विस्मरण करा दिया था।

यद्यपि विद्रोह का सीधा प्रभाव तो देश के कुछ हिस्सों पर ही हुआ लेकिन उसने सारे हिंदुस्तान को और विशेषकर ब्रिटिश शासन को झकझोर दिया। सरकार ने फिर से सारे ढाँचे का संगठन किया। ब्रिटिश ताज ने अर्थात् पार्लमिंट ने देश को ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों में ले लिया। हिंदुस्तानी सेना जिसने विद्रोह का आरंभ किया था, नए सिरे से संगठित हुई। ब्रिटिश राज्य, की--जो अब अच्छी तरह स्थापित हो चुका था--प्रणाली अब स्पष्ट की गई, दृढ़ की गई और उसके अनुसार काम किया जाने लगा। उसकी बुनियादी बातें यह थीं: ऐसे स्थापित स्वार्थों को बनाए रखना और उनकी रक्षा करना, जो ब्रिटिश शासन से बँधे हुए थे, और यहां के विभिन्न भागों में संतुलन बनाए रखने की नीति और फूट डालने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना।

राजे और बड़े जमींदार वे बुनियादी स्थापित स्वार्थ थे जो इस तरह पैदा किए गए और जिनको बढ़ावा दिया गया। लेकिन एक नया वर्ग और था जो ब्रिटिश शासन से बँधा हुआ था और अब उसका महत्व बढ़ा। यह वर्ग उन हिंदुस्तानियों का था जो नौकरियों में और विशेष कर छोटी जगहों पर थे। पहले तो जहां तक संभव हो सकता था हिंदुस्तानियों को भर्ती ही नहीं किया जाता था, और मुनरो ने उनकी भर्ती के पक्ष में ज़ोर दिया था। अब अनुभव से यह बात स्पष्ट हो गई कि भर्ती किए हुए हिंदुस्तानी ब्रिटिश शासन पर इतने अधिक निर्भर होते थे कि उन पर भरोसा किया जा सकता था और उनको शासन के एजेंट की तरह बरता जा सकता था। ग़दर से पहले के दिनों में छोटी नौकरियों के अधिकतर हिंदुस्तानी सदस्य बंगाली रहे थे। ये लोग उत्तरी सूबों में जहां कहीं भी ब्रिटिश शासन के सिविल या फ़ौजी दफ़्तरों में क्लर्कों की आवश्यकता होती भेज दिए जाते और इस तरह ये सब जगह फैल गए थे। संयुक्त प्रांत, दिल्ली और यहां तक कि पंजाब में जहां-जहां शासकीय या फ़ौजी अड्डे थे इन लोगों की नौ-आबादियां बस गईं। ये बंगाली ब्रिटिश फ़ौजों के साथ रहते और उनके बड़े राजभक्त अनुयायी प्रमाणित हुए। विद्रोह करने वालों ने इनका अंग्रेज़ी शक्ति से लगाव मान लिया था और विद्रोही उनसे बहुत अधिक घृणा करते थे और उनको 'गालियां देते थे।

इस तरह पर नीचे की नौकरियों में हिंदुस्तानीपने का क्रम आरंभ हो गया था, यद्यपि सभी वास्तविक शक्ति अंग्रेज़ों के हाथ में थी। ज्यों-ज्यों अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हुआ, नौकरियों में बंगालियों का एकाधिपत्य कम हुआ और शासन के न्याय

और व्यवस्था-संबंधी दोनों ही विभागों में और दूसरे हिंदुस्तानी भी आए। यह भारतीयकरण ब्रिटिश राज्य को सुदृढ़ करने का सबसे अधिक कारगर उपाय हो गया। इस तरह हर जगह एक ऐसी सिविल फ़ौज या एक ऐसा सिविल अड्डा बन गया जो अधिकार करनेवाली हथियारबंद फ़ौज से भी अधिक महत्व का था। इस सिविल फ़ौज में कुछ ऐसे भी लोग थे, जो योग्य थे और जिनमें देशभक्ति और राष्ट्रीय प्रवृत्ति थी, लेकिन सिपाही की तरह, जो व्यक्तिगत हैसियत से देशभक्त हो सकता था, वे नियम और अनुशासन से बँधे हुए थे और आज्ञा न पालने, विश्वास-घात और विद्रोह का दंड बहुत कठोर था। केवल यह सिविल फ़ौज ही नहीं बनी बल्कि उसमें भर्ती होने की उम्मीद का एक बहुत बड़ी तादाद पर, जो दिनों-दिन बढ़ रही थी, असर हुआ, और उस असर ने उन लोगों को बिगाड़ दिया। उसमें एक ढंग का रोब था, एक ढंग की सुरक्षा थी और नौकरी समाप्त होने के बाद पेंशन का प्रबंध था और अगर अपने अफ़सरों के सामने काफ़ी अदब दिखाया जाता तो और दूसरी त्रुटियों की वजह से कोई भय नहीं था। यह सिविल नौकर ब्रिटिश शासन और जनता के बीच में बिचौलिए थे। और अगर उनको अपने अफ़सरों का अदब करना पड़ता था तो वह भी अपनी जगह पर अपने मातहतों से और आम जनता से अदब करा सकते थे।

आय के दूसरे साधनों के अभाव में सरकारी नौकरियों का महत्व और भी अधिक हो गया। कुछ लोग वकील या डाक्टर हो सकते थे लेकिन केवल उसी की वजह से सफलता होनी कोई ज़रूरी नहीं थी। उद्योग-धंधे तो, न के बराबर थे। व्यापार कुछ विशिष्ट वर्गों के हाथों में था और उनमें उसके लिए एक खास सूझ थी। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्हीं लोगों के हाथों में रहता और वे लोग एक-दूसरे की मदद करते। नई शिक्षा से व्यापार या उद्योग-धंधे के लिए कोई योग्यता नहीं साबित होती थी; उसकी निगाह तो विशेषकर सरकारी नौकरी पर थी। शिक्षा इतनी सँकरी थी कि किसी दूसरे पेशे की उसमें गुंजाइश नहीं थी; समाज-संबंधी नौकरियों का प्रायः कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस तरह केवल सरकारी नौकरी ही बाक़ी बची लेकिन ज्यों-ज्यों कॉलेज के ग्रेजुएटों की संख्या बढ़ी, इन सरकारी नौकरियों में भी उन लोगों का खपना कठिन हो गया। और उनमें पहुँचने के लिए भयंकर प्रतियोगिता होने लगी। बेकार ग्रेजुएटों का एक ऐसा गिरोह हो गया जिसमें से सरकार हमेशा ही अपने लिए आदमी ले सकती थी;

जो लोग नौकरियों में थे उनकी सुरक्षा के लिए ये लोग एक खतरा बन गए। इस तरह ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तान में सबसे बड़ी नौकरी देनेवाली संस्था ही नहीं थी बल्कि नौकरी देनेवाली (रेलों की नौकरियां भी इसमें शामिल हैं) केवल वही एक बड़ी संस्था थी। इस तरह एक बहुत बड़ा नौकरशाही ढाँचा तैयार हो गया जिसकी व्यवस्था और जिसका नियंत्रण चोटी के आदमियों द्वारा होता था। यह कृपा देश पर ब्रिटिश पंजा कसने के लिए की गई। उसके द्वारा अपने विरोधी हिस्सों को कुचलना था और साथ ही उन लोगों में जो सरकारी नौकरियों की तरफ़ आँखें उठाए हुए थे, फूट और होड़ पैदा करना था। उस की वजह से नैतिक अधःपतन हुआ, संघर्ष हुआ; क्योंकि शासन विभिन्न समुदायों को आपस में लड़ा सकता था।

संतुलन की नीति को हिंदुस्तानी फ़ौज में जानबूझ कर बढ़ावा दिया गया। विभिन्न समुदायों को इस तरह रखा कि उनमें राष्ट्रीय ऐक्य की भावना न उठ सके। जातिगत और सांप्रदायिक कट्टरता को बढ़ावा दिया गया। फ़ौज को साधारण जनता से बिलकुल अलग रखने की हर-एक कोशिश की गई; यहां तक कि साधारण समाचारपत्र भी हिंदुस्तानी सिपाहियों तक पहुँचने नहीं दिए जाते थे। सारी ख़ास-ख़ास जगहें अंग्रेज़ों के हाथों में रखी जातीं और किसी भी हिंदुस्तानी को किंग्स कमीशन नहीं मिल सकता था। एक अनुभवहीन अंग्रेज़ फ़ौजी अधिक-से-अधिक अनुभवी और पुराने हिंदुस्तानी बिना कमीशन के अफ़सर से या वायसराय-कमीशन वाले अफ़सर से बड़ा होता। फ़ौजी हैडक्वार्टर्स में सिवाय अर्थ-विभाग में एक मामूली से क्लर्क की जगह के और हिंदुस्तानियों को कोई जगह नहीं दी जाती थी। और अधिक सुरक्षा के लिए यह नीति थी कि लड़ाई के अधिक कारगर हथियार हिंदुस्तानियों को दिए ही नहीं जाते; वे तो हिंदुस्तान की ब्रिटिश फ़ौजों के लिए ही होते। हिंदुस्तान के हर महत्वपूर्ण केंद्र में हिंदुस्तानी पलटन के साथ इन ब्रिटिश टुकड़ियों को, जिन्हें 'आंतरिक सुरक्षा फ़ौज' कहा जाता था, अवश्य रखा जाता। इनका काम था अराजकता का दमन करना और जनता को आतंकित करना। एक ओर तो यह आंतरिक सेना थी जिसमें अंग्रेज़ों की प्रधानता थी और यह फ़ौज देश में अधिकार स्थापित रखने का काम करती। दूसरी ओर हिंदुस्तानी फ़ौज का अधिकतर भाग फ़ील्ड आर्मी की तरह काम करता अर्थात् उसका संगठन देश के बाहर लड़ाई लड़ने के लिए होता। हिंदुस्तानी सिपाहियों की भर्ती कुछ ख़ास वर्गों

से ही की जाती थी जो कि विशेष रूप से उत्तरी हिंदुस्तान में थे और जिनको लड़ाकू जाति कहा जाता था।

एक बार फिर हमको हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य का जन्मजात विरोधाभास दिखाई देता है। उन्होंने सारे देश को एक राजनीतिक सूत्र में बाँधा और इस तरह वे नई सक्रिय शक्तियां फूट पड़ीं जिन्होंने केवल उस ऐक्य की ही बाबत नहीं सोचा बल्कि उन्होंने हिंदुस्तान की स्वतंत्रता पर लक्ष्य किया। दूसरी तरफ़ ब्रिटिश शासन ने उसी एके को, जो उन्होंने स्वयं ही पैदा किया था, तोड़-फोड़ देने की कोशिश की। उस समय राजनीतिक दृष्टि से उस फूट के माने हिंदुस्तान के बँटवारे के नहीं थे। उसका उद्देश्य तो राष्ट्रवादी हिस्सों को कमज़ोर करना था ताकि सारे देश पर ब्रिटिश राज्य बना रहे। फिर भी विच्छेद के लिए यह एक कोशिश तो थी ही; क्योंकि हिंदुस्तानी रियासतों को इतना अधिक महत्व दे दिया गया जितना कि उन्हें पहले कभी भी नहीं मिला था। प्रतिक्रियावादी हिस्सों को बढ़ावा दिया गया और उनकी सहायता की आशा की गई। विभाजन को, और हर-एक समुदाय को हर दूसरे समुदाय के विरुद्ध प्रोत्साहन दिया गया। धार्मिक या प्रांतीय आधार पर ऐक्य को मिटाने वाली प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दिया गया और देश-द्रोहियों के वर्ग का, जो अपने पर असर डालने वाले हर परिवर्तन से घबराता था, संगठन किया गया। एक विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति के लिए यह एक स्वाभाविक नीति थी, और यद्यपि हिंदुस्तानी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से वह बहुत अधिक हानि पहुँचाने वाली थी, फिर भी उस पर आश्चर्य करना एक नासमझी होगी।

ब्रिटिश शक्ति के हिंदुस्तान के प्रतिक्रियावादियों के साथ इस स्वाभाविक गठबंधन से वह शक्ति उनके प्रतिक्रियावादियों की हिमायती होगई और उसने उन बहुत-सी प्रथाओं को बने रहने में सहारा दिया जिनकी वह वैसे निंदा ही करती थी। जिस समय अंग्रेज़ आए, हिंदुस्तान रिवाजों से बँधा हुआ था और पुराने रिवाजों का अत्याचार अक्सर एक भयंकर चीज़ होती है। फिर भी रिवाज बदलते हैं और उन्हें बरबस बदलते हुए वातावरण से कुछ-न-कुछ हद तक मेल बिठाना होता है। रिवाज ही अधिकतर हिंदू क़ानून थे और ज्यों-ज्यों रिवाज बदलते गए क़ानून में भी परिवर्तन होता गया। वास्तव में हिंदू क़ानून में ऐसी कोई बात ही नहीं थी जिसको रिवाज से बदला न जा सके। अंग्रेज़ों ने इस रिवाजी लचीले क़ानून की जगह उन अदालती फ़ैसलों को दे दी जिनकी बुनियाद पुराने ग्रंथों पर थी। ये फ़ैसले

नर्ज़ार वन गए और इनको सख़्ती से पालन करना था। सिद्धांत-रूप से तो यह एक लाभ की बात थी क्योंकि इससे अधिक समानता आ गयी और निश्चितता भी अधिक हो गई। लेकिन जिस ढंग से यह किया गया था, उसका नतीजा यह हुआ कि बाद के रिवाजों का ध्यान रखे विना, प्राचीन क़ानून को स्थायी वना दिया गया। वैसे हर एक समुदाय के लिए अव भी इस बात का अवसर था कि वह इस बात को प्रमाणित करे कि कोई विशेष रिवाज क़ानून से भी बढ़कर है लेकिन क़ानूनी अदालतों में यह बात साबित करना बेहद कठिन था। परिवर्तन केवल नए क़ानून से हो सकता था, लेकिन ब्रिटिश सरकार को, जिसको कि क़ानून बनाने का अधिकार था, अपने सहायक अनुदार हिस्सों को विरोधी बनाने की कोई इच्छा नहीं थी। वाद में जब आंशिक रूप में निर्वाचित असेंबलियों का क़ानून बनाने के कुछ अधिकार दिए गए तो हर ऐसी कोशिश पर जिससे समाज-सुधार-संबंधी क़ानून बन सकते थे, अधिकारियों ने अप्रसन्नता प्रकट की और उन कोशिशों को कठोरता से दबाया गया।

९ : उद्योग-धंधों की उन्नति : प्रान्तीय भेद-भाव

सन् १८५७-५८ के विद्रोह के प्रभाव से हिंदुस्तान धीरे-धीरे पनपा। ब्रिटिश नीति के बावजूद प्रबल शक्तियां काम कर रही थीं और हिंदुस्तान को बदल रही थीं, और एक नई सामाजिक सजगता आ रही थी। हिंदुस्तान के राजनीतिक एके से, पच्छिम के साथ संपर्क से, विज्ञान और मशीनों में उन्नति की वजह से, यहां तक कि सारे देश में उसी गुलामी के दुर्भाग्य से, नई विचार-धारा बनी, धीरे-धीरे उद्योग-धंधों की उन्नति हुई और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए एक नया आंदोलन खड़ा हुआ। हिंदुस्तान की जागृति दोहरी थी। उसने पच्छिम की ओर निगाह की, और साथ ही उसने अपनी तरफ़ अपने बीते हुए युग की ओर दृष्टि डाली।

हिंदुस्तान में रेलों के आने से औद्योगिक युग का निश्चित पहलू सामने आया; अब तक ब्रिटेन के तैयार माल की शकल में उसका नकारात्मक पहलू ही सामने आया था। सन् १८६० में हिंदुस्तान में औद्योगीकरण रोकने के उद्देश्य से, मशीन के आयात पर जो चुंगी लगी हुई थी, हटा दी गई और बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों का आरंभ हुआ। इनमें विशेषकर ब्रिटिश पूंजी लगी थी। सबसे पहले बंगाल का जूट उद्योग शुरू हुआ और इसका संचालन-केंद्र स्कॉटलैंड में डंडी में था। उसके बहुत

बाद अहमदाबाद और बंबई में कपड़े की मिलें चालू हुईं। इनमें अधिकतर हिंदुस्तानी पूंजी थी और इन पर हिंदुस्तानी नियंत्रण था। इसके बाद खानों का नंबर आया। हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बराबर अड़चनें डालती रही। हिंदुस्तानी कपड़े के माल पर एक उत्पादन-कर लगाया गया ताकि वह हिंदुस्तान में भी लंकाशायर के सूती माल से बराबरी न कर सके। हिंदुस्तान-सरकार की नीति एक पुलिस सरकार की नीति थी। यह बात इस तथ्य से सब से अधिक प्रकट होती है कि बीसवीं सदी तक उसमें खेती, उद्योग-धंधों और व्यापार से संबंध रखने वाला कोई विभाग ही नहीं था। जहां तक मेरा ख़याल है, केंद्रीय सरकार में खेती का महकमा, विशेषकर उस दान से चालू किया गया जो एक अमेरिकन दर्शक ने हिंदुस्तान में खेती की उन्नति के लिए दिया। उसके कुछ ही बाद सन् १९०५ में उद्योग और व्यापार के लिए एक महकमा खोला गया। लेकिन ये विभाग बहुत थोड़ा काम करते थे। उद्योग-धंधों की उन्नति को जान-बूझकर रोका गया और हिंदुस्तान की स्वाभाविक आर्थिक उन्नति को बाँध दिया गया।

यद्यपि हिंदुस्तान की आम जनता बेहद ग़रीब थी और उसकी ग़रीबी बढ़ती पूंजा रही थी लेकिन चोटी पर के थोड़े-से आदमी इन नई स्थितियों में ख़ूब समृद्ध हो रहे थे और पूँजी इकट्ठी कर रहे थे। इन्हीं लोगों ने राजनीतिक सुधारों की और पूंजी लगाने के अवसरों की माँग की। राजनीतिक क्षेत्र में सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस स्थापित हुई। उद्योग-धंधे और व्यवसाय धीरे-धीरे बढ़े, और यहां एक बड़ी दिलचस्प बात यह है कि जिन लोगों ने इस काम को आरंभ किया, वे वही लोग थे जो पीढ़ी-दरपीढ़ी, सैकड़ों बरस से उद्योग-धंधों में और व्यवसाय में लगे हुए थे। कपड़े के कारबार का नया केंद्र अहमदाबाद, मुग़लों के ज़माने में, बल्कि उससे भी पहले से, एक मशहूर माल तैयार करनेवाला तिजारती केंद्र था, और उसका तैयार किया माल विदेशों में जाता था। अफ़्रीका और फ़ारस की खाड़ी के देशों से व्यापार करने के लिए अहमदाबाद के इन पुराने सौदागरों के पास अपने निजी जहाज़ थे। पास ही में भड़ोंच नाम का बंदरगाह, यूनान और रोम के दिनों में भी प्रसिद्ध था।

गुजरात, काठियावाड़ और कच्छ के आदमी बहुत पुराने ज़माने से माल तैयार कराते थे, व्यापार और सौदागरी करते थे और समुद्र पार कर दूसरी जगहों में आते-जाते रहते थे। हिंदुस्तान में बहुत से परिवर्तन हुए, लेकिन नई हालतों से

अपना मेल विठाते हुए वे अपना तिजारती काम वरावर करते रहे। आजकल वे उद्योग और व्यवसाय के काम में सवसे ज़्यादा आगे वढ़े हुए लोगों में से हैं। पारसी लोग जो तेरह सौ वरस पहले गुजरात में आकर वसे, इस सिलसिले में गुजराती कहे जा सकते हैं। (उनकी भाषा वहुत समय से गुजराती है) मुसलमानों में उद्योग और तिजारत में सव से ज़्यादा वढ़े हुए लोग, खोजा, मैमन और वोहरा वर्ग के हैं। यह सव हिंदू थे, वाद में इन्होंने इस्लाम को अपनाया, और ये सव आरंभ में गुजरात काठियावाड़ या कच्छ के ही रहने वाले थे। इन गुजरातियों की हिंदुस्तानी उद्योग और कारवार में ही प्रधानता नहीं है, वल्कि ये वर्मा, लंका, पूर्वी अफ़्रीका, दक्षिण अफ़्रीका आदि दूसरे देशों में भी फैल गए हैं।

राजपूताने के मारवाड़ियों का देश के भीतरी व्यापार पर नियंत्रण रहता और वे हिंदुस्तान के सारे संचालन केंद्रों में पाए जाते। वे लोग वड़ी-वड़ी पूंजी वाले थे और साथ ही देहाती साहूकार थे। परिचित मारवाड़ी कोठी की हुंडी की हिंदुस्तान में हर जगह, और यहां तक कि विदेशों में भी साख होती। हिंदुस्तान में मारवाड़ी अव भी वड़ी पूंजी के प्रतिनिधि हैं और इधर तो उद्योग-धंधों को भी उन्होंने अपने हाथों में ले लिया है।

उत्तर-पच्छिम के सिंधियों की भी एक पुरानी व्यावसायिक परंपरा है। शिकारपुर या हैदरावाद में उनका प्रधान केंद्र होता, और वे मध्य-एशिया में और दूसरी जगहों में आते-जाते। आज दुनिया भर में शायद ही कोई ऐसा वंदरगाह होगा जहां कम-से-कम एक-दो सिंधी दुकानें न हों। कुछ पंजावियों की भी एक लंवी व्यापारी परंपरा है।

मद्रास के चेट्टी लोग भी, वहुत पुराने जमाने से व्यवसाय में खास-तौर से साहूकारी में वढ़े-चढ़े रहे हैं। चेट्टी शव्द संस्कृत के 'श्रेष्ठी' से वना है, जिसके अर्थ हैं, व्यापारी-वर्ग का नेता। प्रचलित 'सेठ' शव्द भी श्रेष्ठी से वना है। मद्रास के चेट्टियों ने केवल दक्षिण हिंदुस्तान में ही एक महत्वपूर्ण भाग नहीं लिया, वल्कि वे सारे वर्मा में यहां तक कि उसके देहातों में भी फैले हुए हैं।

साथ ही हर सूवे में व्यापार और व्यवसाय अधिक पुराने वैश्य वर्ग के हाथों में था। ये लोग व्यापार में वहुत पुराने ज़माने से लगे हुए थे। वे लोग थोक माल वेचते, फुटकर माल वेचते और साहूकारी करते। हर गाँव में एक वनिए की दुकान होती जो देहाती जीवन की आवश्यक चीजें वेचता, और गाँव वालों को काफ़ी सूद

पर क़र्ज़ देता। देहाती क़र्ज़ का ढाँचा क़रीब-क़रीब पूरी तरह से इन बनियों के ही हाथों में था। उत्तर-पच्छिम के स्वतंत्र प्रदेश में भी ये लोग बस गए, और इन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किए। ज्यों-ज्यों ग़रीबी बढ़ी, देहाती क़र्ज़ भी तेज़ी से बढ़ा और साहूकारों ने ज़मीन को गिरवी रखवा लिया और आगे चलकर उसमें से अधिक पर अपना कब्ज़ा कर लिया। इस तरह साहूकार ज़मींदार भी बन गए।

ज्यों-ज्यों नए लोग विभिन्न व्यापारों में घुसे, व्यावसायिक, व्यापारी और साहूकारी वर्गों की अलग सत्ता धुँधली होने लगी। लेकिन वह सत्ता बनी बराबर रही, और आज भी वह दिखाई देती है। इसकी वजह वर्ण-व्यवस्था है, या परंपरा का बंधन है, या उत्तराधिकार में पाई हुई योग्यता है, या ये सब बातें मिलकर ही इसका कारण हैं, यह ठीक-ठीक कहना कठिन है। निःसंदेह ब्राह्मणों में और क्षत्रियों में व्यापार को, एक नीची दृष्टि से देखा गया। यहां तक कि धन-संग्रह को भी अच्छा नहीं समझा गया। सामंतवादी युग की तरह ज़मीन के अधिकार को सामाजिक हैसियत का प्रतीक समझा जाता था। विद्या का, चाहे उसके साथ ज़मीन पर अधिकार न भी हो, सब जगह आदर किया जाता था। ब्रिटिश शासन के ज़माने में सरकारी नौकरी में चैन था, आदर था और शान थी। बाद में जब हिंदुस्तानियों को इंडियन सिविल सर्विस में घुसने की छूट मिली तो यह नौकरी, जिसको 'स्वर्गीय' बताया जाता था—जिसका स्वर्ग लंदन का व्हाइट हॉल था—अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों के लिए इंद्र-लोक की तरह हो गई। विद्योपजीवी पेशों के लिए भी आदर था लेकिन इनमें विशेषकर कुछ वकीलों ने नई अदालतों में बड़ा रुपया कमाया था और उनका बहुत रौब-दाब था और उनकी बहुत ऊँची हैसियत थी, इसलिए नवयुवकों का वकालत की ओर खिंचाव हुआ। अनिवार्य रूप से राजनीतिक और समाज-सुधार आंदोलनों में इन वकीलों ने मुख्य भाग लिया।

सबसे पहले बंगालियों ने वकालत आरंभ की और उनमें से कुछ लोग बहुत अधिक सफल हुए, और उन्होंने वकालत पर जादू-सा कर दिया। वे लोग राजनीतिक नेता भी थे। रुझान न होने से या दूसरी वजहों से वे बढ़ते हुए उद्योग-धंधों से अपना मेल नहीं बिठा सके। उसका नतीजा यह हुआ कि जब देश के जीवन में उद्योग-धंधे महत्व ग्रहण करने लगे, और राजनीति पर गहरा प्रभाव डालने लगे तो राजनीति के मैदान में बंगाल का, पहले का महत्व घटने लगा, पहले सरकारी नौकर की तरह या और दूसरी हैसियत से बंगाली अपने सूबे के बाहर जाते थे। अब वह धारा उल्टी

हो गई और दूसरे सूबों के आदमी बंगाल में, और विशेषकर कलकत्ते में, आने लगे, और वे वहां के तिजारती और व्यावसायिक जीवन में समा गए। कलकत्ता ब्रिटिश पूंजी और उद्योग का मुख्य केंद्र रहा है लेकिन अब मारवाड़ी और गुजराती भी उनकी बराबरी पर पहुँच रहे हैं। यहां तक कि कलकत्ते में छोटे-छोटे काम भी ग़ैर-बंगालियों के हाथों में हैं। कलकत्ते के हज़ारों टैक्सी ड्राइवर प्राय: बिना किसी अपवाद के सभी पंजाब के सिख हैं।

बंबई, हिंदुस्तानियों के हाथों में उद्योग, व्यवसाय, बैंकिंग, बीमा आदि का प्रधान केंद्र बन गया। इन सब कामों में पारसी, गुजराती, मारवाड़ी अगुआ थे। यहां एक मुख्य बात यह है कि महाराष्ट्रों या मराठों ने इन कामों में प्राय: कोई भाग नहीं लिया। बंबई अब एक बहुत बड़ा शहर है जहां सब जगह के लोग रहते हैं, लेकिन वहां की अधिकतर आबादी गुजराती और महाराष्ट्रीय है। मराठों ने पांडित्य और बड़े पेशों में प्रतिभा दिखाई है; जैसी कि आशा की जा सकती है वे अच्छे सिपाही होते हैं; उनमें बहुत बड़ी संख्या में लोग कपड़े की मिलों में मज़दूरों की तरह भी काम करते हैं। वे लोग मेहनती और मज़बूत होते हैं और सारे सूबे को देखते हुए ग़रीब हैं; उनको शिवाजी की परंपरा का और अपने पुरखों के कारनामों का अभिमान है। गुजरातियों का शरीर कोमल होता है; वे अधिक शिष्ट और धनी होते हैं और व्यापार और व्यवसाय तो मानो उनके लिए घर का काम है। शायद यह अंतर विशेषकर भौगोलिक हैं। मराठा प्रदेश बीहड़ और उजाड़ है, और गुजरात धनी है और उपजाऊ है।

हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों में ये और ऐसे ही और दूसरे भेद दिखाई देते हैं। ये भेद अब भी बने हुए हैं यद्यपि वैसे वह धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। मद्रास बड़े मेधावियों का सूबा है, उसने बड़े-बड़े दार्शनिक, गणितज्ञ और वैज्ञानिक पैदा किए हैं। बंबई अब प्राय: पूरी तरह से अपनी सारी भलाइयों और बुराइयों के साथ व्यापार में लगा हुआ है। बंगाल उद्योग और व्यापार में पिछड़ा हुआ है लेकिन उसने कुछ उच्चकोटि के वैज्ञानिकों को पैदा किया है। उसकी प्रतिभा विशेष कर कला और साहित्य में प्रकट हुई है। पंजाब में कोई प्रमुख व्यक्ति नहीं हुआ लेकिन वह एक आगे बढ़ने वाला सूबा है और कई क्षेत्रों में उन्नति कर रहा है। वहां के लोग होशियार होते हैं, और अच्छे मिस्त्री बन सकते हैं और वह छोटे व्यापार या छोटे धंधों में सफल होते हैं। संयुक्त प्रांत और दिल्ली में एक अजीब खिचड़ी है;

और कुछ विचार से यह सारे हिंदुस्तान का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे पुरानी संस्कृति के केंद्र हैं और साथ ही उस फ़ारसी संस्कृति के भी, जो मुग़ल और अफ़ग़ान युग में यहां आई। इसीलिए इन दोनों का मेल-जोल यहां सबसे ज्यादा दिखाई देता है और उसमें पच्छिमी संस्कृति भी आकर मिल गई है। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों की अपेक्षा यहां सबसे कम प्रांतीयता है। बहुत समय से उन्होंने अपने को हिंदुस्तान का दिल समझा है और दूसरे लोगों ने भी उसको इसी तरह देखा है। साधारण बातचीत में उनको बहुधा हिंदुस्तान कहा जाता है।

यह बात ध्यान रखने की है कि ये भेद भौगोलिक हैं, धार्मिक नहीं। एक बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमान की अपेक्षा, बंगाली हिंदू से अधिक मिलता-जुलता है; यही बात दूसरे लोगों के साथ है। अगर हिंदुस्तान में या और कहीं, बहुत-से बंगाली मुसलमान और हिंदू एक साथ मिलें तो फ़ौरन ही एक जगह इकट्ठे हो जायँगे और बड़ा अपनापन-सा महसूस करेंगे। पंजाबी भी, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान या सिख, यही करेंगे। बंबई प्रेसीडेंसी के मुसलमानों (खोजा, मैमन और बोहरों) में बहुत से हिंदू रिवाज हैं। खोजों को (जो कि आग़ा खां के अनुयायी हैं) और बोहरों को उत्तर के मुसलमान, कट्टर मुसलमान नहीं मानते।

वैसे तो सभी मुसलमान, लेकिन विशेषकर बंगाल और उत्तर के मुसलमान, बहुत काल तक केवल अंग्रेज़ी शिक्षा से दूर ही नहीं रहे बल्कि उन्होंने उद्योग-धंधों की उन्नति में भी बहुत कम भाग लिया। कुछ हद तक तो इसकी वजह उनकी सामंत-वादी विचार-धारा थी और कुछ हद तक इसकी वजह (रोमन कैथोलिक धर्म की तरह) इस्लाम की सूद लेने के लिए मनाही थी। लेकिन अजीब-सी बात है कि सब से अधिक शैतान साहूकार, पठानों की एक ख़ास जाति के लोग हैं जो कि सरहद के रहने वाले हैं। इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले पचास वर्षों में मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा में पिछड़े हुए थे, और इसी वजह से पच्छिमी विचारों में, साथ ही सरकारी नौकरी और उद्योग-धंधों में पिछड़े हुए थे।

हिंदुस्तान में उद्योग-धंधों की तरक़्क़ी ने, हालांकि वह बहुत धीमी और रुकी हुई थी, प्रगति दिखाई और अपनी तरफ़ लोगों का ध्यान आकर्षित किया। फिर भी साधारण जनता की ग़रीबी की समस्या में या धरती के भार पर कोई भी अंतर नहीं पड़ा। उन करोड़ों आदमियों में से, जो बेकार थे या आधे-बेकार थे, कुछ लाख आदमी उद्योग-धंधों में चले गए। लेकिन यह परिवर्तन इतना थोड़ा-सा था कि

हिंदुस्तान के बढ़ते हुए देहातों पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। व्यापक बेकारी और ज़मीन पर दबाव का परिणाम यह हुआ कि मज़दूर बहुत बड़ी संख्या में, अपमानजनक स्थितियों में भी काम करने के लिए विदेशों में गए। वे दक्षिण अफ़्रीका, फ़ीजी, ट्रिनिडाड, जमैका, गायना, मौरीशस, लंका, बर्मा और मलाया गए। वे छोटे-छोटे समुदाय या व्यक्ति, जिनको यहां पर विदेशी राज्य में उन्नति और बेहतरी का अवसर मिला, साधारण जनता से अलग कर दिए गए और साधारण जनता की दशा बिगड़ती गई। इन समुदायों के पास थोड़ी-सी पूंजी इकट्ठी हुई, और आगे उन्नति के लिए ठीक वातावरण तैयार किया गया। लेकिन ग़रीबी और बेकारी की बुनियादी समस्याएं ज्यों-की-त्यों बनी रहीं।

१० : हिंदुओं और मुसलमानों में सुधार और दूसरे आंदोलन

पच्छिम की असली टक्कर हिंदुस्तान से उन्नीसवीं सदी में हुई। विचारों के क्षेत्र में भी धक्का लगा और परिवर्तन हुआ, और वह क्षितिज, जो बहुत समय से एक सँकरे खोल में घिरा हुआ था, विस्तृत हुआ। पहली प्रतिक्रिया अल्पसंख्यक अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे वर्ग तक ही सीमित थी, और उसमें प्रायः हर पच्छिमी वस्तु के लिए प्रशंसा थी और उनकी स्वीकृति का भाव था। हिंदू-धर्म की कुछ सामाजिक प्रथाओं और रीतियों से असंतोष के कारण बहुत से हिंदू ईसाई धर्म की ओर खिंचे और बंगाल में कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने भी अपना धर्म बदल लिया। इसलिए राजा राममोहनराय ने इस बात का प्रयत्न किया कि हिंदूधर्म को इस नए वातावरण के अनुरूप बनाया जाय, और उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की, जिसकी नींव समाज-सुधार पर थी, और जिसे बुद्धि स्वीकार कर सकती थी। उनके उत्तराधिकारी केशवचंद्र सेन ने उसमें ईसाई दृष्टिकोण को बढ़ा दिया। ब्रह्मसमाज का बंगाल के नए, बढ़ते हुए, मध्यम-वर्ग पर प्रभाव हुआ, लेकिन एक धार्मिक विश्वास के रूप में वह बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित रहा, किंतु इन लोगों में कुछ प्रमुख व्यक्ति थे और कुछ प्रमुख घराने थे। ये घराने भी, यद्यपि इनकी धार्मिक और सामाजिक सुधार में बेहद उत्सुकता थी, धीरे-धीरे वेदांत के पुराने हिंदुस्तानी दार्शनिक आदर्शों की ओर लौटते हुए दिखाई दिए।

हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी ऐसी ही रुझानें, काम कर रही थीं और हिंदूधर्म के उस समय प्रचलित कठोर सामाजिक ढाँचे और बहुरूपिया स्वभाव के

विरुद्ध असंतोष था। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में एक बहुत बड़ा सुधार-आंदोलन आरंभ किया गया। इसको आरंभ करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती, गुजरात के रहने वाले थे, लेकिन इस आंदोलन का सबसे अधिक प्रभाव पंजाब के हिंदुओं पर पड़ा। यह सुधार-आंदोलन था आर्यसमाज का और इसकी पुकार थी कि 'वेदों की ओर चलो।' इस पुकार का वास्तव में यह अर्थ था कि वेदों के समय के आर्य-धर्म में बाद में जो कुछ बातें जुड़ गई थीं उनको अलग कर दिया जाय। बाद में वेदांत-दर्शन जिस स्वरूप में उन्नत हुआ, उसकी अद्वैतवाद की केंद्रीय विचारधारा की, 'सर्व ब्रह्ममयं जगत्' के दृष्टिकोण की, और साथ ही और बहुत से परिवर्तनों की ज़ोरदार निंदा की गई। यहां तक कि वेदों की भी एक खास ढंग से व्याख्या की गई। आर्यसमाज, इस्लाम और ईसाईधर्म की, विशेषकर इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में था। इसमें अंदर से सुधार के लिए आंदोलन था और धर्म-युद्ध था और साथ ही बाहरी हमलों के विरुद्ध रक्षा के लिए यह एक संगठन था। इसने हिंदूधर्म में विधर्मियों की शुद्धि करके अपनाने की प्रथा डाली और इस तरह अपने मत में सम्मिलित करने वाले दूसरे धर्मों से उसके झगड़ों की संभावना हो गई। आर्यसमाज, जिसमें बहुत-सी बातें इस्लाम से मिलती-जुलती थीं, हर हिंदू वस्तु का हिमायती हो गया। उसे दूसरे धर्मों का हिंदूधर्म पर संक्रमण सह्य नहीं था। यह एक मुख्य बात है कि विशेषकर पंजाब और संयुक्त प्रांत के मध्यम-वर्ग के हिंदुओं में यह फैला। एक समय ऐसा भी था जब कि सरकार इसको राजनीतिक क्रांतिकारी आंदोलन समझती थी, लेकिन सरकारी नौकरों की बहुत बड़ी संख्या ने इसको बिलकुल मान्य बना दिया। लड़के-लड़कियों के शिक्षा-प्रसार में इसने बहुत अच्छा काम किया है। साथ ही स्त्रियों की दशा सुधारने में और दलित जातियों की हैसियत और मान्यता को उठाने में भी इसने बहुत अच्छा काम किया है।

लगभग स्वामी दयानंद के ही ज़माने में, बंगाल में एक दूसरे ही ढंग का व्यक्तित्व सामने आया और उसके जीवन ने बहुत-से नए अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों पर प्रभाव डाला। यह व्यक्तित्व था श्री रामकृष्ण परमहंस का, जो बहुत सरल पुरुष थे, कोई विद्वान् भी नहीं थे और वैसे उन्हें समाज-सुधार में भी कोई रुचि नहीं थी। लेकिन वह निष्ठा वाले मनुष्य थे। वह चैतन्य और दूसरे भारतीय संतों की ही परंपरा में थे। विशेषकर वह धार्मिक थे लेकिन बहुत ही उदार, और आत्म-साक्षात्कार की अपनी खोज में वे मुसलमान और ईसाई तत्वज्ञों के पास गए और उनके पास वर्षों

1126

तक रहे और उनके कठोर नियम-अनुशासन का पालन किया। कलकत्ते में कालीघाट में वह बसे और उनके असाधारण व्यक्तित्व और चरित्र ने धीरे-धीरे लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा। जो लोग इनको देखने गए, यहां तक कि वे लोग भी जो उन पर हँसा करते थे, जब उनके पास गए तो उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए और ऐसे बहुत से लोगों ने, जो पच्छिमी रँग में पूरी तरह रंग गए थे, वहां पहुँचकर यह अनुभव किया कि कोई एक ऐसी चीज़ भी थी जो उनसे छूट गई थी। धार्मिक विश्वास की बुनियादी बातों पर ज़ोर देते हुए उन्होंने हिंदूधर्म और दर्शन के भिन्न-भिन्न पहलुओं को एक दूसरे के साथ जोड़ दिया। ऐसा जान पड़ता था कि उनके व्यक्तित्व से उन सबका प्रतिनिधित्व होता था। वास्तव में उनके क्षेत्र में दूसरे धर्म भी सम्मिलित थे। वे हर तरह की सांप्रदायिकता के विरोधी थे और उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि सभी रास्ते सच की ओर ले जाते हैं। वे कुछ उन संतों की तरह थे जिनके बारे में एशिया और यूरोप के पुराने इतिहास में हमको पढ़ने को मिलता था। आधुनिक जीवन के संदर्भ में उनको समझना कठिन है, फिर भी वे हिंदुस्तान के बहुरंगे साँचे के अनुरूप थे और यहां के बहुत से आदमियों के हृदय में उनके प्रति आदर और श्रद्धा थी, और उनके व्यक्तित्व के चारों ओर एक दिव्य ज्योति थी। जिन लोगों ने उनको देखा, उन पर उनके व्यक्तित्व ने प्रभाव डाला और बहुत से लोगों पर, जिन्होंने उनको नहीं देखा, उनके जीवन की कहानी का असर हुआ है। इन दूसरी तरह के लोगों में एक रोम्यां रोलां हैं, जिन्होंने परमहंस जी की और उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानंद की जीवनियां लिखी हैं।

विवेकानंद ने अपने गुरुभाइयों के साथ सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसमें सांप्रदायिकता नहीं है। विवेकानंद का आधार अतीत में था, और उनमें हिंदुस्तान की देन का अभिमान था, लेकिन साथ ही जीवन की समस्याओं को हल करने का उनका ढंग इस ज़माने का था, और वह हिंदुस्तान के बीते हुए और वर्तमान समय की खाई पर एक पुल की तरह थे। बँगला और अंग्रेज़ी में वे एक ओजस्वी वक्ता थे और बँगला गद्य और काव्य के एक सुंदर लेखक थे। वे एक आकर्षक और रोबीले व्यक्ति थे और उनमें शान और गंभीरता भरी हुई थी, उनको अपने में और अपने मिशन में भरोसा था; साथ ही वे सक्रिय और तीव्र शक्ति से भरपूर थे और हिंदुस्तान को आगे बढ़ाने की उनमें गहरी लगन थी। बेबस और गिरे हुए हिंदू मस्तिष्क के लिए वे एक जीवनी-औषधि के रूप में आए और इसको

उन्होंने अपने पर भरोसा करना सिखाया और अपने पुराने समय की जानकारी कराई। सन् १८९३ में शिकागो में वे दुनिया भर के धर्म-संमेलन में सम्मिलित हुए। एक साल उन्होंने संयुक्त राष्ट्र अमरीका में बिताया, यूरोप की यात्रा एथेंस और कुस्तुंतुनिया तक की, और मिस्र, चीन और जापान भी गए। जहां कहीं भी वे गए उन्होंने केवल अपनी उपस्थिति से ही नहीं बल्कि जो कुछ कहा, उससे, और अपने कहने के ढंग से, एक हलचल मचा दी। एक बार इस हिंदू संन्यासी को देख लेने के बाद, उसे और उसके संदेश को भुला देना मुश्किल था। अमरीका में विवेकानंद को 'तूफ़ानी हिंदू' कहा गया। पच्छिमी देशों को अपनी यात्रा का स्वयं उन पर बहुत असर पड़ा। उन्होंने अंग्रेज़ों के लगन की और अमरीकी जनता की दृढ़ता और बराबरी की भावना की प्रशंसा की। हिंदुस्तान में अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा कि किसी भी नए विचार के प्रचार के लिए अमेरीका सर्वोत्तम क्षेत्र है। लेकिन पच्छिम के धर्म के स्वरूप ने उनको प्रभावित नहीं किया और भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया। उनके विचार में हिंदुस्तान अपनी पतित दशा में भी 'प्रकाश' का प्रतिनिधित्व करता था।

उन्होंने वेदांत-दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार किया और उन्हें इस बात का पक्का विश्वास था कि विचारशील मानव-जाति के लिए आगे चलकर केवल वेदांत धर्म ही हो सकता था। कारण यह था कि वेदांत केवल आध्यात्मिक ही नहीं था बल्कि तर्क-संगत था और साथ ही उसका बाहरी दुनिया की वैज्ञानिक खोजों से भी सामंजस्य था। "इस विश्व का सृजन किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया और न वह किसी बाहरी मस्तिष्क की कृति है। वह स्वयं-भू, स्वयं-संहारक, स्वयं-पोषक, एक अनंत अस्तित्व वाला ब्रह्म है।" "वेदांत का आदर्श, मनुष्य की एकता और उसकी सहज दैवी प्रकृति का था; मानव में ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है; प्राणियों में मनुष्य सबसे बड़ा है लेकिन 'अदृश्य वेदांत' को दैनिक जीवन में सजीव काव्यमय, हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पौराणिक गाथाओं में से निकलकर उसका स्पष्ट नैतिक स्वरूप सामने आना चाहिए, और रहस्यपूर्ण योग के भीतर से एक वैज्ञानिक और व्यावहारिक मनोविज्ञान सामने आना चाहिए।" विवेकानंद ने कर्म-कांड की विवेचना की और खास तौर से ऊँचे वर्ण के लोगों की छुआछूत की बहुत जोरों से निंदा की। "हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने का बर्तन है और हमारा धर्म है, 'मुझे न छूओ, मैं पवित्र हूँ'।"

वे राजनीति से अलग रहे, और उन्हें अपने समय के राजनीतिज्ञ नापसंद थे। लेकिन उन्होंने स्वतंत्रता, बराबरी और जनता को उठाने की आवश्यकता पर बार-बार ज़ोर दिया। "हिंदुस्तान के लिए अगर कोई आशा है तो वह यहां की आम जनता में है। ऊपरी वर्ग के लोग, भौतिक और नैतिक दृष्टि से मुर्दा हैं।" वे पच्छिमी प्रगति और हिंदुस्तान की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को मिला देना चाहते थे। "यूरोपीय समाज हो और हिंदुस्तान का धर्म हो।" "बराबरी, आज़ादी, काम और शक्ति में तुम्हारी भावनाएं अधिक से अधिक पच्छिमी हों और साथ ही धर्म, संस्कृति और संस्कारों में तुम्हारी नस-नस हिंदुत्व से भरी हो।" दिन-ब-दिन विवेकानंद का अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण बढ़ता गया। "स्वयं राजनीति और समाज-विज्ञान में जो समस्याएं बीस बरस पहले केवल राष्ट्रीय थीं, अब केवल राष्ट्रीय आधार पर हल नहीं की जा सकतीं। उनका आकार और परिमाण बेहद बढ़ रहा है। उनका हल उसी वक़्त हो सकता है जब उनको अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सुलझाया जाय।" "दुनिया के दूसरे राष्ट्रों से हमारा पार्थक्य हमारे अधःपतन का कारण है और उसका उपचार केवल यही है कि हम फिर से शेष दुनिया की धारा में सम्मिलित हो जावें। गतिशीलता जीवन का चिह्न है।"

विवेकानंद ने बहुत-सी बातें कहीं, लेकिन एक बात जिसको उन्होंने अपने व्याख्यानों और लेखों में बराबर कहा है, अभय है। उनकी दृष्टि में मनुष्य दयनीय पापी नहीं है बल्कि उसमें ईश्वर का अंश है। तब उसे किसी वस्तु का डर क्यों हो? "अगर दुनिया में कोई पाप है तो वह है दुर्बलता; दुर्बलता को दूर करो, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है।" यह उपनिषदों का महान् उपदेश था। भय से बुराई और दुःख और पछतावा होता है। यह सब बातें बहुत हो लीं और कोमलता भी बहुत हो ली। "अब हमारे देश को जिन वस्तुओं की आवश्यकता है वह हैं लोहे के पुट्ठे, फ़ौलाद की नाड़ियां और ऐसी प्रबल मनःशक्ति जिसको रोका न जा सके।"

इस तरह हिंदुस्तान के दक्खिनी सिरे के कुमारी अंतरीप से लेकर हिमालय तक विवेकानंद ने गर्जना की, और उन्होंने इस काम में अपने आपको खपा डाला, यहां तक कि सन् १९०२ में, जब वह केवल उनतालीस बरस के थे, उनकी मृत्यु हो गई।

विवेकानंद के ही समकालीन थे रवींद्रनाथ ठाकुर। वैसे वे एक बाद की पीढ़ी के थे। ठाकुर परिवार ने, उन्नीसवीं सदी में, बंगाल में कई सुधार आंदोलनों में मुख्य

हिस्सा लिया था। उस घराने में आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत उन्नत लोग थे, बढ़िया लेखक और कलाकार थे, लेकिन इनमें रवींद्रनाथ सबसे बढ़कर हुए। और वास्तव में वह क्रमशः इस पद पर पहुँच गए कि हिंदुस्तान भर में उनका कोई बराबरीवाला न रह गया। रचनात्मक काम के उनके लंबे जीवन ने दो पीढ़ियों को ढँक लिया, और हमको ऐसा अनुभव होता है मानों वे हमारे ही ज़माने के हों। वे कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे लेकिन वे हिंदुस्तानी जनता की स्वतंत्रता के प्रति इतने सचेत और इतने आसक्त थे कि वे सदा ही अपने काव्य और संगीत के शीशमहल में नहीं रह सकते थे। जब-जब वे किसी घटनाक्रम को सहन नहीं कर सके, वे बार-बार बाहर आए और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को या अपनी ही जनता को देवदूतों जैसी भाषा में चेतावनी दी। बीसवीं सदी के आरंभ के वर्षों में बंगाल में जो स्वदेशी आंदोलन चला उसमें उन्होंने एक मुख्य हिस्सा लिया और बाद में उस समय भी जबकि उन्होंने अमृतसर के हत्याकांड के समय अपनी 'सर' की पदवी का परित्याग किया। शिक्षा के मैदान में उनका जो रचनात्मक काम खामोशी से शुरू हुआ उसने तो 'शांति-निकेतन' को भारतीय संस्कृति का एक प्रधान केंद्र ही बना दिया है। हिंदुस्तान के मस्तिष्क पर और विशेषकर बाद की नई पीढ़ियों पर उनका बेहद प्रभाव पड़ा है। केवल बँगला ही नहीं, जिसमें कि वे स्वयं लिखते थे, बल्कि हिंदुस्तान की सभी आधुनिक भाषाएं कुछ हद तक उनकी रचनाओं से प्रभावित हुई हैं। पूर्व और पच्छिम के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने में उन्होंने और किसी भी हिंदुस्तानी की अपेक्षा अधिक योग दिया है और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता के आधार को विस्तृत किया है। वे हिंदुस्तान के सबसे बड़े अंतर्राष्ट्रीयतावादी रहे हैं। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्होंने विश्वास किया, और उसके लिए काम किया, और वे हिंदुस्तान का संदेश दूसरे देशों को ले गए और दूसरे देशों का संदेश अपनी जनता के लिए लाए। फिर भी, इस अंतर्राष्ट्रीयता के होते हुए भी, उनके पैर हिंदुस्तान की धरती पर ही दृढ़ता से जमे रहे हैं और उनका मस्तिष्क उपनिषदों के ज्ञान से ओत-प्रोत रहा है। साधारण क्रम के विरुद्ध, ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती गई, उनका दृष्टि-कोण अधिक क्रांतिकारी होता गया। घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी रूसी क्रांति के बड़े कारनामों के वे प्रशंसक थे, विशेषकर शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, और साम्य-भावना के। राष्ट्रीयता एक सँकरी निष्ठा है, और राष्ट्रीयता का अधिपति साम्रा-ज्यवाद से संघर्ष होने पर हर ढंग की उलझन और मायूसी होती है। जिस तरह

एक दूसरे स्तर पर गांधी ने हिंदुस्तान की अपार सेवा की है उसी तरह टैगोर ने देश की इस रूप में बड़ी भारी सेवा की है कि उन्होंने जनता को कुछ हद तक उसके सोच-विचार के सँकरे घेरे से धकेल कर बाहर निकाला, और उसके 'दृष्टिकोण को अधिक विस्तृत और व्यापक बनाया। रवींद्रनाथ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े मानव-हितैषी थे।

बीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में टैगोर और गांधी निश्चय ही हिंदुस्तान के दो प्रधान व्यक्ति रहे हैं। उनकी समान और विषम बातों की तुलना शिक्षाप्रद है। कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव या मानसिक गठन में एक-दूसरे से इतने अधिक भिन्न नहीं हो सकते। रवींद्रनाथ एक संभ्रांत कलाकार थे जो आम लोगों से सहानुभूति रखने की वजह से लोकतंत्रवादी बन गए थे। वे मुख्यतया हिंदुस्तान की सांस्कृतिक परंपरा के प्रतिनिधि थे—उस परंपरा के जो जीवन को उसके पूरे रूप में अंगीकार करती है, और जिसमें नाच और गाने के लिए जगह है। गांधी जी विशेष रूप से साधारण जनता के व्यक्ति थे, और प्रायः हिंदुस्तानी किसान का ही स्वरूप थे और वे हिंदुस्तान की दूसरी पुरानी परंपरा के प्रतिनिधि थे। यह परंपरा थी संन्यास और त्याग की। फिर भी रवींद्रनाथ विशेषकर विचार-जगत के व्यक्ति थे और गांधी जी अनवरत कर्मण्यता के। दोनों का ही अपने-अपने ढंग से विश्व-व्यापी दृष्टिकोण था और साथ ही दोनों ही पूरी तरह हिंदुस्तानी थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न लेकिन आपस में मेल रखनेवाले पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते थे और एक दूसरे के पूरक थे।

हिंदू मध्यम-वर्ग में, फिर से अपने आध्यात्मिक और राष्ट्रीय उत्तराधिकार में विश्वास बढ़ाने में, श्रीमती एनी बीसेंट का प्रबल हाथ रहा। इस सब में एक आध्यात्मिक और धार्मिक भावना मिली हुई थी, लेकिन साथ ही इसमें एक सुदृढ़ राजनीतिक पृष्ठभूमि भी थी। उठता हुआ मध्यम-वर्ग राजनीतिक प्रवृत्तिवाला था और उसे धर्म की कोई विशेष खोज नहीं थी। उसे एक सांस्कृतिक नींव की आवश्यकता थी जिसे वह पकड़ सकता और जिससे उसे अपनी क्षमता में विश्वास होता, एक ऐसी चीज़ जो उस सारी मायूसी और हीनता को दूर करती जिसको विदेशी विजय और विदेशी शासन ने पैदा किया था। हर देश में राष्ट्रीयता की उन्नति के साथ, धर्म के अतिरिक्त एक ऐसी खोज होती है, और बीते हुए युग पर ध्यान देने की रुझान होती है। हिंदुस्तान के बीते हुए युग में कितने ही सांस्कृतिक

पहलू हैं, और उसकी महानता, सारी हिंदुस्तानी जनता की, चाहे वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई कुछ भी हो, एक मिला-जुला उत्तराधिकार है, और उन लोगों के पुरखों ने ही तो उसका निर्माण किया था। यह बात कि बाद में उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया, उनकी इस विरासत को मिटा नहीं देती। हिंदू और मुसलमान साधारण जनता में एक-दूसरे में छाँट करना कठिन था, और ऊपरी वर्ग में ढंग-ढर्रे हिंदू और मुसलमान दोनों में ही एक थे। यही नहीं, उनकी एक-सी संस्कृति थी, एक-से रिवाज थे, और एक-से त्योहार थे। मध्यम-वर्ग मनोवैज्ञानिक रूप से अलग-अलग हुए, और बाद में और दूसरी तरह के भेद भी आ गए।

पहली बात तो यह है कि शुरू में मुसलमानों में यह बीच का वर्ग प्रायः था ही नहीं। उनके पच्छिमी शिक्षा, उद्योग और व्यवसाय से अलग रहने की वजह से और सामंतवादी ढर्रे से चिपके रहने की वजह से, हिंदू आगे निकल गए क्योंकि उन्होंने इन सब चीज़ों से लाभ उठाया। ब्रिटिश नीति का झुकाव हिंदुओं के पक्ष में था और मुसलमानों के विरुद्ध था। यह बात पंजाब में नहीं थी, और इसीलिए और जगहों की अपेक्षा वहां के मुसलमानों ने पच्छिमी तालीम को आसानी से अपनाया। लेकिन पंजाब में अंग्रेज़ों का अधिकार होने से पहले ही हिंदू बहुत आगे बढ़ गए थे। इसलिए पंजाब में भी जहां कि हिंदुओं और मुसलमानों के लिए एक-सी स्थिति थी, हिंदू माली हालत में आगे थे। विदेशी-विरोधी भावनाएं हिंदू और मुसलमान, आम जनता और ऊँचे वर्ग में बराबर थीं। सन् १८५७ के बलवे में दोनों ही शामिल थे, लेकिन उसका दमन मुसलमानों को ज़्यादा महसूस हुआ। यह सही भी था क्योंकि दोनों में अपेक्षाकृत उन्हें अधिक हानि उठानी पड़ी। इस विद्रोह से दिल्ली की सल्तनत के बने रहने के सपने बिलकुल समाप्त हो गए।

ज्यों-ज्यों ग़दर के आतंक के बाद लोग धीरे-धीरे पनपे, उनके मस्तिष्क में एक खोखलापन आया और ख़ाली जगह को भरने के लिए किसी चीज़ की आवश्यकता थी। अनिवार्यतः ब्रिटिश हुकूमत को तो मंज़ूर करना ही था। लेकिन एक नई सरकार ही सामने नहीं आई बल्कि उसके साथ उलझन और घबराहट आई और आत्म-विश्वास चला गया। नई तालीम से वे अब भी अलग थे। धीरे-धीरे बहुत कठिनाई और बहस-मुबाहसे के बाद सर सैयद अहमद खां ने उनके मस्तिष्क को अंग्रेज़ी शिक्षा की ओर मोड़ा, और अलीगढ़ कॉलेज स्थापित किया। सरकारी नौकरी के लिए केवल वही एक रास्ता था और इस नौकरी का लालच इतना प्रबल सिद्ध हुआ कि

पुराना विरोध और पुरानी धारणाएं ठहर न सकीं। यह वात कि हिंदू, शिक्षा में और नौकरियों में वहुत आगे निकल गए थे, नापसंद की गई और स्वयं वैसा ही करने के लिए एक प्रवल तर्क सिद्ध हुई। पारसी और हिंदू तो उद्योग-धंधों में भी आगे वढ़ रहे थे लेकिन मुसलमानों की निगाह केवल सरकारी नौकरियों की ओर थी।

लेकिन इस नई प्रवृत्ति ने, जो वास्तव में कुछ थोड़े से ही लोगों तक सीमित थी, उनके मस्तिष्क के शक और उलझन को दूर नहीं किया। हिंदुओं ने ऐसी ही दशा में पीछे दृष्टि डाली थी ओर प्राचीन युग में शांति की खोज की थी। पुराना दर्शन, पुरानी कला और पुराने साहित्य और इतिहास से उन्हें कुछ शांति मिली। राममोहन राय, दयानंद, विवेकानंद और दूसरे लोगों ने नई विचार-धारा के आंदोलन चलाए थे। जवकि एक ओर तो उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य के भरे-पूरे भंडार से लाभ उठाया था, दूसरी ओर उनके मस्तिष्क प्राचीन संतों और शूरवीरों से भरे हुए थे। उनके मस्तिष्क में इनके विचार और काम थे और वे गाथाएं और परंपराएं थीं जिनको उन्होंने अपने वचपन से वरावर सीखा था।

सांस्कृतिक नींव को खोज में हिंदुस्तानी मुसलमान (यानी उनमें बीच के वर्ग के कुछ लोग) इस्लामी इतिहास की ओर गए, और वे उस काल में पहुँचे, जव इस्लाम वग़दाद, स्पेन, क़ुस्तुंतुनियां, मध्य-एशिया आदि में विजेता के रूप में छाया हुआ था। इस इतिहास में दिलचस्पी हमेशा रही है और पड़ोसी इस्लामी देशों से कुछ संवंध भी रहे थे। मक्का में हज के लिए यात्री जाते थे, और यहां उनकी दूसरे देश के मुसलमानों से भेंट होती थी। लेकिन यह सव संवंध सीमित थे, और सतही थे, और इसका हिंदुस्तानी मुसलमानों के साधारण दृष्टिकोण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। वह तो केवल हिंदुस्तान तक सीमित था। दिल्ली के अफ़ग़ान वादशाहों ने, ख़ास तौर से मुहम्मद तुग़लक़ ने क़ाहिरा के ख़लीफ़ा को अपना सरपरस्त माना था। वाद में क़ुस्तुंतुनियां के आटोमन वादशाह ख़लीफ़ा वन गए, लेकिन उनको हिंदुस्तान में माना नहीं जाता था। हिंदुस्तान के मुग़ल वादशाहों ने किसी ख़लीफ़ा को या हिंदुस्तान के वाहर के किसी धार्मिक नेता को अपना संरक्षक नहीं माना। उन्नीसवीं सदी के आरंभ में मुग़ल शक्ति समाप्त होने के वाद ही हिंदुस्तान की मस्जिदों में तुर्की के सुल्तान का नाम लिया जाना शुरू हुआ। ग़दर के वाद यह आम रवैया हो गया।

इस तरह हिंदुस्तान के मुसलमानों ने इस्लाम के उस पुराने वड़प्पन से कुछ

मनोवैज्ञानिक संतोष पाना चाहा जोकि विशेषकर दूसरे देशों में था। तुर्की के स्वतंत्र मुस्लिम शक्ति बने रहने पर (और इस वक़्त तुर्की ही एक-मात्र स्वतंत्र मुस्लिम शक्ति थी) उन्होंने अभिमान किया। इस भावना का हिंदुस्तानी क़ौमियत से कोई संघर्ष या विरोध नहीं था। वास्तव में स्वयं बहुत से हिंदू इस्लामी इतिहास से सुपरिचित थे, और वे उसके प्रशंसक थे। उन्होंने तुर्की के साथ सहानुभूति प्रकट की क्योंकि उन्होंने उसे यूरोपीय अनाचारों का एशियाई शिकार समझा। फिर भी एक भेद था, और हिंदुओं के लिए इस भावना ने वह मनोवैज्ञानिक आवश्यकता पूरी नहीं की जो कि मुसलमानों के लिए पूरी हुई।

ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमान इस झिझक में थे कि किस रास्ते को अपनाएं। ब्रिटिश सरकार ने जान-बूझकर उनका हिंदुओं से भी अधिक दमन किया था। इस दमन से विशेषकर मुसलमानों के उस हिस्से पर असर पड़ा था जिससे नया बीच का वर्ग या 'बुर्जुआ' वर्ग पैदा होता। उन्होंने बहुत मायूसी अनुभव की, और वे बहुत अधिक ब्रिटिश विरोधी थे, और साथ ही रूढ़िवादी और अनुदार थे। सन् १८७० के बाद उनकी ओर ब्रिटिश नीति में धीरे-धीरे परिवर्तन आया और वह उनके अनुकूल हुई। इस परिवर्तन का मुख्य कारण ब्रिटिश सरकार की संतुलन की नीति थी, जिसको बराबर बरता जा रहा था। फिर भी इस सिलसिले में सर सैयद अहमद ख़ां का भी बहुत बड़ा हाथ था। उनको इस बात का पक्का विश्वास था कि ब्रिटिश सरकार के सहयोग से ही वे मुसलमानों को ऊपर उठा सकते हैं। वह उन्हें अंग्रेज़ी शिक्षा के पक्ष में करने के लिए चिंतित थे और उनके कट्टरपन को दूर करना चाहते थे। उन्होंने जो यूरोपीय सभ्यता देखी थी, उससे वह बहुत प्रभावित थे। वास्तव में उनके यूरोप से लिखे हुए कुछ पत्रों से यह बात प्रकट होती है कि वह उस सभ्यता से इतने चकाचौंध थे कि उनकी माप-तौल की बुद्धि जाती रही थी।

सर सैयद एक उत्साही सुधारक थे, और वे इस युग के वैज्ञानिक विचार और इस्लाम में मेल बिठाना चाहते थे। ऐसा करने का अर्थ यह नहीं था कि किसी बुनियादी धारणा पर चोट की जाय; बल्कि वह यह चाहते थे कि धर्म-ग्रंथों की तर्क-संगत व्याख्या की जाय। उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म के बुनियादी समानता की ओर संकेत किया। उन्होंने मुसलमानों में 'परदा-प्रथा' की आलोचना की। तुर्की के खलीफ़ा के प्रति भक्ति या उसकी अधीनता के वे विरोधी थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि वे नई शिक्षा को मुसलमानों में फैलाना चाहते थे। अंग्रेज़ों की मदद

सर सैयद को ज़रूरी मालूम पड़ी। इसलिए उन्होंने मुसलमानों की ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को घटाने की कोशिश की, और उनको नेशनल कांग्रेस से भी, जो उस समय बन रही थी, अलग रखने की कोशिश की। अलीगढ़ कॉलेज का एक प्रकट उद्देश्य यह भी था कि वह 'हिंदुस्तान के मुसलमानों को ब्रिटिश ताज की योग्य और उपयोगी प्रजा बनाए।' वे राष्ट्रीय कांग्रेस के विरुद्ध इसलिए नहीं थे कि वह एक ऐसी संस्था थी जिसमें हिंदुओं की प्रधानता थी; बल्कि इसलिए कि उनकी दृष्टि से वह राजनीतिक मामलों में बहुत ज़्यादा तेज़ थी (हालांकि उन दिनों कांग्रेस बहुत मामूली विचारों की ही संस्था थी) और वह ब्रिटिश सहायता और सहयोग चाहते थे। उन्होंने यह बात दिखाने की कोशिश की, कि कुल मिलाकर मुसलमानों ने ग़दर में हिस्सा नहीं लिया था, और बहुत से लोग ब्रिटिश शक्ति के प्रति वफ़ादार रहे थे। वे किसी भी दृष्टि से हिंदू-विरोधी नहीं थे, और न वे सांप्रदायिक अलहदगी चाहते थे। उन्होंने इस बात पर बारबार ज़ोर दिया कि धार्मिक मतभेदों का कोई भी राष्ट्रीय या राजनीतिक महत्व नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा : "क्या तुम सब एक ही देश के रहने वाले नहीं हो।" "याद रक्खो हिंदू और मुसलमान शब्द तो धार्मिक छाँट के लिए हैं : वरना सब लोग हिंदू, मुसलमान और यहां तक कि ईसाई भी जो इस देश में रहते हैं, इस लिहाज़ से सिर्फ़ एक ही क़ौम के लोग हैं।"

सर सैयद अहमद खां का प्रभाव मुसलमानों के ऊँचे वर्ग के कुछ हिस्सों तक ही सीमित था : उनका देहाती या शहरी आम जनता से वास्ता नहीं था। यह आम जनता अपने ऊँचे वर्ग से प्रायः बिलकुल अलग थी और वह हिंदू आम जनता के कहीं अधिक निकट थी। जब कि मुस्लिम ऊँचे वर्ग के कुछ लोग मुग़ल ज़माने के शासक समुदायों की औलाद थे, दूसरी ओर आम जनता की ऐसी कोई पृष्ठ-भूमि या परंपरा नहीं थी। उनमें से अधिकतर सबसे निचले दर्जे के हिंदुओं से मुसलमान बने थे, और उनकी बहुत बुरी हालत थी। वे सबसे अधिक ग़रीब थे और सबसे अधिक सताए हुए थे।

सर सैयद के कई योग्य और प्रसिद्ध साथी थे। उनके तर्कसंगत काम में उन्हें बहुत से लोगों ने सहयोग दिया। इन सहयोग देने वालों में सैयद चिराग़ अली और नवाब मोहसिन-उल-मुल्क थे। उनके तालीमी कामों की तरफ़ मुंशी करामत अली, दिल्ली के मुंशी ज़काउल्ला, डा० नज़ीर अहमद, मौलाना शिबली नूमानी और शायर हाली, जो उर्दू साहित्य में एक खास जगह रखते हैं, खिंचे। जहाँतक मुसल-

मानों में अंग्रेज़ी तालीम शुरू करने का और मुस्लिम दिमाग़ को राजनीतिक आंदोलन से अलग करने का सवाल था, सर सैयद कामयाव हुए। एक मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस शुरू की गई और मुसलमानों के वढ़ते हुए वीच के वर्ग का, जो नौकरियों या दूसरे पेशों में था, इसकी तरफ़ ध्यान गया।

फिर भी वहुत से प्रसिद्ध मुसलमान कांग्रेस में शामिल हुए। ब्रिटिश नीति अव निश्चित रूप से मुसलमानों की, या यों कहा जाय कि मुसलमानों के उस वर्ग की तरफ़दार हो गई जो राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध थे। लेकिन वीसवीं सदी के शुरू में मुसलमानों की नई पीढ़ी में राष्ट्रीय और राजनीतिक कार्यवाही के लिए झुकाव मालूम पड़ा। इस तरफ़ से ध्यान हटा कर उसके लिए एक निकासी देने के उद्देश्य से, सन् १९०६ में, ब्रिटिश प्रेरणा से, और अंग्रेज़ों के एक ख़ास मददगार आग़ा ख़ां के नेतृत्व में मुस्लिम लीग चालू हुई। लीग के दो मुख्य उद्देश्य थे। एक तो ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादारी, और दूसरे मुस्लिम स्वार्थों की रक्षा।

एक वात ध्यान देने की है कि ग़दर के वाद हिंदुस्तानी मुसलमानों में जितने भी ख़ास आदमी थे (और इनमें ही सर सैयद थे), वे सव पुरानी पारंपरिक शिक्षा की ही उपज थे। हां, वाद में उन लोगों ने अंग्रेज़ी भी सीखी और वे नए विचारों के प्रभाव में आए। नई पच्छिमी तालीम ने उनमें कोई बड़ा व्यक्तित्व नहीं पैदा किया। ग़ालिव उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे और हिंदुस्तान में उस सदी के ख़ास लेखकों में से एक थे। वे ग़दर से पहले के ज़माने के थे।

वीसवीं सदी के आरंभ के वर्षों में पढ़े-लिखे मुसलमानों में दो धाराएं थीं : एक जो मुख्यतया कम उम्र वालों में थी, राष्ट्रीयता की तरफ़ थी और दूसरी हिंदुस्तान के वीते हुए ज़माने से और कुछ हद तक वर्तमान युग से अलग रहती थी और इस्लामी देशों में, विशेपकर तुर्की में जहां कि ख़लीफ़ा रहता था, उसकी अधिक रुचि थी। इस्लामी मुल्कों के पक्षपाती जिस आंदोलन को तुर्की के सुल्तान अव्दुल हमीद ने आगे वढ़ाया था उसके कुछ मददगार ऊँचे वर्ग के मुसलमानों में मिले लेकिन सर सैयद ने इसका विरोध किया और उन्होंने तुर्की और सुल्तान में दिलचस्पी लेने के लिए हिंदुस्तानियों को मना किया। इस नए तुर्क आंदोलन की कई प्रतिक्रियाएं हुई। हिंदुस्तान के अधिकतर मुसलमानों ने शुरू में इसको कुछ संदेह भरी दृष्टि से देखा और सुल्तान के लिए आम तौर पर हमदर्दी थी। उसको तुर्की में यूरोपीय शक्तियों की जालसाज़ियों के विरुद्ध एक रोक की चीज समझा जाता था। लेकिन

कुछ दूसरे लोग भी थे, और उन्हीं में मौलाना अवुल कलाम आज़ाद थे, जिन्होंने नौजवान तुर्कों का स्वागत किया, और उनके साथ वैधानिक और सामाजिक सुधार का जो भविष्य था उसको पसंद किया। जव त्रिपोली के युद्ध में, सन् १९११ में, इटली ने तुर्की पर अचानक हमला किया, और वाद में सन् १९१२-१३ में वाल्कन जंग के समय हिंदुस्तानी मुसलमानों में तुर्की के लिए हमदर्दी की एक आश्चर्यजनक लहर उठी। वैसे तो यह हमदर्दी सभी हिंदुस्तानियों को थी लेकिन मुसलमानों में यह वहुत ज्यादा थी, और ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो यह उनका अपना सवाल है। अंतिम वची हुई मुस्लिम शक्ति के नाश का भय था; भविष्य के लिए उनके विश्वास का सव से वड़ा लंगर वर्वाद हो रहा था। डा० एम० ए० अंसारी तुर्की के लिए एक प्रभावशाली मेडीकल मिशन ले गए और उसके लिए ग़रीवों तक ने चंदा दिया; स्वयं मुसलमानों की वेहतरी की किसी तहरीक के लिए इतनी जल्दी रुपया नहीं इकट्ठा हुआ, जितना कि इस समय तुर्की के लिए हुआ। पहली वड़ी जंग मुसलमानों के लिए एक परीक्षा के रूप में थी, क्योंकि तुर्की दूसरी तरफ़ था। उन्होंने अपनी वेबसी महसूस की; वे कुछ कर ही नहीं सकते थे। जव लड़ाई समाप्त हुई तो उनकी दवी हुई भावनाएं खिलाफ़त आंदोलन के रूप में फूट पड़ीं।

हिंदुस्तान के मुसलमानी मस्तिष्क की उन्नति में, सन् १९१२ भी एक ख़ास साल है क्योंकि उसमें दो नए साप्ताहिक निलकने शुरू हुए। उनमें से एक तो 'अल-हिलाल' था जो कि उर्दू में था और दूसरा अंग्रेज़ी में 'दि कामरेड' था। 'अल-हिलाल' को मौलाना अवुल कलाम आज़ाद ने चलाया था। वे एक चौवीस वरस के नौजवान थे। उनकी शुरू की पढ़ाई-लिखाई क़ाहरा में अल-अज़हर यूनिवर्सिटी में हुई थी और जिस समय कि वे पंद्रह और वीस वरस के ही वीच में थे उसी समय वे अपनी अरवी और फ़ारसी की योग्यता के लिए प्रसिद्ध हो गए थे। इसके अलावा उनको हिंदुस्तान के वाहर की इस्लामी दुनिया की अच्छी जानकारी थी और उन्हें उन सुधार आंदोलनों का पूरा पता था, जो वहां पर चल रहे थे। साथ ही उन्हें यूरोपीय मामलों की भी जानकारी थी। उनका दृष्टिकोण वुद्धिवादी था और साथ ही इस्लामी साहित्य और इतिहास की उन्हें पूरी जानकारी थी। उन्होंने इस्लामी धर्म-ग्रंथों की वुद्धिवादी दृष्टिकोण से व्याख्या की। इस्लामी परंपरा से वे छके हुए थे और, उनका मिश्र, तुर्की, सीरिया, फ़िलिस्तीन, ईराक और ईरान के प्रसिद्ध मुस्लिम नेताओं और सुधारकों से निजी मेल था। इन देशों के सांस्कृतिक और

राजनीतिक स्थिति का उनपर बहुत ज्यादा असर था। अपने लेखों की वजह से इस्लामी देशों में और सभी हिंदुस्तानी मुसलमानों की अपेक्षा वे अधिक ज्ञात थे। उन लड़ाइयों में जिनमें तुर्की फँस गया, उनको बेहद दिलचस्पी हुई, और उनकी हमदर्दी तुर्की के लिए सामने आई। लेकिन उनके ढंग में और दृष्टिकोण में और दूसरे बुजुर्ग मुसलमान नेताओं के दृष्टिकोण में अंतर था। उनका दृष्टिकोण अधिक विस्तृत और तर्क-संगत था, और इसकी वजह से न तो उसमें सामंतवाद था और न सँकरी धार्मिकता और न सांप्रदायिक पार्थक्य की भावना। इसने उनको अनिवार्य रूप से हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता का समर्थक बना दिया। उन्होंने तुर्की में और दूसरे इस्लामी देशों में राष्ट्रीयता की उन्नति को स्वयं देखा था। उस जानकारी का उन्होंने हिंदुस्तान में उपयोग किया। और उन्हें हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन का वही रुख दिखाई दिया। हिंदुस्तान के दूसरे मुसलमानों को इन देशों के आंदोलनों की शायद ही जानकारी रही हो और वे अपने सामंतवादी वातावरण में घिरे रहे। वे केवल धार्मिक दृष्टि से चीजों को देखते थे, और तुर्की के साथ उनकी हमदर्दी केवल धर्म के नाते थी। इस प्रबल सहानुभूति के बावजूद वह तुर्की की क़ौमी और ग़ैर-मजहबी तहरीकों के साथ न थे।

अबुल कलाम आज़ाद ने अपने हफ़्तेवार रिसाले 'अल-हिलाल' में एक नई भाषा में बात की। वह भाषा केवल विचार या दृष्टिकोण के विचार से ही नई नहीं थी, बल्कि उसका गठन भी दूसरे ढंग का था। उसकी वजह यह थी कि आज़ाद की शैली में ज़ोर था, मर्दानगी थी और अपनी फ़ारसी पृष्ठभूमि के कारण कभी-कभी वह समझने में कुछ कठिन होती थी। उन्होंने नए विचारों के लिए नई शब्दावली का प्रयोग किया और उर्दू भाषा आज जैसी भी है, उसको बनाने में, एक निश्चित प्रभाव डाला। मुसलमानों के पुराने कट्टरपंथी नेताओं में इस सब के लिए अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई, और उन्होंने आज़ाद के विचारों और उनके दृष्टिकोण की आलोचना की। लेकिन उनमें से योग्य-से-योग्य व्यक्ति भी आज़ाद से बहस या तर्क में, यहांतक कि धर्म-ग्रंथों और पुरानी परंपराओं की बुनियाद पर भी, आसानी से टक्कर नहीं ले सकते थे। वजह यह थी, कि इन चीज़ों के बारे में, उनकी अपेक्षा आज़ाद की जानकारी अधिक थी। उनमें मध्य-युग की विद्वत्ता, अठारहवीं सदी के तर्कवाद और मौजूदा वर्तमान समय के दृष्टिकोण का एक अद्भुत मेल था।

पुरानी पीढ़ी के कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने आज़ाद के लेखों को पसंद किया।

इनमें एक तो विद्वान् मौलाना शिवली नूमानी थे जो स्वयं तुर्की घूम कर आए थे और जो अलीगढ़ कालेज के सिलसिले में सर सैयद अहमद ख़ां के साथ थे। जो भी हो, अलीगढ़ कॉलेज की परंपरा विलकुल भिन्न थी। वह राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से अनुदार थी। उसके ट्रस्टी नवाव और ज़मींदार थे, जो सामंतवादी ढाँचे के ही नुमाइंदे थे। एक के वाद दूसरे ऐसे अंग्रेज़ प्रिंसिपलों के अधीन रह कर जो सरकारी हलक़ों से निकट का संवंध रखते थे, इसमें पार्थक्य की प्रवृत्ति ने उन्नति की और राष्ट्रीयता के विरुद्ध और कांग्रेस के विरुद्ध दृष्टिकोण स्थापित हो गया। वहां के विद्यार्थियों के सामने जो मुख्य उद्देश्य रखा गया वह सरकारी नौकरियों में जगह पाने का था। उसके लिए सरकारी मदद करने की प्रवृत्ति आवश्यक थी, और उसमें राष्ट्रीयता और विद्रोह की गुंजाइश नहीं थी। अलीगढ़ कॉलेज का समुदाय अव नए पढ़े-लिखे मुसलमानों का नेतृत्व कर रहा था, और उसने कभी-कभी खुले आम लेकिन अधिकतर परदे के पीछे से प्रायः हर मुस्लिम आंदोलन पर असर डाला। वहुत कुछ यह उन्हीं की कोशिशों का नतीजा था कि मुस्लिम लीग का जन्म हुआ।

अबुल कलाम आज़ाद ने कट्टरता के और राष्ट्रीयता-विरोधी इस गढ़ पर हमला किया। सीधे तौर पर नहीं, वल्कि ऐसे विचारों का प्रचार करके जो अलीगढ़ की परंपरा को ही खोखला कर देते। मुसलमान विचारवानों में इस नवयुवक लेखक और संपादक ने हलचल मचा दी। नई पीढ़ी के मस्तिष्क में उनके शव्दों से एक उवाल पैदा हुआ। यह उवाल तुर्की, मिस्र, ईरान और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन की घटनाओं से पहले ही शुरू हो चुका था। आज़ाद ने उसको एक निश्चित धारा दी, और उन्होंने यह जताया कि इस्लाम और इस्लामी देशों से सहानुभूति में, और हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता में कोई संघर्ष नहीं था। इससे मुस्लिम लीग को कांग्रेस के पास लाने में मदद मिली। आज़ाद स्वयं भी, लीग के पहले ही जलसे में, जवकि वह लड़के ही थे, शरीक हुए थे।

व्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों ने 'अल-हिलाल' को पसंद नहीं किया। प्रेस ऐक्ट के मातहत उससे ज़मानत माँगी गई और अंत में सन् १९१४ में उसका प्रेस ज़व्त कर लिया गया। इस तरह दो साल की छोटी-सी ज़िंदगी के वाद 'अल-हिलाल' समाप्त हो गया। इसके वाद आज़ाद ने एक दूसरा साप्ताहिक 'अल-वलाग़' निकाला लेकिन व्रिटिश सरकार द्वारा आज़ाद के क़ैद किए जाने पर, यह भी सन् १९१६

में ख़त्म हो गया। चार साल तक वे क़ैद में रखे गए और जब वह बाहर आए, तो उन्होंने तुरंत ही नेशनल कांग्रेस के नेताओं में अपनी जगह प्राप्त कर ली। तब से वे बराबर कांग्रेस की सबसे ऊँची कार्यकारिणी में रहे, और उस वक़्त भी अपनी कम उम्र के होते हुए, वे कांग्रेस के बड़ों में गिने गए। राष्ट्रीय और राजनीतिक मामलों में और साथ ही सांप्रदायिक या अल्पसंख्यक समस्या के सिलसिले में उनकी सलाह की बहुत क़द्र की जाती है। दो बार वे कांग्रेस के सभापति रहे हैं, और कई बार उन्होंने लंबी मुद्दतें जेल में बिताई हैं।

दूसरा साप्ताहिक जो सन् १९१२ में 'अल-हिलाल' से कुछ महीने पहले निकला था, वह था 'कॉमरेड'। यह अंग्रेज़ी में था और इसने विशेषकर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मुसलमानों की नई पीढ़ी पर असर डाला। इसके संपादक थे मौलाना मुहम्मद अली, जिनमें इस्लामी परंपरा और ऑक्सफ़ोर्ड की शिक्षा का एक अजीब मेल था। शुरू में वे अलीगढ़ परंपरा के समर्थक थे और उग्र राजनीति के विरोधी थे। लेकिन उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था और वह इस गतिहीन ढाँचे में बंद नहीं रह सकता था। उनकी भाषा में ओज था। सन् १९११ में बंग-भंग के रद्द हो जाने से उनको धक्का पहुँचा, और ब्रिटिश सरकार के बारे में उनका विश्वास हिल गया था। बाल्कन लड़ाई के समय वे चुप न रह सके और उन्होंने तुर्की और उसकी इस्लामी परंपरा की तरफ़दारी में ज़ोरों से लिखा। धीरे-धीरे उनकी ब्रिटिश-विरोधी भावना बढ़ती गई और पहले बड़े युद्ध में तुर्की के शामिल होने पर ये भावना अपने शिखर पर पहुंच गई। 'कामरेड' में एक मशहूर और बेहद लंबा लेख 'तुर्कों का निर्णय' (दि च्वाइस अव् दि टर्क्स) शीर्षक उन्होंने लिखा। (उनके लेख और व्याख्यान छोटे नहीं होते थे)। इस लेख की वजह से 'कॉमरेड' का जीवन समाप्त हुआ, सरकार ने उसको रोक दिया। उसके कुछ ही बाद सरकार ने उनको और उनके भाई शौकत अली को गिरफ़्तार कर लिया और उनको लड़ाई समाप्त होने के एक साल बाद तक क़ैद रखा। सन् १९१९ के अंत में वे छोड़े गए और वे दोनों तुरंत ही कांग्रेस में शरीक हो गए। सन् १९२० के बाद में, कुछ वर्षों तक, अली भाइयों ने खिलाफ़त आंदोलन और कांग्रेसी राजनीति में एक महत्वपूर्ण हिस्सा लिया, और उसके लिए जेल भी गए। मुहम्मद अली कांग्रेस के एक वार्षिक अधिवेशन में सभापति रहे और कई वर्षों तक वे उसकी कार्य-कारिणी के सदस्य रहे। सन् १९३० में उनकी मृत्यु हो गई।

मुहम्मद अली में जो परिवर्तन हुआ, वह हिंदुस्तानी मुसलमानों की बदलती हुई मनोवृत्ति का प्रतीक था। यहांतक कि मुस्लिम लीग भी, जिसकी स्थापना मुसलमानों को राष्ट्रीय रुझान से अलग रखने को हुई थी, और जिसका नियंत्रण पूरी तरह अर्ध-सामंती और प्रतिक्रियावादी लोगों द्वारा होता था, नई पीढ़ी के दबाव को मानने को विवश हुई। यद्यपि वह इससे संतुष्ट तो नहीं थी, लेकिन फिर भी वह राष्ट्रीयता के बहाव में बह रही थी और वह कांग्रेस के निकट आती जा रही थी। सन १९१३ में उसने सरकार के प्रति वफ़ादारी की अपनी नीति बदली, और हिंदुस्तान के लिए स्वतंत्रता की माँग की। मौलाना आज़ाद ने 'अल-हिलाल' में अपने तेजस्वी लेखों से इस परिवर्तन के पक्ष में वकालत की थी।

११ : कमाल पाशा : एशिया में राष्ट्रीयता : इक़बाल

हिंदुस्तान के मुसलमानों और हिंदुओं, दोनों में ही कमाल पाशा स्वभावतः बहुत प्रिय था। उसने तुर्की को विदेशी आधिपत्य और अंदरूनी फूट से ही नहीं बचाया था बल्कि उसने यूरोप की साम्राज्यवादी शक्तियों को और विशेषकर इंग्लिस्तान की चालों को बेकार कर दिया था। लेकिन ज्यों-ज्यों अतातुर्क की नीति सामने आई, और उसने मज़हब को हटाया और सुल्तान-पद और खिलाफ़त को ख़त्म किया और एक ग़ैर-मज़हबी सरकार क़ायम की; जहाँतक ज़्यादा कट्टर मुसलमानों का सवाल है, वह प्रशंसा घट गई, और उनमें आधुनिकवाद की नीति के विरुद्ध एक नाराज़ी पैदा हुई। लेकिन दूसरी तरफ़ इसी नीति ने उसे हिंदू और मुसलमान दोनों ही की नई पीढ़ी में अधिक प्रिय बना दिया। हिंदुस्तानी मुसलमानों के दिमाग़ में ग़दर के बाद धीरे-धीरे जो सपने-जैसा ढाँचा तैयार हुआ था, उसे अतातुर्क ने कुछ हद तक मिटा दिया। फिर एक ढंग का खोखलापन पैदा हुआ। बहुत से मुसलमानों ने इस ख़ाली जगह को क़ौमी आंदोलन में शरीक होकर भरा, और बहुत से लोग उसमें पहले ही शरीक हो चुके थे; दूसरे लोग अलग रहे और वे झिझकते रहे, और संशय में पड़े रहे। असली संघर्ष तो सामंतवादी विचार-धारा और मौजूदा ज़माने की रुझानों में था। सार्वजनिक खिलाफ़त आंदोलन ने उस समय सामंतवादी नेतृत्व को एक ओर हटा दिया था, लेकिन स्वयं उस आंदोलन की, साधारण जनता की जरूरतों में और सामाजिक और आर्थिक हालतों में कोई ठोस बुनियाद न थी। उसका केंद्र दूसरी जगह था और जब अतातुर्क ने उस बुनियाद को

ही समाप्त कर दिया तो ऊपरी ढाँचा गिर पड़ा, तब आम मुस्लिम जनता भौंचक्की रह गई, और उसकी किसी राजनीतिक कार्रवाई के लिए रुचि नहीं रही। पुराने सामंतवादी नेता, जो नीचे पड़े हुए थे, फिर ब्रिटिश नीति की मदद से, जो उन्हें हमेशा ही सहारा देती रहती है, सामने आए। लेकिन वह निर्विवाद नेतृत्व की अपनी पुरानी स्थिति पर फिर नहीं पहुँच सके, क्योंकि अब हालतें बदल गई थीं। देर में सही लेकिन अब मुसलमानों में एक बीच का वर्ग ऊपर आ रहा था, और राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में सार्वजनिक राजनीतिक आंदोलन के अनुभव से भी एक बहुत बड़ा अंतर उत्पन्न हो गया था।

यद्यपि आम मुस्लिम जनता और नए मध्यम वर्ग के रुझान के बनाने में विशेषकर घटना-प्रवाह का हाथ था फिर भी मध्यम-वर्ग को, और मुख्य-रूप से उसकी नई पीढ़ी को प्रभावित करने में सर मुहम्मद इक़बाल का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। आम जनता पर उनका शायद ही असर हुआ हो। इक़बाल ने उर्दू में जोशीली राष्ट्रीय कविताएं लिखना शुरू किया और वे कविताएं बहुत प्रचलित हो गईं। बलकान-युद्ध के दौरान में उन्होंने इस्लामी विषयों की ओर ध्यान दिया। तत्कालीन परिस्थितियों से और मुसलमानों की सामूहिक भावना से वे प्रभावित हुए थे, और उन्होंने स्वयं इन भावनाओं पर असर डाला और उनकी गति को बढ़ाया। फिर भी वे एक सार्वजनिक नेता नहीं थे; वह एक कवि थे, एक विचारक और दार्शनिक थे, और पुराने सामंतवादी ढाँचे से उनका लगाव था। उनका घराना पहले काश्मीरी ब्राह्मण था। फ़ारसी और उर्दू दोनों की ही कविता में, उन्होंने मुसलमान पढ़े-लिखे लोगों को एक दार्शनिक पृष्ठभूमि दी, और इस तरह उनके मस्तिष्क को अलहदगी की दिशा में हटाया। इसमें शक नहीं कि उनकी प्रसिद्धि उनके काव्य की वजह से थी, लेकिन इससे भी बड़ी वजह यह थी कि उस वक़्त जब कि मुस्लिम मस्तिष्क सहारे के लिए किसी लंगर की खोज में था, उन्होंने उसकी आवश्यकता को पूरा किया। पुराने इस्लाम-देशीय आदर्श में अब कोई मान नहीं रहे थे; अब खिलाफ़त नहीं थी और सभी इस्लामी देश, विशेषकर तुर्की, बहुत ज़्यादा राष्ट्रीय विचार के थे और उन्हें दूसरे देशों की इस्लाम, जनता की ज़रा भी फ़िक्र नहीं थी। और दूसरी जगहों की तरह एशिया में भी राष्ट्रीयता का ज़ोर था। हिंदुस्तान में राष्ट्रीय आंदोलन शक्तिशाली हो गया था, और उसने ब्रिटिश शासन को बराबर चुनौती दी। उस राष्ट्रीयता ने हिंदुस्तान के मुस्लिम मस्तिष्क को खूब लुभाया। स्वतंत्रता

की लड़ाई में मुसलमानों की बड़ी संख्या ने खासा हिस्सा लिया था। फिर भी हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता पर हिंदू हावी थे और उसके स्वरूप में हिंदूपन था। इससे मुस्लिम दिमाग़ में एक संघर्ष उठ खड़ा हुआ; बहुत से लोगों ने उस राष्ट्रीयता को मंज़ूर किया, और उन्होंने उसे अपनी वांछित दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश की। बहुत से लोगों की उसके साथ सहानुभूति थी, लेकिन वह अनिश्चित से अलग बने रहे। फिर भी, ऐसे भी बहुत से लोग थे, जो उस अलहदगी की दिशा में बहने लगे जिसके लिए इक़बाल के काव्यमय और दार्शनिक दृष्टिकोण ने उनको तैयार किया था।

जहां तक मेरा ख़याल है यही वह पृष्ठभूमि है, जिसमें से इधर हाल के बरसों में हिंदुस्तान के बँटवारे की आवाज़ उठी। और बहुत-सी वजहें थीं, और हर तरफ़ की ग़लतियां थीं, साथ ही ख़ास तौर से ब्रिटिश सरकार की पार्थक्य पैदा करने की वह नीति थी, जो जान-बूझ कर बरती गई थी। लेकिन इस सब के पीछे यह मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि थी जो और दूसरे ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त, हिंदुस्तान में मुस्लिम मध्यम-वर्ग के देर से जन्म लेने के कारण पैदा हुई थी। विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष के अतिरिक्त हिंदुस्तान में जो अंदरूनी संघर्ष है, वह वास्तव में सामंतवादी ढाँचे के बचे हुए हिस्सों और आधुनिक विचार और संस्थाओं में है। यह संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर है और साथ ही हर बड़े समुदाय में, जैसे हिंदू, मुसलमान आदि में है। राष्ट्रीय आंदोलन, जिसका प्रतिनिधित्व विशेषकर राष्ट्रीय कांग्रेस करती है, निश्चित रूप से विचारों और संस्थाओं से मेल बिठाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया को अभिव्यक्ति करता है। हां, उसमें कुछ पुरानी बुनियादों से भी मेल बिठाने की कोशिश है। इसी वजह से उसकी ओर सभी तरह के लोग आकर्षित हुए, वैसे उनमें आपस में बहुत अंतर है। जहांतक हिंदुओं का प्रश्न है एक कड़े सामाजिक ढाँचे ने उन्नति के मार्ग में रुकावटें डाली हैं, और यही नहीं बल्कि दूसरे समुदायों को डरा दिया है। लेकिन यह सामाजिक ढाँचा स्वयं खोखला हो गया है, और इसका कड़ापन तेज़ी से ग़ायब हो रहा है। जो भी हो, अब वह इतना शक्तिशाली नहीं है, कि व्यापक राजनीतिक और सामाजिक अर्थों में उस राष्ट्रीय आंदोलन की बढ़ती को रोक सके, जिसमें अब इतना वेग पैदा हो गया है कि वह सब अड़चनों के बावजूद अपने रास्ते पर आगे बढ़ता जाता है। मुसलमानों में सामंतवादी हिस्से शक्तिशाली बने रहे हैं, और वे साधारण मुस्लिम जनता पर

आम तौर से अपना नेतापन बनाए रखने में सफल हुए हैं। हिंदू और मुसलमान मध्यम-वर्ग की उन्नति में लगभग एक पीढ़ी का अंतर है, और वह अंतर राजनीतिक, आर्थिक और कई दूसरी दिशाओं में प्रकट होता है। इसी पिछड़ेपन की वजह से मुसलमानों में डर की मनोवृत्ति पैदा होती है।

पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बँटवारे का प्रस्ताव इस पिछड़ेपन का हल नहीं है। यह बात दूसरी है कि कुछ लोगों की भावुकता को यह प्रस्ताव बहुत रुचिकर हो। उससे तो इस बात की संभावना अधिक है कि कुछ वक़्त के लिए सामंतवादी हिस्सों का पंजा और अधिक दृढ़ हो जाय और उससे मुसलमानों की आर्थिक प्रगति में देरी हो। इक़बाल, पाकिस्तान को सब से पहले सलाह देने वालों में से एक थे, फिर भी ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने उसके जन्म-जात ख़तरे और उसके निकम्मेपन को महसूस कर लिया था। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि बातचीत के सिलसिले में इक़बाल ने उनको बताया कि उन्होंने मुस्लिम लीग के अधिवेशन के सभापति होने के नाते पाकिस्तान की सलाह दी थी, लेकिन उन्हें इस बात का विश्वास था कि पाकिस्तान कुल मिला कर सारे हिंदुस्तान के ही लिए और विशेषकर मुसलमानों के लिए घातक होगा। शायद उनके विचार बदल गए थे, या शायद पहले उन्होंने इस मामले पर ज़्यादा ग़ौर ही नहीं किया था क्योंकि उस समय उसका कोई महत्व न था। पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बँटवारे के बाद में पैदा हुए रूप से जीवन के उनके दृष्टिकोण का मेल ही नहीं बैठता।

अपने अंतिम वर्षों में इक़बाल समाजवाद की ओर दिन-ब-दिन अधिक झुके। सोवियट-रूस की बहुत बड़ी प्रगति ने उनको आकर्षित किया। यहांतक कि उनके काव्य को भी दिशा बदली। अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले जब कि वह रोग-शय्या पर पड़े थे, उन्होंने मुझे बुलाया, और मैंने खुशी से उनके बुलावे को स्वीकार किया। ज्यों-ज्यों हम दोनों ने बहुत-सी चीज़ों पर बातचीत की, मैंने यह अनुभव किया कि बहुत से भेदों के बावजूद, हम दोनों में बहुत-सी बातें एक-सी थीं और हमारे लिए एक साथ काम करना सहज होता। वह पुरानी बातों को याद कर रहे थे और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ जाते। मैं उनकी बात चुपचाप सुनता रहा, और स्वयं बहुत कम बोला। मैंने उनकी और उनकी कविता की प्रशंसा की, और मुझे यह अनुभव करके बहुत खुशी हुई कि वे मुझे पसंद करते थे, और मेरे बारे में उनकी अच्छी राय थी। विदा होने से पहले उन्होंने मुझसे कहा : "तुम

में और जिन्ना में क्या बात एक-सी है? वह एक राजनीतिज्ञ है, और तुम देशभक्त हो।" मेरी ऐसी आशा है कि अब भी मेरे और मि० जिन्ना के अंदर बहुत-सी एक-सी बातें हैं। जहांतक मेरे देशभक्त होने का सवाल है, मुझे नहीं मालूम कि इन दिनों में, कम-से-कम इस शब्द के संकुचित अर्थों में, यह कोई एक विशेषता की बात है। हिंदुस्तान से मैं बहुत आसक्त हूं और मैंने बहुत समय से ऐसा अनुभव किया है कि अपनी समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए राष्ट्रीय प्रेम के अलावा और किसी चीज़ की भी आवश्यकता है। सारी दुनिया की समस्याओं को सुलझाने के लिए तो यह और भी ज्यादा आवश्यक है। लेकिन इस बात में इक़बाल सही थे कि मैं कोई राजनीतिज्ञ नहीं था, यद्यपि मैं राजनीति के शिकंजे में आ गया था, और उसका शिकार बन गया था।

१२ : भारी उद्योग-धंधों का आरंभ : तिलक और गोखले : पृथक् निर्वाचन

मैं लगभग आधी सदी आगे बढ़ आया। इस काल में बहुत-से परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन शासन के ऊपरी ढाँचे में उतने नहीं हुए जितना कि जनता के मस्तिष्क में। कुछ साधारण वैधानिक सुधार अवश्य हुए, और बहुधा इनका दिखावा हुआ, लेकिन उनसे ब्रिटिश राज्य के स्वायत्त के ढंग में कोई भी अंतर नहीं आया। न उन्होंने ग़रीबी और बेकारी की समस्याओं को ही छुआ। सन् १९११ में, जमशेद जी टाटा ने, लोहे और फ़ौलाद का कारख़ाना उस जगह पर स्थापित करके, जो बाद में जमशेदपुर कहलाया, हिंदुस्तान में भारी धंधों की नींव डाली। सरकार ने इस कारख़ाने को और दूसरे उद्योग-धंधों को शुरू करने के प्रयत्नों को नापसंदगी की दृष्टि से देखा और उनको किसी भी ढंग से प्रोत्साहन नहीं दिया। अमरीकी विशेषज्ञों की ही मदद से यह लोहे और फ़ौलाद का उद्योग आरंभ हुआ। उसका बचपन बड़ी डावाँडोल हालत में बीता, लेकिन बाद में १९१४-१८ का महायुद्ध उसकी मदद को आ गया। बाद में फिर यह मुरझाने लगा और ऐसा भय हुआ कि यह अंग्रेज़ साहूकारों के हाथ में पहुँच जायगा, लेकिन राष्ट्रीय दबाव ने इसको बचा लिया।

हिंदुस्तान में कारख़ानों में काम करनेवाले मजदूरों की जमात बढ़ रही थी। वह असंगठित थी और बेबस थी और यह जमात उन किसानों में से ही तैयार

हुई थी, जिनका रहन-सहन का मापदंड बेहद नीचा था और इस बात से उनकी मज़दूरी की बढ़ती में या उनकी दशा-सुधार में रुकावट हुई। जहाँतक बे-हुनर मज़दूरों का सवाल है करोड़ों बेकार आदमी थे और उनमें से काम करनेवाले आदमियों को रखा जा सकता था और ऐसी हालत में कोई हड़ताल सफल नहीं हो सकती थी। सबसे पहली ट्रेड यूनियन कांग्रेस सन् १९२० के आसपास हुई। इस मज़दूर-वर्ग की गिनती इतनी काफ़ी नहीं थी कि उससे हिंदुस्तानी राजनीतिक क्षेत्र में कोई प्रभाव पड़ता। किसानों और ज़मीन के मज़दूरों की अपेक्षा वह नहीं के बराबर थे। सन् १९२० के बाद, कारख़ानों के मज़दूरों की आवाज़ सुनाई पड़ने लगी, लेकिन वह बहुत कमज़ोर थी। अगर रूसी क्रांति ने लोगों को कारख़ानों के मज़दूरों को महत्व देने के लिए विवश न किया होता तो शायद उसकी अवहेलना कर दी जाती। कुछ बड़ी और सुसंगठित हड़तालों की ओर भी ध्यान गया।

किसान, यद्यपि वह सभी जगह थे और उनकी समस्या हिंदुस्तान में सबसे बड़ी थी, इससे भी अधिक ख़ामोश थे और उनको राजनीतिक नेताओं और सरकार दोनों ने ही भुला दिया था। राजनीतिक आंदोलन में, आरंभ में ऊपरी मध्यम-वर्ग के आदर्शवादी रुझानों का और विशेषकर पेशेवर वर्गों का और उन लोगों का, जो नए शासन-यंत्र मशीन में स्थान पाना चाहते थे, ज़ोर था। जब राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसको सन् १८८८ में स्थापित किया गया था, वयस्क हुई तो एक नया नेतृत्व सामने आया, जो पिछले की अपेक्षा अधिक ज़ोरदार और निचले मध्यम-वर्ग के लोगों, विद्यार्थियों और नवयुवकों के अधिक बड़ी संख्या का प्रतिनिधित्व करने वाला था। बंग-भंग के विरुद्ध प्रबल आंदोलन में इस तरह के कई योग्य और प्रभावशाली नेता सामने आए; लेकिन नए युग के सच्चे प्रतीक महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक थे। पुराने नेतृत्व का प्रतिनिधित्व भी एक महाराष्ट्रीय सज्जन करते थे। इन का नाम था गोपाल कृष्ण गोखले। इनकी उम्र तो अधिक नहीं थी, लेकिन यह थे बड़े योग्य। क्रांतिकारी नारे हवा में गूंज रहे थे। मिज़ाज बिगड़े हुए थे और संघर्ष अनिवार्य था। इस संघर्ष को बचाने के उद्देश्य से कांग्रेस के बड़े-बूढ़े दादा भाई नौरोजी, जिनका सब आदर करते थे और जिनको सारे देश का ही वयोवृद्ध माना जाता था और जो कि अपनी अवस्था की वजह से इस काम से अलग हो गए थे, फिर सामने आए। लेकिन यह बचाव थोड़े दिनों को ही हुआ और सन् १९०७ में संघर्ष हुआ और उसमें प्रकट-रूप से पुराने उदार-दल की जीत हुई। लेकिन

इसकी जीत इस कारण हुई कि संस्था के संगठन पर उसका नियंत्रण था और कांग्रेस में मत-निर्वाचन बहुत सँकरा था। इस बात में कोई भी संदेह नहीं था, कि हिंदुस्तान में राजनीतिक दृष्टि से जगे हुए लोगों का अधिकतर हिस्सा तिलक और उनके समुदाय के पक्ष में था। कांग्रेस का महत्व काफ़ी घट गया, और उसकी दिलचस्पी दूसरे विषयों में हो गई। बंगाल में आतंकवादी काम सामने आया। रूसी और आयरिश क्रांतिकारियों का अनुकरण किया जा रहा था।

इन क्रांतिकारी विचारों का मुसलमान नवयुवकों पर भी असर हो रहा था। अलीगढ़ कॉलेज ने इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की और इसी समय सरकारी प्रेरणा से आगा ख़ां ने और दूसरे लोगों ने मुसलमानों के लिए एक राजनीतिक प्लेटफ़ार्म बनाने और इस तरह उनको कांग्रेस से अलग रखने के लिए मुस्लिम लीग को शुरू किया। इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन का निर्णय किया गया। हिंदुस्तान के भविष्य पर यह एक प्रभाव डालनेवाली बात थी। भविष्य में मुसलमान केवल पृथक् मुसलमान-निर्वाचन-क्षेत्रों से ही खड़े हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारों तरफ़ एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाक़ी हिंदुस्तान से अलग कर दिया गया। इस तरह आपस में घुल-मिलकर एक हो जाने की वह प्रक्रिया जो सदियों से चल रही थी और जो वैज्ञानिक प्रगति से अनिवार्य रूप से तेज़ हो रही थी अब उलट दी गई। यह दीवार आरंभ में छोटी-सी थी क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्र संकुचित था लेकिन हर बार मत निर्वाचन के बढ़ने से वह दीवार बढ़ती गई और उससे सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढाँचे पर इस तरह प्रभाव पड़ा, मानो सारे ढाँचे में घुन लग गया हो। इससे म्यूनिसिपल और स्थानीय स्वराज-संस्थाओं में विष फैला और अंत में बेहद ग़लत ढंग का विभाजन हुआ। काफ़ी बाद में पृथक् मुस्लिम ट्रेड यूनियन बनी, अलग विद्यार्थी-संगठन बने, और अलग व्यापारी चेंबर क़ायम हुए। चूंकि मुसलमान इन सारे कामों में पिछड़े हुए थे, इसलिए ये संस्थाएं अपने-आप पैदा नहीं हुईं, बल्कि इनको ऊपर से कृत्रिम रूप से बनाया गया और उनका नेतृत्व पुराने ढंग के अर्ध-सामंती लोगों के हाथों में रहा। इस तरह कुछ हद तक मुस्लिम मध्यम-वर्ग यहाँतक कि आम मुस्लिम वर्ग भी उन्नति की उन धाराओं से अलग हो गया जो कि शेष हिंदुस्तान पर प्रभाव डाल रही थीं। हिंदुस्तान में ऐसे बहुत से स्थापित स्वार्थ थे, जिनको ब्रिटिश सरकार ने पैदा किया था, या जिनकी

उसने रक्षा की थी। अब पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों का एक नया और प्रबल स्थापित स्वार्थ पैदा किया गया।

यह कोई ऐसी अस्थायी खराबी नहीं थी, जोकि बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना के साथ समाप्त हो जाती। सरकारी नीति से पोषण पाकर वह बढ़ी और चारों तरफ़ फैली; यहाँतक कि उसने देश की सारी असली समस्याओं को, चाहे वे राजनीतिक हों या सामाजिक या आर्थिक, ढँक लिया। इससे बँटवारे पैदा हुए और भेद पैदा हुए और वह भी ऐसी जगहों में जहां कि पहले उसका नाम भी नहीं था।

ऐसे समुदायों और अल्पसंख्यकों से, जो शिक्षा की दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे, बरतने की स्पष्ट नीति यह थी कि उनको अपनी कमी पूरी करने की हर ढंग से मदद की जाती। विशेषकर इस काम में एक प्रगतिशील शिक्षण-नीति से मदद मिलती। मुसलमानों के लिए और दूसरे अल्प-संख्यकों के लिए, या दलित वर्ग के लिए, जिसको इसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, ऐसी कोई भी चीज़ नहीं की गई। सारा तर्क नौकरियों में छोटी-छोटी जगहों के लिए था और बजाय मापदंड ऊँचा उठाने के, अक्सर योग्यता का बलिदान किया जाता।

इस तरह पृथक् निर्वाचन से वे समुदाय, जो कमज़ोर थे या पिछड़े हुए थे, और अधिक कमज़ोर हो गए। उससे पार्थक्य की भावना को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय एके की उन्नति में रुकावट पड़ी। पृथक् निर्वाचन के अर्थ थे लोकतंत्र से इंकार। उसने अत्यंत प्रतिक्रियावादी ढंग के नए स्थापित स्वार्थ पैदा किए, उससे मापदंड नीचे हो गए, और उसने सारे ही देश के सामने जो असली आर्थिक समस्याएं थीं, उनसे ध्यान हटा दिया। ये पृथक्-निर्वाचन-क्षेत्र मुसलमानों से शुरू हुए और बाद में ये दूसरे अल्प-संख्यकों और दूसरे समुदायों में भी फैल गए। यहाँतक कि हिंदुस्तान इन अलग-अलग हिस्सों का एक जमघट बन गया। उनसे हर ढंग की पार्थक्य की प्रवृत्तियां पैदा हुई और अंत में हिंदुस्तान के ही बँटवारे की माँग की गई।

ये पृथक्-निर्वाचन क्षेत्र आरंभ करने के समय लार्ड मॉर्ले भारत-मंत्री थे। इन्होंने पहले तो इसका विरोध किया; लेकिन आगे चलकर वाइसराय के दबाव की वजह से वे इसके लिए राज़ी हो गए। इस ढंग के अंदर जो जन्मजात खतरे हैं, उनका उन्होंने

अपनी डायरी में चर्चा किया है और यह बताया है कि उनसे प्रतिनिधि-संस्थाओं की उन्नति में अनिवार्य रूप से देर होगी । शायद इसी चीज़ को वाइसराय और उनके साथी चाहते थे । हिंदुस्तानी वैधानिक सुधारों पर मांटेगू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट में सांप्रदायिक निर्वाचन के खतरों पर फिर ज़ोर दिया गया है : "संप्रदायों और वर्गों के आधार पर बँटवारे के अर्थ हैं, ऐसे राजनीतिक दल तैयार करना जो एक-दूसरे के खिलाफ़ संगठित हों । उससे लोग चीज़ों को नागरिक की दृष्टि से नहीं बल्कि बँटवारे की दृष्टि से देखते हैं ।...... इसीलिए हमारी निगाह में सांप्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र का एक ढाँचा स्वशासन के सिद्धांत की उन्नति के लिए एक बहुत प्रबल रुकावट है ।"

८

: ६ :

अंतिम दर्शन (२)

राष्ट्रीयता बनाम अंतर्राष्ट्रीयता

मध्य वर्ग की बेबसी : गांधीजी का आना

पहला महायुद्ध आरंभ हुआ। राजनीति उतार पर थी। उसका मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस दो हिस्सों—गरम दल और नरम दल—में बँटी हुई थी। साथ ही युद्ध के समय की रुकावटें और पाबंदियां थीं। फिर भी एक प्रवृत्ति विशेषकर दिखाई पड़ रही थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए मध्य-वर्ग की विचार-धारा अधिकाधिक राष्ट्रवादी होती जा रही थी और वह मध्य वर्ग मुस्लिम लीग को कांग्रेस की ओर धकेल रहा था। यहांतक कि उन दोनों ने हाथ भी मिला लिए।

लड़ाई के काल में उद्योग-धंधे बढ़े और उनमें बहुत अधिक लाभ हुआ। बंगाल की जूट की मिलों में १०० फ़ीसदी से लेकर २०० फ़ीसदी तक सालाना मुनाफ़ा हुआ। इस मुनाफ़े का कुछ हिस्सा तो लंदन और डंडी में विदेशी पूँजीपतियों के पास चला गया और कुछ हिस्से से हिंदुस्तानी करोड़पति और भी मालदार हुए। फिर भी उन मजदूरों का, जिनकी बदौलत यह मुनाफ़ा हुआ था, रहने का स्तर इतना गिरा हुआ था कि उस पर विश्वास नहीं हो सकता। उनके रहने की कोठरियां बेहद गंदी और बीमारी पैदा करनेवाली थीं। उनमें न तो कोई खिड़की होती और न कोई धुँआ निकलने का रास्ता ही होता। वहां न कोई रोशनी का प्रबंध था, न पानी का और न वहां पर सफ़ाई का ही कोई इंतज़ाम था। और यह सब उस कलकत्ते के नज़दीक ही था जिसको महलों का शहर कहा जाता था और जिस पर विदेशी पूँजी का आधिपत्य था। बंबई में हिंदुस्तानी पूंजी अधिक दिखाई देती थी। एक जाँच कमीशन के अनुसार वहां १५ फ़ीट लंबे और १२ फ़ीट चौड़े एक कमरे में ६ कुटुंब, यानी कुल मिलाकर ३०, बड़े और छोटे प्राणी एक साथ गुजर करते थे। इनमें से तीन स्त्रियों का प्रसव-काल निकट था और उस अकेले कमरे में हर कुटुंब

का अलग-अलग चूल्हा था। यह एक विशेष उदाहरण है, किंतु यह कोई बहुत असाधारण अपवाद नहीं है। १६२०-३० के बीच के—जब कि कुछ सुधार हो चुके थे—इन उदाहरणों से उस समय की हालत का पता लगता है। इन सुधारों के पहले क्या दशा रही होगी यह सोचकर कल्पना भी ठिठककर रह जाती है।

कारखाने के मजदूरों की ये अँधेरी कोठरियां मैंने देखी थीं। मुझे याद है मैं वहां साँस लेने के लिए छटपटाने लगा था और जब बाहर आया तो क्रोध और घृणा से भरा हुआ था। मुझे याद है एक बार मैं झरिया की कोयले की खान में अंदर घुसा था और मैंने वहां मज़दूर-औरतों की हालत देखी थी। इस तसवीर को मैं कभी भी भुला नहीं सकता और न मैं उस चोट को ही भुला सकता हूं जो इंसानों को इस तरह काम करते देखकर मुझे लगी। इतने पर भी दसियों लाख आदमी भूखे रहते हैं और बेकार हैं। आदमियों की कोई कमी नहीं है। लेकिन मज़दूरी इतनी क़म है और काम करने की शर्तें इतनी बुरी हैं कि काम की तरफ़ कोई खिचाव नहीं होता।

सन् १६२८ में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस का भेजा हुआ एक शिष्ट-मंडल हिंदुस्तान आया। अपनी रिपोर्ट में उसने कहा कि "आसाम की चाय में सालहा-साल दस लाख हिंदुस्तानियों का पसीना, भूख, और मायूसी शामिल होती है।" सन् १६२७-२८ की रिपोर्ट में बंगाल के तंदुरुस्ती के महकमे के डायरेक्टर ने कहा कि उस सूबे का किसान-वर्ग "एक ऐसी खूराक पर गुजर कर रहा है जिस पर चूहे भी पाँच हफ़्ते से ज़्यादा ज़िंदा नहीं रह सकते।"

अंत में पहला महायुद्ध समाप्त हुआ और शांति के साथ चैन और उन्नति आने की बजाय दमनकारी क़ानून और पंजाब में फ़ौजी क़ानून आए। हमारी जनता में बेइज़्ज़ती की तीखी भावना और बेहद नाराज़ी भरी हुई थी। उस समय जब कि देश की मानवता को कुचला जा रहा था और लगातार शोषण की निर्दय प्रक्रिया से हमारी ग़रीबी बढ़ रही थी और हमारी शक्ति क्षीण हो रही थी, सुधारों और नौकरियों के भारतीयकरण की लंबी-चौड़ी बातचीत करना हमारी हँसी उड़ाना और हमारा अपमान करना था। हम लोग एक बेबस क़ौम बन गए थे।

लेकिन हम कर क्या सकते थे और इस कुटिल तरीक़े को कैसे रोकते? ऐसा मालूम पड़ता था कि किसी सर्वशक्तिमान् राक्षस के चंगुल में हम बेबस हैं, हमारे शरीर के भागों को लक़वा मार गया है और हमारे मस्तिष्क मृत हो गए हैं। किसान-

वर्ग दब्बू था और उसमें डर समाया हुआ था, कारख़ाने के मज़दूरों की हालत भी कोई बेहतर न थी। मध्यवर्ग के और पढ़े-लिखे लोग जो इस अँधेरे वातावरण में रोशनी दिखा सकते थे, स्वयं इस अंधेरे में डूबे हुए थे। कुछ हद तक तो उनकी हालत किसानों से भी ज़्यादा दयनीय थी। असंगठित बुद्धिजीवी लोगों की एक बड़ी संख्या किसी क़िस्म का हाथ का काम या वैज्ञानिक हुनर नहीं जानती थी और वह खेतों से अलग थी। कुछ मुट्ठी-भर सफल वकीलों, डाक्टरों, इंजीनियरों या क्लर्कों से आम जनता में क्या अंतर आ सकता था। किसान भूखे रहते थे, लेकिन अपने वातावरण के विरुद्ध सदियों में एक बेजोड़ संघर्ष करते-करते उनमें सहनशक्ति आ गयी थी, यहाँतक कि ग़रीब और भूखे होने पर भी उनमें एक विशेष प्रकार का शांतिपूर्ण आत्मसम्मान था और सर्वशक्तिशाली भाग्य के आगे सिर झुकाने की भावना थी। यह बात मध्य-वर्ग में और विशेषकर नए छोटे-से बुर्जुआ वर्ग में नहीं थी क्योंकि इनकी पृष्ठभूमि उनकी जैसी नहीं थी। वे लोग पूरी तरह पनप भी नहीं पाए थे कि उन पर पानी फिर गया। उनकी समझ में ही नहीं आता था कि किधर दृष्टि डालें; क्योंकि उनको पुराने या नए किसी में भी आशा दिखाई नहीं दे रही थी। यद्यपि उनका सामाजिक उद्देश्य से कोई मेल नहीं था, कोई सार्थक काम करने का संतोष भी उन्हें हासिल न था। रिवाजों के भार से दबे होने के नाते वे जन्म से पुराने तो थे किंतु उनमें पुरानी संस्कृति का अभाव था। आधुनिक विचार उन्हें आकर्षित करता था, लेकिन उनमें उसके भीतरी तत्त्व, आधुनिक सामाजिक और वैज्ञानिक चेतना की कमी थी।

हम क्या कर सकते थे ? ग़रीबी और पस्त-हिम्मती की इस दलदल से जो हिंदुस्तान को अपने अंदर खींचे जाती थी हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे ? उत्तेजना, तकलीफ़ और उलझन के कुछ बरसों से ही नहीं बल्कि लंबी पीढ़ियों से हमारी जनता ने अपने ख़ून और मेहनत, आँसू और पसीने की भेंट दी थी। हिंदुस्तान के शरीर और आत्मा में यह प्रक्रिया बहुत गहरी घुस गई थी और उसने हमारे सामाजिक जीवन के हर एक पहलू में विष डाल दिया था।

और तब गांधीजी का आना हुआ। गांधी जी ताज़ी हवा के उस प्रबल झोंके की तरह थे जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी साँस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आँखों के सामने से परदे को हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह से थे, जिसने बहुत-

सी चीज़ों को, विशेषकर मज़दूरों के विचारों को उलट-पुलट दिया। गांधी जी ऊपर से आए हुए नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तान की करोड़ों आदमियों की आबादी में से ही उपजे थे। उनकी भाषा वही थी जो आम लोगों की थी और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी भयावह स्थिति की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने कहा कि तुम लोग जो किसानों और मज़दूरों के शोषण पर निर्वाह करते हो, उनके ऊपर से हट जाओ; उस व्यवस्था को, जो ग़रीबी और तकलीफ़ की जड़ है, दूर करो। तब राजनीतिक स्वतंत्रता का एक नया रूप सामने आया और उसमें एक नया अर्थ पैदा हुआ। उनकी अधिकतर बातों को हमने आंशिक रूप में माना और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं माना। लेकिन यह सब एक गौण बात थी। उनकी सीख का सार था निर्भयता और सच; और इन दोनों के साथ सक्रियता मिली हुई थी और उसमें हमेशा आम लोगों की बेहतरी का ध्यान था। हमारी प्राचीन पुस्तकों में यह कहा गया था कि किसी मनुष्य या किसी राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा उपहार है अभय—निर्भयता—केवल शारीरिक हिम्मत ही नहीं बल्कि मस्तिष्क से डर का हट जाना। हमारे इतिहास के ही प्रभात में जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जनता के नेताओं का काम जनता को निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश राज्य के अंदर हिंदुस्तान में जो सबसे प्रमुख भावना थी उसमें डर, कुचलने वाला, दम घोटने वाला, मिटा देनेवाला डर था; फ़ौज का, पुलिस का, चारों तरफ़ फैले हुए खुफ़िया विभाग का डर था; अफ़सरों के वर्ग का डर था; कुचलनेवाले क़ानूनों और जेल का डर था; ज़मींदार के कारिंदे का डर था; साहूकार का डर था; बेकारी और भूखे मरने का डर था; जो सदा ही पास बने रहते थे। चारों तरफ़ समाए हुए इस डर के ही विरुद्ध गांधी की शांत किंतु दृढ़ आवाज़ उठी : "डरो मत।"

इस तरह मानो अचानक ही लोगों के ऊपर से डर का काला लबादा हटा दिया गया; यह नहीं कि वह पूरी तरह हटा दिया गया, लेकिन फिर भी एक बहुत बड़े एक आश्चर्यजनक हद तक तो हटा ही दिया गया। चूंकि डर झूठ का निकटस्थ मित्र है, इसलिए निडरता के साथ सच आता ही है। हिंदुस्तान की जनता जैसी भी थी, उससे कोई बहुत अधिक सच बोलने वाली नहीं बन गई; और न उस जनता ने रातों-रात अपने बुनियादी स्वभाव को ही बदल दिया। फिर भी एक बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा, क्योंकि झूठ और लुक-छिपकर काम करने की आवश्यकता कम हो गई। यह परिवर्तन मानो वैज्ञानिक था, ठीक इस ढंग से मानो कोई मनोविश्लेपक

प्रक्रिया का विशेषज्ञ रोगी के भूतकाल में गहरा घुस गया हो और उसने उस रोगी की मानसिक विकृति के कारण को जानकर, उसे रोगी के सामने खोल दिया हो और इस तरह उसको उसके बोझ से छुटकारा दिला दिया हो।

जैसे हम पहले थे उसकी अपेक्षा हम कोई बहुत अधिक सच्चे नहीं बन गए, लेकिन अटल सच के प्रतीक गांधीजी बराबर हमारे सामने थे जो हमको ऊपर खींचते थे और जो सच पर डटे रहने की हमें लाज दिलाते थे। सच क्या है? पक्के तौर पर मैं यह नहीं जानता, और शायद हमारे सच सापेक्ष हैं और पूरा-पूरा सत्य हमारी पहुँच के परे है। अलग-अलग आदमी सच को अलग-अलग तरह से ग्रहण करते हैं और हर आदमी पर अपनी-अपनी पृष्ठभूमि, शिक्षा और प्रवृत्तियों का महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। वही बात गांधीजी के साथ लागू थी। लेकिन आदमी के लिए कम-से-कम वह तो सच है ही जोकि वह स्वयं अनुभव करता है, और जोकि वह स्वयं समझता है। इस परिभाषा के अनुसार, गांधीजी की तरह सत्य में निष्ठा रखनेवाले किसी भी व्यक्ति को मैं नहीं जानता।

हिंदुस्तान में अलग-अलग हद तक गांधीजी ने करोड़ों आदमियों पर असर डाला; कुछ लोगों ने तो अपनी ज़िंदगी का ताना-बाना पूरी तरह बदल दिया, दूसरे लोगों पर थोड़ा-सा असर हुआ और वह असर पूरी तरह तो नहीं लेकिन फिर भी मिट गया। कारण यह था कि उसका कुछ हिस्सा पूरी तरह अलग भी नहीं किया जा सकता था। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं और हर एक आदमी इस सवाल का अपना अलग जवाब देगा। कुछ लोग तो कदाचित् एल्किबियेडीज़ के शब्दों में कहें: "इसके अतिरिक्त जब हम किसी को बात करते देखते हैं तो चाहे वह कितना ही ओजस्वी वक्ता क्यों न हो हम उसकी बात की रत्ती भर भी परवाह नहीं करते। लेकिन जब हम तुमको सुनते हैं या किसी को तुम्हारी बात दोहराते हुए सुनते हैं, तो चाहे उसके कहने का ढंग कितना ही भद्दा क्यों न हो और चाहे सुनने वाला पुरुष, स्त्री या बच्चा हो, हम भौंचक्के रह जाते हैं और ऐसा मालूम होता है कि हम पर जादू कर दिया गया हो। और सज्जनो, जहाँतक मेरा अपना सवाल है अगर मुझे यह डर न हो कि आप यह कहेंगे कि मैं बिलकुल पागल हो गया हूं तो मैं शपथ खाकर कह सकता हूं कि उसके शब्दों ने मेरे ऊपर कैसा आसाधारण असर डाला—और अगर फिर वह दोहराए जावें तो आज भी उनका वही असर होगा। ठीक उस समय जब कि मैं उसे बोलते हुए सुनता हूं

तो मैं एक ढंग के पवित्र आवेश से उत्तेजित हो उठता हूं और मेरा हृदय तुरंत जीभ पर आ जाता है और मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं—आह, यह सिर्फ़ मेरे साथ ही नहीं होता वल्कि यही हाल और वहुत से लोगों का भी होता है !"

२ : गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस एक गतिशील संस्था वन जाती है

कांग्रेस संस्था में गांधीजी पहली वार प्रविष्ट हुए और तुरंत ही उस संस्था के विधान में पूरी तरह परिवर्तन आया। उन्होंने कांग्रेस को लोकतंत्री और सार्वजनिक संस्था वना दिया। वैसे तो पहले भी वह लोकतंत्री थी लेकिन पहले उसके मतदाताओं का क्षेत्र संकुचित था, और वह केवल वड़े लोगों तक ही सीमित थी। अव उसमें किसान भी आए और अपने नए रूप में अव वह किसानों की एक वहुत वड़ी संस्था मालूम पड़ने लगी और उसमें वीच के दर्जे के लोगों का, यद्यपि उनकी संख्या थोड़ी थी, काफ़ी मिश्रण था। यह खेतिहर पहलू वढ़नेवाला था। कारखानों के मजदूर भी उसमें आए लेकिन वह केवल अपनी व्यक्तिगत हैसियत से, न कि अपने पृथक् और संगठित रूप में।

इस संस्था का उद्देश्य और उसकी वुनियाद थी सक्रियता। ऐसी सक्रियता जिसकी वुनियाद शांतिपूर्ण ढंग पर थी। अवतक जो रवैया था वह यह था, केवल वात करना और प्रस्ताव पास करना, या आतंकवादी काम करना। इन दोनों को ही अलग हटा दिया गया और आतंकवाद की तो विशेषकर निंदा की गई, क्योंकि वह तो कांग्रेस की वुनियादी नीति के विरुद्ध था। काम करने का एक नया ढंग निकाला गया जो वैसे तो विलकुल शांतिपूर्ण था लेकिन साथ ही उसमें जिस चीज़ को ग़लत समझा जाता था उसके सामने सिर झुकाना स्वीकार नहीं किया गया था। इस तरीक़े में जो कष्ट थे उनको सहन करने की स्वीकृति थी। गांधीजी एक अद्भुत प्रकार के शांत आदमी थे क्योंकि वह तो सक्रिय थे और उनमें गतिशील शक्ति भरी हुई थी। भाग्य या जो कुछ वह वुरा समझते थे उसके सामने उनमें सिर झुकाने की भावना नहीं थी। उनमें सामना करने की शक्ति भरी हुई थी। हां, उनका ढंग शांतिपूर्ण और मीठा था।

सक्रियता की पुकार दोहरी थी। स्पष्ट है कि विदेशी राज्य को चुनौती देने और उसका सामना करने की सक्रियता तो थी ही; साथ ही अपनी निजी सामाजिक

कुरीतियों का सामना करने की सक्रियता भी थी। कांग्रेस के आधारभूत उद्देश्य हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के अतिरिक्त और शांतिपूर्ण सक्रियता के साथ, कांग्रेस के मुख्य आधार थे राष्ट्रीय एकता, जिसमें अल्पसंख्यकों की समस्याओं को हल करना सम्मिलित था, और दलित जातियों को ऊपर उठाकर छूत-छात के अभिशाप को समाप्त करना।

ब्रिटिश राज्य की वास्तविक बुनियाद डर, रौब और उस सहयोग पर थी जो वे लोग मन या बे-मन से देते थे, जिनके स्थापित स्वार्थ ब्रिटिश राज्य में केंद्रित थे। गांधीजी ने इन बुनियादों पर चोट की। उन्होंने कहा की खिताबों को छोड़ो; और यद्यपि बहुत अधिक लोगों ने खिताब नहीं छोड़े फिर भी अंग्रेजों द्वारा दिए हुए खिताबों का जनता में आदर जाता रहा और यह अधःपतन के प्रतीक बन गए। नया मापदंड बना और नया मूल्यांकन हुआ और वाइसराय के दरबार और रजवाड़ों की शान और सजावटें, जो इतना प्रभाव डाला करती थीं, अब जनता की हद दर्जे की ग़रीबी और कष्ट के वातावरण में बेहद भद्दी, नामुनासिब, यहाँतक कि लज्जाजनक मालूम पड़ने लगी। अमीर आदमी अपनी दौलत का शानदार दिखावा करने के लिए उत्सुक नहीं थे। कम-से-कम ऊपरी तौर पर उनमें से बहुत से लोगों ने अपना रहन-सहन सादा बनाया और केवल उनकी पोशाक से उनमें और बराबरी में मामूली आदमियों में कोई अंतर नहीं मालम पड़ सकता था।

कांग्रेस के पुराने नेता जो एक अलग और अधिक निष्क्रिय परंपरा में पले हुए थे, इस नए परिवर्तन को सहज में अपना नहीं सके और साधारण जनता के उभार से उन्हें परेशानी हुई। फिर भी विचारों और भावनाओं की जो लहर देश में बही, वह इतनी प्रबल थी कि वे लोग भी कुछ हद तक उसके नशे से भर गए। बहुत थोड़े से लोग बाहर निकल गए। और उन में से एक मिस्टर एम०ए० जिन्ना भी थे। उन्होंने कांग्रेस को, हिंदु-मुस्लिम प्रश्न पर किसी मतभेद के कारण नहीं छोड़ा, बल्कि कांग्रेस को इस वजह से छोड़ा कि वह नई और अधिक उन्नत विचारधारा से मेल नहीं बिठा सके। इससे भी बड़ी वजह यह थी कि उनको हिंदुस्तानी में बोलनेवाले, सादगी मे रहनेवाले लोगों से, जिनकी कांग्रेस में भीड़ बढ़ रही थी, घृणा थी। राजनीति के संबंध में उनका विचार उस ऊँचे ढंग का था जो लेजिस्लेटिव एसेंबली के कमरे या कमेटी के कमरों के अनुरूप हो। कुछ बरसों तक तो वे मैदान मे बिलकुल अलग मालूम दिए, यहाँतक कि उन्होंने हमेशा के लिए

हिंदुस्तान छोड़ने का इरादा कर लिया। वे इंग्लैंड में बस गए और वहां उन्होंने कई वर्ष बिताए।

गांधीजी ने हमको गाँवों में भेजा, और सक्रियता के नए संदेश को ले जाने वाले अनगिनत दूतों के काम-काज से देहात में चहल-पहल मच गई। किसान को झकझोरा गया और वह अपनी निष्क्रियता के खोल से बाहर निकलने लगा। हम लोगों पर असर दूसरा था लेकिन कम गहरा नहीं था, क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि हमने पहली बार ग्रामीण को कच्ची झोपड़ी और भूख की उस छाया से जो उसका हमेशा पीछा करती रहती थी, चिपटे हुए देखा। हमने पुस्तकों और विद्वत्तापूर्ण भाषणोंकी अपेक्षा अपना हिंदुस्तानी अर्थशास्त्र इन आँखों-देखी हालतों से अधिक जाना। वह भावनात्मक अनुभव जो हमको पहले हो चुका था अब पक्का हुआ और उसके प्रमाण सामने आए। इसलिए आगे चलकर हमारे विचारों में और चाहे जो परिवर्तन होता, अब अपने जीवन के पुराने ढर्रे और पुराने माप-दंड पर लौटा नहीं जा सकता था।

आर्थिक, सामाजिक और दूसरे विषयों में गांधीजी के विचार बहुत कड़े थे। उन्होंने इन सबको कांग्रेस पर लादने का प्रयत्न नहीं किया। हां, उन्होंने अपनी विचार-धारा का बराबर पोषण किया और इस प्रक्रिया में कभी-कभी अपने लेखों के द्वारा उसमें परिवर्तन भी किया, लेकिन कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में पैठाने की कोशिश की। वह बड़ी-सावधानी से आगे बढ़े क्योंकि वह जनता को अपने साथ ले चलना चाहते थे। दो तरह से, उनके विचारों की पृष्ठभूमि का धुँधला लेकिन बहुत पर्याप्त प्रभाव हुआ। एक तो यह कि हर बात की बुनियादी कसौटी यह थी कि वह साधारण जनता को किस हद तक लाभ पहुँचाती है, और दूसरे यह कि चाहे उद्देश्य सही ही क्यों न हो, लेकिन साधनों का हमेशा ख़याल होना चाहिए और उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि साधनों का असर उद्देश्य पर पड़ता है और यह उद्देश्य में परिवर्तन पैदा कर सकते हैं।

गांधीजी विशेषकर एक धार्मिक व्यक्ति थे, जो अपने अस्तित्व के अंतरतम से भी हिंदू थे, फिर भी धर्म के उनके दृष्टिकोण का किसी परंपरा, किसी कर्म-कांड या किसी प्रचलित धारणा से कोई भी संबंध नहीं था। बुनियादी तौर पर उनका संबंध तो उस नैतिक क़ानून से था जिसको उन्होंने प्रेम या सत्य के क़ानून का नाम दिया है। सत्य और अहिंसा उनको एक ही वस्तु या एक ही वस्तु के अलग-अलग पहलू

मालूम देते हैं और उसके लिए दोनों में से एक ही शब्द में दोनों के अर्थ आ जाते हैं। हिंदू धर्म की बुनियादी भावना को समझने का दावा करते हुए भी वह ऐसी हर क्रिया और हर चीज़ को नामंजूर कर देते जो उनकी उचित आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाती। उनका कहना है कि यह चीजें या तो बाद में जोड़ दी गई हैं या बिगड़ी हुई शक्लों में हैं। गांधीजी ने कहा है, "उस प्रचलित ढंग या रीति का जिसको मैं समझ नहीं सकता हूं या नैतिक आधार पर मैं जिसकी हिमायत नहीं कर सकता हूं, मैं गुलाम होने को तैयार नहीं हूं।" जिस सुधार और जिस शिक्षा की वह दूसरों को सलाह देते हैं उस पर वह पहले स्वयं अमल करते हैं। वह हमेशा चीज़ों को अपने आप से शुरू करते हैं और उनके शब्दों और कार्यों में इस तरह का मेल होता है जैसा कि हाथ में और दस्ताने में होता है। और इसलिए चाहे जो कुछ होता रहे, उनका समूचा व्यक्तित्व कभी भी लुप्त नहीं होता, और उनके जीवन और कार्यों में सदा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई देती है। अपनी असफलताओं में भी वह ऊँचे उठते दिखते हैं।

अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार जिस साँचे में वह हिंदुस्तान को ढालने जा रहे थे वह क्या था? "मैं उस हिंदुस्तान के लिए काम करूँगा जिसमें ग़रीब-से-ग़रीब भी यह अनुभव करेगा कि यह उसका देश है और जिसके निर्माण में उसकी अपनी कारगर आवाज़ है; ऐसा हिंदुस्तान जिसमें सारी जातियां आपसी मेल के साथ रहेंगी।......ऐसे हिंदुस्तान में छुआछूत के या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी जगह नहीं हो सकती।......स्त्रियों को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जोकि पुरुषों के हैं।.....जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हूँ वह यह है।" जहां एक ओर स्वयं उन्हें अपने हिंदू उत्तराधिकार का अभिमान था, वहां साथ ही, उन्होंने हिंदूधर्म को एक विश्व व्यापी रूप देने का प्रयत्न किया और सच के घेरे में सब धर्मों को सम्मिलित किया। अपनी सांस्कृतिक विरासत को सँकरा करने से उन्होंने इंकार किया। उन्होंने लिखा है, "हिंदुस्तानी संस्कृति न तो बिलकुल हिंदू ही है और न बिलकुल मुसलमानी।" आगे चल कर वह कहते हैं, "मैं चाहता हूं मेरे घर में सब देशों की संस्कृति अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता के साथ फैले। लेकिन उनमें से कोई भी मुझे बहा ले जाय यह मैं न चाहूँगा। दूसरे लोगों के मकानों में एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे आदमी की तरह रहने को मैं तैयार नहीं हूं।" आधुनिक विचार-धारा का उन पर असर तो हुआ है, लेकिन उन्होंने अपनी जड़ों को कटने न दिया और वह उनको दृढ़ता से पकड़े रहे हैं।

हिंदुस्तान के ही नहीं वल्कि दुनिया भर के ग़रीब और लुटे हुए लोगों के साथ उनकी अद्भुत सहानुभूति थी। इन गिरे हुए लोगों को उठाने की लगन के सामने, और दूसरी चीज़ों की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। "एक अध-भूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है, न कला और न संगठन।" "करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज़ भी काम की हो सकती है, वही मेरे विचार में सुंदर वस्तु है। आज हम सबसे पहले जीवन देनेवाली चीज़ों को महत्त्व दें, और उसके वाद जीवन के सारे अलंकार और उसकी सारी परिष्कृतियां अपने आप आ जावेंगी।.......मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूं जो करोड़ों आदमियों के लिए काम का हो।" गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि "हर आँख से हर एक आँसू पोंछ दिया जावे।"

यह कोई अचंभे की वात नहीं है कि इस आश्चर्य जनक रूप से दृढ़ व्यक्ति ने, जिसमें आत्म-विश्वास है और एक असाधारण ढंग की शक्ति भरी हुई है और जो हर इंसान की वरावरी और स्वतंत्रता का हिमायती है, और जिसके यहां ग़रीब-से-ग़रीब आदमी का ख्याल है, हिंदुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुंवक की तरह उनको अपनी तरफ़ खींचा।

कांग्रेस गांधीजी के कहने में थी, लेकिन यह एक अजीव ढंग का अधिकार था, क्योंकि कांग्रेस सक्रिय थी, क्रांतिकारी थी और कई पहलुओं वाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ़ नहीं ले जाई जा सकती थी। अक्सर गांधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की तवियत पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने विरुद्ध निर्णयों को भी स्वीकार कर लिया। अपने लिए कुछ विशिष्ट वातों में गांधीजी ज़िद्दी थे, और कई अवसरों पर उनका और कांग्रेस का नाता टूट गया। लेकिन हमेशा ही वह हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और प्रवल राष्ट्रीयता के प्रतीक थे। हिंदुस्तान को ग़ुलाम वनानेवाले सभी लोगों के, वह कभी न झुकने वाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को स्वीकार करते थे—वैसे चाहे वे वहुत से मामलों में गांधीजी से सहमत न रहते हों। जिस समय कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो, उस समय लोगों ने उनके नेतृत्व को सदा ही स्वीकार नहीं किया, लेकिन जव संघर्ष अनिवार्य हुआ तो वह प्रतीक सव से अधिक महत्व का वन गया और शेष सव चीज़ें गौण हो गईं।

इस तरह १९२० में नेशनल कांग्रेस और बहुत हद तक सारे देश ने इस नए, अनदेखे रास्ते को अपनाया, और उसकी ब्रिटिश शक्ति के साथ बार-बार लड़ाई हुई। इस नए ढंग में और उस हालत में, जो पैदा हो गई थी, संघर्ष का बीज था। लेकिन इसके पीछे राजनीतिक चालें या पैंतरे नहीं थे, बल्कि हिंदुस्तानी जनता को दृढ़ बनाने की इच्छा थी, क्योंकि उस शक्ति के ही बूते पर वे स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे और उसको बनाए रख सकते थे। एक के बाद दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन हुआ, और उसमें बेहद मुसीबतें उठानी पड़ीं। लेकिन उन मुसीबतों को आप न्योता दिया गया था, और इसीलिए उनसे शक्ति मिलती थी। किसी समय भी, यहाँतक कि अपने बुरे दिनों में भी, कांग्रेस किसी बड़ी शक्ति या विदेशी शासन के सामने झुकी नहीं। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता की तड़पन और विदेशी शासन के विरोध की वह प्रतीक बनी रही। यही कारण था कि अधिकतर हिंदुस्तानियों की उसके साथ सहानुभूति थी। चाहे उनमें से बहुत से आदमी बहुत निर्बल रहे हों, या अपनी परिस्थितियों में वे आप कुछ भी न करने के लिए विवश रहे हों, फिर भी नेतृत्व के लिए उनकी निगाह कांग्रेस की ओर थी। कुछ दृष्टि से कांग्रेस एक पार्टी थी; साथ ही वह कई पार्टियों के लिए एक मिला हुआ मंच भी रही है; लेकिन वह केवल इतने से कुछ अधिक अर्थ रखती है, क्योंकि वह तो हमारी जनता की बहुत बड़ी संख्या की सब से भीतरी आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करती थी।

उस समय भी जब सविनय अवज्ञा आंदोलन जारी नहीं था, हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकारी यंत्र से असहयोग की आम प्रवृत्ति बराबर बनी रही। हां, उस समय उसका आक्रामक पहलू हट गया। इसके अर्थ यह नहीं हैं कि अंग्रेज़ों से असहयोग हो। जब बहुत से सूबों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित हुईं तो अनिवार्य रूप से शासन और प्रबंध के मामलों में काफ़ी सहयोग हुआ। लेकिन इतने पर भी वह पृष्ठभूमि अधिक नहीं बदली और सरकारी कामों के अतिरिक्त कांग्रेसियों का क्या व्यवहार हो इस बारेमें निर्देश दिए गए थे। यद्यपि कभी-कभी अस्थायी समझौता या मेल अनिवार्य हो जाता था लेकिन फिर भी हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता और विदेशी साम्राज्यवाद में कोई स्थायी शांति नहीं हो सकती थी। स्वतंत्र हिंदुस्तान इंग्लैंड को केवल बराबरी के दर्जे पर ही सहयोग दे सकता था।

३ : सूबों की कांग्रेसी सरकारें

ब्रिटिश पार्लमेंट ने कई साल तक कमीशन और कमेटियों के काम के वाद, और साथ ही वहस के वाद, सन् १९३५ में एक 'गवर्नमेंट अव् इंडिया ऐक्ट' पास किया। इस ऐक्ट में एक ढंग की प्रांतीय स्वाधीनता और संघीय ढाँचे का प्रबंध किया गया था, लेकिन इसमें इतने रोक और पेंच थे कि राजनीतिक और आर्थिक दोनों तरह की सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथों में ज्यों-की-त्यों वनी रही। सच तो यह है, कि कई ढंग से उस एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल की शक्ति को, जो ब्रिटिश सरकार के सामने ही उत्तरदायी थी, वढ़ा दिया था, और उसकी वुनियाद को दृढ़ कर दिया था। संघीय ढाँचा एक ऐसे रूप में था कि उससे वास्तविक उन्नति असंभव थी। ब्रिटिश सत्ता से संचालित उस शासकीय ढाँचे में हस्तक्षेप करने या उसमें सुधार करने के लिए हिंदुस्तानी जनता के प्रतिनिधियों के लिए कोई रास्ता ही नहीं छोड़ा था। उसमें किसी ढंग की ढील या परिवर्तन केवल ब्रिटिश पार्लमेंट के द्वारा हो सकता था। इस तरह इस ढाँचे के प्रतिक्रियावादी होने के साथ ही उसमें स्वविकास का तो कोई भी वीज नहीं था, ताकि किसी क्रांतिकारी परिवर्तन की नौवत न आए। इस ऐक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से, ज़मींदारों से और हिंदुस्तान के दूसरे प्रतिक्रियावादी वर्गों से मैत्री और भी अधिक दृढ़ हो गई। पृथक् निर्वाचन-पद्धति को इससे वढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला। इस ऐक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, वैंकिंग और जहाज़ी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अव और अधिक सुदृढ़ कर दिया। इस ऐक्ट में ऐसी धाराएं स्पष्टतया रख दी गईं कि उनकी इस हैसियत पर कोई रोक या पावंदियां नहीं लगाई जा सकती थीं। इस प्रतिवंध को जो नाम दिया गया था वह यह था कि कोई भेद-भाव नहीं वरता जायगा। इस क़ानून के अनुसार भारतीय राजस्व, फ़ौज और विदेशी नीति के सारे मामलों में पूरा नियंत्रण ब्रिटिश हाथों में ज्यों-का-त्यों वना रहा। इस विधान ने वाइसराय को पहले से कहीं अधिक शक्ति सौंप दी।

प्रांतीय स्वाधीनता के सीमित क्षेत्र में ज़्यादा अधिकार हस्तांरित किए गए, या कम-से-कम ऐसा मालूम तो पड़ा ही ; फिर भी एक सार्वजनिक सरकार की स्थिति वड़ी विचित्र थी। उस पर ग़ैर-ज़िम्मेदार केंद्रीय शासन और वाइसराय की शक्तियों की रोक-थाम लगी हुई थी। वाइसराय की तरह प्रांतीय गवर्नर भी

दखल दे सकते थे, किसी क़ानून को रोक सकते थे, और अपने निजी निर्णय और अधिकार के बल पर जनता के प्रतिनिधि मंत्रियों और सूबों की असेंबलियों के स्पष्ट विरोध के होते हुए भी कोई नया क़ानून जारी कर सकते थे। सरकारी आय का एक बहुत बड़ा हिस्सा कुछ स्थापित स्वार्थों के लिए निश्चित था, और उसमें हाथ भी नहीं लगाया जा सकता था। बड़ी नौकरियों और पुलिस का बचाव किया गया था और मंत्री लोग उनको छू भी नहीं सकते थे। उनका दृष्टिकोण प्रभुत्ववादी था और अपने पथ-निर्देश के लिए पहले की ही तरह मंत्रियों की जगह उनकी निगाह गवर्नर की तरफ़ रहती थी। लेकिन फिर भी यही लोग थे जिनके द्वारा सार्वजनिक शासनों को काम करना था। सरकार का सारा जटिल ढाँचा ज्यों-का-त्यों बना रहा; ऊपर गवर्नर से लेकर मामूली अहलकार, और पुलिस के आदमी तक—उस ढाँचे में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ। बस केवल उनके बीच में किसी जगह पर चुनी हुई असेंबली के प्रति ज़िम्मेदार कुछ मंत्री बिठा दिए गए थे, जो अपनी शक्ति भर काम करते थे। यदि गवर्नर (जो ब्रिटिश सत्ता का प्रतिनिधि था) और उसके नीचे कामकरने वाले सरकारी नौकर मंत्रियों का पूरा-पूरा साथ देते तो सरकारी यंत्र आसानी से चल सकता था। नहीं तो—और इसकी संभावना भी बहुत अधिक थी, चूँकि पुरानी प्रभुत्ववादी पुलिस-सरकार और सार्वजनिक सरकार के रवैये में बहुत बड़ा अंतर होता है—उनमें बराबर कशमकश और संघर्ष होना अनिवार्य था। यहाँतक कि उस समय भी जब कि गवर्नर और नौकरियों और सार्वजनिक सरकार की नीति में कोई स्पष्ट मतभेद नहीं हो, वे लोग उस सरकार के कार्य में रुकावट डाल सकते थे, देर कर सकते थे, उसको तोड़-मरोड़ सकते थे, यहाँतक कि उस पर पानी फेर सकते थे। क़ानूनी तौर पर ऐसी कोई चीज़ नहीं थी जो गवर्नर या वाइसराय को अपने मनमाने ढंग से काम करने से रोक सकती और इसमें चाहे मंत्रियों और असेंबली का सक्रिय विरोध ही क्यों न हो; संघर्ष का डर ही केवल एक कारगर रोक थी। मंत्री लोग पद-त्याग कर सकते थे और असेंबली में और कोई वर्ग बहुमत को अपनी ओर कर नहीं सकता था, और तब सार्वजनिक आंदोलन हो सकते थे। यह तो वही पुराना वैधानिक संघर्ष था जो निरंकुश राजा और पार्लमेंट में, दूसरे देशों में प्रायः होता आया है, और जिससे क्रांतियां हुई हैं और राजा को दबना पड़ा है। और सब बातों के साथ ही यहां पर तो राजा एक विदेशी सत्ता थी, जिसको विदेशी फ़ौज और आर्थिक शक्ति का सहारा

था, और जिसको विशेष स्वार्थ वाले समुदायों और उन जी-हुज़ूरों से जिनको उसने इस देश में पैदा किया था, सहायता मिलती थी।

इसी समय, हिंदुस्तान से वर्मा अलग किया गया। वर्मा में ब्रिटिश और हिंदुस्तानी, और कुछ हद तक चीनी, आर्थिक और व्यावसायिक स्वार्थों से संघर्ष रहा था। इसीलिए यह ब्रिटिश नीति रही थी कि वर्मा-वासियों में भारतीय-विरोधी और चीनी-विरोधी भावनाओं को वढ़ावा दिया जाय। कुछ समय तक तो इस नीति से मदद मिली, लेकिन जब यह स्वतंत्रता से इंकार के साथ जुड़ गई, तो उसका नतीजा यह हुआ कि वर्मा में एक प्रवल आंदोलन जापानियों के पक्ष में शुरू हो गया, और जब १९४२ में जापानियों ने हमला किया, तो यह ऊपर सतह पर आ गया।

हिंदुस्तानी विचार-धारा के हर एक हिस्से ने, १९३५ के ऐक्ट का प्रवल विरोध किया। उसमें उस हिस्से की, जो प्रांतीय स्वाधीनता से संबंधित था, तीखी आलोचना की गई, क्योंकि उसमें वहुत से रोक-थाम थे और उसमें गवर्नर और वाइसराय को विशेषाधिकार दिए गए थे। उसमें संघीय ढाँचे से संबंध रखने वाला हिस्सा और भी अधिक अखरा। स्वयं संघीय विधान का विरोध नहीं किया गया, क्योंकि यह तो आम तौर पर माना जाता था कि हिंदुस्तान के लिए संघीय ढाँचा उपयुक्त था, लेकिन जिस संघीय ढाँचे का प्रस्ताव किया गया था, उसमें ब्रिटिश राज्य और हिंदुस्तान में स्थापित स्वार्थों को दृढ़ किया गया था। केवल प्रांतीय स्वाधीनता से संबंध रखने वाला हिस्सा अमल में लाया गया और कांग्रेस ने चुनाव लड़ने का फ़ैसला किया। लेकिन इस सवाल पर कि उक्त ऐक्ट की सीमाओं के अंदर ही प्रांतीय शासन की ज़िम्मेदारी ली जाय या नहीं, कांग्रेस के अंदर वड़ी तीखी वहस हुई। अधिकतर सूबों में चुनाव में कांग्रेस को गहरी सफलता मिली, फिर भी जब तक यह वात स्पष्ट न हो जाय कि गवर्नर या वाइसराय का हस्तक्षेप नहीं होगा, मंत्रि-मंडल की उत्तरदायित्व लेने में झिझक थी। कुछ महीनों के वाद कुछ अस्पष्ट आश्वासन इस संबंध में दिए गए, और जुलाई १९३७ में कांग्रेसी सरकारें वनीं। अंत में, ग्यारह में से आठ सूबे में ऐसी सरकारें वनीं, और जो सूबे वाक़ी वचे, वे थे वंगाल, सिंध और पंजाव। सिंध का सूवा हाल ही में वनाया गया था, छोटा-सा और एक ढंग से अस्थायी था। वंगाल में जहाँतक धारा-सभा का प्रश्न है, कांग्रेस अकेले तो सब से वड़ी पार्टी थी, लेकिन कुल मिला कर वह वहुसंख्यक नहीं थी इसलिए वह शासन-कार्य में सम्मिलित नहीं हुई। हिंदुस्तान में ब्रिटिश पूँजी का वंगाल (या

कलकत्ता कहना अधिक सही होगा) प्रधान केंद्र होने की वजह से यूरोपीय व्यवसायी वर्गों को आश्चर्यजनक ढंग से अतिरिक्त प्रतिनिधित्व दिया गया था। गिनती में वे केवल मुट्ठी-भर हैं (शायद कुछ हज़ार ही) फिर भी उनको २५ जगहें दी गई हैं, जब कि सारे सूबे की आम ग़ैर-मुसलमानी आबादी को, जो एक करोड़ ७० लाख है, ५० जगहें दी गई। इस गिनती में परिगणित जातियों की आबादी सम्मिलित नहीं है। बंगाल की राजनीति में, धारा-सभा में, इस ब्रिटिश दल का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, और वह मंत्रिमंडल को बना-बिगाड़ सकता है।

यह बात स्पष्ट है, कि हिंदुस्तानी समस्या के अस्थायी हल की दशा में भी कांग्रेस १९३५ के ऐक्ट को मंज़ूर नहीं कर सकती थी। उसकी प्रतिज्ञा स्वतंत्रता के लिए थी, और उसे इस ऐक्ट से लड़ना था। फिर भी अधिकांश ने यही तय किया कि सूबे की स्वाधीनता के कार्य-क्रम को चलाया जाय। इस तरह उसकी दुहरी नीति थी: एक तो आज़ादी की लड़ाई को जारी रखना, और दूसरे धारा-सभा के द्वारा रचनात्मक काम और सुधार करना। खेतिहर जनता के सवाल पर, विशेष कर तुरंत ही ध्यान देना आवश्यक था।

यद्यपि कांग्रेस का, संख्या की दृष्टि से, बहुमत था और इसलिए एक तरह से, आवश्यक न होते हुए भी, इस सवाल पर विचार किया गया कि कांग्रेसी दूसरे दलों को अपने साथ लेकर मिली-जुली सरकार बनाएं। फिर भी सरकारी काम में अधिक-से-अधिक लोगों को अपने साथ ले लेना ज़्यादा अच्छा था। हमेशा ही, कैसी भी मिली-जुली सरकार बनाने में कोई विशेष बाधा नहीं है, और वास्तव में सरहदी सूबे में और आसाम में ऐसी सरकार बनाने की बात मान भी ली गई। सच तो यह है कि कांग्रेस स्वयं एक ढंग की सम्मिलित संस्था या संयुक्त मोर्चा थी जिसमें बहुत से दल थे, और वे हिंदुस्तान की स्वतंत्रता की लगन से एक साथ बँधे हुए थे। अपने अंदर इस ढंग की भिन्नता के होते हुए भी, उसमें एक अनुशासन और एक सामाजिक दृष्टिकोण था, और अपने शांतिपूर्ण ढंग से लड़ने का एक सामर्थ्य था। इससे अधिक बड़े सम्मिलन का अर्थ था ऐसे लोगों के साथ मिलना जिनका राजनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण बिलकुल भिन्न था और जिनकी ख़ास तौर से दफ़्तरों में या मंत्रिपद में दिलचस्पी थी। उस हालत में संघर्ष तो आरंभ से था—संघर्ष ब्रिटिश हितों के प्रतिनिधियों से, वाइसराय और गवर्नर से और दूसरे बड़े-बड़े अफ़सरों से, साथ ही ज़मीन में और उद्योग-धंधों में स्थापित स्वार्थों से, किसानों

के मामलों में, या मज़दूरों की हालतों पर, संघर्ष था। ग़ैर-कांग्रेसी हिस्से आम तौर पर राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से अनुदार थे, और उनमें से कुछ तो विशुद्ध अवसरवादी थे। अगर ऐसे हिस्से सरकार में सम्मिलित होते, तो वे हमारे सारे सामाजिक कार्य-क्रम को रद्द कर देते या कम-से-कम उसमें अड़चनें डालते, और उसमें देर करते। यही नहीं दूसरे मंत्रियों के पीठ-पीछे गवर्नर के साथ षड्यंत्र भी हो सकते थे। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा ज़रूरी था। इसमें किसी तरह की भी फूट हमारे उद्देश्य के लिए हानि पहुँचाने वाली होती। न आपस में बाँधने वाला कोई सीमेंट ही होता, और न कोई परस्पर मान्य निष्ठा ही होती, और न कोई एक आदर्श होता और मंत्रियों के व्यक्तिगत रूप में अलग-अलग दृष्टिकोण होते, और वे मंत्री अलग-अलग दिशाओं में चलते। स्वाभाविक तौर पर हमारे सार्वजनिक जीवन में ऐसे बहुत से लोग शामिल थे, जो केवल राजनीतिज्ञ थे, और उससे अधिक कुछ नहीं थे, और वे अच्छे और बुरे दोनों ही अर्थों में अपना हित साधने वाले अवसरवादी लोग थे। कांग्रेस में और साथ ही और दूसरी संस्थाओं में योग्य लगन वाले और देश-भक्त स्त्री-पुरुष और साथ ही मतलबी और अवसरवादी लोग भी थे। लेकिन १९२० के बाद से कांग्रेस वैधानिक राजनीतिक संस्था से कहीं अधिक बड़ी चीज़ रही थी, और वास्तविक अथवा निहित क्रांतिकारी कार्य का वायुमंडल उसे घेरे रहता था, और वह बहुधा क़ानून के दायरे से बाहर हो जाती थी। केवल इसलिए कि इस काम का हिंसा, गुप्त-मंत्रणा या षड्यंत्र या क्रांतिकारी काम की अन्य साधारण बातों से कोई संबंध नहीं था, कांग्रेस कुछ कम क्रांतिकारी नहीं थी। यह बात दूसरी है कि उसकी नीति सही थी या ग़लत, कारगर थी या नहीं—और इस पर बहस की जा सकती है—लेकिन यह बात स्पष्ट है कि उसमें होश भरा जोश था, और एक बहुत ऊँचे दर्जे की सहनशीलता थी।

धारासभा में कांग्रेस-पार्टियां इस बात के लिए चिंतित थीं कि किसी संकट के घिरने से पहले, मज़दूरों और किसानों के पक्ष में, नई क़ानूनी धाराएं बना दें। किसी मँडराते हुए संकट की भावना बराबर मौजूद थी; संकट तो उसमें बीज-रूप से था ही। प्रायः हर सूबे में एक और धारा-सभा थी, जो बहुत सीमित निर्वाचन पर निर्भर थी, और इस तरह उसमें ज़मीन या उद्योग से संबंधित स्थापित स्वार्थों का प्रतिनिधित्व था। प्रगतिशील क़ानून बनाने पर और दूसरे ढंग की रोक थी। मिली-

जुली सरकारों से ये सारी परेशानियां बढ़ जातीं, और यह तय किया गया कि सिवाय सरहदी सूबे और आसाम के शुरू में ऐसा न किया जाय।

किसी भी सूरत से यह निर्णय अंतिम निर्णय नहीं था, और परिवर्तन की गुंजाइश बराबर ध्यान में रखी गई, लेकिन तेज़ी से बदलती हुई हालतों ने इस परिवर्तन को अधिक कठिन बना दिया, और सूबे की कांग्रेसी सरकारें उन बहुत-सी समस्याओं में, जिन पर तुरंत ही ध्यान देने की आवश्यकता थी, फँस गई। बाद के बरसों में, इस निर्णय की बुद्धिमत्ता पर बहुत बहस हुई है, और उस पर अलग-अलग रायें हैं। किसी घटना के समाप्त होने पर बुद्धिमान बनना अधिक सहज है, लेकिन अब भी मेरा अपना ख़याल यही है कि राजनीतिक दृष्टि से और परिस्थितियों के लिहाज़ से हमारे लिए वह निर्णय स्वाभाविक था, और उचित था। फिर भी यह सच है कि सांप्रदायिक प्रश्न पर उसका बहुत बुरा असर पड़ा, और उसकी वजह से बहुत से मुसलमानों में शिकायत और पार्थक्य का प्रश्न पैदा हुआ। इससे बहुत से प्रतिक्रियावादी दलों ने लाभ उठाया और उन्होंने कुछ विशेष दलों में अपनी स्थिति दृढ़ कर ली।

राजनीतिक या वैधानिक दृष्टि से, इस नए ऐक्ट से और सूबों में कांग्रेसी सरकारों के स्थापित होने से, सरकारी ब्रिटिश ढाँचे में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ। वास्तविक शक्ति वहीं रही, जहां कि वह एक लंबे समय से थी लेकिन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक बहुत बड़ा अंतर आया और ऐसा मालूम पड़ा मानो देश में बिजली दौड़ गई हो। शहरों की अपेक्षा देहात में यह परिवर्तन अधिक दिखाई पड़ा। हां, शहरों के औद्योगिक केंद्रों के मज़दूरों में भी यही प्रतिक्रिया हुई। एक इस ढंग की भावना थी, मानो जनता को कुचलनेवाला बहुत बड़ा बोझ हट गया हो, और बहुत चैन हो; बहुत समय से दबी हुई सामूहिक शक्ति को छुटकारा मिला और वह चारों तरफ़ दिखाई पड़ती थी। कम-से-कम कुछ समय के लिए पुलिस और खुफ़िया विभाग का डर ग़ायब हो गया, यहाँ तक कि ग़रीब-से-ग़रीब किसान में भी आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास की भावना बढ़ी। पहली बार उसने यह अनुभव किया कि उसका भी महत्व है, और उसको भुलाया नहीं जा सकता। अब सरकार कोई अनजान दैत्य की तरह नहीं थी जो उससे, अफ़सरों के अनगिनत तहों से, अलग थी, और जिसपर असर डालना तो दूर रहा जिस तक आसानी से पहुँचा भी नहीं जा सकता था, और जिसके अफ़सर उसको अ[illegible]।

सूबे की सरकारों के मुख्य केंद्र में, पुराने शासन के गढ़ में, कई प्रतीक-स्वरूप दृश्य देखे गए। इन गढ़ों का नाम था प्रांतीय सेक्रेटेरियट; और यहीं सारे बड़े-बड़े दफ़्तर थे, और यह जगह बहुत ऊँची और लोगों की पहुँच से परे समझी जाती थी, और यहां से ऐसी गुप्त आज्ञाएं निकलती थीं जिनको कोई चुनौती नहीं दे सकता था। पुलिस के आदमी या लाल वर्दी वाले अर्दली, जिनकी कमर की चपरासों में चमकती हुई कटारें लटकती थीं, इन पर पहरा देते थे, और केवल वही लोग, जो भाग्यशाली थे या बहुत साहसी थे, और या जो बहुत बड़ी तिजोरियों वाले थे, इनको पार कर अंदर पहुँच सकते थे। अब अचानक ही गाँव के और शहर के झुंड-के-झुंड लोग इन पवित्र हदों में घुसते और जहां मन चाहे घूमते। उनकी हर एक चीज़ में दिलचस्पी थी; वे असेंबली चैंबर में गए, जहां कि मेंबर लोग काम-काज करते थे; उन्होंने मंत्रियों के कमरों में भी दृष्टि डाली। उनको रोकना कठिन था, क्योंकि वे अपने आपको वाहर का नहीं समझते थे; और यद्यपि यह उनके लिए बहुत जटिल था, और उनको समझना कठिन था, फिर भी उनमें एक स्वामित्व की भावना थी। पुलिस के आदमी और चमकती हुई कटारों वाले अर्दली जड़वत् थे; पुराने मापदंड गिर गए थे; यूरोपीय पोशाक का, जोकि ओहदा और शासन की निशानी थी, अब महत्व नहीं था। असेंबली के मेंबरों और शहर और देहात से आनेवाले आदमियों में छाँट करना कठिन था। अक्सर उन लोगों की पोशाक एक-सी ही होती थी। आम तौर पर हाथ का बना हुआ कपड़ा होता था, और सिर पर सुपरिचित गांधी टोपी होती थी।

पंजाब और बंगाल में, जहां कि मंत्रि-मंडल कई महीने पहले बन चुके थे, दूसरी हालत थी। वहां की प्रगति में कोई रुकावट नहीं पैदा हुई और परिवर्तन बिलकुल खामोशी से हुए थे, और जीवन के ढंग में कोई भी अंतर नहीं हुआ था। विशेषकर पंजाब में पुराना रवैया जारी था, और अधिकतर मंत्री नए नहीं थे। वह पहले भी ऊँचे अफ़सर रह चुके थे, और अब भी थे। उनमें और ब्रिटिश शासन में कोई भी संघर्ष या तनातनी नहीं थी, क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से उस शासन की प्रधानता थी।

नागरिक स्वतंत्रता और राजनीतिक कैदियों के सिलसिले में कांग्रेसी सूबों और पंजाब और बंगाल में जो अंतर था वह तुरंत ही प्रकट हो गया। पंजाब और बंगाल दोनों ही सूबों में पुलिस और खुफ़िया-विभाग के राज में किसी तरह की ढील नहीं

हुई, और न राजनीतिक क़ैदियों को छुटकारा ही मिला। बंगाल में, जहां कि मंत्रि-मंडल अक्सर यूरोपीय वोटों के सहारे चलता था, इन सब के अतिरिक्त हज़ारों नज़रबंद थे यानी ऐसे स्त्री और पुरुष जिनको अनिश्चित काल के लिए बिना मुक़दमा चलाये ही जेल में वर्षों से बंद कर रखा गया था। इसके विपरीत कांग्रेसी सूबों में, जो सबसे पहला क़दम उठाया गया, उससे राजनीतिक क़ैदियों की रिहाई हुई। इनमें से कुछ लोगों के मामलों में, जो हिंसात्मक कार्रवाइयों के लिए क़ैद किए गए थे, गवर्नर के सहमत होने से इंकार करने की वजह से देरी हुई। इसी मामले पर १६३८ के आरंभ में बात बहुत बढ़ गई, और दो कांग्रेसी सरकारों ने (संयुक्त प्रांत और बिहार में) अपने इस्तीफ़े भी पेश कर दिए। इस पर गवर्नर ने अपना विरोध वापिस लिया और क़ैदी छोड़ दिए गए।

४ : ब्रिटिश अनुदारता और हिंदुस्तानी सरगर्मी

नई प्रांतीय असेंबलियों में, देहाती क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व बहुत ज़्यादा था, और इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि उन सब में कृषि-संबंधी सुधारों की माँग हुई। स्थायी बंदोबस्त और दूसरे कारणों से बंगाल में काश्तकारों की हालत सब जगह से अधिक खराब थी। उनके बाद उन बड़े-बड़े सूबों का नंबर था, जहां ज़मींदारी-प्रथा थी। इनमें मुख्य सूबे थे बिहार और संयुक्त-प्रांत। उसके बाद वे सूबे थे जहां शुरू में काश्तकार को खुद ज़मीन का मालिक बनाया गया था, लेकिन जहां बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां भी बन गई थीं। ये सूबे थे मद्रास, बंबई और पंजाब। बंगाल में हर कारगर सुधार के रास्ते में स्थायी बंदोबस्त की अड़चन थी। क़रीब-क़रीब सभी आदमी इस मामले में एकमत थे कि स्थायी बंदोबस्त समाप्त हो जाना चाहिए, यहाँतक कि एक सरकारी कमीशन ने इसको समाप्त करने की सिफ़ारिश की है, लेकिन स्थापित स्वार्थों वाले ऐसा इंतज़ाम करते हैं कि यह परिवर्तन रुक जाता है या उसमें देर हो जाती है। इस मामले में पंजाब भाग्यशाली रहा क्योंकि उसको नई ज़मीन मिल गई।

कांग्रेस के लिए कृषि-संबंधी प्रश्न एक विशेष सामाजिक समस्या थी और उसके अध्ययन और इस संबंध में नीति बनाने के लिए काफ़ी समय दिया गया था। यह नीति हर सूबे में अलग-अलग थी, क्योंकि हर सूबे की हालत अलग-अलग थी, और साथ ही सूबों की कांग्रेस कमेटियों में वर्ग-मिश्रण अलग-अलग था। केंद्रीय

संस्था द्वारा निर्धारित एक अखिल भारतीय नीति थी, जिसमें हर सूबे ने अपनी विशेष स्थिति को ध्यान में रखकर और बातें जोड़ लीं। इस दृष्टि से संयुक्त-प्रांतीय कांग्रेस सबसे आगे थी, और वह इस परिणाम पर पहुँच गई थी कि ज़मींदारी प्रथा को समाप्त कर देना चाहिए। गवर्नर और वाइसराय के विशेषाधिकारों और सूबे की ऊपरी धारा-सभाओं को, जिनमें अधिकतर ज़मींदार थे, छोड़ने पर भी १९३५ के 'गवर्नमेंट अव् इंडिया ऐक्ट' के अंतर्गत ऐसा करना असंभव था। इसलिए इस ढाँचे के ऊपरी घेरे के अंदर ही परिवर्तन करना था। हां, यह बात दूसरी थी कि कोई क्रांतिकारी बात उठ खड़ी हो, और वह स्वयं इस प्रथा को समाप्त कर दे। इसलिए सुधार करना कठिन हो गया, और उसमें बहुत-सी उलझनें पैदा हुईं और इसमें आशा से अधिक समय लगा।

फिर भी कृषि-संबंधी महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए, और साथ ही देहाती क़र्ज़ की समस्या पर भी प्रहार किया गया। इसी तरह कारखानों में मज़दूरों की दशा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफ़ाई, स्थानीय स्वराज्य संस्थाएं, प्रारंभिक और विश्वविद्यालय की उच्च-शिक्षा, साक्षरता, उद्योग, ग्रामोन्नति आदि दूसरी समस्याओं को सुलझाया गया। पहली सरकारों ने इन सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं को भुला दिया था, और ध्यान से उतार दिया था; उनका काम तो पुलिस और कर-वसूली विभाग को कुशल बनाना था, और ये बाक़ी विभागों को अपने ढंग से चलने की इजाज़त देती थीं। कभी-कभी थोड़ी-सी कोशिश की गई थी, और कमीशन और जाँच-कमेटियां नियुक्त की गई थीं। और ये बरसों की यात्रा और परिश्रम के बाद लंबी-चौड़ी रिपोर्टें तैयार करतीं। तब वे रिपोर्टें अपनी-अपनी दराज़ों में रख दी जातीं, और उन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाती। यही नहीं बल्कि बार-बार सार्वजनिक माँग के होते हुए भी सही और पूरे आँकड़े भी इकट्ठे नहीं किए गए थे। किसी भी दिशा में प्रगति करने के मामले में, इन आँकड़ों की कमी और पूरी-पूरी खबर के अभाव से बड़ी भारी रुकावट रही है। इस तरह आम शासकीय काम के अतिरिक्त प्रांतीय सरकारों के सामने काम का पहाड़ था, जो बरसों की लापरवाही का नतीजा था, और हर तरफ़ ऐसी समस्याएं थीं जिन पर तुरंत ध्यान देना आवश्यक था। पुलिस-सरकार को बदलकर, जन-नियंत्रित सरकार बनाना था। एक तो वैसे ही यह काम कोई आसान काम नहीं था, फिर उनके सीमित अधिकारों की वजह से, लोगों की ग़रीबी की वजह से, और प्रांतीय

और केंद्रीय सरकार के (जो वाइसराय के अधीन पूरी तरह स्वेच्छाचारी और प्रभुत्ववादी थी) अलग दृष्टिकोण होने की वजह से, यह काम और भी अधिक कठिन हो गया।

इन सब त्रुटियों और रुकावटों को हम जानते थे और हम अपने दिल में यह अनुभव करते थे कि जबतक स्थिति में जड़ से परिवर्तन न आएं, तब तक हम कोई बड़ा काम नहीं कर सकते थे, और इसीलिए स्वतंत्रता की प्रबल इच्छा थी, फिर भी आगे बढ़ने की लालसा हममें भरी हुई थी, और हमारी इच्छा थी कि दूसरे देशों को, जो कई ढंग से आगे बढ़े हुए थे, हम दौड़ कर पकड़ लें। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका हमारे सामने था, और यही नहीं कुछ पूर्वीय देश भी थे, जो तेज़ी से आगे बढ़ रहे थे। लेकिन हमारे सामने जो सबसे बड़ी मिसाल थी वह यह थी सोवियट यूनियन की, जिसने लड़ाई, आंतरिक संघर्ष और अदम्य प्रतीत होने वाली कठिनाइयों से भरे बीस बरस के अंदर ही बड़ी भारी उन्नति की थी। साम्यवाद की तरफ़ कुछ लोग खिचे और कुछ लोग नहीं भी खिचे थे, लेकिन सब लोग शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य-प्रबंध, शरीर-रक्षा और उपजातियों की समस्याओं के हल के बारे में सोवियट यूनियन की प्रगति की ओर खिचे थे। वे लोग पुराने पचड़ों से सोवियट यूनियन के एक नए संसार बनाने के आश्चर्य-पूर्ण भगीरथ प्रयत्न से प्रभावित थे। यहाँतक कि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर, जो बहुत अधिक व्यक्तिवादी थे, और जो साम्यवाद के कुछ पहलुओं मे प्रसन्न नहीं थे, इस नई सभ्यता के प्रशंसक बन गए, और उन्होंने अपने देश की वर्तमान अवस्था के साथ उसका मिलान किया। अपने अंतिम संदेश में, जो उन्होंने मृत्यु-शय्या से दिया था, उन्होंने सोवियट रूस की उस लगन और उसके निरंतर प्रयत्नों का चर्चा किया, "जिससे उसने रोग और निरक्षरता का सामना किया, और अज्ञान और निर्धनता को मिटाने में सफलता प्राप्त की और एक महादेश के मुँह पर से हीनता की भावना को मिटा दिया।"

अगर दूसरे लोग यह कर सकते हैं तो हम क्यों नहीं कर सकते? हमें अपनी सामर्थ्य में, अपनी बुद्धि में, अपनी लगन में, अपनी सहनशीलता में और सफलता में भरोसा था। हम अपनी कठिनाइयों को, अपनी ग़रीबी और पिछड़ेपन को, अपने प्रतिक्रियावादी दलों और वर्गों को और आपसी भेदों को जानते थे फिर भी हम उनका सामना कर उन्हें जीत सकते हैं। हम जानते थे कि क़ीमत बहुत महँगी है, फिर भी हम उसे देने के लिए तैयार थे।

फिर भी चूँकि इन सूबों की सरकारों में हमारे लिए अवसर था, (चाहे वह कितना ही सीमित और संकुचित क्यों न हो) हम उससे पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहते थे। लेकिन हमारे मंत्रियों के लिए यह बड़ा जी तोड़ने वाला काम था। वे बेहद काम और ज़िम्मेदारी से घिरे हुए थे। दुर्भाग्य से इन मंत्रियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। उनसे यह आशा की जाती थी कि वे सादा रहन-सहन का और सार्वजनिक खर्च में मितव्यय का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। उनके वेतन थोड़े थे और एक विचित्र दृश्य दिखाई देता कि उन मंत्रीयों के सेक्रेटरी या दूसरे आधीन लोग, जो इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे, वेतन और भत्ता मिलाकर इतना रुपया पाते थे, जो मंत्रियों के वेतन से चार या पाँच गुना था। हम लोग सिविल सर्विस वालों के वेतन में हाथ भी नहीं लगा सकते थे। यही नहीं, रेल से मंत्री दूसरे या कभी-कभी तीसरे दर्जे में यात्रा करता, जबकि उसका सहकारी उसी गाड़ी में पहले दर्जे में या ठाट के साथ रिज़र्व डिब्बे में यात्रा करता।

अकसर यह कहा गया है कि केंद्रीय कांग्रेस-कार्यकारिणी ने ऊपर से आज्ञा जारी करके इन सूबों की सरकारों के काम में बराबर हस्तक्षेप किया। यह बिलकुल ग़लत बात है। अंदरूनी इंतज़ाम में कोई भी हस्तक्षेप नहीं था। कांग्रेस-कार्यकारिणी जो चीज़ चाहती थी वह यह थी कि सारे बुनियादी राजनीतिक मामलों में सब सूबों की सरकारों की एक-सी नीति हो, और वह कांग्रेसी कार्यक्रम, जो चुनाव के घोषणा-पत्र में रखा गया था, जहां तक मुमकिन हो, आगे बढ़ाया जाय। विशेषकर गवर्नरों और हिंदुस्तान-सरकार के प्रति इनकी नीति एक-सी होती थी।

अगस्त १९३७ में, कांग्रेसी सूबों की सरकारों के स्थापित होने के बाद तुरंत ही कांग्रेस-कार्य समिति ने निम्नलिखत प्रस्ताव पास किया :

"कार्य-समिति कांग्रेसी मंत्रियों से इस बात की सिफ़ारिश करती है कि वे विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त करें, जो उन आवश्यक और महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करे, जिनका हल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और सामाजिक विधान की किसी भी योजना के लिए आवश्यक है। इस हल के लिए व्यापक छान-बीन करनी होगी, और आँकड़े इकट्ठे करने होंगे, और साथ ही एक सुस्पष्ट और सुनिश्चित सामाजिक आदर्श आवश्यक होगा। इनमें से बहुत सी समस्याओं का प्रांतीय आधार पर पूरा-पूरा हल नहीं होगा, क्योंकि एक दूसरे से लगे हुए प्रांतों के हित आपस में घुलेमिले

हैं। नदियों की विस्तृत जाँच करना है, ताकि ऐसी नीति निर्धारित हो सके कि विनाशकारी बाढ़ें रोकी जा सकें और उनके पानी से सिंचाई के काम में लाभ उठाया जा सके, ज़मीन के ख़राब होने का प्रश्न सोचा जा सके, मलेरिया रोका जा सके और पानी से बिजली पैदा करने की या ऐसी ही और दूसरी योजनाओं पर विचार हो सके। इस उद्देश्य के लिए पूरी नदी की घाटी की जाँच और छान-बीन हो, और बड़े पैमाने पर सरकारी तौर से योजना बने। उद्योग-धंधों की उन्नति और नियंत्रण के लिए कितने ही सूबों को मिलजुल कर एक साथ काम करना आवश्यक है। इसलिए कार्य-समिति यह सलाह देती है, कि पहले विशेषज्ञों की अंतर्प्रान्तीय कमेटी नियुक्त की जाय, जो समस्याओं की साधारण प्रकृति पर विचार करे, और वह अपनी राय प्रकट करे कि किस तरह और किस ढंग से उनको हल करने के लिए आगे बढ़ा जाय। विशेषज्ञों की यह कमेटी अलग-अलग समस्याओं के लिए अलग-अलग कमेटी या बोर्ड नियुक्त करने की सलाह दे सकती है, और ये कमेटियां संबंधित प्रांतीय सरकारों को मिल-जुल कर काम करने और कार्यक्रम के संबंध में सलाह दे सकती हैं।"

इस प्रस्ताव से उस सलाह की झलक मिलती है जो किसी समय सूबों की सरकारों को दी गई थी। इससे यह भी प्रकट होता है कि आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में सूबों की सरकारों में आपसी सहयोग बढ़ाने के लिए कांग्रेस-कार्य समिति कितनी प्रयत्नशील थी। इस प्रस्ताव से यह भी प्रकट है कि कांग्रेस बड़े पैमाने पर उठाई गई सरकारी योजना को कितना महत्त्व देती है। जबतक केंद्रीय सरकार सार्वजनिक नियंत्रण में नहीं थी, और जबतक सूबों की सरकारों पर से बेड़ियां नहीं हटतीं, तबतक इस तरह की योजना बनाना असंभव था। फिर भी हमें ऐसी आशा थी कि कुछ आवश्यक प्रारंभिक कार्य किया जा सकता है, और भविष्य की योजनाओं की बुनियाद रखी जा सकती है। १९३८ के अंतिम महीनों में, नेशनल प्लानिंग कमेटी (राष्ट्रीय योजना-निर्माण समिति) बनी और मैं उसका सभापति हुआ।

मैं प्रायः कांग्रेसी सरकारों के काम की आलोचना करता और उनकी प्रगति के धीमेपन पर झुंझलाता। लेकिन अब पीछे दृष्टि डालते हुए, उनके कारनामों पर, जो उन्होंने सवा दो साल के छोटे-से काल में दिखाए, मैं आश्चर्य में पड़ जाता हूं। उनके ये कारनामे उन अनगिनित कठिनाइयों के बावजूद थे जो उन्हें बराबर

घेरे रहती थीं। दुर्भाग्य से उनके कुछ महत्वपूर्ण कामों का नतीजा नहीं निकल पाया, क्योंकि जिस समय वह पूरा होने को था उन लोगों नें इस्तीफ़ा दे दिया, और वाद में उनके उत्तराधिकारियों ने अर्थात् ब्रिटिश गवर्नर ने, उस काम को ढहा दिया। खेतिहर और मज़दूर दोनों ही तरह की जनता को लाभ हुआ, और उनकी शक्ति वढ़ गई। एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और गहरा लाभ यह था कि वुनियादी शिक्षा नाम की एक सार्वजनिक शिक्षा-प्रणाली को आरंभ कर दिया गया। इसकी वुनियाद केवल शिक्षा के नवीनतम सिद्धांत पर ही नहीं थी. वल्कि हिंदुस्तानी स्थिति के लिए यह मुख्यतया उपयुक्त थी।

हर एक स्थापित स्वार्थ ने प्रगतिशील परिवर्तन के रास्ते में अड़चनें डालीं। कानपुर के सूती कपड़े के कारखानों में मज़दूरों की हालतों के सिलसिले में जाँच करने के लिए संयुक्त प्रांतीय सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी के साथ मिल-मालिकों ने (विशेषकर यूरोपीयों ने, वैसे तो उनमें कुछ हिंदुस्तानी भी शामिल थे) अधिक से अधिक अशिष्ट वर्ताव किया, और उन्होंने वहुत-सी वातें और आँकड़े वताने से इंकार कर दिया। मज़दूरों को वहुत समय से मिल-मालिकों और सरकार के संगठित विरोध का सामना करना पड़ा था, और पुलिस मिल-मालिकों की मदद को हमेशा तैयार रहती थीं। इसलिए इस नीति में कांग्रेसी सरकारों ने जो परिवर्तन किए वह मिल-मालिकों को अप्रिय हुए। श्री० वी० शिवराव, जो हिंदुस्तान में मज़दूरों के आंदोलन से वहुत अर्से से जानकारी रखते हैं, और जो उदार दल के हैं, हिंस्दुतान में मिल-मालिकों की चाल के वारे में लिखते हैं : "हड़ताल के अवसरों पर मिल-मालिकों में जो औचित्य वुद्धि का अभाव और कार्य की अक्षमता दिखाई देती है, और जिस तरह पुलिस की मदद ली जाती है, उस पर उन लोगों को, जो हिंदुस्तानी परिस्थितियों से अपरिचित हैं, विश्वास नहीं होगा।"

सरकारें नीति निश्चित करती हैं, धारासभाएं क़ानून वनाती हैं; लेकिन इस नीति को अमल में लाना और इन क़ानूनों को लागू करना, अंत में स्थायी नौकरियों और प्रवंध-विभागों पर निर्भर होता है। प्रांतीय सरकारों को इस तरह अनिवार्य रूप से स्थायी नौकरियों और मुख्यतया इंडियन सिविल सर्विस और पुलिस पर भरोसा करना पड़ता था। ये नौकरियां एक प्रभुत्ववादी और दूसरी ही परंपरा में पली थीं, और वे इस नए वातावरण को और जनता को अपने अधि-

कारों पर ज़ोर देने की प्रवत्ति को नापसंद करती थीं। उन्हें यह बात नापसंद थी कि उनका निजी महत्व कम हो और वे उन लोगों के अधीन हों जिनको वे गिरफ़्तार करने और जेल भेजने की आदी थीं। आरंभ में तो उनमें शंकाएं उपजीं कि न जाने क्या होगा। लेकिन कोई विशेष क्रांतिकारी बात नहीं हुई, और धीरे-धीरे वे अपने पुराने ढर्रे पर जम गईं। मंत्रियों के लिए उन लोगों के काम में दख़ल देना आसान नहीं था, और कुछ ख़ास हालतों में स्पष्ट सबूत होने पर ही वे ऐसा कर सकते थे। नौकरियों का एक घनिष्ठ संघ था और अगर किसी आदमी का तबादला किया जाता तो उसकी जगह आनेवाला आदमी भी संभवतः उसी ढंग से काम करता।

सिविल सर्विस के बड़े सदस्यों में, जो प्रभुता के और निरंकुश शासन के आदी थे, एक ऐसी भावना थी कि ये मंत्री लोग और असेंबली के मेंबर एक ऐसे क्षेत्र में हस्तक्षेप करने वाले थे जो बिलकुल उन्हीं (सिविल सर्विस वालों) के लिए सुरक्षित हो चुका था। यह पुरानी धारणा, कि वे स्थायी नौकरियां और ख़ास तौर से उनका ब्रिटिश अंश ही हिंदुस्तान था और बाक़ी सब तो महत्वहीन और फ़ालतू था, गहरी जमी हुई थी। इन नए आदमियों को सहन करना आसान नहीं था और फिर उनसे हुक्म लेना तो और भी कठिन था। उनको ऐसा अनुभव हुआ जैसा कि एक कट्टर हिंदू को उस समय अनुभव होता है जब कि अछूत उनके निजी मंदिर के पवित्र स्थानों में हठात् घुस आए हों।

फिर भी इन हस्तक्षेप करनेवालों को उन्हें सहन करना था, लेकिन ज्यों-ज्यों भय की भावना दूर हटती गई, यह सहनशीलता भी धीरे-धीरे कम होती गई। शासन के हर विभाग में यह प्रवृत्ति पैठी हुई थी, और राजधानी से दूर ज़िलों में तो यह और भी स्पष्ट थी और विशेषकर उन विभागों में जो शांति और व्यवस्था से संबंधित थे और जिनके सिलसिले में ज़िला मजिस्ट्रेट और पुलिस को विशेष अधिकार प्राप्त थे। नागरिक स्वतंत्रता पर कांग्रेसी सरकारों के ज़ोर देने की वजह से स्थानीय हाकिमों को बहाना मिल गया, और उन्होंने ऐसी चीज़ें होने दीं जिनके लिए आम तौर पर कोई भी सरकार आज्ञा नहीं देती। वास्तव में मुझे तो इस बात का पक्का विश्वास है कि कुछ अवसरों पर तो इन अवांछनीय घटनाओं के लिए स्थानीय हाकिमों या पुलिस से बढ़ावा मिला। जो बहुत से सांप्रदायिक झगड़े हुए, उनकी बहुत-सी वजहें थीं, लेकिन यह बात भी है कि हर अवसर पर मजिस्ट्रेट और पुलिस निर्दोष नहीं थे।

सिविल सर्विस की एक विशेष ख्याति थी जिसे कि स्वयं उसने फैला रक्खा था, अर्थात् वह बहुत कार्य-कुशल है। लेकिन यह बात स्पष्ट हो गई कि उस सँकरे दायरे के काम के अतिरिक्त, जिसके लिए कि वह अभ्यस्त थी, वह व्यर्थ और निकम्मी थी। लोकतंत्री ढंग से काम करने की उसको शिक्षा नहीं मिली थी, और उसको जनता का सहयोग और उसकी सद्भावनाएं नहीं मिल सकती थीं, और साथ ही उसे जनता से डर भी था और उसके प्रति घृणा भी थी। सामाजिक प्रगति की तीव्रगामी, बड़ी योजनाओं का उसको कोई अटकल नहीं था और वह अपनी कल्पना-हीनता और अपने साहबी ढंग से उनमें केवल अड़चन ही डाल सकती थी। कुछ लोगों को छोड़कर, ऊँची नौकरियों के अंग्रेज़ों और हिंदुस्तानियों, दोनों पर ही यह बात लागू थी। उन नए कामों के लिए जो उनके सामने थे, वे आश्चर्य-जनक रूप से अनुपयुक्त थे।

वैसे तो जन-प्रतिनिधियों में भी बहुत अयोग्यता और बहुत-सी त्रुटियां थीं। लेकिन शक्ति और उत्साह से, जन-साधारण के संपर्क में यह कमी पूरी हो जाती थी। उन लोगों की इच्छा थी और उनमें यह शक्ति थी कि अपनी निजी भूलों से आगे के लिए पाठ पढ़ते। उनमें शक्ति थी, छलकता हुआ जीवन था, काम को किसी-न-किसी तरह पूरा करने की भावना थी। ब्रिटिश शासक-वर्ग और उनके साथियों की उपेक्षा और अनुदारता से मिलान करते हुए, एक विचित्र असाम्य दिखाई देता था। इस तरह हिंदुस्तान में, जो परंपराओं का देश था, एक व्यंग-चित्र दिखाई दिया। अंग्रेज़ जो एक सक्रिय समाज के प्रतिनिधि की हैसियत से यहां आए थे, वे अब निष्क्रिय समाज के अपरिवर्तनशील परंपरा के खास खंभे बन गए थे। हिंदुस्तानियों में ऐसे बहुत-से लोग थे जो नई सक्रिय परंपरा का प्रतिनिधित्व करते थे और जो केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी परिवर्तन लाने के उत्सुक थे। हां, उन हिंदुस्तानियों के पीछे बड़ी-बड़ी शक्तियां काम कर रहीं थीं, जिनका कदाचित् स्वयं उनको भी पता नहीं था।

एक इस प्रकार का कथन प्रचलित है, जिसका ब्रिटिश अधिकारियों ने प्रचार किया है, कि अपनी ऊँची नौकरियों के द्वारा ब्रिटिश सरकार हमको स्वशासन की कठिन और जटिल कला सिखाती रही है। अंग्रेज़ों के यहां आने और हमको सीख देने के हज़ारों बरस पहले हम अपना काम और वह भी पर्याप्त सफलता के साथ करते आए थे। बेशक हममें कुछ अच्छे गुणों की कमी है। जोकि हममें होने

चाहिए, लेकिन कुछ भूले हुए लोग तो यहाँतक कहते हैं कि हमारे अंदर यह कमियां ब्रिटिश शासन के ही काल में आ गई हैं। हमारी त्रुटियां चाहे जो हों हमको यह बात स्पष्ट मालूम देती थी, कि यहां की स्थायी नौकरियां हिंदुस्तान को किसी भी उन्नति की दिशा में ले जाने के लिए, बिलकुल असमर्थ हैं। ठीक उन्हीं गुणों ने, जो उनमें थे, उनको निकम्मा बना दिया था, क्योंकि पुलिस-राज में जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वे उन गुणों से, जो प्रगतिशील लोकतंत्री समाज में अपेक्षित हैं, बिलकुल भिन्न होते हैं।

निरंकुश केंद्रीय सरकारों के नीचे जन-प्रिय सूबों की सरकारों की अजीब स्थिति थी और इस वजह से तरह तरह के असाम्य देखने को मिले। कांग्रेसी सरकारें नागरिक स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए चिंतित थीं, और उन्होंने सूबों के ख़ुफ़िया-विभाग की व्यापक कार्रवाइयों को रोका। इस ख़ुफ़िया-विभाग का मुख्य काम राजनीतिज्ञों का और उन लोगों का जिनको सरकार-विरोधी विचारों का समझा जाता था, पीछा करना था। जहां एक तरफ़ ये कार्रवाइयां रोक दी गईं, वहां (केंद्रीय) ख़ुफ़िया विभाग बराबर और शायद पहले से भी अधिक जोरों के साथ काम करता रहा। केवल हमारे ही खतों पर सेंसर नहीं होता था बल्कि मंत्रियों तक के पत्र-व्यवहार पर भी सेंसर होता था, लेकिन यह सब चुपचाप होता था, और सरकारी तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता था। पिछले पच्चीस या इससे भी अधिक बरसों से मैंने ऐसा एक भी पत्र नहीं लिखा, जिसको मैंने हिंदुस्तान में डाला हो, फिर चाहे उसे हिंदुस्तान भेजना हो या विदेश, जिसको लिखते समय मुझे यह ध्यान न रहा हो कि यह देखा जायगा और शायद इसकी नक़ल भी की जायगी। टेलीफ़ोन पर बात करते हुए भी मुझे इस बात का ध्यान रहता है कि संभवतः मेरी बात-चीत बीच में सुनी जावे। जो पत्र मेरे पास आए हैं उनको भी सेंसर से होकर गुज़रना पड़ा है। सौभाग्य से हम लोगों ने सदा खुले में काम किया और हमारी राजनीतिक कार्रवाइयों में छिपाने की कोई भी चीज़ नहीं रही। फिर भी इस विचार का बराबर बना रहना कि हमारी बात-चीत सुनी जायगी, हमारा पीछा किया जायगा और हमारे पत्र-व्यवहार का सेंसर किया जायगा, अच्छा नहीं लगता; उससे झुँझलाहट पैदा होती है और एक तरह की रोक रखनी होती है, जिससे कभी-कभी आपसी संबंधों पर भी बुरा असर पड़ता है। जिस समय कि सेंसर ऊपर से झाँक रहा हो, स्वाभाविक ढंग से लिखना आसान नहीं है।

मंत्रियों को बहुत मेहनत करनी होती थी और कुछ की तो तंदुरुस्ती ने साथ छोड़ दिया। उनका स्वास्थ्य गिर गया और उनकी सारी ताज़गी चली गई और उनका बिलकुल थका हुआ और मुरझाया हुआ शरीर बाक़ी बच रहा। लेकिन उद्देश्य के प्रति उनकी निष्ठा उनको खींच ले चली और उन्होंने अपने आई० सी० एस० सेक्रेटरियों और उनके सहकारियों से भी ख़ूब काम कराया; उनके दफ्तरों की बिजलियां काफ़ी रात तक जलती रहतीं। जब नवंबर १९३९ में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़े दिए तो बहुत से लोगों ने चैन की साँस ली। इसके बाद सरकारी दफ़्तर फिर तीसरे पहर ठीक चार बजे बंद होने लगे और फिर वे उन मठ के कमरों की तरह हो गए जहां मौन व्याप्त रहता था, और जहां जन-साधारण का स्वागत नहीं था।

कांग्रेसी सरकारों ने सूबों में थोड़े-से समय तक काम किया लेकिन उससे ही हमारी यह धारणा और अधिक पक्की हो गई कि हिंदुस्तान में उन्नति के लिए सबसे बड़ा रोड़ा वह राजनीतिक और आर्थिक ढाँचा है जोकि अंग्रेज़ों ने यहां लाद रक्खा है। यह भी बिलकुल सच था कि बहुत-सी पुरानी आदतें और सामाजिक रीति-रिवाज प्रगति के लिए बाधक थे और उनको हटाना था। फिर भी हिंदुस्तान की अर्थ-व्यवस्था के विकसित होने की जन्म-जात प्रवृत्ति को, इन आदतों और रीति-रिवाजों ने इतना नहीं रोका जितना कि अंग्रेज़ों के राजनीतिक और आर्थिक घातक फंदे ने। अगर यह फौलादी ढाँचा न होता तो विकास अनिवार्य रूप से होता, और साथ ही बहुत से सामाजिक परिवर्तन होते, और गए बीते रिवाज समाप्त हो जाते। इसीलिए इस ढाँचे को हटाने पर ध्यान देना था, और दूसरे मामलों में जो शक्ति व्यय की जाती थी उससे लाभ नहीं के बराबर था और वह तो रेगिस्तान में हल चलाने की तरह था। गुज़रे जमाने की अर्धसामंती जमींदारी प्रणाली पर ही, उस ढाँचे की बुनियाद थी और साथ ही वह ढाँचा उस प्रणाली की रक्षा करता था।

५ : अल्प-संख्यकों का प्रश्न : मुस्लिम लीग : मिस्टर एम० ए० जिन्ना

पिछले सात बरसों (१९३७-४४) में मुस्लिम लीग की बढ़ती एक असाधारण घटना है। १९०६ में जब यह आरंभ हुई तो अंग्रेज़ों ने इसको इस उद्देश्य से बढ़ावा

दिया कि मुसलमानों की नई पीढ़ी नेशनल कांग्रेस से अलग रहे। उसके बाद सामंतवादी वर्ग से संचालित, यह एक छोटी-सी उच्चवर्गीय संस्था रही। आम मुस्लिम जनता में इसका कोई असर नहीं था, और न वे इसको जानते थे। स्वयं अपने विधान से वह एक छोटे-से समुदाय तक सीमित थी, और उसके नेतागण स्थायी थे, जो अपने स्थायित्व को बनाए रखते थे। इतने पर भी घटनाओं ने और मुसलमानों में मध्य-वर्ग की बढ़ती ने उसको कांग्रेस की तरफ़ धकेला। कांग्रेस के घनिष्ट संपर्क में एक नई मुसलमान संस्था, खिलाफ़त कमेटी, पैदा हुई। बहुत बड़ी संख्या में मुसलमान, कांग्रेस में शरीक हो गए और उसके द्वारा काम करने लगे। १९२०-२३ के पहले असहयोग आंदोलन के बाद स्वयं खिलाफ़त कमेटी भी धीरे-धीरे मिटने लगी क्योंकि अब उसका आधार (तुर्की खिलाफ़त का मामला) ही समाप्त हो गया था। राजनीतिक कार्यवाही से मुस्लिम जनता दूर हटने लगी। फिर भी मुसलमानों की, बहुत बड़ी संख्या कांग्रेस के द्वारा काम करती रही।

सन् १९३० के दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग बहुत काफ़ी था, यद्यपि वह १९२०-२३ की अपेक्षा कम था। इस आंदोलन के सिल-सिले में जिन लोगों को जेल भेजा गया, उनमें कम-से-कम दस हज़ार मुसलमान थे। उत्तरी-पच्छिमी सरहदी सूबे ने, जो प्रायः पूरे तौर से (९५%) मुस्लिम सूबा है, इस आंदोलन में, एक मुख्य और महत्वपूर्ण हिस्सा लिया। यह अधिकतर, ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार खां के कार्य और व्यक्तित्व के कारण हुआ, जो इस सूबे के पठानों के माने हुए और प्रिय नेता थे। वर्तमान काल में हिंदुस्तान में जितनी महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, उनमें सब से अधिक अचंभा अब्दुल ग़फ़्फ़ार खां के उस कमाल पर है जिससे उन्होंने अपने झगड़ालू और भड़क उठनेवाले लोगों को राजनीतिक कार्यवाही के शांतिपूर्ण ढंग सिखा दिए जिनमें बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ती थीं। जिस समय इस बात को ध्यान में रखा जाय कि पठान, जो अपनी बंदूक़ को अपने भाई से अधिक प्यार करता है, जो बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है और जो थोड़ी-सी उत्तेजना पर भी मार डालने के लिए प्रसिद्ध है, तब यह आत्म-अनुशासन एक अचरज की वस्तु मालूम होती है।

इसी तरह राजनीतिक दृष्टि से जगे हुए मध्य-वर्ग के मुसलमानों ने भी दूसरी जगहों में साथ दिया। किसानों और मज़दूरों में कांग्रेस का असर काफ़ी था। संयुक्त-प्रांत जैसे सूबों में यह प्रभाव मुख्य-रूप से था, क्योंकि वहां पर किसान और मज़दूरों

के सिलसिले में वहुत वढ़ा-चढ़ा कार्यक्रम था। फिर भी यह वात सच थी कि कुल मिलाकर आम मुस्लिम जनता, फिर से, पुराने स्थानीय और सामंतवादी नेताओं की तरफ लौट रही थी।

कांग्रेस तथा और दूसरी संस्थाओं ने विभिन्न वर्गों की स्वीकृति से इस सांप्रदायिक समस्या को हल करने का वार-वार प्रयत्न किया। कुछ थोड़ी-सी सफलता भी मिली, लेकिन एक वुनियादी कठिनाई थी, अर्थात् ब्रिटिश सरकार की उपस्थिति और उसकी नीति। यह स्वाभाविक वात है, ब्रिटिश लोग किसी ऐसे असली समझौते के पक्ष में नहीं थे जिससे वह राजनीतिक आंदोलन, जो अव उनके विरुद्ध व्यापक है, दृढ़ हो। एक ऐसी तीन-तरफ़ा स्थिति वन गई थी जिसमें विशेष रियायतें देकर सरकार एक-दूसरे को लड़ा सकती थी। अगर और दल पर्याप्त वुद्धिमानी दिखाते तो उन्होंने इस रुकावट को भी पार कर लिया होता, लेकिन उनमें वुद्धिमानी और दूरदर्शिता की कमी थी। जव-जव वे किसी समझौते पर पहुँचने वाले ही होते तभी सरकार कोई ऐसा क़दम उठाती कि संतुलन विगड़ जाता।

हिंदुस्तान का सारा इतिहास, अल्पसंख्यकों या विविध जातीय समुदायों के प्रति सहनशीलता का ही नहीं वल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप में जैसे तीखे धार्मिक झगड़े रहे, और विद्यार्थियों को जैसी सज़ाएं मिलीं उस ढंग की चीज़ हिंदुस्तान के इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसलिए धार्मिक और सांस्कृतिक उदारता और सहनशीलता के विचारों को सीखने के लिए हमको कहीं वाहर नहीं जाना था; ये वातें तो हिंदुस्तान के जीवन में आरंभ से थीं। निजी और राजनीतिक अधिकारों के सिलसिले में, हम पर फ्रांसीसी और अमरीकी क्रांतियों का, और साथ ही ब्रिटिश पार्लमेंट के वैधानिक इतिहास का प्रभाव पड़ा था। समाजवादी विचार-धारा और सोवियत् क्रांति का प्रभाव तो वाद में पड़ा, और उसने हमारी विचार-धारा में आर्थिक दृष्टिकोण को वहुत महत्व दे दिया।

मुसलमानों (और वाद में और दूसरे छोटे समुदायों) के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र आरंभ किए गए और उनको, उनकी आवादी के अनुपात से, अधिक जगहें दी गईं। लेकिन किसी भी आम लोगों की प्रतिनिधि सभा में अधिक जगह देकर अल्प-संख्यकों को वहु-संख्यक नहीं वनाया जा सकता। वास्तव में पृथक् निर्वाचन से संरक्षित समुदाय के लिए स्थिति कुछ ख़राव हो गई क्योंकि तव वहु-संख्यकों ने उनमें दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। उस समय आपसी सोच-विचार का वहुत कम

अवसर था। संयुक्त निर्वाचन में आपस में मेल विठाने की अनिवार्य कोशिश होनी चाहिए, क्योंकि तब तो हर एक उम्मीदवार को हर समुदाय का साथ देना होता है। कांग्रेस इस मामले में आगे वढ़ी और उसने घोषणा की, कि किसी ऐसे मामले पर जिसका अल्प-संख्यकों के विशेष हितों से संवंध हो, अगर वहु-संख्यकों और धार्मिक अल्प-संख्यकों में मतभेद हुआ तो उसका निर्णय वहु-संख्यक वोटों से नहीं होगा वल्कि वह मामला एक निष्पक्ष न्यायालय को या आवश्यकता पड़ने पर किसी अंतर्राष्ट्रीय पंच को सौंपा जाना चाहिए, और उसका निर्णय अंतिम होना चाहिए।

समझ में नहीं आता कि किसी भी लोकतंत्री ढाँचे में किसी धार्मिक अल्प-संख्यक समुदाय को इससे अधिक क्या संरक्षण दिया जा सकता है। साथ ही यह वात याद रखनी चाहिए कि कुछ सूवों में मुसलमान स्वयं वहु-संख्यक थे और चूँकि वह प्रांत स्वाधीन होते, इसलिए कुछ अखिल भारतीय वातों पर ध्यान रखते हुए, उन सूवों में मुसलमान वहु-संख्यकों को अपनी पसंद के अनुसार काम करने की पूरी स्वतंत्रता होती। केंद्रीय सरकार में मुसलमानों का अनिवार्य रूप से एक महत्वपूर्ण भाग होता। मुस्लिम वहु-संख्यक प्रांतों में सांप्रदायिक धार्मिक समस्या उल्टी थी, क्योंकि यहां पर दूसरे अल्प-संख्यकों (अर्थात् हिंदू और सिख लोगों) की, मुसलमान वहु-संख्यकों के विरुद्ध रक्षा की माँग थी। इस तरह पंजाव में हिंदू, मुस्लिम और सिखों का त्रिभुज था। अगर मुसलमानों का निर्वाचन-क्षेत्र अलग था तो दूसरे लोग भी अपने लिए विशेष रक्षा की माँग करते। एक वार पृथक् निर्वाचन आरंभ कर देने के वाद वँटवारे और हिस्से का और उससे पैदा हुई कठिनाइयों का कोई अंत ही नहीं था। स्पष्ट है किसी समुदाय को अधिक प्रतिनिधित्व देने के अर्थ यह थे, कि दूसरे समुदाय को घाटा रहे, और उसे अपनी आवादी के अनुपात से कम जगहें मिलें।

कांग्रेस ने वहुत-सी भूलें कीं, लेकिन यह भूलें अपेक्षाकृत छोटे सवालों में या प्रयत्न के ढंग में थीं। यह वात स्पष्ट थी कि केवल राजनीतिक कारणों से भी कांग्रेस सांप्रदायिक हल निकालने के लिए उत्सुक और चिंतित थी, और इस तरह उन्नति के रास्ते की अड़चनों को दूर करना चाहती थी। विशुद्ध सांप्रदायिक संस्थाओं में ऐसी कोई उत्सुकता नहीं थी क्योंकि उनके अस्तित्व का मुख्य कारण यह था कि वे अपने-अपने समुदायों की मुख्य माँगों पर ज़ोर दें, और इसका नतीजा यह हुआ कि सारे ढाँचे को यथावत् वनाए रखने में उनका एक स्थापित स्वार्थ था। सदस्यों

को संख्या की दृष्टि से कांग्रेस में अधिकतर हिंदू थे, लेकिन साथ ही उसमें मुसलमान भी बहुत बड़ी संख्या में थे, और दूसरे धार्मिक समुदाय, जैसे सिख और ईसाई आदि भी थे। इस तरह उसे हर बात पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचना होता था।

दो बुनियादी प्रश्नों पर कांग्रेस दृढ़ थी : राष्ट्रीय-ऐक्य और लोकतंत्र। वे बुनियादें थीं जिन पर कि वह स्थापित हुई थी और स्वयं आधी सदी के काल में इन बातों पर ज़ोर दिया था। जहाँतक मुझे पता है, कांग्रेस दुनिया भर की अधिक-से-अधिक लोकतंत्रीय संस्थाओं में से एक है। यह बात वैधानिक रूप में भी है और व्यावहारिक रूप में भी। अपनी उन दसियों हज़ार स्थानीय संस्थाओं के द्वारा जो देश भर में फैली हुई हैं उसने जनता को लोकतंत्रीय ढंग की शिक्षा दी है, और इसमें उसे बहुत बड़ी सफलता मिली है। इस बात से कि गांधीजी जैसा जन-प्रिय और प्रभावशाली व्यक्तित्व उससे संबंधित रहा, कांग्रेस के लोकतंत्र में कोई कमी नहीं हुई। संकट और संघर्ष के अवसरों पर पथ-निर्देश के लिए नेता की ओर देखने की अनिवार्य प्रवृत्ति थी और ऐसा हर एक देश में होता है। साथ ही ऐसे अवसर यहां बराबर आए। कांग्रेस को प्रभुत्ववादी संस्था कहने से अधिक ग़लत बात और कोई हो नहीं सकती और इस सिलसिले में एक मज़ेदार और ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऐसा दोष आम तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के उन ऊँचे प्रतिनिधियों द्वारा लगाया जाता है जो हिंदुस्तान में निरंकुशता और प्रभुत्ववाद के प्रतीक हैं।

बीते ज़माने में ब्रिटिश सरकार भी, कम-से-कम वैधानिक रूप से, हिंदुस्तान के एके और लोकतंत्र की हामी रही है। उसने इस बात में गर्व अनुभव किया है कि उसके शासन से, हिंदुस्तान में राजनीतिक एका हुआ, यद्यपि वह एक ग़ुलामी का एका था। इसके अतिरिक्त उस सरकार ने हमें बताया कि वह हमको लोकतंत्र के ढंग और ढर्रे सिखा रही थी। लेकिन विचित्र-सी बात है कि उसकी नीति स्पष्ट रूप से हमें ऐसी दिशा में ले गई, जिसमें न तो ऐक्य था और न लोकतंत्र। अगस्त १९४० में कांग्रेस-कार्यकारिणी यह घोषणा करने के लिए बाध्य हुई कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति "जनता में दुर्भावनाएं पैदा करती है, और उत्तेजना बढ़ाती है।" ब्रिटिश सरकार के ज़िम्मेदार लोगों ने हम लोगों को खुले तौर पर यह बताया कि शायद किसी नई व्यवस्था के पक्ष में हिंदुस्तान के एके का बलिदान करना पड़े, और दूसरे यह बात कि लोकतंत्र हिंदुस्तान के लिए उपयुक्त नहीं है। स्वतंत्रता की और लोकतंत्री सरकार स्थापित करने की हिंदुस्तान की माँग का,

यह जवाब उन्होंने छोड़ा। इस उत्तर से यह बात भी साथ-साथ जान पड़ती है कि अंग्रेज स्वयं उन दो बड़े उद्देश्यों में, जो उन्होंने अपने सामने रखे थे, असफल हुए हैं। इस बात के समझने में उन्हें डेढ़ सदी लग गई।

सांप्रदायिक समस्या का ऐसा हल पाने में जो सब पार्टियों को स्वीकृत होता, हम लोग असफल रहे, और चूँकि उस असफलता के परिणाम हमको भुगतने हैं, इसलिए निश्चय ही, हम उसके दोष से बच नहीं सकते। लेकिन किसी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव या परिवर्तन को कोई भी आदमी किस तरह से सबसे मनवा सकता है? हमेशा ही ऐसे सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी टुकड़े होते हैं, जो हर तरह के परिवर्तन के विरुद्ध होते हैं, और फिर वे लोग हैं जो राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन चाहते हैं। जिस समय शासक-वर्ग की यह नीति हो कि ऐसे समुदायों को पैदा किया जाय, और उनको बढ़ावा दिया जाय, फिर चाहे उनका परिमाण आबादी का अणु-मात्र ही क्यों न हो, यह परिवर्तन केवल एक सफल क्रांति द्वारा ही हो सकता है।

मुसलमानों में मुस्लिम लीग के अतिरिक्त और बहुत सी संस्थाएं उठ खड़ी हुईं। उनमें से एक पुरानी संस्था जमीयत-उल्ल-उलेमा थी। जिसमें सारे हिंदुस्तान के मौलवी और पुराने ढंग के विद्वान् थे। उसका आम नज़रिया परंपरावादी और अनुदार था और खास तौर से मज़हबी था, फिर भी राजनीतिक दृष्टिकोण से उसकी विचार-धारा उन्नत थी, और वह साम्राज्यवाद के खिलाफ़ थी। राजनीतिक स्तर पर उसने अक्सर कांग्रेस के साथ हाथ मिलाकर काम किया। अहरार संस्था की स्थापना बाद में हुई और पंजाब में वह सबसे ज्यादा मज़बूत थी। उसमें खास तौर से निचले मध्य-वर्ग के मुसलमान थे, और खास हिस्सों में इसका आम जनता में भी काफ़ी असर था।

इसके अलावा शिया मुसलमान थे जो अलग संगठित थे, पर सुसंगठित नहीं थे और उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक माँगें पेश करना था। अरब में इस्लाम के शुरू के दिनों में 'खिलाफ़त' के उत्तराधिकारी होने के सिलसिले में एक तीखी लड़ाई हुई, और मुसलमानों में एक दरार पड़ गई। जिसमें शिया और सुन्नी नाम के दो समुदाय या संप्रदाय बन गए। वह झगड़ा चिरजीवी हो गया; और हालाँकि उस दरार का अब कोई राजनीतिक महत्व नहीं रहा है, फिर भी दोनों समुदाय अब भी अलहदा हैं। हिंदुस्तान में, और ईरान के सिवाय और दूसरे मुसलमान

मुल्कों में, सुन्नियों की तादाद ज़्यादा है। ईरान में शिया बहु-संख्यक हैं। इन धार्मिक समुदायों में कभी-कभी धार्मिक झगड़े होते रहे हैं।

हिंदुओं की खास सांप्रदायिक संस्था हिंदू महासभा है जो मुस्लिम लीग की जवाबी संस्था है, और मुक़ाबले में कम महत्व की है। लीग की तरह वह भी आक्रामक रूप से सांप्रदायिक है, लेकिन वह अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता को कुछ अस्पष्ट राष्ट्रीय शब्दावली से छिपाने की कोशिश करती है। वैसे उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं है और वह फिर से बीते हुए युग को वापिस लाना चाहती है। उसे दुर्भाग्य से कुछ ऐसे नेता मिले हैं, जो मुस्लिम लीग के नेताओं की तरह बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार और उत्तेजक बहसें करते हैं। यह शाब्दिक लड़ाई, जो दोनों तरफ़ से चलती रहती है, बराबर झुँझलाहट पैदा करती है।

मुस्लिम लीग के अपने अधिकतर साथियों के मुक़ाबले में मिस्टर एम० ए० जिन्ना ज़्यादा आगे बढ़े हुए थे। वास्तव में मिस्टर जिन्ना और उनके साथियों में ज़मीन-आसमान का अंतर था और इसलिए अनिवार्य रूप से वे मुस्लिम लीग के एकमात्र नेता थे। कई बार उन्होंने सार्वजनिक मंच से अपने साथियों की अवसर-वादिता और उससे भी बड़ी त्रुटियों पर अपना बड़ा भारी असंतोष प्रगट किया था। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मुसलमानों में निःस्वार्थ, प्रगतिशील और साहसी समुदाय का अधिकांश कांग्रेस में सम्मिलित हो चुका और उसके द्वारा काम करता था। फिर भी भाग्य ने या घटना-चक्र ने उनको उन लोगों के ही बीच में धकेल दिया था, जिनके लिए उनके दिल में कोई इज़्ज़त नहीं थी। वह उनके नेता थे, लेकिन वह उनको अपने साथ सिर्फ़ उसी हालत में रख सकते थे जब कि उनकी प्रतिक्रियावादी विचार-धारा में वह खुद एक क़ैदी बन जाते। यह बात नहीं कि वह अनिच्छित क़ैदी हों। जहाँतक विचार-धारा का सवाल है अपनी ऊपरी आधुनिकता के होते हुए भी वह पुरानी पीढ़ी के थे, जो आधुनिक राजनीतिक विचार-धारा से क़रीब-क़रीब बेख़बर थी। ऐसा मालूम होता है, कि अर्थशास्त्र से जिसकी आजकल सारी दुनिया पर छाप है, वे अपरिचित थे। स्पष्ट-तया उन असाधारण घटनाओं का जो दुनिया भर में पहले महायुद्ध के बाद हुई थीं उन पर कोई भी असर नहीं हुआ था। उन्होंने कांग्रेस को उस समय छोड़ा जब कि उसने अपना राजनीतिक क़दम आगे बढ़ाया। ज्यों-ज्यों कांग्रेस का दृष्टिकोण अधिक आर्थिक और सार्वजनिक होता गया, यह खाई और भी चौड़ी होती गई।

लेकिन ऐसा मालूम होता है कि दृष्टिकोण और विचार-धारा में मिस्टर जिन्ना ठीक उसी जगह बने रहे, जहां वह एक पीढ़ी पहले थे, या शायद वह अब कुछ और पीछे हट गए थे, क्योंकि अब वह दोनों चीज़ों को—हिंदुस्तान के एक्य और लोक-तंत्र की—निंदा करते थे। उन्होंने कहा है कि वे लोग शासन की किसी ऐसी प्रणाली में नहीं रहेंगे, जिसकी बुनियाद पच्छिमी लोकतंत्र के बेवकूफ़ी से भरे हुए ख्यालों पर है। उनको यह बात समझने में एक लंबा समय लगा कि अपनी ज़िंदगी के काफ़ी लंबे हिस्से वे बराबर जिस बात के समर्थक रहे थे वह बेवकूफ़ी से भरी थी।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य क़ायम होने के बाद मुसलमानों में आधुनिक ढंग का प्रमुख व्यक्तित्व शायद हुआ हो। बदलते हुए वक़्त के साथ चलने की, और नए वातावरण के साथ सांस्कृतिक या दूसरे ढंग से मेल बिठाने की उनकी असमर्थता का कारण कोई जन्मजात कमी नहीं है। उस के कुछ विशेष ऐतिहासिक कारण हैं। उनमें नए औद्योगिक मध्य-वर्ग की तरक़्क़ी में देरी हुई, और साथ ही मुसल-मानों की पृष्ठभूमि बहुत अधिक सामंतवादी थी, और इस वजह से तरक़्क़ी के रास्ते रुक गए। बंगाल में मुसलमान ख़ास तौर से पिछड़े हुए थे। हिंदू भी पिछड़े हुए हैं, और कभी-कभी तो वे काम-काज और सोच-विचार के पुरानों ढर्रों से मुसलमानों की अपेक्षा अधिक दृढ़ता से जकड़े हुए हैं। फिर भी उनमें कुछ लोग ऐसे पैदा हुए हैं जो विज्ञान, उद्योग और दूसरे क्षेत्रों में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। एक मज़ेदार बात ध्यान देने की यह है कि मिस्टर जिन्ना का घराना शुरू में हिंदू था।

बीते ज़माने में, हिंदू और मुसलमान दोनों की अधिकतर प्रतिभा और योग्यता सरकारी नौकरियों में खप गई है, क्योंकि वही सबसे आकर्षक और खुला मैदान था। स्वतंत्रता के राजनैतिक आंदोलन की उन्नति के साथ यह आकर्षण कम होता गया, और लगन वाले योग्य और साहसी आदमी उसमें से खिंच आए। इसी तरह मुसलमानों के बहुत से बड़े लोग कांग्रेस में आ गए। अधिक सन्निकट के बरसों में, नौजवान मुसलमान समाजवादी और साम्यवादी पार्टियों में भी शामिल हो गए। इन सब सच्चे और प्रगतिशील आदमियों के होते हुए भी मुसलमानों के नेताओं का मापदंड बहुत नीचा था और उन लोगों में अपनी तरक़्क़ी के लिए सिर्फ़ सरकारी नौकरियों की तरफ़ देखने का ही झुकाव था। मिस्टर जिन्ना दूसरे ही ढंग के व्यक्ति थे। वह योग्य थे, दृढ़ थे और उनमें पद के लिए वह लोभ नहीं था

जो और बहुत से लोगों में था। इस तरह मुस्लिम लीग में उनकी बेजोड़ जगह हो गई थी और उन्हें वह इज़्ज़त मिली जो लीग के और बहुत से मशहूर आदमियों को नहीं मिल सकी थी। दुर्भाग्य से उनकी दृढ़ता ने उनको नए विचारों के प्रति अपने मस्तिष्क को खोलने से रोक दिया, और अपनी निजी संस्था पर निर्विवाद नेतृत्व के कारण उनमें अपनी या दूसरी संस्थाओं में मतभेद के लिए रवादारी जाती रही।

जब मैं कांग्रेस का सभापति था तब मैंने कई बार मिस्टर जिन्ना को लिखा और प्रार्थना की कि वह हमको निश्चित रूप से बता दें कि आखिर वह क्या चाहते हैं। मैंने उनसे पूछा कि लीग क्या चाहती है, और उसका निश्चित उद्देश्य क्या है। यह एक असाधारण-सी बात थी कि मुझको या किसी और को भी वह यह बताने से बचना चाहते थे कि ठीक-ठीक क्या चाहते हैं और लीग की क्या शिकायतें हैं। बार-बार हम लोगों में पत्र-विनिमय हुआ, फिर भी हमेशा ही अस्पष्टता और अनिश्चितता थी, और मुझे किसी चीज़ का ठीक-ठीक पता नहीं लग सका।

बाद में गांधीजी और हममें से और दूसरे लोग मिस्टर जिन्ना से कई बार मिले। उनमें घंटों बातें हुईं, लेकिन वे लोग कभी भी प्रारंभिक बातों के आगे पहुँच ही नहीं पाए। हमारा प्रस्ताव यह था कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि एक जगह मिलें और अपने सारे आपसी मसलों पर सोच-विचार करें। मिस्टर जिन्ना ने कहा कि ऐसा तो सिर्फ़ तभी किया जा सकता था जब हम पहले खुले तौर पर यह बात मंजूर कर लें कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की एकमात्र संस्था मुस्लिम लीग है, और साथ ही कांग्रेस अपने आपको विशुद्ध हिंदू-संगठन समझे। इससे साफ़ तौर पर एक दिक्क़त पैदा हुई। यह ठीक है कि हम लीग की अहमियत को मानते थे, और उसी वजह से हम उसके पास गए थे। लेकिन देश की दूसरी मुस्लिम संस्थाओं की, जिनमें से कुछ का तो हमारे साथ गहरा संबंध था, हम किस तरह अवहेलना कर सकते थे? साथ ही खुद कांग्रेस में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी तादाद थी, और वे लोग हमारी सब से बड़ी कार्य-कारिणी समितियों में भी थे। मिस्टर जिन्ना की माँग को मंजूर करने का अमली तौर पर यह अर्थ था कि हम अपने पुराने मुस्लिम साथियों को कांग्रेस के बाहर धकेल दें, और इस बात की घोषणा कर दें कि उनके लिए कांग्रेस का दरवाज़ा बंद है। उसके माने यह थे कि कांग्रेस के बुनियादी रूप को ही बदल दिया जाय, और उसको सब का स्वागत करनेवाली

राष्ट्रीय संस्था से, एक सांप्रदायिक संस्था में बदल दिया जाय। हम लोगों के लिए ऐसा सोचना नामुमकिन था।

हम फिर यही नतीजा निकाल सकते थे कि वह कोई समझौता नहीं चाहते और न वह अपने आपको किसी निश्चित बात में फँसाना ही चाहते थे।

मिस्टर जिन्ना की माँग की बुनियाद उस नए सिद्धांत पर थी, जिसकी उन्होंने हाल ही में घोषणा की थी, कि हिंदुस्तान में दो राष्ट्र थे, एक हिंदू, एक मुसलमान। सिर्फ़ दो ही क्यों, मैं नहीं जानता; क्योंकि अगर राष्ट्रीयता की बुनियाद मजहब पर हो तब तो हिंदुस्तान में बहुत से राष्ट्र थे। हिंदुस्तान के ज्यादातर गाँवों में कमो-बेश ये दो राष्ट्र मौजूद थे। वे ऐसे राष्ट्र थे जिन की सीमाएं नहीं थीं। वे एक-दूसरे से गुँथे हुए थे। एक बंगाली हिंदू और बंगाली मुसलमान, जो दोनों एक साथ रहते थे, एक ही भाषा बोलते थे, जिनकी परंपरायें और जिनके रिवाज बहुत कुछ एक से थे, अलग-अलग राष्ट्र थे। यह सब समझना बहुत मुश्किल था; ऐसा मालूम होता था मानो यह किसी मध्यकालीन सिद्धांत की तरफ़ वापिस लौट रहे हों। मिस्टर जिन्ना के दो राष्ट्र वाले सिद्धांत से पाकिस्तान का, या हिंदुस्तान के विभाजन का खयाल पैदा हुआ। लेकिन उससे भी दो राष्ट्रों का सवाल हल नहीं हुआ, क्योंकि वे तो देश भर में हर जगह थे।

कांग्रेस के और धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाओं के दृष्टिकोण में एक बुनियादी अंतर था। ऐसी संस्थाओं में मुस्लिम लीग, और दूसरी तरफ़ हिंदुओं में, हिंदू महासभा खास हैं। ये सांप्रदायिक संस्थाएं, हालाँकि अपने आपको हिंदुस्तान की स्वतंत्रता का समर्थक कहती हैं, इनकी दिलचस्पी अपने-अपने समुदायों के लिए विशेष सुविधाएं और संरक्षण माँगने में अधिक है। इस तरह अनिवार्य रूप से इन सुविधाओं के लिए उन्हें ब्रिटिश सरकार का मुँह ताकना पड़ता है, और इसका नतीजा यह हुआ कि वे उससे संघर्ष से बचते। कांग्रेस का दृष्टिकोण एक संयुक्त राष्ट्र की तरह समूचे हिंदुस्तान की आज़ादी से इस तरह बँधा हुआ था, कि उसके लिए हर दूसरी चीज़ गौण थी, और इसके अर्थ थे ब्रिटिश शक्ति से बराबर मुठभेड़। हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता ने, जिसका प्रतिनिधित्व कांग्रेस करती थी, ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया।

कांग्रेस और इन धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाओं की नीति और काम में एक और मुख्य भेद था। आंदोलन के पहलू, और अवसर मिलने पर क़ानून-निर्माण

की कार्रवाई से बिलकुल अलग, कांग्रेस आम जनता में कुछ विशिष्ट रचनात्मक कार्य करने पर सब से अधिक बल देती थी। इस कार्य-क्रम में, ग्रामोद्योगों की उन्नति और संगठन, दलित जातियों के उत्थान और बाद में बुनियादी शिक्षा के प्रचार का काम था। गाँव के काम में सफ़ाई और मामूली तौर पर दवा-दारू की मदद का काम भी सम्मिलित था। इन कामों ने कांग्रेसी कार्य-क्रम को एक ठोस पृष्ठभूमि दे दी। धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाएं इस पृष्ठभूमि से बिलकुल खाली थीं। ये संस्थाएं तो सिर्फ़ हलचल मचाती थीं और चुनावों के दौरान में ही इनको काम करने की धुन समाती थी। सरकारी कार्रवाई से व्यक्तिगत डर और जोखिम की भावना, जो कांग्रेसियों के साथ हमेशा ही बराबर बनी रहती थी, इन लोगों के साथ नहीं थी।

६ : राष्ट्रीय योजना-समिति

सन् १९३८ के अंत में कांग्रेस के सुझाव पर राष्ट्रीय योजना समिति बनी। उसमें पंद्रह सदस्य थे और साथ ही प्रांतीय सरकारों और सहयोग के लिए प्रस्तुत हिंदुस्तानी रियासतों के प्रतिनिधि थे। उसके सदस्यों में सुपरिचित उद्योगपति, पूँजीपति, अर्थ-शास्त्री, प्रोफ़ेसर और वैज्ञानिक थे और साथ ही ट्रेड यूनियन, कांग्रेस और ग्रामोद्योग संघ के प्रतिनिधि थे। ग़ैर-कांग्रेसी प्रांतीय सरकार (बंगाल, पंजाब और सिंध) और साथ ही कुछ बड़ी-बड़ी रियासतें (हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, त्रावणकोर और भोपाल) इस कमेटी के साथ थीं। एक ढंग से इस कमेटी में हर तरह के प्रतिनिधि थे, और इसमें न तो राजनीतिक दीवारें थीं और न हिंदुस्तान की सरकारी और ग़ैर-सरकारी जमात की ऊँची दीवारें थीं। हां, इसमें हिंदुस्तान-सरकार का प्रतिनिधित्व नहीं था, उसका रुख़ तो असहयोग का था। उसमें बड़े-बड़े अनुदार व्यवसायी भी थे और ऐसे लोग भी थे जो आदर्शवादी या सिद्धांतवादी कहे जाते हैं और साथ ही उसमें समाजवादी और साम्यवादी भी थे। सूबों की सरकारों के विशेषज्ञ और उद्योग-धंधों के डायरेक्टर भी इसमें थे।

अलग-अलग ढंग के लोगों का एक अजीब मेल था और यह बात स्पष्ट नहीं थी कि यह विचित्र मिश्रण किस तरह काम करेगा। मैंने इस कमेटी का सभापतित्व तो स्वीकार किया लेकिन बड़ी झिझक और बड़े संदेह के साथ। काम मेरी तबियत का था और मैं उससे अलग नहीं रह सकता था।

हर पग पर कठिनाइयां हमारे सामने थीं। सच्ची कारगर योजना बनाने के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं थी, और कुछ थोड़ी-सी ही बातों के बारे में आँकड़े मालूम थे। हिंदुस्तान-सरकार सहायक नहीं थी। यहाँतक कि सूबे की सरकारें, जिनका रुख़ सहयोग और दोस्ती का था, अखिल भारतीय योजना-निर्माण के बारे में खास तौर से उत्सुक नहीं मालूम देती थीं, और उन्होंने हमारे काम में दूर से ही दिलचस्पी ली। अपनी समस्याओं और परेशानियों में वे आप ही बहुत व्यस्त थीं।

यह बात स्पष्ट थी कि कोई भी बड़ी योजना ऐसी स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार के मातहत ही चल सकती है जो खूब दृढ़ और लोक-प्रिय हो, ताकि वह सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में बुनियादी परिवर्तन कर सके। इस तरह योजना-निर्माण के सिलसिले में पहली बुनियादी बात यह थी कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त की जाय और विदेशी नियंत्रण से छुटकारा पाया जाय। कई और रुकावटें भी थीं, जैसे हमारा सामाजिक पिछड़ापन, रीति-रिवाज और परंपरावादी दृष्टिकोण। लेकिन जो भी हो उनका सामना करना था।

योजना समिति के पीछे, शुरू में उद्योगों की गति बढ़ाने का विचार था। 'ग़रीबी और बेकारी, राष्ट्रीय सुरक्षा, और आर्थिक पुनरुत्थान के मसले कुल मिलाकर इसके बिना हल नहीं हो सकते। इसकी ओर बढ़ने के लिए राष्ट्रीय योजना का विस्तृत ढाँचा तैयार किया जाना चाहिए। इसमें बुनियादी बड़े उद्योगों की वृद्धि के लिए, बीच के पैमाने वाले उद्योगों के लिए, और साथ ही घरेलू धंधों के लिए प्रबंध होना चाहिए।' लेकिन कोई भी योजना खेती को भुला नहीं सकती। क्योंकि वह तो लोगों का मुख्य सहारा थी। समाज-सेवा भी उतनी ही महत्वपूर्ण थी। इस तरह हम एक चीज़ से दूसरी पर पहुँच जाते थे और किसी चीज़ को या एक दिशा में उन्नति को दूसरी दिशाओं में उचित उन्नति से अलग करना असंभव था। इस योजना बनाने के काम पर हमने जितना अधिक विचार किया उतना ही उसका क्षेत्र बढ़ता गया, यहाँतक कि ऐसा मालूम पड़ा कि उसमें क़रीब-क़रीब हर एक कार्रवाई सम्मिलित थी।

यह बात स्पष्ट है कि किसी निश्चित सामाजिक उद्देश्य के बिना हम किसी योजना पर विशेष रूप से सोच-विचार नहीं कर सकते थे। जिस उद्देश्य की घोषणा की गई वह यह थी कि जनता के रहन-सहन का एक उचित मापदंड हो, और वह निश्चित रूप से सुलभ हो, यानी दूसरे शब्दों में वह उद्देश्य यह था कि जनता को

दर्दनाक ग़रीबी से छुटकारा मिले। रुपयों के पैमाने में अर्थ-शास्त्रियों ने जिस कम-से-कम आँकड़े का अंदाज़ किया है वह प्रति व्यक्ति प्रति मास १५) रुपये और २५) रुपए के बीच में है। (ये सारे आँकड़े लड़ाई के पहले के हैं)। पश्चिमी मापदंड की तुलना में यह बहुत कम था लेकिन हिंदुस्तान के वर्तमान मापदंड की दृष्टि से यह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। यहां प्रति व्यक्ति सालाना आय का औसत क़रीब ६५) रु० है। अमीर और ग़रीब के बीच में बहुत बड़ी खाई होने की वजह से, और थोड़े से ही लोगों के हाथों में दौलत इकट्ठी हो जाने की वजह से गाँववाले आदमी की आमदनी का अंदाज़ तो कहीं कम है—शायद प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष ३०) रु० के क़रीब। इन आँकड़ों से लोगों की भयंकर ग़रीबी और जनता की हालत समझ में आती है। खाने की, कपड़े की, मकान की और मानवी जीवन की प्रत्येक आवश्यकता की कमी थी। इस कमी को दूर करने और हर आदमी के लिए एक उचित स्तर पर रहना निश्चित रूप से सुलभ बनाने के लिए राष्ट्रीय आय बहुत अधिक बढ़ानी थी, और इस अधिक उत्पादन के साथ-ही-साथ संपत्ति का अधिक सम-विभाजन करना था। हमने हिसाब लगाया और देखा कि रहन-सहन के सचमुच प्रगतिशील मापदंड के लिए राष्ट्रीय संपत्ति को ५०० से लेकर ६०० प्रतिशत तक बढ़ाना ज़रूरी था। हमारे लिए यह छलांग तो बहुत बड़ी थी और हमने दस साल में २०० से लेकर ३०० प्रतिशत तक इसे बढ़ाने का लक्ष्य बनाया।

हमने, योजना के लिए, दस वर्ष का समय तै किया, और उसमें प्रत्येक अंतर्काल और आर्थिक जीवन के हर हिस्से के लिए नियंत्रित आँकड़े दिए। उद्देश्य के सिलसिले में कुछ कसौटियों की भी सलाह दी गई:—

(१) शरीर-पोषण में सुधार—एक ऐसी संतुलित ख़ूराक़ हो जिसमें हर पूरे आदमी को २४०० से ले कर २८०० कैलोरी की इकाइयां हासिल हों।

(२) उस समय की वर्तमान क़रीब १५ गज़ की खपत से बढ़ कर प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष कम-से-कम ३० गज़ कपड़ा हो।

(३) मकानियत बढ़ कर प्रति आदमी पीछे कम-से-कम १०० वर्ग फ़ीट हो।

इसके अलावा कुछ और चीज़ों की उन्नति को बराबर ध्यान में रखना था—

(क) कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो।

(ख) औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हो।

(ग) बेकारी में कमी हो।

(घ) प्रति व्यक्ति पीछे आय बढ़े।
(ङ) निरक्षरता का अंत हो।
(च) सार्वजनिक उपयोगिता की नौकरियों में बढ़ती हो।
(छ) प्रति एक हजार की आबादी के लिए एक व्यक्ति के हिसाब से डाक्टरी मदद का प्रबंध हो।
(ज) जीवन की औसत उम्मीद में बढ़ोत्तरी हो।

कुल मिला कर देश के सामने जो उद्देश्य था वह यह था कि जहाँतक मुमकिन हो राष्ट्र स्वयं-पर्याप्त हो। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अलग नहीं किया गया, लेकिन हम आर्थिक साम्राज्यवाद की भँवर में पड़ने से बचने के लिए चिंतित थे।

जिन उद्योग-धंधों पर सरकार का अधिकार था उनकी व्यवस्था के सिलसिले में यह सलाह दी गई कि आम तौर पर एक स्वाधीन सार्वजनिक ट्रस्ट मुनासिब होगा। ऐसे ट्रस्ट की वजह से जनता का स्वामित्व और उसका अधिकार बराबर बना रहेगा और साथ ही वे परेशानियां और कुप्रबंध, जो प्रत्यक्ष लोकतंत्री नियंत्रण में अक्सर पैठ जाते हैं, यहां पर न होंगे। उद्योग-धंधों के लिए सहयोगपूर्ण स्वामित्व और नियंत्रण की सलाह दी गई।

धरती के संबंध में नीति निर्धारित करने के लिए साधारण सिद्धांत निश्चित कर दिए गए। 'कृषि-भूमि, खान, नदियां और जंगल राष्ट्रीय संपत्ति हैं, जिन पर हिंदुस्तान की आम जनता का सामूहिक रूप से पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए।' धरती का लाभ उठाने के लिए सहयोग के सिद्धांत को बरतना चाहिए, और सामूहिक और सहयोगी खेती चालू करनी चाहिए। कम-से-कम आरंभ में तो ऐसा प्रस्ताव नहीं किया गया, जिसके अनुसार किसानों को छोटे-छोटे खेतों पर अकेले ही खेती करने की मनाही हो, लेकिन यह बात साफ़ थी कि ताल्लुक़ेदार या ज़मींदार जैसे किसी भी ढंग के बीचवालों को परिवर्तन काल के बाद बने रहने की स्वीकृति नहीं होनी चाहिए। इन जमातों के पास जो अधिकार और दावे थे, उनको धीरे-धीरे समाप्त कर देना चाहिए। खेती के योग्य बेकार पड़ी हुई ज़मीन पर सरकार की तरफ़ से सामूहिक कृषि तो तुरंत शुरू होनी थी। सहयोगी खेती व्यक्तिगत या संयुक्त स्वामित्व से आरंभ हो सकती थी। अलग-अलग क़िस्मों को पनपने के लिए कुछ गुंजाइश छोड़ दी गई थी, ताकि अधिक अनुभव प्राप्त करके कुछ खास क़िस्मों को दूसरों की अपेक्षा अधिक बढ़ावा दिया जा सके।

इस तरह मुख्य समस्याओं पर विवेचन के द्वारा हमारी नीति और हमारे सामाजिक आदर्श का विकास हुआ। उनमें खाली जगहें भी थीं, कहीं-कहीं अस्पष्टता भी थी, यहाँतक कि कुछ स्थलों पर विरोधी बातें थीं। सिद्धांत-रूप में यह योजना पूर्णता से बहुत दूर थी। लेकिन मुझे इस बात पर एक आश्चर्य था कि समिति में इतने विविध विचारों के होते हुए भी हम इतनी हद तक एक राय के हो सके।

अपनी पहली बैठकों में ही हमने एक लंबी प्रश्नावली बनाई और वह भिन्न सूबों की रियासती सरकारों, सार्वजनिक संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, व्यापार-मंडलों, ट्रेड यूनियनों, अन्वेषक संस्थाओं आदि को भेजी गई। विभिन्न समस्याओं के बारे में छान-बीन करने और इन पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए उनतीस उप-समितियां नियुक्त की गईं। इनमें से आठ उप-समितियां खेती की समस्याओं पर थीं; कुछ उद्योग-धंधों से संबंध रखती थीं; पाँच का व्यापार और अर्थ-व्यवस्था से संबंध था; दो का यातायात से; दो का शिक्षा से; दो का सार्वजनिक हित से; एक का योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था में स्त्रियों के स्थान से; और दो का सामाजिक समुदाय और संस्थाओं से। कुल मिला कर इन उप-समितियों के ३५० सदस्य थे और इनमें से कुछ लोग कई समितियों में थे। उनमें से अधिकतर लोग अपने-अपने विषयों में विशेषज्ञ थे—व्यापारी; सरकारी और म्यूनिसिपल नौकर; विश्व-विद्यालयों के अध्यापक; वैज्ञानिक; इंजीनियर; ट्रेड यूनियन के सदस्य और सार्वजनिक जीवन के कार्यकर्ता। इस तरह देश की उपलब्ध प्रतिभा के एक बड़े हिस्से को हमने इकट्ठा किया। वे लोग जिनकी व्यक्तिगत रूप से हमारा साथ देने की इच्छा थी, लेकिन जिनको आज्ञा नहीं मिली, हिंदुस्तान सरकार के अधिकारी और कर्मचारी थे।

जब सितंबर १९३९ में दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ तो यह सलाह दी गई कि राष्ट्रीय योजना समिति को अपना काम स्थगित कर देना चाहिए। नवंबर में सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़ा दे दिया और इससे हमारी परेशानी और भी बढ़ गई, क्योंकि सूबों में गवर्नरों के सर्वेसर्वा हो जाने पर हमारे काम में कोई दिलचस्पी नहीं ली गई। सरकार को हमारे काम में रुचि नहीं थी, बल्कि वास्तव में वह तो उसके बहुत विरुद्ध थी। लड़ाई के आरंभ के महीनों में उसकी नीति हिंदुस्तानी उद्योग को प्रोत्साहन देने की नहीं थी। बाद में घटनाओं ने उसकी अपनी आवश्यकता

की चीजें हिंदुस्तान से ख़रीदने के लिए मजबूर किया। लेकिन इतने पर भी वह इसके खिलाफ़ थी कि हिंदुस्तान में कोई भी बड़ा बुनियादी उद्योग चालू किया जाय। उसकी अस्वीकृति के मानो थे रुकावटों का आना, क्योंकि बिना सरकारी मंजूरी के कोई भी मशीन बाहर से मँगाई नहीं जा सकती थी।

योजना-समिति ने अपना काम जारी रखा, और उप-समितियों की रिपोर्टों पर विवेचन का काम उसने प्रायः समाप्त कर लिया। जो कुछ काम बाक़ी बच रहा था, हम उसको समाप्त करके अपनी विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने के काम को हाथ में लेते। लेकिन अक्तूबर १९४० में मुझे गिरफ़्तार किया गया, और एक लंबी मियाद के लिए जेल भेज दिया गया।

७: कांग्रेस और उद्योग-धंधे : बड़े उद्योग बनाम घरेलू उद्योग

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने बहुत समय से ग्रामोद्योगों के फिरसे उठाने की, विशेषकर हाथ-कताई और हाथ-बुनाई की हिमायत की थी। वैसे किसी भी समय कांग्रेस बड़े उद्योगों की उन्नति की विरोधी नहीं थी, और धारा-सभा में या दूसरी जगहों पर उसे जब भी मौक़ा मिला, उसने इस रुझान को प्रोत्साहन दिया। सूबों की कांग्रेसी सरकारें भी ऐसा करने के लिए उत्सुक थीं। कांग्रेस हमेशा ही हिंदुस्तान के औद्योगीकरण की हामी रही है और साथ ही वह घरेलू धंधों की तरक़्क़ी की भी तरफ़दार रही है और उसके लिए उसने काम किया है। क्या इस नीति में कोई परस्पर विरोध है? शायद महत्व देने में अंतर है, और उसमें उन मानवी और आर्थिक बातों का भी ध्यान रखा गया है, जिन्हें हिंदुस्तान में पहले नजर-अंदाज़ कर दिया गया था। हिंदुस्तानी उद्योगपति और उनका समर्थन करनेवाले राज-नीतिज्ञ उन्नीसवी सदी के यूरोप के पूँजीवादी उद्योग की तरक़्क़ी के ढंग पर सोचते थे और उन्होंने उन बुरे नतीज़ों को, जो बीसवीं सदी में बिलकुल स्पष्ट रूप में सामने आए, भुला दिया। हिंदुस्तान में, जहां कि स्वाभाविक प्रगति १०० साल से रोक दी गई थी, ये बुरे नतीजे और भी ज़्यादा सामने आते। जिस ढंग के बीच के पैमाने के उद्योग, हिंदुस्तान में चालू हो रहे थे, उनकी वजह से वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में मज़दूरों की खपत नहीं हो रही थी, बल्कि बेकारी बढ़ रही थी। जहां एक सिरे पर तो पूँजी इकट्ठी होती जा रही थी, दूसरे सिरे पर ग़रीबी और बेकारी बढ़ रही थी। किसी दूसरे ढाँचे में, बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों पर ज़ोर देकर, जिन में मज़दूरों

की खपत हो, और नियमित ढंग से व्यवहारिक नक़्शा बना कर, इन बुराइयों से बचा जा सकता था।

आम जनता की बढ़ती हुई ग़रीबी से गांधीजी पर गहरा प्रभाव पड़ा। मेरा ऐसा ख़याल है कि यह सच है कि कुल मिला कर उनके जीवन के दृष्टिकोण में और उसमें जिसको आधुनिक दृष्टिकोण कहा जाता है एक बुनियादी अंतर है। आध्यात्मिक और नैतिक वस्तुओं पर चोट पहुँचा कर विलास की चीज़ों की बढ़ती और दिन-ब-दिन बढ़ने वाले रहन-सहन की ओर वे आकर्षित नहीं होते। आराम की ज़िंदगी के वे पक्ष में नहीं हैं; उनके लिए जो सीधा रास्ता है वह मेहनत का है; और विलास-प्रियता से विकृति होती है और गुणों का क्षय होता है। सब से बड़ी बात यह है कि अमीरों और ग़रीबों के बीच में, उनके रहन-सहन के ढंग में और विकास के अवसरों में जो बहुत बड़ी खाई है, उससे गांधीजी के दिल को बहुत चोट पहुँचती है। अपने निजी और मनोवैज्ञानिक संतोष के लिए उन्होंने उस खाई को पार किया, और ग़रीबों की तरफ़ चले गए, और सुधार की ऐसी चीज़ों को अपने काम में लाए जो खुद ग़रीबों की बिसात के भीतर थी—उन्हीं का जैसा रहने-सहने का ढंग, उन्हीं की-सी पोशाक या उन्हीं की तरह अक्खड़पन! थोड़े से अमीरों और ग़रीब जनता में जो बहुत बड़ा अंतर था उसके उन्हें दो मुख्य कारण मालूम दिए—विदेशी राज्य और उसके साथ होने वाला शोषण, और पच्छिम की पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता, जिसकी प्रतीक बड़ी मशीनें थीं। दोनों के ही विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया हुई। उन्हें बड़े लालच के साथ गुज़रे ज़माने के वे दिन याद आए जब स्वाधीन और बहुत हद तक स्वयं-पर्याप्त ग्रामीण समुदाय थे; जहां अपने ही आप उत्पादन, विभाजन और उपभोग में संतुलन था; जहां राजनीतिक और आर्थिक सत्ता फैली हुई थी, और आजकल की तरह केंद्रित नहीं थी; जहां एक सादा लोक-तंत्र था; जहां ग़रीब और अमीर के बीच में बड़ी खाई नहीं थी; जहां बड़े शहरों की बुराइयां नहीं थीं, और लोग जीवन देने वाली धरती के संपर्क में रहते थे और खुली जगह में ताज़ी और साफ़ हवा की साँस लेते थे।

गांधीजी में और दूसरे लोगों में जीवन के मानों के बारे में ही यह सब बुनियादी अंतर था, और यही अंतर उनकी भाषा में और उनके काम-काज में प्रकट था। उनकी भाषा स्पष्ट और ज़ोरदार थी और उसकी प्रेरणा विशेषकर हिंदुस्तान की, लेकिन साथ ही दूसरे देशों की भी, प्राचीन नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं में थी।

नैतिक मूल्य बराबर बना रहना चाहिए; उद्देश्य अनुचित साधनों को न्याय्य नहीं बना सकता; नहीं तो व्यक्ति और जाति मिट जाते हैं।

और फिर भी वह कोई स्वप्न देखने वाले आदमी नहीं थे जिनका ध्यान किसी काल्पनिक छाया-चित्र में हो और जो जीवन और उसकी समस्याओं से अलग हों। वे गुजरात के रहने वाले थे, जहाँकि ऊँचे दर्जे के व्यापारियों का घर है। हिंदुस्तानी गाँवों की और वहां की ज़िंदगी की हालत की उनको अद्वितीय जानकारी थी। अपने उस निजी अनुभव से ही उन्होंने चर्खे और ग्रामोद्योग का अपना कार्य-क्रम तैयार किया। अगर बेकार और अर्ध-बेकार लोगों की बहुत बड़ी संख्या को तुरंत ही कुछ राहत पहुँचानी थी, अगर उस सड़ांध को, जो सारे हिंदुस्तान में फैल रही थी और जनता को निकम्मी बना रही थी, रोकना था, अगर गाँववालों के रहन-सहन के दर्जे को सार्वजनिक रूप से उठाना था, अगर बेबसों की तरह दूसरों का मुँह ताकने की जगह, उन्हें आत्म-निर्भरता सिखानी थी और अगर इस सब को थोड़ी-सी ही पूँजी के सहारे करना था तो और कोई रास्ता नहीं था। विदेशी राज्य की जन्म-जात बुराइयों और शोषण के अलावा, और सुधार की बड़ी योजनाओं को शुरू और कारगर करने की आज़ादी के अभाव में, जो हिंदुस्तान के सामने मसला था वह यह था कि पूँजी कम थी और श्रम की बहुतायत थी। उस निरर्थक श्रम को, उस जन-शक्ति को, जो कुछ भी उत्पादन नहीं कर रही थी, किस तरह काम में लाया जाय। जन-शक्ति में और यंत्र-शक्ति में तुलना करने की मूर्खता की जाती है; यह ठीक है कि एक बड़ी मशीन हज़ारों आदमियों का काम कर सकती है। लेकिन अगर वे दस हज़ार व्यक्ति बेकार बैठे रहें और भूखों मरें तो उस मशीन का उपयोग सामाजिक हित में नहीं है। वह तो केवल उस व्यापक दृष्टिकोण में ही संभव होगा, जिसमें स्वयं सामाजिक हालतों में रद्दो-बदल होना ज़रूरी है। जब वहां बड़ी मशीन बिलकुल है ही नहीं तो तुलना का कोई सवाल ही नहीं उठता; व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों ही दृष्टि से उत्पादन के लिए जन-शक्ति का उपयोग एक निश्चित लाभ है। इसमें और बड़े-से-बड़े पैमाने पर मशीनों का उपयोग करने में, कोई अनिवार्य संघर्ष नहीं है। उसके लिए आवश्यक बात केवल यही है कि मशीन के उपयोग में पहला उद्देश्य श्रम को खपाने का हो, न कि बेकारी बढ़ाने का।

मैं तो ट्रैक्टर और बड़ी मशीनों का बिलकुल पक्षपाती हूं और मेरा यह पक्का विश्वास है कि धरती का भार घटाने के लिए हिंदुस्तान का तेज़ी से औद्योगीकरण

ज़रूरी है। साथ ही ग़रीबी का मुक़ाबला करने के लिए रहन-सहन के स्तर को उठाने के लिए, रक्षा के लिए, और बहुत से दूसरे कामों के लिए यह औद्योगीकरण ज़रूरी है। लेकिन मुझे इस बात में भी इतना ही पक्का यक़ीन है कि अगर हमको औद्योगीकरण का पूरा-पूरा लाभ उठाना है, और उसके बहुत से ख़तरों से बचना है, तो हमको बड़ी सावधानी के साथ योजना-बद्ध होकर चलना होगा। उन सब देशों में जहां उन्नति रुक गई है, जैसे चीन और हिंदुस्तान में, जिनमें अपनी निजी सुदृढ़ परंपराएं हैं, ऐसा योजना-निर्माण बहुत आवश्यक है। साथ ही यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान में बड़े उद्योग की वृद्धि कितनी ही तेज़ी से क्यों न हो, छोटे और घरेलू धंधों के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र बराबर खुला रहेगा। सोवियत् रूस तक में मालिक-उत्पादक सहयोग-संस्थाओं ने भी औद्योगिक वृद्धि में एक महत्वपूर्ण भाग लिया है।

छोटे कार-बार में, बिजली की शक्ति के उपयोग से उसकी उन्नति में आसानी होती है, और वह ऐसी आर्थिक स्थिति में आ सकती है, कि बड़े पैमाने के उद्योगों की बराबरी कर सके। विकेंद्रीकरण के पक्ष में अब लोग झुक रहे हैं, यहाँतक कि हैनरी फ़ोर्ड भी उसके पक्ष में हैं। वैज्ञानिक भी उन मनोवैज्ञानिक और जीव-विज्ञान संबंधी ख़तरों की ओर संकेत करते हैं, जो बड़े कार-बारी शहरों की ज़िंदगी में ज़मीन से नाता छूट जाने पर पैदा होते हैं। कुछ लोगों ने तो यहाँतक कहा है कि मानव-अस्तित्व के लिए यह आवश्यक है कि फिर धरती और गाँव से नाता जोड़ा जाय। सौभाग्य से आज विज्ञान ने यह संभव कर दिया है कि आबादी फैली हुई रहे और धरती के संपर्क में हो, और साथ ही वह आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की सारी सुविधाओं का लाभ उठा सके।

अर्थशास्त्री जी० डी० एच० कोल ने कहा है कि "खद्दर-उद्योग को बढ़ाने का गांधीजी का आंदोलन, किसी शौक़ीन तबियत आदमी का गुज़रे हुए समय को लौटा लाने के लिए केवल एक खिलवाड़ नहीं है, बल्कि गाँव की हालत को सुधारने और ग़रीबी को दूर करने के लिए एक अमली प्रयत्न है।" बेशक यही बात थी, बल्कि उससे भी कुछ ज़्यादा। उस योजना ने हिंदुस्तान को यह सोचने के लिए विवश किया कि ग़रीब किसान भी इंसान हैं, उसने हिंदुस्तान को यह महसूस कराया कि थोड़े से शहरों की जगमगाहट के पीछे ग़रीबी और कष्ट की कीचड़ थी, और इससे लोग इस बुनियादी सचाई को जान पाए कि हिंदुस्तान की आज़ादी

और उन्नति की सच्ची कसौटी, कुछ करोड़पतियों के या समृद्धिशाली वकीलों के या ऐसे ही लोगों के बनने में नहीं थी और न वह कौंसिल या असेंबली बना देने में थी, बल्कि वह किसान के जीवन की दशा और स्तर बदल देने में थी। अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान में एक नई जमात या जाति पैदा कर दी थी, और वह थी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की जमात, जो अपनी निजी दुनिया में रहती थी, आम जनता से अलग-थलग थी और जो हमेशा ही, यहाँतक कि विरोध के अवसरों पर भी अपने शासकों के मुँह की तरफ़ देखती थी। गांधीजी ने कुछ हद तक उस खाई को पाटा और उनको अपनी दिशा बदलकर अपनी निजी जनता की ओर देखने को विवश किया।

मशीन के उपयोग के संबंध में गांधीजी का रुख धीरे-धीरे बदलता हुआ मालूम दिया। उन्होंने कहा, "जिस वस्तु के मैं विरुद्ध हूं वह है मशीन के लिए पागलपन; स्वयं मशीन के मैं खिलाफ़ नहीं हूं।" "अगर गाँव के हर घर में बिजली हो, और अगर गाँव वाले अपने औज़ारों को बिजली से चलाएं तो उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी।" कम-से-कम वर्तमान परिस्थितियों में, उनकी दृष्टि से, बड़ी मशीन से अनिवार्य रूप से शक्ति और संपत्ति का केंद्रीकरण होता था। "मैं इसे एक पाप और अन्याय समझता हूं कि कुछ थोड़े से लोगों के हाथों में शक्ति और संपत्ति के केंद्रीकरण के लिए मशीन का उपयोग किया जाय। आज मशीन का उपयोग, इस लिए होता है।" कई क़िस्म के बड़े उद्योगों, बड़े पैमाने पर बुनियादी उद्योगों, और सार्वजनिक उपयोगिताओं की आवश्यकता को भी उन्होंने मंजूर कर लिया। लेकिन इसके बारे में उनकी शर्त यह अवश्य थी कि उन पर सरकारी अधिकार हो, और ये धंधे उन घरेलू धंधों में बाधा न दें जिनको वे आवश्यक समझते थे। अपने प्रस्तावों के बारे में चर्चा करते हुए उन्होंने कहा: "अगर इस कार्यक्रम को आर्थिक बराबरी की ठोस बुनियाद पर नहीं खड़ा किया गया तो वह बालू पर बनी इमारत की तरह होगा।"

इस तरह घरेलू और छोटे धंधों के उत्साही पक्षपाती भी इस बात को मानते हैं कि कुछ हद तक बड़े पैमाने का उद्योग आवश्यक और अनिवार्य है। बस, इतनी बात अवश्य है कि जहाँतक संभव हो वह इसको सीमित कर देना चाहेंगे। इस तरह सवाल मोटे तौर पर यह रह जाता है कि इन दो तरीक़ों में किसे अधिक महत्व दिया जाय और किस तरह दोनों में सम-तौल स्थापित किया जाय। इस बात के विरुद्ध शायद ही कोई हो कि वर्तमान संसार के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय अंतर्निर्भरता

के ढाँचे में भी कोई देश तवतक राजनीतिक और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकता, जवतक कि उसके उद्योग-धंधे खूब बढ़े हुए न हों, और जवतक उसके शक्ति-स्रोत पूरी-पूरी तरह विकसित न हों। जीवन के प्रायः हर क्षेत्र में, आधुनिक औद्योगिक हुनर के बिना वह देश रहन-सहन के ऊँचे मापदंड पर न तो पहुँच ही सकता है और न उस मापदंड को बनाए रख सकता है, और न ग़रीबी को मिटा सकता है। उद्योगों में पिछड़े हुए देश से दुनिया का संतुलन बराबर बिगड़ता रहेगा और दूसरे उन्नत देशों की आक्रामक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। अगर राजनीतिक स्वतंत्रता हुई तो वह सिर्फ़ नाम के लिए होगी और आर्थिक नियंत्रण धीरे-धीरे दूसरों के हाथों में चला जायगा।

छोटे और बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों के अपने गुणों के बारे में कोई दलील देना अब विशेष-रूप से बेमानी मालूम देता है, जबकि दुनिया ने और उसके सामने आनेवाली हालत की प्रधान सचाइयों ने बड़े धंधों के पक्ष में निर्णय दे दिया है। स्वयं हिंदुस्तान में भी इन्हीं सचाइयों की वजह से निर्णय हो गया है, और किसी को इसमें शक नहीं है कि निकट भविष्य में हिंदुस्तान में तेजी से औद्योगीकरण होगा। उस दिशा में हिंदुस्तान खुद काफ़ी आगे जा चुका है। बिना नियंत्रण और योजना-निर्माण के औद्योगीकरण की बुराइयां अब मानी जाती हैं। ये बुराइयां बड़े उद्योग के साथ लाजिमी तौर से लगी हुई हैं, या ये सामाजिक और आर्थिक ढाँचे की वजह से हैं, यह एक दूसरी बात है। अगर उनका दायित्व आर्थिक ढाँचे पर ही है तो निश्चय ही हमको उस ढाँचे को बदलने की कोशिश करनी चाहिए, न कि हम उस पद्धति के वांछनीय और अनिवार्य परिणामों को दोष दें।

: ७ :

अंतिम दर्शन (३)

दूसरा महायुद्ध

१ : कांग्रेस विदेशी नीति बनाती है

बहुत समय तक, हिंदुस्तान की और दूसरी राजनीतिक संस्थाओं की तरह कांग्रेस भी देश की आंतरिक राजनीति में फँसी रही, और उसने विदेशों की घटनाओं पर बहुत कम ध्यान दिया। सन् १९२० के बाद के सालों में उसने दूसरे देशों के मामलों में कुछ रुचि लेना आरंभ किया। समाजवादियों और कम्युनिस्टों के छोटे दलों के अलावा, ऐसा और किसी संस्था ने नहीं किया। मुसलमान संस्थाओं की दिलचस्पी फ़िलस्तीन में थी और वह कभी-कभी वहां के मुस्लिम अरबों से हमदर्दी रखनेवाला प्रस्ताव पास कर देती थी। तुर्की, मिस्र और ईरान की कट्टर राष्ट्रीयता पर उनकी दृष्टि अवश्य रहती थी; लेकिन एक डर के साथ, क्योंकि वह राष्ट्रीयता ग़ैर-मज़हबी थी, और उसके सबब से कुछ ऐसे सुधार हो रहे थे जो उनकी समझ में इस्लामी प्रथा से पूरी तरह मेल नहीं खा रहे थे। धीरे-धीरे कांग्रेस की विदेशी नीति बनी, जिसकी बुनियाद, सब जगह से राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद को मिटाने, और आज़ाद राष्ट्रों के सहयोग पर थी। यह हिंदुस्तान की आज़ादी की माँग के अनकूल पड़ती थी। सन् १९२० में ही, कांग्रेस ने विदेशी नीति पर प्रस्ताव पास किया, जिसमें दूसरे देशों से मेल-जोल की अपनी इच्छा, और खास तौर पर अपने पड़ोसी देशों से मैत्री के संबंध पैदा करने पर जोर दिया गया था। बाद में दूसरी बड़ी भारी लड़ाई की संभावना पर विचार किया गया, और दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से बारह बरस पहले, १९२७ में कांग्रेस ने पहली बार उस संबंध में अपनी नीति प्रकट की।

यह बात हिटलर के शक्ति पाने के पाँच या छै बरस पहले, और मंचूरिया में जापानियों का हमला शुरू होने के पहले हुई थी। मुसोलिनी इटली में अपनी जड़ दृढ़ कर रहा था, लेकिन उस समय उससे दुनिया की शांति को कोई भारी खतरा नहीं मालूम होता था। फ़ासिस्ट इटली के इंग्लैंड से मैत्री के संबंध थे, और ब्रिटिश कूट-नीतिज्ञ इटली के तानाशाह की प्रशंसा करते थे। यूरोप में छोटे-छोटे कई तानाशाह थे और आमतौर पर उनका भी इंग्लैंड से मित्रता का व्यवहार था। हां, इंग्लैंड और सोवियत् रूस के बीच पूरा विरोध था। लीग अव् नेशंस में, और अंतर्राष्ट्रीय मजदूर ऑफिस में ब्रिटिश और फ्रांसीसी नीति निश्चित रूप से अनुदार थी। निःशस्त्रीकरण के सिलसिले में जो लगातार बहसें हुईं उनमें सभी देश, जो लीग अव् नेशंस के सदस्य थे, और जिनमें संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी था, हवाई बमबाजी को बिलकुल बंद कर देने के पक्ष में थे, लेकिन ब्रिटेन ने कुछ शर्तें इसमें भी लगा दीं। कितने ही बरसों तक ब्रिटिश सरकार ने ईराक़ के गाँवों और क़स्बों पर, हिंदुस्तान में उत्तरी-पच्छिमी सरहद पर, बम बरसाने के लिए हवाई जहाज़ का उपयोग किया था। कहा यह जाता था कि यह उपयोग 'पहरा देने या देख-भाल' करने के लिए था। इस अधिकार को बनाए रखने पर बल दिया गया। नतीजा यह हुआ कि लीग में इस संबंध में कोई आम समझौता नहीं हुआ और उसी वजह से बाद में निःशस्त्रीकरण कांफ्रेंस में भी।

वाईमार के प्रजातंत्र विधान का जर्मनी लीग अव् नेशंस का एक सदस्य था, और यूरोप में स्थायी शांति के पूर्व-सूचक के रूप में लोकार्नो का स्वागत किया गया, और ब्रिटिश नीति की जीत समझी गई। इन घटनाओं का एक दूसरा पहलू भी था, वह यह कि सोवियत् रूस को अलग किया जा रहा था, और यूरोप में उसके खिलाफ़ एक संयुक्त मोर्चा क़ायम किया जा रहा था। रूस ने कुछ ही काल पहले अपनी क्रांति की दसवीं वर्ष-गाँठ मनाई थी, और उसने विभिन्न पूर्वी देशों से मित्रता के संबंध जोड़े थे। ये देश थे—तुर्की, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और मंगोलिया।

चीनी क्रांति ने भी लंबे डग भरे थे; राष्ट्रवादी फ़ौजों ने आधे चीन पर क़ब्ज़ा कर लिया था और बंदरगाहों और भीतरी मुक़ामों पर विदेशी, खास तौर पर ब्रिटिश, हितों से उनका संघर्ष हुआ था। बाद में अंदरूनी झगड़े हुए और कुओ-मिंटांग प्रतिद्वंद्वी दलों में बँट गया।

इधर दुनिया की स्थिति बिगड़कर एक भीषण संघर्ष की ओर बढ़ती जा रही थी, जिसमें कि यूरोपीय राष्ट्रों के अगुआ इंग्लैंड और फ़्रांस थे, और दूसरी तरफ़ सोवियत् रूस था, जिसके साथ कुछ पूर्वीय क़ौमें थीं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका इन दोनों दलों से अलग था। रूस से अलग तो वह इसलिए था कि उसे साम्यवाद से बेहद नफ़रत थी; और ब्रिटिश दल से वह इसलिए अलग था कि एक तो उसे ब्रिटिश नीति पर विश्वास नहीं था दूसरे वह ब्रिटिश पूंजी, उद्योग और धंधों का प्रतिद्वंद्वी था। इसके अलावा अमरीका के भीतर एक दल अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति वाला था और उसे डर था कि वह कहीं यूरोप के झगड़ों में न फँस जाय।

ऐसी हालत में, हिंदुस्तानी मत अनिवार्य रूप से सोवियत् रूस और पूर्वी क़ौमों की तरफ़दारी में था। इसके मानी यह नहीं कि आमतौर पर साम्यवाद को स्वीकार कर लिया गया था। हां, यह सच है कि समाजवादी विचारों की तरफ़ बहुत लोगों का झुकाव था। चीनी क्रांति की कामयाबी पर बड़े जोश से खुशियां मनाई गई और इसको हिंदुस्तान की आती हुई आजादी, और एशिया में यूरोप के आधिपत्य के मिटाने का सूचक माना गया। डच ईस्ट इंडीज, हिंद-चीन, एशिया के पच्छिमी देशों और मिस्र के राष्ट्रीय आंदोलनों में हमारी दिलचस्पी बढ़ी। सिंगापुर को एक बहुत बड़ा समुद्री अड्डा बनाना और लंका में ट्रिंकोमाली बंदरगाह का बढ़ाना, इन दोनों ही बातों को आनेवाली लड़ाई की आम तैयारी का ही एक अंग समझा गया—उस लड़ाई का जिसमें ब्रिटेन अपनी साम्राज्यवादी स्थिति को ज्यादा मजबूत और पक्का बनाने की कोशिश करेगा, और पूरब के उठते हुए क़ौमी आंदोलन और सोवियत् रूस को कुचल डालेगा।

इस पृष्ठभूमि में, सन १९२७ में, कांग्रेस ने अपनी विदेशी नीति बनानी आरंभ की। उसने घोषणा की कि हिंदुस्तान किसी भी साम्राज्यवादी लड़ाई में साथ नहीं देगा, और यह कहा कि किसी भी हालत में बिना हिंदुस्तानियों की मंजूरी के उसको किसी भी लड़ाई में बरबस हिस्सा न लेना पडे। उसके बाद के बरसों में यह घोषणा अक्सर दुहराई गई और उसी के अनुसार चारों तरफ़ ज़ोरों से प्रचार किया गया। कांग्रेसी नीति की, और बाद में जैसा आम तौर पर माना गया, हिंदुस्तानी नीति की भी, यह घोषणा एक नींव बन गई। हिंदुस्तान में किसी आदमी या संस्था ने इसका विरोध नहीं किया।

इस बीच में यूरोप में परिवर्तन हो रहे थे और हिटलर और नात्सी मत उठ चुके थे। इन परिवर्तनों के विरुद्ध कांग्रेस में तुरंत ही एक प्रतिक्रिया हुई, और उसने उनकी निंदा की क्योंकि हिटलर और उसका मत तो उस साम्राज्यवाद और जातिवाद के सुदृढ़ और साकार स्वरूप मालूम हुए, जिनके विरुद्ध कांग्रेस लड़ रही थी। मंचूरिया में जापानी आक्रमण ने तो और भी ज़ोरदार प्रतिक्रिया पैदा की क्योंकि उसकी चीन के साथ सहानुभूति थी। एबीसीनिया, स्पेन, चीन-जापान युद्ध, चेकोस्लोवाकिया और म्युनिख की बातों से यह भावना और भी दृढ़ हो गई, और आनेवाली लड़ाई के लिए तनाव बढ़ गया।

हिटलर के शक्तिशाली होने से पहले, जिस लड़ाई का ख़याल किया जा रहा था, उससे यह आनेवाली लड़ाई शायद कुछ दूसरे ढंग की थी। यह होते हुए भी ब्रिटिश नीति बराबर नात्सियों और फ़ासिस्टों की तरफ़दारी में थी और यह विश्वास करना कठिन था कि यह एक रात में ही अचानक बदल जायगी, और स्वतंत्रता और जनतंत्र की हिमायत करने लगेगी। उसके विशिष्ट साम्राज्यवादी दृष्टिकोण और साम्राज्य को बनाए रखने की उसकी इच्छा में दोनों ही बातें, चाहे जो कुछ हो, बराबर बनी रहेंगी। यह भी विश्वास था कि रूस और उसके आदर्शों के लिए उसका बुनियादी विरोध बना रहेगा। लेकिन यह बात दिन-ब-दिन अधिक स्पष्ट होती गई कि हिटलर को ख़ुश करने की हर कोशिश के बावजूद वह यूरोप की सबसे बड़ी शक्ति बनता जा रहा था। उससे पुराना संतुलन बिलकुल बदल गया और ब्रिटिश साम्राज्य के महत्वपूर्ण हितों के लिए संकट बढ़ गया। इंग्लैंड और जर्मनी के बीच अब लड़ाई की संभावना पैदा हो गई। और अगर यह लड़ाई हुई तो हमारी नीति क्या होगी? अपनी नीति की दो मुख्य धाराओं में हम कैसे मेल करेंगे: यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध, और नात्सी मत और फ़ासिज़्म का विरोध? तब हम किस तरह अपनी राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता को साथ-साथ रख सकेंगे? उस समय की स्थिति में हमारे लिए यह एक कठिन प्रश्न था, लेकिन अगर ब्रिटिश सरकार हमें यह विश्वास दिलाने के लिए कि हिंदुस्तान में उसने साम्राज्यवादी नीति छोड़ दी, और अब वह जनता के सहयोग का सहारा चाहती है, कुछ कर दिखाए, तो यह प्रश्न कठिन भी नहीं था।

अंतर्राष्ट्रीयता तो सचमुच केवल एक स्वतंत्र देश में ही पनप सकती है। उसकी वजह यह है कि किसी भी गुलाम देश का सारा मस्तिष्क और सारी शक्ति अपनी

आज़ादी पाने की कोशिश में लगी रहती है। गुलामी की हालत तो उस ज़हरीले फोड़े की तरह है, जो बदन के हिस्से को तंदुरुस्त होने से केवल रोकती ही नहीं है, बल्कि जो बराबर दिमाग़ को बेचैन किए रहता है, और जिसका असर हर काम और हर ख़याल पर दिखाई पड़ता है।

बहुत अर्से से हिंदुस्तान की यह पृष्ठभूमि थी, लेकिन गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया रुख़ दिया, और उससे निराशा और तीखेपन की भावना कम हो गई। राष्ट्रीय भावनाएं बनी रहीं लेकिन जहाँतक मेरा ख़याल है और किसी दूसरे राष्ट्रीय आंदोलन में इतनी कम घृणा का भाव नहीं था। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे, लेकिन साथ-ही-साथ उन्होंने अनुभव किया कि उनके पास जो संदेश था वह केवल हिंदुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिए था, और वह दिल से दुनिया भर में शांति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता में दुनिया भर का ख़याल था, और उसमें किसी दूसरे पर हमला करने की बू नहीं थी। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता चाहते हुए भी, वह यह विश्वास करने लगे थे कि दुनिया भर के राष्ट्रों का एक संघ ही सही आदर्श था। मेरी राष्ट्रीयता का विचार तो यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाय, और आवश्यक हो तो सारा देश मिट जाय, ताकि मानव-जाति जीवित रह सके।

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन में शक्ति और विश्वास बढ़ा, लोगों के मस्तिष्क स्वतंत्र हिंदुस्तान के विषय में सोचने लगे—उसे कैसा होना चाहिए; उसे क्या करना होगा, और दूसरे देशों से उसका क्या और कैसा नाता होगा। देश के बड़े होने, उसकी बड़ी शक्ति और उसके बहुत ज्यादा फलने-फूलने की गुंजाइश से लोग बड़ी-बड़ी बातों को ही सोचने लगे। हिंदुस्तान किसी देश या राष्ट्र-समूह के पीछे चलनेवाला नहीं हो सकता था। उसकी स्वतंत्रता और उन्नति से एशिया में और उसकी वजह से सारी दुनिया में एक बहुत बड़ा अंतर आएगा। उसकी वजह से इंग्लैंड और उसके साम्राज्य से जो कड़ी हमें बाँधे हुए थी, उसको तोड़कर पूरी आज़ादी का ख़याल हमारे सामने आया। डोमीनियन स्टेट्स, चाहे वह आज़ादी के कितने ही निकट क्यों न हो, हमारी पूरी उन्नति के लिए एक बिलकुल वाहियात रुकावट मालूम दिया। डोमीनियन स्टेटस का समर्थक विचार कि आदि देश अपनी नौ-आबादियों से मिला हुआ है और उन सबके लिए एक ही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है, हिंदुस्तान पर बिलकुल लागू नहीं था।

जब हमने हिंदुस्तान की आज़ादी की बात की तो उसमें एकदम अलग रहने का खयाल नहीं था। बहुत से दूसरे मुल्कों की अपेक्षा हमने अधिक स्पष्ट-रूप में यह अनुभव किया कि पुराने ढंग की पूरी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कोई भविष्य नहीं था, और अब दुनिया भर के सहयोग के एक नए युग का आना अनिवार्य था। इसीलिए हमने इस बात को बार-बार दुहराकर स्पष्ट किया कि अंतर्राष्ट्रीय ढाँचे से मेल बनाए रखने के लिए, दूसरे राष्ट्रों के साथ हम अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने को पूरी तरह तैयार थे। यह एक अचंभे की बात है कि अपनी ज़ोरदार राष्ट्रीय भावनाओं के होते हुए भी, हमारे विचारों में अंतर्राष्ट्रीयता की विरोधी भावना नहीं आई। सन् १९३८ में कांग्रेस ने एक डॉक्टरी जत्था, और डॉक्टरी सामान चीन में मदद के लिए भेजा।

२ : कांग्रेस और युद्ध

कांग्रेस ने विशेष-रूप से यह माँग की कि बिना हिंदुस्तानियों या उनके प्रतिनिधियों की स्वीकृति के हिंदुस्तान का किसी लड़ाई से गठ-बंधन न किया जाय। और बिना ऐसी राय के हिंदुस्तानी फ़ौज किसी भी काम के लिए देश से बाहर न भेजी जाय। केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली ने भी, जिसमें विभिन्न दल और पार्टियां सम्मिलित थीं, यही माँग पेश की। बहुत समय से हिंदुस्तानियों की यह शिकायत थी कि हमारी फ़ौजें देश से बाहर, अक्सर साम्राज्यवादी उद्देश्य से भेजी जाती हैं, और उनसे उन आदमियों को जीतने या कुचलने या दबाए रखने का काम लिया जाता है, जिनसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है और जिनकी आज़ादी की कोशिशों के लिए हमारे दिल में हमदर्दी है। हिंदुस्तानी फ़ौज को, किराए के आदमियों की तरह, ऐसे ही कामों में बर्मा, चीन, ईरान और मध्यपूर्व और अफ़्रीक़ा के हिस्सों में इस्तेमाल किया गया था। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक बन गई थीं, और उसी सबब से वहाँ के रहनेवालों के दिलों में हिंदुस्तान के विरुद्ध भावनाएं पैदा हुईं। मुझे एक मिस्री का यह तीखा आक्षेप याद है, "तुमने सिर्फ़ अपनी ही आज़ादी नहीं खोई है, बल्कि तुम दूसरों को ग़ुलाम बनाने में ब्रिटेन की मदद करते हो।"

सन् १९३९ के मध्य में यह पता लगा कि हिंदुस्तानी फ़ौज देश से बाहर भेजी गई—शायद सिंगापुर को और मध्य-पूर्व को। तुरंत ही बड़ी ज़ोरदार आवाज़ें उठीं कि यह हिंदुस्तान के प्रतिनिधियों की सलाह लिए बिना ही किया गया है।

यह बात तो मानी गई कि संकट-काल में फ़ौज का प्रोग्राम अक्सर गुप्त रखना पड़ता है। लेकिन फिर भी प्रतिनिधि नेताओं को साथ और उनसे सलाह लेने के लिए बहुत से तरीक़े हो सकते थे। केंद्रीय असेंबली की पार्टियों के नेता थे, और हर प्रांत में जनता द्वारा चुनी हुई सरकारें थीं। मामूली तौर पर केंद्रीय सरकार को इन प्रांतीय मंत्रियों से बहुत से मामलों में सलाह-मशवरा करना पड़ता था, और उन्हें भेद की बातें बतानी पड़ती थीं। लेकिन इस अवसर पर राष्ट्र की खुली घोषणा के होते हुए भी जनता के प्रतिनिधियों से नाममात्र को भी सलाह नहीं ली गई। ब्रिटिश पार्लमेंट के द्वारा गवर्नमेंट अव् इंडिया एक्ट (सन् १९३५) में संशोधन के लिए क़दम उठाए जा रहे थे। इस समय प्रांतीय सरकारें इसी ऐक्ट के अनुसार काम कर रही थीं। अब यह कोशिश की गई कि लड़ाई के सिलसिले में केंद्रीय सरकार को विशेषाधिकार दे दिये जाएं, और सारी शक्ति केंद्र के हाथ में आ जाय आमतौर पर एक लोकतंत्र राज्य में यह बात बिलकुल स्वाभाविक और तर्क-संगत होती, अगर इस बारे में विभिन्न दलों की राय ले ली जाती। इस पर बहुत नाराज़ी फैली। ऐसा अनुभव किया गया कि यह नीति उस आश्वासन के विरुद्ध थी जो कांग्रेसी सरकारों को शुरू में दिया गया था। साथ ही यह स्पष्ट बात होने लगी कि पहले की तरह बिना हिंदुस्तानियों के प्रतिनिधियों का ध्यान किए ही. उन पर लड़ाई का बोझ लाद दिया जायगा।

कांग्रेस-कार्यकारिणी ने बहुत ज़ोरदार शब्दों में इस नीति का विरोध किया। उसके विचार में तो यह कांग्रेस और केंद्रीय धारासभा दोनों की ही घोषणाओं की जान-बूझकर खुल्लम-खुल्ला अवहेलना थी। उसने ऐलान किया कि वह इस तरह की ज़बर्दस्ती को रोकेगी और वह उसके निवासियों की सहमति के बिना ही हिंदुस्तान को गहरा असर रखनेवाली नीतियों के लिए ज़िम्मेदार बनाने पर राज़ी नहीं हो सकती। फिर (१९३९ के अगस्त में) उसने कहा कि, "इस संसार-व्यापी संकट में कार्यकारिणी की सहानुभूति उन लोगों के लिए है जो लोकतंत्र और स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं। और कांग्रेस ने यूरोप, अफ़्रीक़ा, सुदूर एशिया में फ़ासिस्ट हमले की बार-बार निंदा की है। साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा स्पेन और चेकोस्लोवाकिया में लोकतंत्र के प्रति विश्वास-घात की भी निंदा की है।" यह कहा गया कि "ब्रिटिश सरकार की पिछली नीति और इधर हाल की घटनाओं ने यह बात पूरी तरह दिखा दी है कि यह सरकार आज़ादी और लोकतंत्र की हिमायत

नहीं करती और किसी समय भी इन आदर्शों के साथ दग़ा कर सकती है। हिंदुस्तान ऐसी सरकार से अपना कोई नाता नहीं रख सकता, और उससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह उस लोकतंत्रात्मक स्वतंत्रता के लिए अपना सहयोग दे, जोकि स्वयं उसे नहीं दी जा रही है और जिसको धोखा दिया जा सकता है।" इस नीति के विरोध में पहला क़दम यह था कि केंद्रीय धारासभा के कांग्रेसी सदस्यों से कहा जाय कि वह धारासभा के अगले अधिवेशन में भाग न लें।

यह पिछला प्रस्ताव यूरोप में लड़ाई शुरू होने के ठीक तीन सप्ताह पहले पास किया गया। ऐसा मालूम पड़ा कि हिंदुस्तान की सरकार और उसका समर्थन करनेवाली ब्रिटिश सरकार लड़ाई के सिलसिले में बड़े-बड़े मामलों में ही नहीं, बल्कि छोटे-छोटे मामलों में भी हिंदुस्तान के आम लोगों की भावनाओं का तिरस्कार करने पर तुली हुई है। सूबों में गवर्नरों के रुख में इस नीति की झलक दिखाई दी। साथ ही सिविल सर्विस के हाकिमों का कांग्रेस-सरकार से असहयोग बढ़ता जा रहा था। सूबों की कांग्रेसी सरकारों की दिन-ब-दिन मुश्किलें बढ़ती जा रही थीं, और लोकमत के गरम दल ज्यादा उत्तेजित होते जा रहे थे और उनकी शंकाएं बढ़ रही थीं। उनको डर यह था कि ब्रिटिश सरकार उसी ढंग से पेश आएगी, जैसे कि उसने पच्चीस बरस पहले सन् १९१४ में किया था; वह सूबों की सरकारों और लोकमत का विचार न कर लड़ाई को हठात् सिर पर मढ़ देगी; वह उस थोड़ी-सी आज़ादी को जिसे हिंदुस्तान ने हासिल किया था, लड़ाई के नाम पर कुचल देगी; और वह मनमाने ढंग से अपने साधनों का अनुचित लाभ उठाएगी।

यूरोप में युद्ध की घोषणा हुई और तुरंत ही हिंदुस्तान के वाइसराय ने घोषित किया कि हिंदुस्तान भी लड़ाई में आ गया। एक व्यक्ति—एक विदेशी, और वह भी एक ऐसी शासन का प्रतिनिधि जिससे लोगों को घृणा थी, चालीस करोड़ आदमियों को, बिना उनकी रत्ती भर मर्ज़ी के, लड़ाई में उलझा दे! स्पष्ट है, कि उस ढांचे में बुनियादी तौर पर कोई ग़लती है, कोई सड़न है, जिसमें कि इस ढंग से चालीस करोड़ आदमियों की क़िस्मत का निबटारा किया जाता है। उपनिवेशों में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा पूरी तरह सलाह-मशविरा और हर पहलू से सोच-विचार के बाद यही निर्णय किया गया। लेकिन हिंदुस्तान में ऐसा नहीं हुआ और उससे हिंदुस्तानियों के दिलों को चोट पहुँची।

३ : युद्ध की प्रतिक्रिया

जिस समय यूरोप में लड़ाई आरंभ हुई, मैं चुंगकिंग में था। कांग्रेस के सभापति ने तार द्वारा मुझसे तुरंत लौटने को कहा, और मैं जल्दी वापिस आया। जिस समय मैं आया, कांग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक हो रही थी। इस बैठक में भाग लेने के लिए मि० जिन्ना को भी बुलाया गया था, लेकिन उन्होंने असमर्थता प्रकट की। वाइसराय ने हिंदुस्तान को लड़ाई में शामिल ही नहीं किया, बल्कि कई आर्डिनेंस भी जारी कर दिए थे। ब्रिटिश पार्लमेंट ने गवर्नमेंट अव् इंडिया ऐक्ट में संशोधन कर दिया था। इन क़ानूनों में सूबों की सरकारों के अधिकार और कार्यक्षेत्र को सीमित किया गया था, और वे अच्छे नहीं मालूम हुए, और ख़ास तौर पर इस वजह से कि जनता के नुमाइंदों से इस बारे में कोई सलाह नहीं ली गई थी। बल्कि वास्तव में उनकी अक्सर दुहराई हुई इच्छाओं और ऐलानों की पूरी तरह अवहेलना कर दी गई थी।

१४ दिसंबर, १९३९ को, लंबी बहस के बाद कांग्रेस कार्यसमिति ने युद्ध-संकट के सिलसिले में एक लंबा बयान जारी किया। इसमें वाइसराय के उठाए हुए क़दमों और नए क़ानूनों का चर्चा था, और यह कहा गया था कि "कार्य समिति को इन घटनाओं को बड़े गंभीर रूप में लेना चाहिए।" फ़ासिस्ट और नात्सी मतों की निंदा की गई और ख़ासतौर पर नात्सी जर्मन सरकार के सबसे ताज़े हमले को, जो उसने पोलैंड पर किया था, और उन लोगों के लिए जो ऐसी चीज़ों का विरोध करते थे, हमदर्दी प्रकट की गई।

यद्यपि सहयोग के लिए हम तैयार थे, लेकिन यह बात साफ़ कर दी गई कि "ज़बर्दस्ती सिर मढ़े हुए फ़ैसलों का . . . . . . अनिवार्य-रूप से विरोध किया जायगा। अगर किसी ऊँचे आदर्श के लिए सहयोग की आवश्यकता है तो यह बात स्पष्ट है कि वह सहयोग दबाव या ज़बर्दस्ती से नहीं मिल सकता। और न कार्यसमिति इस बात के लिए तैयार हो सकती है कि हिंदुस्तानी उन हुक्मों की पाबंदी करें जो विदेशी शक्ति द्वारा दिए गए हैं। सहयोग तो बराबर वालों में होना चाहिए, और उसमें आपसी रज़ामंदी होनी चाहिए, और वह उस आदर्श के लिए जिसको दोनों ही बड़ी चीज़ समझते हों। इधर हाल ही में हिंदुस्तानियों ने बड़े ख़तरों का सामना किया है, और अपने आप ही स्वतंत्रता प्राप्त करने और हिंदुस्तान में लोकतंत्र

स्थापित करने के लिए वड़े-वड़े वलिदान किए हैं। उनकी हमदर्दी पूरी तरह लोकतंत्र और स्वतंत्रता के पक्ष में है। लेकिन हिंदुस्तान किसी ऐसी लड़ाई में सम्मिलित नहीं हो सकता था, जिसके लिए कहा तो यह जाय कि वह लोकतंत्र और आज़ादी के लिए है जबकि यह आज़ादी खुद उसे प्राप्त नहीं है, और यही नहीं वल्कि जो कुछ थोड़ी-वहुत आज़ादी उसके पास है वह भी उससे छीनी जा रही है।"

फिर, "समिति इस वात से परिचित है कि व्रिटेन और फ़्रांस की सरकारों ने यह घोपणा की है कि वह लोकतंत्र और आज़ादी के लिए लड़ रही हैं, और हमलों को रोकना चाहती हैं। लेकिन इधर हाल का इतिहास ऐसी वातों से भरा हुआ है और उसमें ऐसी मिसालें हैं कि कही हुई वातों में, जताए हुए आदर्शों में, और असली नीयत और उद्देश्य में, वरावर अंतर रहा है।" पहले महायुद्ध के दौरान की, और उसके वाद की कुछ घटनाओं का उसमें ज़िक्र था। उस सिलसिले में यह कहा गया कि, "वाद के इतिहास से यह वात फिर तरोताज़ा हो गई है कि जोश भरे, भरोसा दिलानेवाले ऐलानों को किस तरह वेशर्मी से पलटा जा सकता है......फिर यह ज़ोर दिया गया है कि लोकतंत्र खतरे में है, और उसकी रक्षा करनी है। और इस वक्तव्य से समिति पूरी तरह सहमत है। समिति यक़ीन करती है कि पच्छिमी लोग इस आदर्श और उद्देश्य के लिए आगे वढ़ रहे हैं; और वे उनके लिए वलिदान करने के लिए तैयार हैं। लेकिन कितनी ही वार जनता के और उन लोगों के, जिन्होंने ऐसे संघर्षों में वलिदान किए हैं, आदर्शों और उनकी भावनाओं की अवहेलना की गई है, और उनके साथ ईमानदारी नहीं वरती गई है।"

"यदि लड़ाई सारी चीज़ों को ज्यों-का-त्यों वनाए रखने के वचाव के लिए है—यानी साम्राज्यवादी अधिकार, उपनिवेश, स्थापित स्वार्थ और रियासतों के वचाव के लिए है—तो हिंदुस्तान का उससे कोई वास्ता नहीं हो सकता। लेकिन अगर इस समय सवाल लोकतंत्र और लोकतंत्र पर वने एक दुनिया भर के ढाँचे का है, तो हिंदुस्तान की उसमें वेहद दिलचस्पी है। समिति को पूरी तरह इतमीनान है कि हिंदुस्तानी लोकतंत्र और व्रिटिश लोकतंत्र के या दुनिया के लोकतंत्र के हितों में कोई विरोध नहीं है। लेकिन साम्राज्यवाद और फ़ासिस्टवाद का हिंदुस्तान में या और जगह लोकतंत्र से एक वुनियादी और अमिट झगड़ा है। यदि ग्रेट व्रिटेन लोकतंत्र को वनाए रखने और आगे वढ़ाने के लिए लड़ाई लड़ रहा है तो लाज़िमी तौर पर उसे अपने साम्राज्यवाद को समाप्त कर देना चाहिए......एक स्वतंत्र

लोकतंत्री हिंदुस्तान खुशी से दूसरी आज़ाद क़ौमों का, हमलों से आपसी रक्षा के लिए, साथ देने को तैयार है, और वह तैयार है आर्थिक सहयोग के लिए। आज़ादी और लोकतंत्र की नींव पर दुनिया भर का एक संघ बनाने के लिए वह काम करने को तैयार है, जिसमें कि इंसान की तरक़्क़ी के लिए दुनिया के सारे ज्ञान और साधनों को काम में लाया जाय।"

कांग्रेस कार्य समिति ने, राष्ट्रीय होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अपनाया और उसकी निगाह में लड़ाई सिर्फ़ हथियारबंद फ़ौजों की लड़ाई से कहीं ज़्यादा बड़ी चीज़ थी। "जिस संकट ने यूरोप को आ घेरा है वह सिर्फ़ यूरोप का ही नहीं बल्कि सारी दुनिया का है। दूसरे संकटों या लड़ाइयों की तरह वह योंही नहीं टलेगा और आज की दुनिया का ढाँचा भी जैसा-का-तैसा नहीं बचेगा। उससे दुनिया का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक नक़्शा बिलकुल बदल जायगा। वह बदला हुआ नक़्शा बेहतर होगा या बदतर यह बिलकुल दूसरी चीज़ है। यह संकट पिछली बड़ी लड़ाई के बाद तेज़ी से बढ़ने वाले विरोधों, सामाजिक और राज-नीतिक झगड़ों का अनिवार्य परिणाम है। यह संकट अंततः उस समय तक नहीं टलेगा जबतक यह झगड़े और विरोध हट न जायँ और जबतक कि एक नया सम-झौता स्थापित न हो जाय। इस संतुलन की बुनियाद है इस पर कि एक देश का दूसरे देश पर आधिपत्य और शोषण का अंत हो जाय, और आर्थिक रिश्तों को एक नए सिरे से ऐसे ढर्रे पर लाया जाय जिसमें सबके लाभ और सबके साथ न्यायका ध्यान हो। सारे सवालों की कसौटी है हिंदुस्तान। वह मौजूदा ज़माने के साम्राज्य-वाद की ख़ास मिसाल है, और दुनिया का कोई भी ढाँचा, इस बड़े और ख़ास सवाल को यों ही छोड़कर सफल नहीं हो सकता। अपने बड़े साधनों की वजह से दुनिया के नए ढाँचे, और नए नक़्शे में उसका बहुत बड़ा हिस्सा होगा। लेकिन ऐसा तो वह एक आज़ाद राष्ट्र की हैसियत से ही कर सकता है जिसमें कि इस बड़े उद्देश्य के लिए शक्ति फूटी पड़ती हो। स्वतंत्रता का आज बँटवारा नहीं हो सकता। दुनिया के किसी भी हिस्से में साम्राज्यवादी अधिकार बनाए रखने की कोशिश का अनिवार्य परिणाम एक भयानक विध्वंस होगा।"

इस बयान में, जोकि गहरे-सोच विचार के बाद निकाला गया था, हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के बीच से उन अड़ंगों को हटाने की कोशिश थी, जोकि उनके आपसी रिश्तों को, डेढ़ सौ बरसों से ख़राब कर रहे थे। इसमें कोशिश थी कि कोई

ऐसा रास्ता निकल आवे कि आज़ादी के लिए हमारी वेचैनी और दुनिया के इस संघर्ष में आम जोश और सहयोग के साथ हमारी सम्मिलित होने की हार्दिक इच्छा, यह दोनों वातें एक साथ चल सकें।

कांग्रेस की कार्य-समिति के लिए ऐसा प्रस्ताव इंग्लिस्तान के सामने रखना कोई आसान वात नहीं थी। इस समय अधिकतर लोगों को अंतर्राष्ट्रीय मसलों के वारे में, जानकारी नहीं के वरावर थी, और वे हाल की ब्रिटिश नीति के लिए अप्रसन्नता प्रकट करते थे। हम जानते थे कि एक-दूसरे पर शक, और आपस में भरोसे की कमी लफ़्ज़ों के जादू से नहीं मिट सकती थी। फिर भी हमें आशा थी कि घटनाओं की मार से इंग्लिस्तान के नेता अपने साम्राज्यवादी गड्ढों से वाहर आकर, दूर की चीज़ों को ध्यान में रखते हुए, हमारे प्रस्ताव को मंज़ूर करेंगे। इस तरह इंग्लिस्तान और हिंदुस्तान के झगड़े खत्म हो जायेंगे, और लड़ाई के लिए हिंदुस्तान का जोश और उसके साधन दोनों ही रुके वाँध की तरह फूट पड़ेंगे।

लेकिन ऐसा नहीं होना था, और उन्होंने जवाव में हमारी माँग को अस्वीकार कर दिया। यह वात स्पष्ट हो गई कि वे हमारा साथ मित्रों और वरावर वालों की तरह नहीं चाहते थे। उनकी इच्छा तो यह थी कि हम ग़ुलामों की तरह उनका हुक्म वजावें।

हमारे सूबों की सरकारों की कठिनाइयां वढ़ गई, और उन्हें दो चीज़ों में से एक चुन लेना था। या तो वे वाइसराय और गर्वनर की दस्तंदाज़ी के सामने सिर झुकातीं या उनका सामना करतीं। वड़े-वड़े सरकारी नौकर गवर्नर के साथ थे, और वे मंत्रियों और धारासभाओं की ओर इस तरह देखते थे, मानो वे उनके रास्ते में रोड़ा हों। यह तै किया गया कि हिंदुस्तान के ग्यारह सूवों में से जिन आठ सूवों में कांग्रेसी सरकारें थीं (यानी वंगाल, सिंध और पंजाव को छोड़कर) वे विरोध में इस्तीफ़ा दे दें। कुछ लोगों की राय थी कि वे इस्तीफ़ा न दें और काम करते रहें ताकि गवर्नर को उन्हें वर्खास्त करने की नौवत आए। यह वात स्पष्ट थी कि वुनियादी झगड़ों की वजह से जो दिन-व-दिन ज़्यादा साफ़ होते जा रहे थे, उन सरकारों में और गवर्नरों में झगड़े होने लाज़िमी थे। और अगर वे सरकारें इस्तीफ़ा न देतीं तो उनको वर्खास्त कर दिया जाता। उन सरकारों ने विलकुल वैधानिक रास्ता अपनाया, यानी इस्तीफ़ा दिया, और धारासभा को रद्द कर फिर से चुनावों के लिए न्यौता दिया। चूंकि धारासभा में उनके पीछे वहुमत था इसलिए कोई नया

मंत्रिमंडल बनाया नहीं जा सकता था। लेकिन गवर्नर नए चुनावों से बचना चाहते थे, क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि उसमें कांग्रेस की बड़ी भारी जीत होगी। उन्होंने धारासभा को रद्द नहीं किया, बल्कि उसके काम को स्थगित कर दिया, और धारासभा और मंत्रिमंडल दोनों के ही सारे अधिकारों को अपने हाथों में ले लिया। सूबों के वे बिलकुल निरंकुश मालिक हो गए। वे क़ानून बनाते, हुक्म जारी करते और जो चाहते करते, और उसमें जनता की या उसके प्रतिनिधियों की राय का रत्ती भर भी ख़याल न होता।

बंगाल और पंजाब के बड़े सूबों में, और सिंध के छोटे से सूबे में, इस्तीफ़े नहीं दिए गए। बंगाल और पंजाब दोनों ही में गवर्नर और सिविल सर्विस का पहले से ही बोल-बाला था, इसलिए वहां कोई झगड़ा नहीं उठ सकता था। इतने पर भी बंगाल में बाद में गवर्नर और प्रधान-मंत्री की नहीं बनी और गवर्नर ने मंत्रि-मंडल को इस्तीफ़ा देने के लिए मजबूर किया। आगे चलकर सिंध के प्रधान-मंत्री ने वाइसराय को एक पत्र लिखा और उसमें ब्रिटिश नीति की बुराई-भलाई की और उसके विरोध में उन्होंने वह सरकारी ख़िताब जो उन्हें दिया गया था छोड़ दिया। उन्होंने इस्तीफ़ा नहीं दिया। लेकिन वाइसराय ने इस पत्र की वजह से, गवर्नर के हाथों, उन्हें प्रधान-मंत्री के पद से बर्ख़ास्त कराया, क्योंकि यह पत्र वाइसराय की प्रतिष्ठा के विरुद्ध था।

४ : कांग्रेस का एक और प्रस्ताव और ब्रिटिश सरकार द्वारा उसकी नामंजूरी : मि० विंस्टन चर्चिल

स्थायी नौकरी वाले बड़े अधिकारियों पर से अब धारासभा की निगरानी हट गई, और गवर्नर से लेकर नीचे के अदना-से-अदना आदमी तक, सिविल सर्विस और पुलिसवालों का जनता की तरफ़ रुख बिलकुल बदल गया। यहां केवल कांग्रेस के पदों पर आने के पहले की-सी हालत ही नहीं लौटी; बल्कि हालत कहीं ज्यादा बिगड़ गई। क़ानूनी हालत से तो हम उन्नीसवीं सदी की निरंकुश स्वेच्छाचारिता पर पहुँच गए थे। असली तौर पर यह बहुत खलने वाली चीज़ थी, क्योंकि पुराना आपसी भरोसा हट चुका था। सरकार के ब्रिटिश सदस्यों में, लंबे अर्से से स्थापित स्वार्थों के मिट जाने का डर और शक समाया हुआ था। कांग्रेसी सरकार के सवा दो साल बड़ी मुश्किल से सहन हुए थे। उन्हीं लोगों के हुक्म की

तामील करना, जिन्हें थोड़ी-सी शिकायत पर भी जेल भेजा जा सकता था, कुछ प्रिय नहीं मालूम हुआ। अब पुराने धागों को जोड़ने की ही तबियत नहीं थी बल्कि इन विद्रोहियों को उचित जगहों पर पहुँचा देने की इच्छा थी। हर एक को, चाहे वह खेत का किसान हो, कारखाने का मज़दूर हो, कारीगर हो, दुकानदार हो, कारखानेदार हो, नौकरी पेशा हो, कालेज की नौजवान लड़की हो या लड़का हो, छोटी नौकरी वाला हो या कितनी ही ऊँची नौकरी वाला हिंदुस्तानी हो और जिसने जनता की सरकार के लिए जोश दिखाया हो, उसको यह जताना था कि ब्रिटिश राज्य अब भी बना हुआ है और उसका ख़याल रखना होगा। जिन लोगों ने मंत्रियों के सेक्रेटरियों की हैसियत से काम किया था वे अब मालिक थे। उनके और गवर्नर के बीच में अब कोई नहीं था, और अब वे फिर पुराने साहबी ढंग से बातें करने लगे; ज़िलाधीश फिर अपने हलक़ों के सर्वेसर्वा हो गए; पुलिस को अब फिर अपनी पुरानी हरकतें करने की आज़ादी थी।

मंत्रियों ने अपने पदों से इस्तीफ़ा अवश्य दिया था, लेकिन धारासभा की सदस्यता से नहीं; और न इन धारासभाओं के सदस्यों और स्पीकरों ने ही इस्तीफ़े दिए। फिर भी वह हटा दिए गए, और उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई। और न कोई नए चुनाव ही हुए। विशुद्ध वैधानिक दृष्टिकोण से भी इसे सहन करना आसान नहीं था, और किसी भी देश में उससे एक विकट संकट खड़ा हो सकता था। कांग्रेस जैसी शक्तिशाली, अर्ध-क्रांतिकारी संस्था, जिसमें देश की राष्ट्रीय भावना की नुमाइंदगी होती थी, और जिसका आज़ादी की लड़ाई का एक अपना इतिहास था, चुप होकर इस एक व्यक्ति के निरंकुश राज्य को स्वीकार नहीं कर सकती थी। जो कुछ हो रहा था उसके लिए वह केवल दर्शक ही नहीं बन सकती थी, और विशेषकर इसलिए कि यह सब उसी के विरुद्ध था। और हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी नीति, सार्वजनिक और धारासभा के कामों के इस तरह कुचले जाने के विरुद्ध, बार-बार ज़ोरदार कार्रवाई करने की माँग की गई।

ब्रिटिश सरकार ने अपने लड़ाई के उद्देश्य को साफ़ करने, और हिंदुस्तान में आगे क़दम उठाने से इंकार कर दिया। इसके बाद कांग्रेस कार्यसमिति ने घोषणा की : "(कांग्रेस की) इस माँग का जो जवाब मिला है वह बिलकुल असंतोषजनक है और ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से भ्रांति पैदा करने की कोशिश की गई है, और साथ ही मुख्य नैतिक प्रश्न को धुंधला करने की कोशिश की गई है........लड़ाई

के उद्देश्य के बारे में और कांग्रेस की आज़ादी के बारे में कुछ न बताने की कोशिश को जिसमें बेकार की बातों की आड़ ली गई है, समिति यही मानी लगाती है कि इस देश के और प्रतिक्रियावादी हिस्सों से मिलकर हिंदुस्तान में साम्राज्यवाद को बनाए रखने की इच्छा बराबर बनी हुई है। कांग्रेस ने इस युद्ध-संकट और उस सिलसिले की सारी समस्याओं को तो एक नैतिक दृष्टिकोण से देखा है, और उसने इस युद्ध-संकट से लाभ उठाकर सौदा करने के विचार से कुछ नहीं सोचा। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और लड़ाई के उद्देश्य के बारे में (जो नैतिक और बड़े सवाल हैं उनका) पहले ठीक ढंग से निर्णय हो जाना आवश्यक है। इसके बाद ही और दूसरी छोटी बातों पर विचार किया जा सकता है। किसी भी हालत में कांग्रेस सरकारी प्रबंध की ज़िम्मेवारी के लिए स्वीकृति नहीं दे सकती, जबतक कि सच्ची शक्ति जनता के प्रतिनिधियों को न सौंप दी जाय। बिना इस शक्ति के वह थोड़े से बीच के ज़माने के लिए भी ज़िम्मेदारी लेने को तैयार नहीं है।"

देश में चारों तरफ फैली उत्तेजना को ध्यान में रखते हुए और इस संभावना को सोचकर कि नौजवान हिंसात्मक दंगे के तरीक़े को न अपना लें, समिति ने देश को अहिंसा की बुनियादी नीति की याद दिलाई, और उसे तोड़ने के विरुद्ध चेतावनी दी। अगर कोई सविनय अवज्ञा भी हो तो उसके लिए भी यह आवश्यक था कि वह पूरी तरह शांतिपूर्ण हो।

ये वह महीने थे, जब यूरोप में लड़ाई, पोलैंड के कुचले जाने के बाद, कुछ ठंडी पड़ रही थी। उस समय ऊपरी तौर पर शांति मालूम देती थी और हिंदुस्तान के आम लोगों के खयाल में लड़ाई अभी काफ़ी दूर थी, और विशेषकर हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में भी शायद यही बात थी। हां, उन्हें सामान जुटाने, और उसे भेजने की चिंता अवश्य थी। हिंदुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी उस समय और बाद में भी, जबतक जून १९४१ में जर्मनी ने रूस पर हमला किया बराबर इस बात के विरुद्ध थी कि इंग्लैंड को लड़ाई में मदद दी जाय। उनकी संस्था ग़ैर-क़ानूनी कर दी गई थी। उनका असर बहुत थोड़ा था। जो कुछ असर था वह कुछ नौजवान दलों में था। लेकिन इस वजह से कि वह व्यापक भावना को उग्र शब्दों में व्यक्त करते थे, उन पर रोक लगा दी गई।

इस दौरान में केंद्रीय और सूबों की धारासभाओं के लिए चुनाव करना आसान होता। लड़ाई की वजह से उसमें कोई रुकावट नहीं थी। ऐसे चुनाव से सारा

वातावरण साफ़ हो जाता और देश की असली स्थिति सतह पर आ जाती। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को इस अस्लियत का ही तो डर था, क्योंकि तब उनकी बहुत-सी झूठी दलीलें आगे नहीं चल पातीं। इन दलीलों में वे बराबर अलग-अलग संस्थाओं और पार्टियों के असर का ज़िक्र करते थे। लेकिन सभी चुनावों से बचने की कोशिश की गई। सूबों में एक आदमी का शासन चलता रहा। केंद्रीय धारासभा, जिसके सदस्य तीन साल के लिए, बहुत थोड़े निर्वाचकों द्वारा चुने जाते हैं, दस साल से बराबर चल रही है।

वैसे तो सारे देश में ही, लेकिन खास तौर पर उन सूबों में, जहां एक व्यक्ति का राज्य था, दिन-ब-दिन हालत में तनाव ज़्यादा बढ़ता गया। अपने आम काम-काज के लिए भी कांग्रेसियों को एक-एक करके जेल भेजा गया। छोटे-छोटे अफ़सरों और पुलिस की नई ज्यादतियों से राहत पाने के लिए किसान ज़ोरों से आवाज़ उठा रहे थे। इन पुलिस वालों और छोटे अफ़सरों पर बड़ों की कृपा थी; वे लड़ाई के नाम पर हर तरह की वसूलयाबी कर रहे थे। इस हालत के विरुद्ध कुछ कार्रवाई करने के लिए माँग अनिवार्य हो गई। और तब कांग्रेस ने मार्च १९४० में बिहार सूबे की रामगढ़ नाम की जगह में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के सभापतित्व में, अपने वार्षिक अधिवेशन में यह तै किया कि केवल सविनय अवज्ञा आंदोलन ही अब अकेला रास्ता है। इतने पर भी कोई नया क़दम उठाने से बचने की कोशिश की, और जनता से तैयारी करने के लिए कहा गया।

लड़ाई की हालत में अचानक परिवर्तन से, जिसकी वजह से डेनमार्क और नार्वे पर हमला हुआ, और उसके कुछ ही बाद फ्रांस की अचंभे में डालने वाली हार हुई, लोगों पर काफ़ी गहरा असर हुआ। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं, और यह स्वाभाविक बात थी। लेकिन फिर भी फ्रांस के लिए और डन्कर्क और हवाई हमलों के बाद इंग्लैंड के लिए बड़ी भारी सहानुभूति की लहर आई। जिस समय स्वतंत्र इंग्लैंड का अस्तित्व ही संकट में था, कांग्रेस, जो सविनय अवज्ञा के लिए बिलकुल तैयार थी, किसी ऐसे आंदोलन को नहीं सोच सकी। हां, कुछ ऐसे भी आदमी थे, जिनके खयाल में इंग्लिस्तान की कठिनाइयों और उसके संकट में, हिंदुस्तान के लिए अवसर था। लेकिन कांग्रेस के नेता इस चीज़ के बिलकुल विरुद्ध थे कि ऐसी हालत का, जिसमें स्वयं इंग्लिस्तान का भविष्य संकट से भरा हुआ हो, लाभ उठाया जाय और यह खयाल उन्होंने खुले

तौर पर प्रकट किया। उस समय के लिए सविनय अवज्ञा का विचार छोड़ दिया गया।

कांग्रेस की तरफ़ से एक और कोशिश की गई कि ब्रिटिश सरकार से समझौता हो जाय। पहली कोशिश में हिंदुस्तान में परिवर्तन के अलावा, लड़ाई के उद्देश्य और साथ ही कितनी ही दूसरी बड़ी-बड़ी बातों के बारे में घोषणा की माँग की गई थी। लेकिन इस बार प्रस्ताव छोटा और निश्चित था और उसमें केवल हिंदुस्तान का ही चर्चा था। उसमें हिंदुस्तान की स्वतंत्रता को स्वीकार करने की माँग की गई और कहा गया कि केंद्र में एक राष्ट्रीय सरकार स्थापित की जाय, जिसके मानी थे कि विभिन्न दलों का सहयोग हो। उस समय ब्रिटिश पार्लमेंट ने किसी नए क़ानून की बात नहीं सोची। सुझाव यह था कि जो मौजूदा क़ानूनी ढाँचा है, उसी में वाइसराय के द्वारा राष्ट्रीय सरकार बना ली जाय।

इन प्रस्तावों ने, जिनका प्रारंभ श्री राजगोपालाचार्य ने किया, कांग्रेस को अक्सर दुहराई गई माँगों को घटा दिया। उनकी यह माँग, उस माँग से जो हमारी बहुत अर्से से थी, बहुत कम थी। बिना किसी क़ानूनी परेशानी के इन चीज़ों को तुरंत ही व्यावहारिक रूप दिया जा सकता था। उनमें और दूसरे बड़े समुदायों और दलों से मिलकर चलने की कोशिश थी, क्योंकि यह बात स्पष्ट थी कि राष्ट्रीय सरकार अनिवार्य रूप से मिली-जुली सरकार हो। इतना ही नहीं बल्कि उनमें ब्रिटिश सरकार की हिंदुस्तान में अनोखी स्थिति का भी ध्यान रखा गया था। वाइसराय बराबर बना रहता, लेकिन यह उम्मीद की गई थी कि राष्ट्रीय सरकार के निर्णयों को वह अपने 'वीटो' के अधिकार से रद्द नहीं करेगा।

अपनी पिछली घोषणाओं और अनुभवों के बाद कांग्रेस के लिए इस प्रस्ताव को रखना कोई आसान बात नहीं थी। ऐसा अनुभव किया जाता था कि ऐसे घेरे में बनी हुई राष्ट्रीय सरकार बेबस होगी और उसका कुछ असर नहीं होगा। कांग्रेसी क्षेत्रों में इस पर काफ़ी विरोध हुआ और मैं स्वयं बड़ी मुश्किल से, बहुत सोच-विचार के बाद ही इसके लिए राज़ी हो सका। मैं इसके लिए विशेषकर बहुत बड़े अंतर्राष्ट्रीय सवालों को सोचकर ही राज़ी हुआ और मेरी इच्छा यह थी कि अगर सम्मानपूर्ण ढंग से यह संभव हो, तो हमको फ़ासिज़्म और नात्सीवाद के विरुद्ध लड़ाई में पूरी तरह सम्मिलित हो जाना चाहिए।

लेकिन हमारे सामने एक और ज़्यादा बड़ी कठिनाई थी और वह थी गांधीजी का विरोध। उनका यह विरोध तो केवल शांति और अहिंसा के कारण था। लड़ाई में मदद देने के हमारे पिछले प्रस्तावों का उन्होंने विरोध नहीं किया था, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उन्हें बहुत बेचैनी रही होगी। लड़ाई के ठीक शुरू में ही, उन्होंने वाइसराय से कहा था कि कांग्रेस तो केवल नैतिक सहायता दे सकती है, लेकिन कांग्रेस का यह रुख़ नहीं था, और यह बात बाद में कई बार साफ़ कर दी गई थी। अब तो उन्होंने निश्चित रूप से विरोध किया, जिसमें कांग्रेस हिंसात्मक लड़ाई की तैयारियों में ज़िम्मेदारी लेने को तैयार न हो जाय। इस विषय में उनके इतने कट्टर विचार थे, कि उन्होंने अपने साथियों, यहाँतक कि कांग्रेस-संस्था से भी अपना नाता तोड़ लिया। उनके साथ काम करनेवालों के लिए यह चोट बहुत कष्ट देने वाली थी, क्योंकि आज की कांग्रेस तो उनकी ही बनाई हुई थी। फिर भी कांग्रेस-संस्था लड़ाई की हालत में भी उनके अहिंसा के सिद्धांत को लागू करने के लिए राज़ी नहीं हो सकी और ब्रिटिश सरकार से समझौता करने की इच्छा में वह इतनी आगे बढ़ गई, कि उसने अपने मान्य और प्रिय नेता तक से नाता तोड़ दिया।

देश की हालत और कई अर्थों में बिगड़ती जा रही थी। राजनीति के मैदान में तो यह बात स्पष्ट थी। रुपए-पैसों के मामले में भी, यद्यपि कुछ किसान और कुछ मज़दूर पहले से कुछ बेहतर थे, ज़्यादातर लोगों को लड़ाई की वजह से धक्का पहुँचा था। जो लोग सचमुच लड़ाई से मालामाल हो रहे थे, वे थे लड़ाई के मुनाफ़ा-ख़ोर, ठेकेदार और वे अधिकारी, ख़ास तौर पर ब्रिटिश अधिकारी, जो लड़ाई के काम में ऊँची-ऊँची तनख़्वाहों पर रखे गए थे। प्रकट है, सरकार का यह ख़याल था कि लड़ाई की तैयारियों को पूरी तरह कर पाने के लिए, ज़्यादा मुनाफ़ा पाने की नीयत से बहुत मदद मिलेगी, और इसीलिए उसको मौक़ा दिया गया था। रिश्वत-ख़ोरी और रियायत का बाज़ार ख़ूब गर्म था और उन पर कोई रुकावटें नहीं थीं। आम लोगों की तरफ़ से नुक़्ताचीनी का होना लड़ाई की तैयारियों के लिए हानि-कारक समझा गया और उसको सब कुछ समेटने वाले भारत रक्षा क़ानून की गिरफ़्त में ले लिया गया। यह एक मायूसी उत्पन्न करने वाला दृश्य था।

इन सब चीज़ों ने हमको एक बार ब्रिटिश सरकार से समझौता करने की फ़िर कोशिश करने के लिए उकसाया। कहाँतक इसकी उम्मीद थी? कोई ख़ास उम्मीद नज़र नहीं आई। स्थायी नौकरीवाले सभी सरकारी महकमों को नियंत्रण

और आलोचना से ऐसा छुटकारा मिला हुआ था जैसा कि पिछली दो पीढ़ियों से नहीं मिला था। जिस आदमी को वे ठीक नही समझते उसे अभियोग लगाकर या बिना अभियोग के ही जेल में बंद कर सकते थे। गवर्नरों का बड़े-बड़े सूत्रों पर अधिकार था और उनके अधिकारों पर कोई रोक-टोक नहीं थी। वे किसी परिवर्तन के लिए क्यों राजी होते जबतक कि परिस्थितियां ही उनको उसके लिए मजबूर न कर देतीं ? इस शाही ढांचे की चोटी पर वाइसराय लार्ड लिनलियगो थे जिनके चारों तरफ़ उनकी हैसियत के मुताबिक़, बनाव, सजाव और शान थी। उनका जिस्म बड़ा था, लेकिन दिमाग सुस्त था; यह चट्टान की तरह ठोस लेकिन उसी की तरह जड़ नजर आया और उनमें पुराने ढंग के ब्रिटिश रईसों की विशेषताएं और कमियां थीं। उन्होंने ईमानदारी से पूरी तरह इस उलझन से निकलने की कोशिश की। लेकिन उनके साथ बहुत-सी कमियां थीं; उनका दिमाग़ पुराने ढर्रे पर ही चलता था और किसी नए ढर्रे से उन्हें झिझक थी; जिस शासक-वर्ग के वह प्रतिनिधि थे, उसकी परिपाटी से उनका दृष्टिकोण सीमित था। जो कुछ वह देखते और सुनते थे वह सिविल सर्विस की आँखों और कानों से, या उन लोगों की मदद से, जो उन्हें घेरे रहते थे। जो लोग बुनियादी राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की सलाह देते थे, उनपर उन्हें भरोसा नहीं था; वह उन लोगों को नापसंद करते थे जो ब्रिटिश साम्राज्य, और हिंदुस्तान में उसके प्रधान प्रतिनिधि के ऊँचे उद्देश्यों का पूरा-पूरा आदर नहीं करते थे।

उन संकट के दिनों में जब पच्छिमी यूरोप में जर्मनी हवाई जहाज़ों से बम बरसा रहा था, इंग्लैंड में कुछ परिवर्तन हुआ। मिस्टर विंस्टन चर्चिल ब्रिटेन के नए प्रधान मंत्री हुए। हिंदुस्तान की आज़ादी के सिलसिले में उनके ख़याल बिलकुल निश्चित और स्पष्ट थे और कई बार दुहराए जा चुके थे। उसकी स्वतंत्रता के वह कट्टर विरोधी थे, और उसके लिए किसी तरह झुकने या समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। जनवरी १९३७ में उन्होंने कहा था : "कभी-न-कभी तुम्हें गांधी, कांग्रेस और उनके आदर्शों को कुचलना पड़ेगा।" उस साल दिसंबर में उन्होंने कहा : "ब्रिटिश राष्ट्र का हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और उन्नति पर से अपना नियंत्रण हटाने का कोई इरादा नहीं है........बादशाह के ताज के सब से अधिक मूल्यवान और सब से अधिक चमकीले उस हीरे को फेंक देने का हमारा कदापि विचार नहीं है। वह अकेला ही और सब डोमीनियनों और

अधिकृत प्रदेशों की अपेक्षा ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति और गौरव को बनाए रखता है।"

यही तो विकट समस्या थी। हिंदुस्तान ही साम्राज्य था। उस पर अधिकार और उसके शोषण से ही इंग्लैंड को वह शान और शक्ति प्राप्त थी जिसने उसे एक बड़ी शक्ति बना दिया। मि० चर्चिल किसी ऐसे इंग्लैंड की नहीं सोच सकते थे जिसमें वह एक बड़े साम्राज्य का मालिक न हो और इस तरह वह एक स्वतंत्र हिंदुस्तान की बात सोच ही नहीं सकते थे। और डोमीनियन स्टेटस का, जो बहुत अर्से से हमारी पहुँच के अंदर बताया जाता था, अब भेद खुला। वह तो एक शब्द-जाल था और केवल एक रस्म पूरी करने के लिए था। वह हमारी स्वतंत्रता और शक्ति से बहुत दूर था। अपने पूरे-पूरे मानी में भी जो कुछ डोमीनियन स्टेटस हो सकता था, हमको तो वह भी मंजूर नहीं था। हम तो चाहते थे आज़ादी। मि० चर्चिल और हमारे बीच में सचमुच एक बहुत बड़ी खाई थी।

हमको उनके शब्द याद आए, और हम जानते थे कि वह बहुत ज़िद्दी और न झुकने वाले व्यक्ति हैं। उनकी नेतागिरी में हमको इंग्लैंड से बहुत कम उम्मीद हो सकती थी। हिम्मत और नेतागिरी की बहुत-सी विशेषताओं के होते हुए भी वह उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यवादी, अनुदार, प्रगति-विरोधी इंग्लैंड के प्रतिनिधि थे। ऐसा मालूम होता था, कि नई दुनिया, उसकी जटिल समस्याएं, उसकी ताक़तों को समझ सकने में वह असमर्थ हैं—और उससे भी कम उस भविष्य को समझ सकते हैं, जो अब बन रहा था। फ़्रांस के साथ एक होने के प्रस्ताव में (यद्यपि वह प्रस्ताव एक संकट के अवसर पर किया गया था) एक दूरदर्शिता दिखाई दी और उसमें परिस्थितियों के अनुकूल होने के लक्षण दिखाई दिए। उससे हिंदुस्तान पर काफ़ी असर हुआ। शायद जिस नए पद पर वह पहुँचे थे, उसने और उस पद की ज़िम्मेदारियों ने उनकी दृष्टि को विस्तार दिया था। शायद अब वह अपने पहले विचारों और अपनी पहली आदतों को पार कर आगे बढ़ गए थे। शायद लड़ाई की ज़रूरतें ही, जिनका अब सबसे अधिक महत्व था, उन्हें यह मंज़ूर करने के लिए मजबूर करें कि हिंदुस्तान की स्वतंत्रता अनिवार्य ही नहीं बल्कि लड़ाई के हित में भी ज़रूरी और उचित है। जब अगस्त १९३९ में मैं चीन जा रहा था तो मुझे यह सब याद आया। क्योंकि जब मैं लड़ाई के मारे उस देश को देखने जा रहा था, तो एक दोस्त के द्वारा उन्होंने मेरे इस दौरे के लिए शुभ-कामनायें भेजीं।

इसीलिए जब हमने अपने प्रस्ताव को पेश किया तो हम उम्मीद से खाली नहीं थे। लेकिन हमें उम्मीद बहुत अधिक भी नहीं थी। जल्दी ही ब्रिटिश सरकार का जवाब आया। उस जवाब में बिलकुल साफ़ इंकार था, और यही नहीं उसकी शब्दावली भी ऐसी थी कि हमको यह विश्वास हो गया कि इंग्लैंड का हिंदुस्तान पर से अपनी शक्ति उठा लेने का कोई इरादा नहीं है।

५ : व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा

इस तरह स्वतंत्रता के ख़याल के उस नशे की जगह जिससे हमारी शक्तियों का स्रोत खुलता और हम एक राष्ट्रीय उत्साह के साथ दुनिया के संघर्ष में कूदते, हमको उस स्वतंत्रता की इंकारी की कष्टप्रद निराशा का अनुभव हुआ। यह बात स्पष्ट हो गई कि सारी बातें, और इंग्लैंड में पार्लमेंट की बहस, चिकनी-चुपड़ी भाषा और शानदार घोषणा केवल राजनीतिक चालें थीं, जिनसे असली नीयत पर परदा डाला जाता था।

इसके अलावा एक और बात से विशेष संकेत मिला। बर्मा ने एक बहुत मामूली-सी माँग पेश की थी, कि उसे यह आश्वासन दिया जाय कि लड़ाई के बाद उसे डोमीनियन स्टेटस दे दिया जायगा। यह बात प्रशांत महासागर की लड़ाई शुरू होने से बहुत पहले की है, और किसी भी सूरत से इससे लड़ाई में किसी तरह का हर्ज नहीं होता था, क्योंकि लड़ाई के समाप्त होने के बाद ही, उसको व्यावहारिक रूप देना था। बर्मा ने स्वतंत्रता नहीं, केवल डोमीनियन स्टेटस की माँग की थी। जो बात हिंदुस्तान के साथ हुई, वही वहां हुई। जो सचाई थी वह तो यह थी कि इंग्लैंड का हर मुमकिन ढंग से हिंदुस्तान को जकड़े रखने का पक्का इरादा था और दूसरी तरफ़ जैसे भी बन पड़े इस बंधन को तोड़ने का हिंदुस्तान का पक्का इरादा था।

ब्रिटिश सरकार के असभ्य आघात के बाद हिंदुस्तान में जो कुछ हो उसके लिए केवल दर्शक बनकर, जिसके हाथ-पाँव बँधे हों, रहना नामुमकिन हो गया। जब एक भयंकर लड़ाई के बीच उस सरकार का यह रुख़ था, तो इस संकट के टल जाने पर और लोकमत के दबाव के कम हो जाने पर क्या रुख़ होता? दुनिया के करोड़ों आदमी स्वतंत्रता के आदर्श में विश्वास करके ही तो उसके नाम पर बड़ी-बड़ी क़ुर्बानी कर रहे थे। इस बीच में हमारे आदमियों को देश भर में एक-एक करके,

चुनकर जेलों में भेजा गया। हमारे मामूली काम-काजों में हस्तक्षेप किया जाने लगा और उन पर पाबंदियां लगा दी गईं।

अब सीधी कार्रवाई अनिवार्य हो गई, क्योंकि कभी-कभी नाकामयाबी काम न करने की वजह से ही होती है। वह कार्रवाई हमारी निश्चित नीति के अनुसार, सविनय अवज्ञा के रूप में ही हो सकती थी। लेकिन इस बात की सावधानी रखी गई कि जनता न उभड़े, और वह सविनय अवज्ञा कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित कर दी गई। सामूहिक सविनय अवज्ञा के मुक़ाबले में यह तो वह चीज़ थी, जिसे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा कहा जा सकता था। यह दर-अस्ल एक बड़े नैतिक विरोध के रूप में थी।

यह व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन एक बहुत छोटे पैमाने पर आरंभ हुआ। उसमें हिस्सा लेने से पहले हर सत्याग्रह करने की इच्छा रखनेवाले को आज्ञा लेनी पड़ती थी और उसके लिए एक तरह की परीक्षा पास करनी पड़ती थी। जो चुने जाते थे, वे किसी मामूली से क़ानून को तोड़ते थे, गिरफ़्तार होते थे और जेल भेज दिए जाते थे। जैसा हमारा ढंग रहा है चोटी के व्यक्ति सब से पहले छाँटे गए, यानी कांग्रेस कार्यसमिति के अध्यक्ष, भूतपूर्व सरकारी मंत्री, धारासभा के सदस्य, कांग्रेस महासमिति के और प्रांतीय कांग्रेस समिति के सदस्य। धीरे-धीरे यह घेरा बढ़ता गया। यहाँतक कि पच्चीस और तीस हजार के बीच में आदमी और औरतें जेलों में पहुँच गए। इन लोगों में सूबों की धारा-सभाओं के स्पीकर और बहुत से सदस्य, जिनको सरकार ने काम से रोक दिया था, सम्मिलित थे। इस तरह हमने यह बात जताई, कि अगर हमारी चुनी हुई धारासभाओं के सदस्यों को काम नहीं करने दिया जाता तो वे मनमाने राज्य के आगे सिर न झुका कर जेल जाना पसंद करेंगे। उन लोगों के अलावा (जिन्होंने केवल नाम के लिए कोई आज्ञा शांतिपूर्वक तोड़ी), और कई हज़ार व्यक्ति व्याख्यान देने के नाम पर या और किसी वजह से गिरफ़्तार कर के जेल भेज दिए गए, और बिना किसी जुर्म लगाए ही उनको रोक रखा गया। क़रीब-क़रीब आरंभ में ही मैं भी गिरफ़्तार हुआ, और एक व्याख्यान देने के नाम पर मुझे चार साल जेल की सज़ा हुई।

अक्तूबर १९४० से यह सब लोग एक साल से ऊपर जेलों में रहे। जो कुछ खबरें हमको मिल सकती थीं, उनकी मदद से हम लड़ाई का रुख़, हिंदुस्तान की और सारी दुनिया की घटनाओं को समझने की कोशिश करते रहे। हमने प्रेसीडेंट

रूज़वेल्ट की चार आज़ादियों की बात पढ़ी, एटलांटिक चार्टर की बात सुनी और फिर कुछ ही समय बाद मिस्टर चर्चिल की यह शर्त जानी कि यह चार्टर हिंदुस्तान पर लागू नहीं होता।

जून १९४१ में, सोवियत् रूस पर हिटलर के अचानक हमले से हम लोग हिल गए, और हम चिंता और उत्सुकता के साथ लड़ाई की हालत में तेज़ी से होनेवाले परिवर्तनों पर आँख लगाए रहे।

४ दिसंबर १९४१ को हममें से बहुत से लोग छोड़ दिए गए। उसके तीन दिन बाद ही पर्ल हारबर पर हमला हुआ, और प्रशांत महासागर की लड़ाई शुरू हो गई।

६ : पर्ल हारबर के बाद : गांधीजी और अहिंसा

पर्ल हारबर के बाद एक नया तनाव आया, और उसमें एक दूसरा दृष्टिकोण पैदा हुआ। इस तनाव के नए वातावरण में, कार्य-समिति की बैठक तुरंत ही हुई। उस समय तक जापानी बहुत आगे नहीं बढ़ पाए थे। लेकिन जो कुछ बड़ा और आघात पहुँचानेवाला विध्वंस हो चुका था, वही क्या कम था? लड़ाई अब दूर की चीज़ नहीं थी, और वह हिंदुस्तान के अधिक निकट आने लगी, और उसपर गहरा असर डालने लगी। इस संकट की स्थिति में अपना-अपना कर्तव्य पूरा करने की हर कांग्रेसी की इच्छा प्रबल हुई, और इस नई स्थिति में जेल जाना एक बेकार-सी बात मालूम दी; लेकिन जबतक सम्मानपूर्ण सहयोग के लिए दरवाज़ा न खुले, हम कर ही क्या सकते थे?

पिछले इतिहास और पिछली घटनाओं के बावजूद हम लड़ाई में साथ देने और विशेष-रूप से हिंदुस्तान की रक्षा करने के इच्छुक थे। लेकिन उसके लिए अनिवार्य शर्त यह थी कि सरकार राष्ट्रीय हो। देश के दूसरे हिस्सों के साथ मिलकर काम करने में हमें उससे मदद मिलती। इस दृष्टिकोण में कांग्रेसियों और उनके अलावा और बहुत से आदमियों में कोई अंतर नहीं था, लेकिन अचानक एक बहुत बड़ा सिद्धांत का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। दूसरे देशों से लड़ाई के समय भी गांधीजी अहिंसा के बुनियादी सिद्धांत को छोड़ने को तैयार नहीं थे। लड़ाई के निकट होने पर भी उन्हें एक चुनौती हो गई, और अब उनके विश्वास की जाँच का अवसर था। अपने जीवन भर के विश्वासों को वह छोड़ नहीं सकते थे। अहिंसा की बुनियाद पर ही उन्होंने सारे काम-काज किए थे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि उनको

अहिंसा के नतीजों और उसकी परेशानियों का सामना करने को तैयार होना चाहिए।

यह १९४० की गर्मियों के अंत की बात है कि गांधीजी ने फिर इस बात को स्पष्ट किया था कि वह हिंसात्मक लड़ाई में साथ नहीं दे सकते, और वह कांग्रेस को भी यही सलाह देना चाहेंगे कि उस सिलसिले में उसका भी यही रुख हो। वह नैतिक और हर दूसरे ढंग की मदद के लिए राजी थे, लेकिन हिंसात्मक, हथियारबंद लड़ाई में स्वयं सम्मिलित होने के लिए वह तैयार नहीं थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस आज़ाद हिंदुस्तान में भी अहिंसा बनाए रखने की अपनी घोषणा करे। हां, उन्हें यह मालूम था कि देश में, यहाँतक कि कांग्रेस में भी, ऐसे लोग हैं जिनका अहिंसा में इतना विश्वास नहीं है।

बहुत समय पहले कांग्रेस ने अहिंसा के सिद्धांत और आचरण को अपनाया था, कि उससे अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी जायगी और राष्ट्र के एके को बनाए रखा जायगा। किसी समय भी वह इस हद से आगे नहीं बढ़ी थी, और उसे बाहर के हमले या अंदरूनी अराजकता के लिए कभी लागू नहीं किया था। सच तो यह है कि हिंदुस्तानी फ़ौज के मामलों में उसने बहुत दिलचस्पी ली थी, और अक्सर यह माँग की थी कि उसमें अधिकारियों के पद भारतीयों को ही दिए जायँ। १९३७-३८ में सूबों की सरकारों से सलाह लेकर कांग्रेस पार्टी ने केंद्रीय धारासभा में एक प्रस्ताव रखा। इसमें हिंदुस्तानी फ़ौज को बढ़ाने, उसको ज़्यादा-से-ज़्यादा वैज्ञानिक ईजादों का लाभ उठाकर हथियारबंद बनाने, और उसको न के बराबर हवाई और समुद्री शक्ति को बढ़ाने और जल्दी-से-जल्दी ब्रिटिश फ़ौजों की जगह हिंदुस्तानी फ़ौजों को रखने के विषय में कहा गया था। चूँकि हिंदुस्तान में ब्रिटिश फ़ौजियों पर हिंदुस्तानी फ़ौजियों की अपेक्षा चौगुना खर्च था, इसलिए ऊपर के प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए किसी बाहरी खर्च की ज़रूरत न होती। म्यूनिख के संकट के दौरान में फिर हवाई शक्ति को बढ़ाने के महत्व को बताया गया, लेकिन सरकारी जवाब में कहा गया कि विशेषज्ञों की इस मामले में अलग-अलग रायें थीं। १९४० में कांग्रेस पार्टी ने ख़ास तौर पर केंद्रीय धारासभा की कार्रवाइयों में हिस्सा लिया, और ऊपर की माँगों को फिर दुहराया, और बताया कि हिंदुस्तान की रक्षा के लिए प्रबंध करने में सरकार और फ़ौजी महकमे कितने निकम्मे थे। जिस समय सूबों में कांग्रेसी सरकारें काम कर रही थीं, उस समय उनमें से अधिकतर

यूनीवर्सिटी और कालेजों में फ़ौजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने की इच्छुक थीं। इस मामले में भारत-सरकार ने अड़चनें डालीं; उसने इस चीज़ को नामंजूर किया।

इसमें शक नहीं कि गांधीजी इस बहाव को पसंद नहीं करते थे, लेकिन उन्होंने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। उनको तो दंगे दबाने के लिए भी हथियारबंद पुलिस का उपयोग पसंद न था। और उस संबंध में उन्होंने अपनी चिंता प्रकट की। लेकिन अपेक्षाकृत कम बुरी बात समझ कर उन्होंने उसे सहन किया, और आशा प्रकट की कि उनकी सीख धीरे-धीरे हिंदुस्तान में अपनी जड़ जमा लेगी।

कुछ सिद्धांतों में चट्टान जैसा दृढ़ विश्वास रखते हुए भी गांधीजी में, दूसरे आदमियों के या बदलती हालतों के अनुकूल होने की, विशेष रूप से आम जनता की शक्ति और त्रुटियों का ध्यान रखने की, और यह देख पाने की कि उनके सच में वह जनता कितना साथ देगी, एक बहुत बड़ा सामर्थ्य रहा है। लेकिन समय-समय पर वे सावधान हो जाते थे मानों उन्हें यह डर हुआ हो कि समझौते में वे आवश्यकता से अधिक आगे निकल गए हैं, और फिर वे अपनी जगह वापिस आ जाते थे।

जब १९४० में लड़ाई और स्वतंत्र हिंदुस्तान के संबंध में गांधीजी ने अहिंसा का प्रश्न उठाया, तो कांग्रेस कार्यसमिति ने झिझक छोड़ कर बहस की। समिति ने उनसे आम तौर पर कह दिया कि वह उनके साथ उस हद तक जाने में असमर्थ है, और न समिति बाहरी मामलों में इस सिद्धांत को लागू करने के लिए हिंदुस्तान को या कांग्रेस को फँसा सकती है। इस प्रश्न पर खुले और निश्चित रूप में उनसे नाता टूट गया। दो महीने बाद, और अधिक बहस का नतीजा यह हुआ कि दोनों को मान्य, एक नीति निकल आई और वह कांग्रेस-महासमिति के प्रस्ताव में पास हो गई। उस नीति में गांधीजी का रुख़ पूरी तरह से नहीं आया था। उसमें तो केवल उतनी ही बात थी जिसको गांधीजी ने कांग्रेस को आगे बढ़ने देने के लिए आधे मन से स्वीकार कर लिया था।

प्रस्ताव का एक अंश यह था : अखिल भारतीय कांग्रेस समिति "पूरी तरह अहिंसा की नीति और अमल में विश्वास करती है, स्वतंत्रता की लड़ाई में ही नहीं, बल्कि जहाँतक संभव हो स्वतंत्र हिंदुस्तान के मामलों में भी। समिति को पक्का भरोसा है और हाल की दुनिया की घटनाओं ने यह बात स्पष्ट कर दी है कि दुनिया भर का निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। और साथ ही यदि दुनिया को अपने-आपको बरबाद होने से बचाना है और फिर बर्बरता की स्थिति को नहीं पहुँचना है, तो यह

भी आवश्यक है कि एक नया, न्याय-सम्मत राजनीतिक और आर्थिक ढाँचा सारी दुनिया भर के लिए स्थापित हो। इसलिए स्वतंत्र हिंदुस्तान दुनिया भर के निःशस्त्रीकरण की हिमायत में अपना पूरा वल लगाएगा और दुनिया को इस दिशा में वढ़ाने के लिए उसे सवसे पहले आगे वढ़ने को तैयार रहना चाहिए। अनिवार्य रूप से आगे क़दम उठाना, वाहरी वातों और अंदरूनी हालतों पर निर्भर करेगा, लेकिन सरकार इस निःशस्त्रीकरण की नीति को अमल में लाने के लिए पूरी कोशिश करेगी। सफल निःशस्त्रीकरण, और दुनिया में शांति की स्थापना के लिए राष्ट्रीय लड़ाइयां समाप्त होंगी, और उसके लिए असली आवश्यकता इस वात की है कि लड़ाई की जड़ और झगड़ों के कारण हट जायँ। एक देश या एक समुदाय पर दूसरे देश या दूसरे समुदाय का अधिकार और शोषण समाप्त करके इन कारणों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए। उस उद्देश्य के लिए हिंदुस्तान शांतिपूर्वक काम करेगा, और इसी वात को ध्यान में रखते हुए हिंदुस्तान की जनता स्वतंत्र और स्वावलंवी होना चाहती है। दुनिया की शांति और उन्नति के लिए स्वतंत्र राष्ट्रसंघ के अंदर और देशों से मिल-जुल कर काम करने के लिए पहले ऐसी स्वतंत्रता का होना आवश्यक है।" इस घोषणा से यह प्रकट होगा कि कांग्रेस ने शांतिपूर्ण काम और निःशस्त्रीकरण की ज़ोर से तरफ़दारी करते हुए, कई आवश्यक वातों और शर्तों पर भी वल दिया था।

कांग्रेस का अंदरूनी संकट १९४० में मिट गया। उसके वाद हममें से वहुत-से लोगों के लिए एक साल जेल का आया। १९४१ के दिसंवर में फिर वह संकट खड़ा हो गया जव गांधीजी ने पूरी अहिंसा के लिए ज़ोर दिया। फिर फूट हुई और खुला मतभेद हुआ, और कांग्रेस-सभापति मौलाना अवुल कलाम आज़ाद और दूसरे लोग गांधीजी के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं कर सके। यह वात स्पष्ट हो गई कि कुल मिला कर कांग्रेस और खुद गांधीजी के कुछ विश्वासपात्र अनुयायी भी इस मामले में गांधीजी से सहमत न थे। परिस्थितियों के वहाव और घटनाओं के तेज़ ताँते ने हम सव पर (गांधीजी भी हम सव में शामिल थे) असर डाला, और वे (गांधीजी) कांग्रेस पर अपने दृष्टिकोण के पक्ष में ज़ोर देने से वचते रहे, यद्यपि उन्होंने कांग्रेस के मत को पूरी तरह नहीं स्वीकार किया। गांधीजी ने इस सवाल को कांग्रेस में और किसी दूसरे अवसर पर नहीं उठाया था। वाद में, जव अपने प्रस्तावों को लेकर सर स्टैफोर्ड क्रिप्स आए, अहिंसा का कोई सवाल ही नहीं

था। उनके प्रस्ताव तो केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से देखे गए। बाद के महीनों में, धीरे-धीरे अगस्त १९४२ तक गांधीजी की राष्ट्रीय भावनाओं और स्वतंत्रता की तीव्र इच्छा ने गांधीजी से यह भी मंजूर करा लिया कि अगर हिंदुस्तान को स्वतंत्र देश की तरह काम करने की हैसियत हो, तो कांग्रेस लड़ाई में शामिल हो सकती थी। उनके लिए यह एक बहुत बड़ा आश्चर्य जनक परिवर्तन था, जिसमें मानसिक पीड़ा भरी थी, और आत्मिक कराह थी। एक ओर अहिंसा का सिद्धांत था जो उनकी रग-रग में समाया हुआ था, और जीवन में जिसे वह पकड़े हुए थे, और दूसरी ओर हिंदुस्तान की स्वतंत्रता थी, जो उनकी प्रबल और प्रमुख कामना थी। इन दोनों की आपसी खींचा-तानी में पलड़ा स्वतंत्रता की तरफ़ झुक गया। इसके मानी यह नहीं हैं कि अहिंसा में उनकी निष्ठा कम हो गई। लेकिन इसके मानी यह अवश्य थे कि वह इस बात के लिए तैयार हो गए कि कांग्रेस उसे इस लड़ाई में लागू न करे। यथार्थवादी राजनीतिज्ञ ने कट्टर पैग़ंबर पर जीत प्राप्त की।

गांधीजी के मन में जब-तब होने वाली इस कशमकश को मैंने देखा है, और उस पर सोचने की कोशिश की है। उसमें बहुत-सी आपस में विरोधी बातें दिखाई देती हैं। मुझपर और मेरे काम पर उसका गहरा असर पड़ा है। और तब मुझे लिडेल हार्ट की एक पुस्तक का उद्धरण याद आया है: "जहां एक मस्तिष्क का दूसरे मस्तिष्क पर प्रभाव डालने का अवसर होता है, वहां घुमा-फिराकर हल पेश करने का विचार बरबस आता है, और मनुष्य के इतिहास में यह एक बहुत बड़ा असर रखनेवाली बात है। लेकिन इसका एक दूसरे विचार से मेल बिठाना कठिन हो जाता है, और वह यह कि सही नतीजे उसी समय संभव हैं, जब सच की खोज परिणामों की ओर से लापरवाह होकर की जाय। . . . पैग़ंबरों पर पत्थर फेंके जाने चाहिए; उनके भाग्य में यही लिखा है, और उनकी निजी उन्नति की यही कसौटी है। लेकिन अगर किसी नेता पर पत्थर पड़ें, तो उससे केवल यही साबित होता है कि वह बुद्धि की कमी से, अपने काम को पैग़ंबरी से उलझा लेने की वजह से, नाकामयाब रहा है। यह तो समय ही बता सकता है कि ऐसी क़ुर्बानी के असर से वह प्रकट असफलता से मुक्त हो जाता है। यह असफलता उसकी एक नेता की हैसियत से है, नहीं तो एक आदमी के नाते तो उसकी इज़्ज़त हुई है। कम-से-कम नेताओं की आम ग़लती से वह बचता है, यानी उस ग़लती से जिसमें उद्देश्य को अंत

में कोई लाभ पहुंचाए बिना ही सच का तात्कालिक सफलता के लिए बलिदान कर दिया जाता है।"

७ : खिंचाव

१९४२ के आरंभ के महीनों में हिंदुस्तान में खिंचाव बढ़ा। युद्ध-क्षेत्र दिन-ब-दिन अधिक निकट आ रहा था, और अब हिंदुस्तान के शहरों पर हवाई हमलों की संभावना थी। जहां लड़ाई पूरे ज़ोरों से चल रही थी, उन पूर्वी देशों में क्या होगा? हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के संबंध में क्या नया अंतर आवेगा? क्या हम एक-दूसरे की तरफ़ घूरते हुए, पुराने ही ढंग से बढ़े चलेंगे? क्या आपस का संकट हमारे बीच की खाई को पाट देगा? यहाँ तक कि बाज़ारों में भी उत्तेजना की एक लहर दौड़ गई और तरह-तरह की अफ़वाहें फैलने लगीं। पैसेवाले लोगों को भविष्य से, जो तेज़ी से उनकी तरफ़ बढ़ता आ रहा था, डर मालूम होता था, क्योंकि चाहे और जो कुछ हो, उस भविष्य में सामाजिक तख्ता पलट जायगा, यह बात बहुत मुमकिन थी। किसान या मजदूर को ऐसा कोई डर नहीं था क्योंकि उसके पास खोने को था ही क्या?

हिंदुस्तान में चीन के लिए बराबर हमदर्दी रही थी और इसीलिए जापान से नाराज़ी रही थी। आरंभ में यह ख़याल किया गया कि प्रशांत महासागर की लड़ाई से चीन को कुछ राहत मिलेगी। साढ़े चार साल से चीन जापान से अकेला ही लड़ रहा था; अब उसके साथ बहुत शक्तिशाली देश थे और अनिवार्य था कि इससे उसका बोझ कुछ हलका होता और उसका संकट कम होता। लेकिन उन साथियों पर एक के बाद दूसरी भारी चोटें हुईं और एक आश्चर्य-जनक तेज़ी से, बढ़ती हुई जापानी फ़ौजों के सामने ब्रिटिश साम्राज्य तहस-नहस होने लगा। तब क्या यह शानदार ढाँचा सिर्फ़ एक कागज़ी इमारत थी जिसमें न कोई बुनियाद थी, न कोई अंदरूनी मज़बूती? इसके साथ, क़रीब-क़रीब आजकल की लड़ाई के साधनों के अभाव में एक लंबे अर्से तक जो चीन ने जापान का सामना किया था उसका ध्यान आया। लोगों की निगाह में चीन की क़द्र बढ़ गई और यद्यपि जापान के लिए कोई हमदर्दी नहीं थी फिर भी, एशियाई हथियार-बंद शक्ति के सामने पुराने, जमे हुए, यूरोपी ढंग के साम्राज्य के ढाँचे को टूटते देखकर संतोष हुआ। जातीय भेद-भाव या पूर्वी और एशियाई का ख़याल ब्रिटिश लोगों में था। हार

ओर विध्वंस एक तो वैसे ही बुरे लगते, लेकिन इस घटना से कि एक पूर्वी और एशियाई शक्ति ने उन पर जीत पाई, उस हार और अपमान का कड़ुआपन और तीखापन बढ़ गया। एक ऊँचे पदवाले अंग्रेज़ ने कहा कि अगर 'प्रिंस ऑफ़ वेल्स' और 'रिपल्स' को डुबोनेवाले इन पीले जापानियों की जगह जर्मन होते तो उसे कहीं कम मलाल होता।

चीनी नेताओं—जनरलिसिमो और मैडम च्यांग काइ-शेक—का हिंदुस्तान में दौरा एक महत्त्व की बात थी। सरकारी रवैये से और हिंदुस्तान-सरकार की इच्छा के कारण वे आम जनता से मिल-जुल नहीं सके। लेकिन इस संकट के अवसर पर हिंदुस्तान में उनकी उपस्थिति और हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के लिए उनकी प्रकट सहानुभूति ने हिंदुस्तान को राष्ट्रीय खोल के बाहर आने में मदद दी और इस समय जिन अंतर्राष्ट्रीय सवालों पर दाँव लग रहा था उनकी जानकारी बढ़ी। हिंदुस्तान और चीन को एक करनेवाले धागे और अधिक दृढ़ हुए।

हिंदुस्तान की सरकार आनेवाले ख़तरों को पूरी तरह समझती थी; उसके दिमाग़ में जल्दी से कुछ-न-कुछ करने की परेशानी और फ़िक्र रही होगी लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों का ऐसा रवैया था, वे अपनी आदतों के चक्कर में ऐसे फँसे थे, सरकारी लाल फ़ीते से ऐसे बँधे हुए थे कि उनके दृष्टिकोण या कामों में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं पड़ा। उनके ढर्रे में किसी तनाव की, किसी जल्दी की, या कुछ करने की बात ही महसूस नहीं होती थी। जिस ढाँचे के वे प्रतिनिधि थे, वह किसी दूसरे युग का था, और किसी दूसरे उद्देश्य के लिए था। चाहे वह अंग्रेज़ों की फ़ौज हो या सिविल सर्विस, उनका उद्देश्य तो हिंदुस्तान में बने रहने, और हिंदुस्तानियों की आज़ादी की लड़ाई को कुचलने का था। उस काम के लिए वह काफ़ी होशियार थे। लेकिन एक शक्तिशाली दुश्मन के साथ आधुनिक ढंग से लड़ाई एक बिलकुल ही दूसरी चीज़ थी। उनके लिए अपने-आपको उसके अनुकूल बनाना बहुत मुश्किल मालूम हुआ। दिमाग़ी सतह पर इसके लिए वे नामौज़ूं ही नहीं थे बल्कि उनकी अधिकतर शक्तियां हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता को दबाने में ख़त्म हो जाती थीं। बर्मा और मलाया की हुकूमतों का ख़त्म होना एक बहुत बड़ी और आँखें खोलने वाली बात थी, लेकिन उससे इन्होंने कोई पाठ नहीं सीखा। बर्मा पर भी हिंदुस्तान की तरह सिविल सर्विस का शासन था। सच तो यह है कि कुछ साल पहले तक वह हिंदुस्तान के शासन का ही हिस्सा था। वहाँ की

सरकार का ढर्रा विलकुल वही था जो हिंदुस्तान की सरकार का था और वर्मा ने यह साफ़ वता दिया था कि इस तरीक़े में अव विलकुल दम नहीं रहा है। फिर भी विना किसी परिवर्तन के वह ढर्रा चालू रहा; वाइसराय और वड़े-वड़े अफ़सर पहले की तरह काम करते रहे। उन्होंने अपने दल में उन कितने ही वड़े अफ़सरों को शामिल कर लिया जो वर्मा में वुरी तरह नाकामयाव सावित हुए थे; हिज़ एक्सलेंसी शिमला में पहाड़ की चोटियों पर थे। लंदन में निर्वासित सरकारों की तरह हम पर भी एक ऐसी सरकार की कृपा की गई जो ब्रिटिश नौ-आवादियों के निर्वासित अफ़सरों से वनी थी। हाथ के दस्ताने की तरह, वे हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार के ढाँचे पर चुस्त हो गए।

और तव अमरीकी आए। वे काफ़ी जल्दी कर रहे थे, और काम को पूरा करने की फ़िक्र में थे। वे हिंदुस्तान-सरकार के रवैये और ढर्रों से अपरिचित थे, और साथ ही उनको सीखने के लिए उनकी तवियत भी नहीं थी। देर को सहन न कर सकने की वजह से उन्होंने अड़चनों और चापलूसियों को एक तरफ़ हटा दिया, यहाँतक कि नई दिल्ली की ज़िंदगी का वहाव भी विलकुल वदल गया। उन्हें इस वात के लिए फ़ुर्सत नहीं थी कि किस वक़्त कौन-सी पोशाक पहनी जाय, और कभी-कभी सरकारी ढंग में और अंदाज़ में इससे वहुत वड़ा धक्का पहुँचा, और उससे शिकायतें हुईं। जो मदद वे दे रहे थे उसका तो वहुत स्वागत था, लेकिन सवसे ऊपर के अफ़सरी हल्क़ों में उनसे चिढ़ थी और इस तरह रिश्तों में कुछ तनाव आ गया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानियों को उनकी वातें पसंद थीं। काम के लिए उनका जोश और उनकी शक्ति तो वेहद प्रभाव डालनेवाली थी। इसका मिलान हिंदुस्तान के ब्रिटिश पदाधिकारियों में इसके अभाव से किया गया। उनके खुले और सीधे ढंग को और ग़ैर-हुक्कामी तरीक़ों को पसंद किया गया। सरकारी हल्क़ों और इन आगंतुकों के वीच इस तनाव पर मन-ही-मन मुस्कराहट थी, और इस वारे में वहुत-सी झूठी और सच्ची कहानियां दुहराई गईं।

लड़ाई के नज़दीक आने से गांधीजी भी वहुत परेशान हुए। उनकी अहिंसा की नीति और उसके कार्यक्रम में इन नई घटनाओं का मेल विठाना आसान नहीं था। यह वात साफ़ थी कि देश पर हमला करनेवाली फ़ौज की मौजूदगी में या आपस में लड़ती हुई फ़ौजों की हालत में सविनय अवज्ञा का कोई सवाल ही नहीं था। निष्क्रियता या हमले के लिए सिर झुकाना भी मुमकिन नहीं था। तव क्या

हो ? उनके निजी साथी भी और कांग्रेस विशेष-रूप से, इस अवसर के लिए हमले का सशस्त्र विरोध की जगह अहिंसा को नामंजूर कर चुकी थी। और तब अंत में उन्होंने इस बात को माना कि कांग्रेस को ऐसा करने का अधिकार था। लेकिन फिर भी वे परेशान थे और निजी तौर पर किसी हिंसात्मक कार्रवाई में साथ नहीं दे सकते थे।

गांधीजी हिंदुस्तान को, खास तौर से उसकी जनता को, जानते थे—इतनी अच्छी तरह जितना शायद ही कोई और आदमी पिछले युग में या वर्तमान युग में उसे समझता हो। केवल यही बात नहीं थी कि वह सारे हिंदुस्तान में बहुत घूमे थे और करोड़ों आदमियों के संपर्क में आए थे बल्कि कुछ और भी ऐसी बात थी कि जिसकी वजह से वह जनता की भावनाओं के संपर्क में आ सके। वह अपने-आपको जनता में घुला-मिला सकते थे, और उसके दुख-सुख को महसूस कर सकते थे और चूंकि जनता इस बात को जानती थी, इसलिए उसकी श्रद्धा और सहयोग गांधीजी को प्राप्त थे। फिर भी हिंदुस्तान के विषय में उनके मस्तिष्क के नक़्शे में, उस दृष्टिकोण की भी झलक थी, जो उन्होंने शुरू के दिनों में गुजरात में बना लिया था। गुजराती खास तौर से शांति-पूर्वक व्यापार करनेवाले सौदागर लोग थे, और उन पर जैन-धर्म के अहिंसा के सिद्धांत का असर था।

८ : सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स का हिंदुस्तान में आना

पेनांग और सिंगापुर के पतन के बाद, और ज्यों-ज्यों जापानी मलाया में बढ़ते गए, वहां से हिंदुस्तानी और दूसरे लोग भागे और सब हिंदुस्तान में आए। उनको एकदम ही भागना पड़ा था और इसलिए अपने बदन के कपड़ों के अलावा उनके पास कुछ नहीं था। फिर बर्मा से रक्षा के लिए भागे हुए आदमियों की बाढ़ आई; उनके लाखों आदमी थे—अधिकतर हिंदुस्तानी। यह कहानी, कि किस तरह से सिविल अधिकारियों ने और दूसरे अफ़सरों ने उनका ऐन मौक़े पर साथ छोड़ दिया और न उनके लिए भागने और वहां से हटने का कोई प्रबंध था, हिंदुस्तान में चारों तरफ़ फैल गई। उन्होंने सैकड़ों मीलों का पहाड़ी और घने जंगलों का रास्ता पार किया। दुश्मन से वे घिरे हुए थे। रास्ते में बहुत-से लोग मर गए—कुछ छुरों से, कुछ बीमारी से और कुछ भूख से। लड़ाई का यह भयानक नतीजा था और कोई चारा नहीं था। लेकिन यह वजह लड़ाई की नहीं थी कि हिंदुस्तानी भागने

वालों में और ब्रिटिश भागनेवालों में भेद-भाव किया गया। ब्रिटिश लोगों की जितनी संभव हो सकती थी, मदद की गई और उनके लिए रेल और जहाज़ी यात्रा का प्रबंध किया गया। बर्मा की एक जगह से, जहां बहुत से लोग इकट्ठे थे, हिंदुस्तान के लिए दो सड़कें थी। जो ज़्यादा अच्छी थी ब्रिटिश लोगों और यूरोपियनों के लिए कर दी गई और उसका नाम 'व्हाइट रोड' (गोरे लोगों की सड़क) पड़ गया।

जातीय भेद-भाव, और लोगों के कष्टों की दर्दभरी कहानियां हम लोगों तक आईं और जो ज़िंदा बचे, वहां से भागे। लोग हिंदुस्तान भर में फैले तो उनके साथ ही वे कहानियां थीं, और हिंदुस्तानी मस्तिष्क पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा।

ठीक उसी अवसर पर सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स हिंदुस्तान में ब्रिटिश वार कैबिनेट (ब्रिटिश युद्ध-समिति) के प्रस्ताव लेकर आए। मुझे याद है, जब मैंने इन प्रस्तावों को पहली बार पढ़ा, तो मुझे बहुत मायूसी हुई। उस मायूसी का विशेष कारण यह था कि मैंने सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स से उस समय की नाज़ुक हालत देखते हुए कुछ अधिक सारवस्तु की आशा की थी। हिंदुस्तान की हालत से अपरिचित आदमी को तो ऐसा मालूम होता कि उन प्रस्तावों में हमारी माँगों को पूरा करने का पर्याप्त प्रयत्न हुआ है। लेकिन आत्म-निर्णय के अधिकार की स्वीकृति इन प्रस्तावों में इस तरह जकड़ी हुई थी, और संकुचित घेरे में दबी हुई थी कि सारे भविष्य को संकट में डालने वाली थी।

उन प्रस्तावों में भविष्य का, लड़ाई समाप्त होने के बाद के समय का, ही विशेषकर चर्चा था। हां, बाद में एक ऐसा टुकड़ा और था, जिसमें बहुत अस्पष्ट रूप में मौजूदा समय में सहयोग माँगा गया था। उस भविष्य में आत्म-निर्णय के सिद्धांत पर सूबों को हिंदुस्तानी संघ से अलग एक नया स्वतंत्र संघ स्थापित कर सकने का अधिकार था। इसके अलावा हिंदुस्तानी संघ से अलग हो सकने का अधिकार हिंदुस्तानी रियासतों को भी दिया गया था। यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान में ६०० से ज़्यादा ऐसी रियासतें थीं। इनमें कुछ तो बड़ी हैं; लेकिन ज़्यादातर तो बहुत छोटी हैं। ये रियासतें और ये सूबे विधान बनाने में हिस्सा लेते, विधान पर असर डालते और बाद में उससे बाहर निकल सकते थे। सारी पृष्ठभूमि में पृथक् होने की बू होती, और राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं को एक गौण स्थान मिलता। प्रतिक्रियावादी हिस्से, जिनमें बहुत-से आपसी भेद होते, एक बार मिलकर दृढ़, उन्नतिशील और एक राष्ट्रीय सरकार की उन्नति को

कुचल देते। अलहदा होने की लगातार धमकियों की वजह से विधान में बहुत-सी बेजा पाबंदियां लग जातीं। केंद्रीय सरकार कमजोर, निकम्मी बना दी जाती, लेकिन इतने पर भी वे फिर अलग हो सकते थे, और तब बाक़ी रियासतों और सूबों के लिए एक व्यावहारिक विधान बनाना कठिन होता।

हिंदुस्तान को हिस्सों में बाँटने का कोई भी सुझाव सोचने में दुःखद होता। यह तो उन सारी भावनाओं और धारणाओं के ही विरुद्ध होता जो जनता में एक प्रबल प्रेरणा उत्पन्न करती हैं। हिंदुस्तान का सारा राष्ट्रीय आंदोलन हिंदुस्तान के एके की बुनियाद पर था, यद्यपि यह एके की भावना, राष्ट्रीयता के मौजूदा पक्ष से बहुत अधिक पुरानी और गहरी थी।

भावना के अलावा, बँटवारे के विरुद्ध ठोस दलीलें थीं। हिंदुस्तान की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं की उलझन हद दर्जे पर पहुँच गई थी। इसका मुख्य कारण था ब्रिटिश सरकार की नीति। और अब अगर भयंकर से भयंकर सर्वनाश से बचना था, तो उसके लिए आवश्यकता थी कि बहुमुखी प्रगति का पग उठाया जाय, और उन्नति की जाय। यह उन्नति उसी समय संभव थी जब समूचे और अविभक्त हिंदुस्तान के लिए, अखंड भारत के लिए, व्यवहारिक और उपयोगी योजनाएं बनाई जावें—सारे-समूचे हिंदुस्तान के लिए, क्योंकि अलग-अलग हिस्से एक-दूसरे की कमियों को पूरा करते थे। कुल मिलाकर हिंदुस्तान बहुत हद तक एक शक्तिशाली और स्वावलंबी इकाई था। लेकिन अलग-अलग करके उसके हिस्से कमज़ोर थे और दूसरों पर निर्भर थे। सभी जगह छोटी सरकारों की व्यक्तिगत हैसियत समाप्त होती जा रही थी। वे बड़ी-बड़ी सरकारों में या तो शामिल होती जाती थीं या उनसे आर्थिक रूप में जुड़ गई थीं। बड़े-बड़े संघ बनाने का या सरकारों के आपस में मिलकर काम करने की प्रवृति बढ़ती जा रही थी। राष्ट्रीय सरकार के विचार की जगह अब अनेक राष्ट्रों वाली सरकार ने ले ली थी और दूर भविष्य में दुनिया भर में एक संघ का नक़्शा दिखाई दे रहा था। ऐसी हालत में हिंदुस्तान के बँटवारे को सोचना, सारी आर्थिक और ऐतिहासिक घटनाओं के बहाव के प्रतिकूल था।

ब्रिटिश सरकार की ओर से पेश किए हुए प्रस्तावों में हिंदुस्तान के किसी ख़ास बँटवारे का ज़िक्र न था। उसमें सूबों और रियासतों के अनगिनित बँटवारों के लिए केवल रास्ता खुला हुआ था। उन्होंने सारे प्रतिक्रियावादी, सामंतवादी

और सामाजिक प्रगति की दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों को बँटवारे के हक़ के लिए उकसाया। शायद उनमें से कोई भी बँटवारा नहीं चाहता था, क्योंकि वे अपने पैरों पर, अकेले खड़े नहीं रह सकते थे। लेकिन वे काफ़ी उत्पात मचा सकते थे और हिंदुस्तान की स्वतंत्र सरकार के बनने में रोड़ा अटका सकते थे, देर करा सकते थे। अगर उनको ब्रिटिश नीति से मदद मिलती, जैसा कि शायद होता भी, तो उसके मानी यह होते कि बहुत समय तक रत्ती-भर भी स्वतंत्रता न हासिल होती। हिंदुस्तानी रियासतों के भविष्य के बारे में निर्णय उन रियासतों की जनता द्वारा नहीं होता। यह निर्णय जनता के प्रतिनिधियों की जगह वहां के मनमाने शासक करते। इस सिद्धांत को स्वीकार करने के अर्थ यह होते कि हम अपनी पक्की, और बार-बार दुहराई गई नीति को पलट देते और रियासतों की जनता से दग़ा करते। उस हालत में उन लोगों को बहुत समय के लिए मनमाने शासन में ढकेल दिया जाता। हम राजाओं से ज़्यादा-से-ज़्यादा मुलायमी से व्यवहार करने को तैयार थे ताकि लोकतंत्र के लिए रद्दो-बदल में उनका सहयोग मिल सके। और अगर उस अवसर पर ब्रिटिश शक्ति—एक तीसरा दल—न होता, तो हमें संदेह नहीं है कि हम सफल हो गए होते। लेकिन रियासतों के मनमाने शासन को ब्रिटिश सरकार का सहारा मिलने पर यह संभावना थी कि राजा लोग हिंदुस्तानी संघ से बाहर रहें, और अपनी जनता के विरुद्ध लड़ाई में अपने बचाव के लिए ब्रिटिश फ़ौज का सहारा लें।

गांधीजी ने बराबर घोषणा की थी कि वह राजाओं के कोई दुश्मन नहीं हैं। यह सच है कि राजाओं से बराबर उनका व्यवहार मैत्री का रहा, यद्यपि अक्सर उन्होंने उनके सरकारी ढंग की आलोचना की, और इस बात की भी आलोचना की कि उनकी जनता को मामूली अधिकारों की भी स्वतंत्रता नहीं थी। कितने ही वर्षों से उन्होंने कांग्रेस को रोक रखा था कि वह रियासती मामलों में सीधे तौर पर दखल न दे। उनकी यह इच्छा थी कि रियासत की जनता स्वयं आगे बढ़े और इस तरह अपने अंदर आत्म-विश्वास और शक्ति बढ़ाए। हममें से बहुत-से लोगों को उनकी यह नीति नापसंद थी। लेकिन इस सबके पीछे एक पक्का विश्वास था। उन्हीं के शब्दों में—"मेरी नीति की एक बुनियादी बात यह है कि रियासती जनता के अधिकारों को बेच देने में मैं साथ नहीं दूंगा (चाहे) इससे ब्रिटिश हिंदुस्तान की जनता को स्वतंत्रता ही क्यों न मिलती हो।"

ब्रिटिश वार कैबिनेट के मस्तिष्क में हिंदुस्तान के भविष्य के बारे में क्या विचार था, मुझे नहीं मालूम। मेरे ख़याल से, सर स्टैफ़ोर्ड हिंदुस्तान का भला चाहते थे, और हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और राष्ट्रीय एकता की आशा करते थे। लेकिन यह निजी विचारों या रायों या शुभ-कामनाओं का मामला नहीं था। हमको एक सरकारी मसविदे पर सोच-विचार करना था। उसमें बातें जान-बूझकर साफ़ नहीं की गई थीं, लेकिन उसे बड़ी सावधानी से लिखा गया था और उसमें प्रत्येक शब्द के मानी थे। हमको बताया गया कि हम उसे या तो ज्यों-का-त्यों मान लें या उसे रद्द कर दें। उसके पीछे ब्रिटिश सरकार की एक शताब्दी पुरानी नीति बराबर छिपी हुई थी—हिंदुस्तान में फूट डालना, और राष्ट्रीय उन्नति और स्वतंत्रता के रास्ते में आनेवाली हर चीज़ को बढ़ावा देना। पहले जब कभी कोई क़दम आगे बढ़ाया गया, तो उसके साथ कुछ शर्तें, कुछ पाबंदियां, हमेशा इस तरह लगी हुई थीं कि आरंभ में तो वह बिलकुल तुच्छ और मामूली मालूम होती थीं, लेकिन आगे चलकर वे बड़ी भारी रुकावटों और झगड़ों की जड़ें बन गईं।

अगर हम ब्रिटिश प्रस्तावों के बहुत से संकटों से बच भी सकते, तब भी हिंदुस्तान की स्वतंत्रता को दबा देने के लिए बहुत-सी बातें थीं; उसकी उन्नति को रोका जा सकता था, नई और भयावह समस्याएं उठाई जा सकती थीं, जिनसे कठिनाइयाँ बेहद बढ़ जातीं। सांप्रदायिक चुनावों ने, जो लगभग एक पीढ़ी पहले लागू किए गए थे, बहुत कुछ शैतानी की थी। अब हर अड़चन डालनेवाले दल के लिए रास्ता साफ़ किया जा रहा था। और हिंदुस्तान में बराबर बँटवारे के डर का दरवाज़ा खुला था। एक अनिश्चित भविष्य के लिए इस प्रबंध पर हमसे सहयोग के लिए वादा कराया जा रहा था। वह एक ऐसा भविष्य था जिसमें झगड़े के अंकुर फूटते। कांग्रेस ने ही नहीं बल्कि राजनीतिक दृष्टि से नरम-से-नरम दल वाले राजनीतिज्ञों ने भी, जिन्होंने हमेशा ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था, ऐसा करने में अपनी लाचारी प्रकट की।

हिंदुस्तान के एके के लिए सारे उत्साह और इच्छा के होते हुए भी, कांग्रेस ने, अल्प-संख्यकों और दूसरे दलों का सहयोग लेने की दिल से कोशिश की, और वह यहाँतक आगे बढ़ गई कि उसने घोषणा की कि कोई भी प्रादेशिक इकाई, हिंदुस्तानी संघ में, उसकी जनता की घोषित इच्छा के विरुद्ध, हठात् नहीं रखी जायगी। अगर और कोई चारा न हो, तो बँटवारे के सिद्धांत को उसने मान लिया। लेकिन

किसी तरह वह इस चीज़ को वढ़ावा नहीं देना चाहती थी। कांग्रेस कार्यसमिति ने क्रिप्स-प्रस्तावों के संबंध में अपने प्रस्ताव में कहा : "कांग्रेस ने सदा से समझा है कि हिंदुस्तान की स्वतंत्रता और उसकी एकता के टूटने से और विशेष-रूप से आज की दुनिया में, जब आदमी अनिवार्यतः बड़े-बड़े संघों की बात सोचते हैं, सभी को बहुत हानि होगी और इसलिए उसके ध्यान से ही बेहद कष्ट होता है। फिर भी समिति यह नहीं सोच सकती कि वह किसी खास हिस्से के लोगों को उनकी घोषित इच्छा के विरुद्ध, हिंदुस्तान के संघ में रहने को विवश करे। इस सिद्धांत को मानते हुए भी समिति यह चाहती है कि ऐसी हर कोशिश की जाय जिससे ऐसी हालत पैदा हो कि अलग-अलग हिस्सों के आदमी मिल-जुलकर एक राष्ट्रीय जीवन बना सकें। इस सिद्धांत को मानने के लाज़िमी मानी यह हैं कि अब ऐसी कोई रद्दोबदल न की जाय कि नए झगड़े पैदा हों या उन हिस्सों के दूसरे बड़े-बड़े समुदायों पर ज़बर्दस्ती की जाय। देश के हर हिस्से को संघ के अंदर ज़्यादा-से-ज़्यादा स्थानीय स्वतंत्रता होनी चाहिए और साथ ही एक सुदृढ़ राष्ट्रीय सरकार होनी चाहिए। ब्रिटिश वार कैबिनेट के वर्तमान प्रस्ताव ऐसा बढ़ावा दे रहे हैं, कि उनकी वजह से बँटवारे की पूरी कोशिश होगी। यह सब, संघ स्थापित करने के अवसर पर हो रहा है। इस तरह तो आपसी झगड़े होंगे, ठीक ऐसे अवसर पर जबकि अधिक से अधिक सहयोग और सद्भावनाओं की आवश्यकता है। यह प्रस्ताव शायद सांप्रदायिक माँग को पूरा करने के लिए है, और इसके दूसरे नतीजे भी होंगे। राजनीतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी, और अलग संप्रदायों के अड़ंगा डालने वाले लोग, झगड़ा शुरू करेंगे और इस तरह देश की बड़ी-बड़ी समस्याओं की ओर से जनता का ध्यान हट जायगा।"

इस अवसर पर कांग्रेस की स्थिति यह थी कि हिंदुस्तान पर मँडराते हुए युद्ध-संकट के कारण वह भविष्य की चीज़ों को एक तरफ़ रख देने के लिए तैयार थी। उसकी सारी निगाह एक राष्ट्रीय सरकार बनाने की ओर थी, जो लड़ाई में पूरी तरह साथ दे सके। वह भविष्य के सिलसिले में ब्रिटिश सरकार के उक्त प्रस्तावों को मानने को तैयार नहीं थी। जहाँतक कि वर्तमान का प्रश्न था, ब्रिटिश वार कैबिनेट के प्रस्ताव अस्पष्ट थे, अधूरे थे। हां, उनमें एक बात अवश्य स्पष्ट थी, कि हिंदुस्तान की रक्षा पूरी तरह से ब्रिटिश सरकार की ज़िम्मेदारी रहेगी। सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स के बार-बार के बयानों से ऐसा मालूम होता था कि रक्षा-विभाग को छोड़कर शेष

सब विषयों का प्रबंध हिंदुस्तानी हाथों में दे दिया जायगा। इसका भी चर्चा था कि वाइसराय केवल वैधानिक प्रमुख की तरह होगा, ठीक उसी तरह जैसे इंग्लैंड का बादशाह था। इससे हमने यह समझा कि अब केवल रक्षा के प्रश्न पर ही सोच-विचार करना है। हमारी दलील यह थी कि लड़ाई के ज़माने में अक्सर ऐसा होता है, और बाद में ऐसा हुआ भी, कि उसके (रक्षा के) अंदर अधिकतर राष्ट्रीय काम-काज समा जाते हैं। अगर रक्षा को राष्ट्रीय सरकार के कार्य-क्षेत्र से बिलकुल अलहदा कर दिया जाय, तो शायद ही कुछ बाक़ी बचे। यह बात मंज़ूर थी कि ब्रिटिश सेनापति हथियारबंद फ़ौज पर और फ़ौजी कार्रवाइयों पर अपना पूरा क़ाबू बनाए रहे। यह बात भी मंज़ूर थी कि लड़ाई की नीति. सम्राट् के अधिकारियों द्वारा तै हो। लेकिन इसके अलावा यह माँग की गई थी कि रक्षा-मंत्री का काम राष्ट्रीय सरकार के हिंदुस्तानी सदस्य को मिलना चाहिए।

कुछ बहस के बाद सर स्टैफ़ोर्ड तैयार हो गए कि एक हिंदुस्तानी सदस्य के अधीन रक्षा विभाग हो। लेकिन जो काम इस विभाग के जिम्मे सौंपे गए वह यह थे: सार्वजनिक संबंध, पेट्रौल, लिखाई और छपाई का सामान, विदेशी शिष्ट-मंडलों के लिए सामाजिक प्रबंध, फ़ौजों के आराम का प्रबंध, फ़ौज के नाश्ते और मन-बहलाव का प्रबंध। यह एक ध्यान देने योग्य सूची थी और उससे रक्षा-मंत्री का पद एक हँसी की चीज़ बन गया। आगे बहस से एक दूसरा ही पहलू सामने आया। इन दोनों दृष्टिकोणों में अब भी काफ़ी अंतर था। लेकिन ऐसा महसूस हुआ कि हम एक दूसरे के क़रीब आते जा रहे हैं। पहली बार मुझे ऐसा लगा और यही बात दूसरों को महसूस हुई कि अब समझौता मुमकिन है। लड़ाई की हालत में बढ़ता हुआ संकट बराबर एक अंकुश था कि हम सभी किसी समझौते पर पहुँचना चाहते थे।

और तब, ठीक उसी समय जब मुझे सबसे ज़्यादा उम्मीद थी, अजीब चीज़ें होने लगीं। लार्ड हैलीफ़ैक्स ने संयुक्त राष्ट्र में कहीं व्याख्यान देते हुए, कांग्रेस पर ज़ोरदार आक्षेप किए। सुदूर अमरीका में ठीक उसी समय उन्होंने यह क्यों किया, यह समझ में नहीं आया। लेकिन यह साफ़ था कि कांग्रेस के साथ समझौते की बात-चीत चल रही थी, यह ऐसा उस वक़्त तक नहीं कर सकते थे जबतक कि वह ब्रिटिश सरकार की नीति और विचारों को ही प्रकट न कर रहे हों। यह बात दिल्ली में अच्छी तरह मालूम थी कि वाइसराय लार्ड लिनलिथगो और सिविल सर्विस के बड़े-बड़े अफ़सर समझौते के सख्त ख़िलाफ़ थे। वे अपनी शक्तियों को घटाने के

लिए तैयार नहीं थे। वहुत-सी वातें गुप-चुप ढंग से हुईं और उनके वारे में पूरी जानकारी नहीं हुई।

जव हम स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स से, रक्षा-मंत्री के काम-काज के विषय में एक नया समझौता निकालने और सोच-विचार करने के लिए फिर मिले, तो यह वात प्रकट हुई कि हमारी पिछली वातों का असली चीज़ से कोई संबंध नहीं था। न कोई नए मंत्री वनने थे और न उन्हें कोई अधिकार ही दिए जाने थे। वाइसराय की मौजूदा एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल वदस्तूर वनी रहेगी, और इरादा केवल यह था कि राजनीतिक दलों के कुछ और हिंदुस्तानियों को उसमें नियुक्त कर दिया जाय। यह कौंसिल किसी भी अर्थ में कैविनेट नहीं हो सकती थी। उसके सदस्य तो अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष या मंत्री होते; लेकिन सारी शक्ति वाइसराय के हाथों में ही रहती। हमने अनुभव किया कि क़ानून के रद्दोवदल में समय लगता है और इसीलिए हमने उनके लिए ज़ोर नहीं दिया था। लेकिन हमने इस वात पर अवश्य ज़ोर दिया था कि वाइसराय एक ऐसा ढर्रा अपनावे कि अमली तौर पर कौंसिल कैविनेट की तरह हो और वाइसराय उसके निर्णयों को माने। अव हमको वताया गया कि यह मुमकिन नहीं था, और वाइसराय की शक्ति ज्यों-की-त्यों वनी रहेगी—क़ानूनी तौर से भी और व्यावहारिक ढंग से भी। यह एक अजीव परिवर्तन था, जिस पर विश्वास करना कठिन था; क्योंकि पहले अवसरों पर हमारी वातों की वुनियाद ही विलकुल दूसरी थी।

हमारे लिए किसी भी अवसर पर विशेषकर इस समय, इस स्थिति को स्वीकार करना, ख़याल के वाहर था, नामुमकिन था। अगर हमने ऐसा करने की हिम्मत की होती तो हमारे ही आदमी हमारा साथ छोड़ देते, हमारे विरुद्ध हो जाते। सच तो यह है कि वाद में जव सारी वातें जनता के सामने आईं तो उन रियायतों के लिए, जो समझौते के दौरान में हमने मंज़ूर कर ली थीं, वड़ी भारी नाराज़ी हुई।

सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स से वातचीत के सारे दौरान में अल्प-संख्यकों के मामले पर या सांप्रदायिक कहे जानेवाले सवालों पर न तो कोई सोच-विचार हुआ और न उनका ज़िक्र ही उठा। जहाँतक हमारा संवंध है, हम मुख्य दलों के विश्वास पर वनी एक सच्ची राष्ट्रीय सरकार के लिए इतने उत्सुक थे कि हमको ऐसा ज्ञात होता था कि आपसी अनुपात के प्रश्न पर कोई विशेष वाधा नहीं होगी। कांग्रेस-सभापति, मौलाना अवुल कलाम आजाद ने सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स को एक पत्र में लिखा : "हम

इस बात पर आपका ध्यान दिलाएँगे कि जो प्रस्ताव हमने पेश किए हैं वे सिर्फ़ हमारी ही नहीं बल्कि हिंदुस्तान की जनता की एकमत माँग कहे जा सकते हैं। इन मामलों पर अलग-अलग समुदायों और दलों में कोई मतभेद नहीं है; भेद तो कुल मिलाकर हिंदुस्तानी जनता और ब्रिटिश सरकार में है। हिंदुस्तान में जो कुछ मतभेद है, वह तो केवल भविष्य के वैधानिक परिवर्तन के बारे में है। हम इस प्रश्न को आगे के विचार के लिए छोड़ने को तैयार हैं, ताकि हिंदुस्तान की रक्षा के लिए, वर्तमान संकटकाल में अधिक से अधिक एका हो सके। इस समय जब हिंदुस्तान में इस बारे में केवल एक ही राय है कि एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो, जो हिंदुस्तान के आदर्श के लिए काम करते हुए, उन करोड़ों आदमियों की भी सेवा करे जो आज मृत्यु और कष्ट का सामना कर रहे हैं, यह तो बिलकुल सर्वनाश की ही बात होगी, अगर ब्रिटिश सरकार ऐसी सरकार की स्थापना को रोक रखे।"

बाद में कांग्रेस-सभापति के अंतिम पत्र में यह कहा गया था: "हमारी दिलचस्पी इसमें नहीं है कि केवल कांग्रेस को ही शक्ति मिले; बल्कि हमारी दिलचस्पी इसमें है कि हिंदुस्तान की सारी जनता को स्वतंत्रता और शक्ति मिले।...... हमको विश्वास है कि अगर ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालने वाली नीति को बढ़ावा न दे, तो हम सब, चाहे हम किसी पार्टी या दल के हों, आपस में मिल सकते हैं और काम करने का ऐसा रास्ता निकाल सकते हैं जो सबको मंज़ूर होगा। लेकिन अफ़सोस कि इस भारी ख़तरे के मौक़े पर भी ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालनेवाली नीति को छोड़ने को तैयार नहीं है। इससे हमको विवश होकर इस नतीजे पर पहुँचना पड़ा है, कि हिंदुस्तान की, मँडराते हुए हमले से रक्षा की जगह, हिंदुस्तान में जबतक मुमकिन हो सके, अपना राज्य क़ायम रखने का उसके मस्तिष्क में अधिक महत्व है और उसी उद्देश्य से वह यहां फूट और झगड़ा बढ़ाती जाती है। हमारे लिए और सभी हिंदुस्तानियों के लिए हिंदुस्तान की रक्षा का ही मुख्य ध्यान है और उसी कसौटी को हम सबसे ऊपर मानते हैं।"

कांग्रेस-सभापति के इस आख़िरी पत्र के कुछ ही बाद सर स्टैफ़ोर्ड क्रिप्स हवाई जहाज़ से इंग्लैंड वापिस लौट गए। लेकिन इससे पहले और फिर इंग्लैंड पहुँचने के बाद उन्होंने जनता के सामने ऐसे बयान दिए जो वस्तुस्थिति से उलटे थे। उनसे हिंदुस्तान में बेहद नाराज़ी हुई। हिंदुस्तान में जिम्मेदार आदमियों के विरोध और शिकायत के बाद भी सर स्टैफ़ोर्ड और दूसरे आदमी उन बयानों को

दुहराते रहे। ब्रिटिश प्रस्तावों को केवल कांग्रेस ने ही रद्द नहीं किया था बल्कि हर पार्टी और दल ने उन्हें रद्द कर दिया था।

ब्रिटिश पार्लमेंट में और दूसरी जगहों पर यह कहा गया कि कांग्रेस की रद्द करने की वजह तो गांधीजी का वह रुख था जो समझौता चाहता ही नहीं था। यह बात बिलकुल ग़लत है। गांधीजी ने और लोगों के साथ इस बात को नापसंद किया था कि प्रस्ताव की वजह से भविष्य में, अनगिनित बँटवारे करने पड़ते और साथ ही हिंदुस्तानी रियासतों की नौ करोड़ जनता की अवहेलना की गई थी, उन्हें अपने भविष्य के बारे में कुछ कहने का अधिकार नहीं दिया गया था। समझौते की सारी बात-चीत, जिसमें भविष्य का नहीं बल्कि वर्तमान स्थिति में रद्दो-बदल का ही ज़िक्र था, गांधीजी की अनुपस्थिति में हुई।

९ : निराशा

क्रिप्स संधि-चर्चा का अचानक अंत और सर स्टैफ़ोर्ड की यकायक वापसी, इन दोनों बातों से अचंभा हुआ। जहाँतक वर्तमान समय का प्रश्न था, क्या इसी तुच्छ प्रस्ताव के लिए, जैसा कि वह आगे चलकर सिद्ध हुआ और जिसमें पहले कई बार कही बातों को ही दुहराया गया था, ब्रिटिश वार-कैबिनेट का एक सदस्य हिंदुस्तान आया था? या यह सब संयुक्त राष्ट्र अमरीका की जनता में प्रचार के खयाल से किया गया था? उसकी प्रतिक्रिया तेज़ और तीखी हुई। ब्रिटेन के साथ समझौते की कोई उम्मीद नहीं थी।

इस बीच उस हमले की संभावना बढ़ रही थी, और भूखे हिंदुस्तानी शरणार्थियों के झुंड-के-झुंड, हिंदुस्तान की पूर्वी सीमा के अंदर आ रहे थे। पूर्वी बंगाल में, घबराहट में, हमले के डर की वजह से, दसियों हज़ार नावों को बरबाद कर दिया गया। (बाद में यह कहा गया कि एक सरकारी हुक्म के ग़लत मानी लगाने की वजह से ऐसा किया गया था)। उस विस्तृत प्रदेश में जल-मार्ग बहुत हैं, और वहां आना जाना इन्हीं नावों के सहारे संभव था। उनके बरबाद कर देने की वजह से बड़े-बड़े समुदाय एक दूसरे से अलग हो गए। उनकी रोज़ी छिन गई। एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने का सहारा नहीं रहा, और वह बंगाल के अकाल की एक काफ़ी बड़ी वजह हुई। एक बड़े पैमाने पर वहां से हटने की तैयारियां की गईं। दक्खिन बर्मा में और रंगून में जो कुछ हुआ था उसके दुहराए जाने के लक्षण दिखाई

पड़ने लगे। मद्रास शहर में एक अस्पष्ट और अनिश्चित अफ़वाह उड़ी (बाद में यह झूठी निकली)। इसमें कहा यह गया कि एक जापानी जहाज़ी बेड़ा आ रहा है। उसका नतीजा यह हुआ कि बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर वहां से अचानक हटे और साथ ही कुछ हद तक वहां का बंदरगाह भी बिगाड़ दिया गया। ऐसा मालूम होता था कि हिंदुस्तान की सिविल हुकूमत की हिम्मत टूट रही थी। हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता कुचलने में ही उसकी बहादुरी थी।

हमको क्या करना था? हम इस बात को सहन नहीं कर सकते थे कि हिंदुस्तान का कोई भी हिस्सा हमले के सामने चुपचाप सिर झुका दे। जहाँतक कि हथियार-बंद विरोध का सवाल है, उससे (जैसा कुछ वह थी) फ़ौज का और हवाई शक्ति का संबंध था। अमरीका से मदद आ रही थी, विशेषकर हवाई जहाजों की शक्ल में मदद थी, और उससे सारी फ़ौजी स्थिति धीरे-धीरे बदल रही थी। जिस ढंग से हम मदद कर सकते थे वह था घरेलू मोर्चे के सहारे वातावरण में परिवर्तन। लोगों में जोश पैदा करते, जैसे भी हो हमला रोकने की तीव्र इच्छा जगा देते। इसके लिए नागरिकों का संगठन करते और गृह-रक्षक जत्थे बनाते। ब्रिटिश नीति ने हमारे लिए यह चीज़ बेहद मुश्किल बना दी थी। ख़ास हमले के अवसर पर फ़ौज के बाहर किसी भी हिंदुस्तानी पर इतना भरोसा नहीं था कि उसे बंदूक़ दी जाती। यही नहीं बल्कि गाँवों में निजी रक्षा के लिए ग़ैर-हथियार-बंद जत्थों को तैयार करने की कोशिश भी नापसंद की गई, और अक्सर वह दबा दी गई। ब्रिटिश अधिकारी जन-रक्षा-संगठन को बढ़ावा देने की जगह उससे डरते थे। उसकी वजह थी। वे इन सार्वजनिक रक्षा के संगठनों में ब्रिटिश राज्य के लिए विद्रोह और भय देखने के आदी हो गए थे। उनको अपनी पुरानी नीति पर ही चलना था।

फिर भी इस आनेवाले सर्वनाश के लिए हम मौन और बेबस तमाशबीन होकर नहीं रह सकते थे। हमें जनता को सलाह देनी थी—उस बड़ी भारी आबादी को सलाह देनी थी कि हमले की हालत में उसे क्या करना होगा। हमने उससे कहा कि ब्रिटिश नीति के लिए घृणा होते हुए भी उन्हें ब्रिटिश या संयुक्त राष्ट्रों की फ़ौजों के काम में कैसा भी दखल नहीं देना चाहिए, क्योंकि इस तरह तो हम हमला करने वाले दुश्मन की ही मदद करेंगे। लेकिन साथ ही किसी भी सूरत में उन्हें आक्रमणकारी के आगे न तो सिर झुकाना चाहिए, और न उसकी किसी इनायत को ही मंज़ूर

करना चाहिए। अगर आक्रमणकारी सेनाएं, उनके घरों और खेतों पर क़ब्ज़ा करें तो उन्हें मरते दम तक उसको रोकना चाहिए। यह विरोध शांतिपूर्वक हो। दुश्मन से सोलहों आने पूरा असहयोग होना चाहिए।

बहुत से लोगों ने काफ़ी व्यंग के साथ इसकी आलोचना की। हम अच्छी तरह जानते थे कि शांतिपूर्वक असहयोग से, आगे बढ़ती हुई दुश्मन को फ़ौज रोकी नहीं जा सकती। हम यह भी जानते थे कि अधिकतर जनता के लिए इच्छा होते हुए भी, उस फ़ौज का रोकना कठिन होगा। फिर भी हमें आशा थी की वैरी से जीते हुए गाँवों और क़स्बों में ऐसे प्रमुख व्यक्ति निकल आएंगे जो न उनका हुक्म मानेंगे और न उन्हें खाने-पीने के प्रबंध में मदद करेंगे। उसकी वजह से उन्हें तुरंत दंड मिलता —बहुत मुमकिन था मृत्यु का दंड मिलता, या उनका सब कुछ ज़ब्त तो हो ही जाता। हमारा ख़याल था कि कुछ गिने-चुने आदमियों द्वारा भी सिर न झुकाने और जीते दम तक विरोध करने का आम आबादी पर, केवल उन हिस्सों पर ही नहीं बल्कि सारे हिंदुस्तान में, ज़ोरदार प्रभाव होता। इस तरह हमें आशा थी कि विरोध के लिए राष्ट्रीय भावना बढ़ाई जा सकती थी।

पिछले कुछ महीनों से हम संगठन कर रहे थे—खाने का प्रबंध करनेवाली कमेटियों का, और गाँवों और क़स्बों में स्वरक्षा-संघों का। अक्सर यह हमें सरकारी विरोध होते हुए भी करना पड़ा। खाने-पीने की चीज़ों की समस्या हमें परेशान कर रही थी। लड़ाई की वजह से यातायात की दिन-ब-दिन बढ़ती हुई मुश्किल से और लड़ाई के सिलसिले में और दूसरी बातों से हमें खाने-पीने की चीज़ों के संकट का डर था। हमनें नए साधनों के अभाव में, आने-जाने के पुराने साधनों बैलगाड़ी आदि, के लिए भी बढ़ावा दिया। इस बात की भी बहुत संभावना थी कि कि अगर पूर्व की तरफ़ से हमला हुआ तो, बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थी और भागे हुए लोग एकदम पच्छिम की ओर दौड़ेंगे। यही बात चीन में हुई थी। हमने अपने-आप इस बात की तैयारी की कि उस समय उन लोगों के खाने और रहने का प्रबंध हो सके। सरकारी मदद के बिना यह बहुत कठिन था, शायद मुमकिन भी नहीं था, फिर भी हमने प्रत्येक संभव प्रयत्न किया। स्वरक्षा-दलों का उद्देश्य इस काम में मदद करना था। उन्हें अपने-अपने हल्क़ों में व्यवस्था रखनी थी और घबराहट को रोकना था। इस मामले में सरकार की तरफ़ से इंतज़ाम बिलकुल

नाकाफ़ी था। वहां जनता पर अविश्वास था। गांवों में चोरियां और डकैतियां दिन-ब-दिन बढ़ रहीं थीं।

लड़ाई के लिए घृणा होते हुए भी, हिंदुस्तान पर जापानी आक्रमण के खयाल से मुझे किसी तरह का डर नहीं हुआ। ब्रिटेन ने हमारे ऊपर क़ब्र की शांति लाद रखी थी। मैं चाहता था कि हमारे करोड़ों आदमी उससे बाहर खींच लिए जायँ, उन्हें निजी अनुभव हो और साथ ही उन्हें अच्छी तरह झकझोर दिया जाय। उससे ऐसे महत्त्वपूर्ण अनुभव हो सकते थे, जिनसे नए जीवन का अंकुर फूटे। बहुत बड़ी संख्या में लोग मरेंगे, यह बात स्पष्ट थी, लेकिन अकाल से मरने से लड़ाई में मरना बेहतर है। दुःख भरी, बेकार जिंदगी से मर जाना बेहतर है। मौत से नई ज़िंदगी आती है। वे व्यक्ति और राष्ट्र, जो मरना नहीं जानते वे जीना भी नहीं जानते।

इसका लड़ाई की हार-जीत से कोई संबंध नहीं था, या इस बात से कि कौन हारे और कौन जीते। हम धुरी-राष्ट्रों की जीत नहीं चाहते थे, क्योंकि उससे लाज़िमी तौर पर सर्वनाश होता। हम नहीं चाहते थे कि जापानी हिंदुस्तान में घुसें और उसके किसी हिस्से पर क़ब्ज़ा करें। उसको जैसे भी हो सके, रोकना था और हमने बार-बार इस बात पर जनता का ध्यान दिलाया। लेकिन यह सब नकारात्मक प्रयत्न थे। हिंदुस्तान का भविष्य क्या होना था?

पिछले ही वर्ष, अपनी मृत्यु-शय्या से दिए हुए, श्री रवींद्रनाथ ठाकुर के अंतिम संदेश का ध्यान आया : "बर्बरता के पिशाच ने सारे आवरण हटा दिए हैं। संहार के तांडव में मानवता को चीर कर फेंकने के लिए वह अपने, बड़े-बड़े दाँतों को खोले हुए, बाहर आया है। दुनिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, घृणा के विषाक्त धुएं ने सारे वातावरण को काला कर दिया है। हिंसा की भावना, जो शायद पश्चिम की मनोवृत्ति में छिपी पड़ी थी, अब अंततः बाहर आई है और उसने मानव-आत्मा को कलंकित कर दिया है। किसी दिन भाग्य-चक्र, अंग्रेज़ों को हिंदुस्तानी साम्राज्य छोड़ने के लिए विवश करेगा। लेकिन वह कैसा हिंदुस्तान छोड़ कर जायँगे, कितना दुःख-भरा? जब उनके शासन की सदियों पुरानी धारा सूख जायगी, तो कितनी दलदल, कितनी कीचड़ वे छोड़ जायँगे? किसी समय मेरा विश्वास था कि यूरोप के हृदय से विभिन्न संस्कृतियों के स्रोत फूटेंगे। किंतु अब, आज मैं दुनिया को छोड़ने वाला हूं, यह विश्वास बिलकुल टूट गया है। चारों ओर देखने पर मुझे एक

गर्वीली सभ्यता के भग्न अवशिष्ट दिखाई दे रहे हैं, मानो एक बहुत बड़ा, बिलकुल बेकार का ढेर तितर-बितर पड़ा हो। फिर भी मानव में विश्वास खोने का भारी पाप नहीं करूंगा। मैं उसके इतिहास में एक नए अध्याय को देखना चाहूंगा जो इस तूफ़ान के बाद वायु-मंडल साफ़ होने के बाद, सेवा और बलिदान की भावना से शुरू होगा।"

नहीं, मानव में किसी का विश्वास नष्ट न हो। ईश्वर को हम अस्वीकार कर सकते हैं लेकिन अगर हम मानव में विश्वास मिटा दें तब हमारे लिए क्या आशा रहेगी, क्योंकि तब, सभी कुछ बेकार हो जायगा। फिर भी, किसी चीज़ में, या इसमें कि सत्याचरण हमेशा ही विजयी होगा, विश्वास करना मुश्किल था। थके तन और बेचैन मन से, अपने इस वातावरण से बचने के लिए, मैंने हिमालय की भीतरी घाटियों में स्थित, कुल्लू की यात्रा की।

१० : चुनौती : 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

एक पखवारे की अनुपस्थिति के बाद, कुल्लू से लौटने पर, मैंने अनुभव किया कि देश की अंदरूनी हालत तेज़ी से बदल रही थी। समझौते की पिछली कोशिश की असफलता की प्रतिक्रिया बढ़ गई थी, और अब ऐसी धारणा थी कि उस ओर से कोई उम्मीद नहीं है।

गंभीर युद्ध-संकट और हमले की संभावना का खयाल करते हुए, आखिर हम क्या कर सकते थे? लेकिन हाथ-पर-हाथ रख कर बैठने से हमारे उद्देश्य को सहायता न मिलती। ऐसी भावनाएं बढ़ रही थीं कि उनको सोच कर चिंता होती, डर होता। इतने बड़े देश में और ऐसे संकट के समय, जैसा कि स्वाभाविक था, जनता में तरह तरह की रायें थीं। जापानियों के पक्षपात की भावना क़रीब-क़रीब बिलकुल नहीं थी। कोई भी नहीं चाहता था कि एक विदेशी मालिक की जगह दूसरा आ जाय। चीनियों के पक्ष में चारों तरफ़ बहुत ज़ोरदार भावनाएं थीं। लेकिन एक ऐसा छोटा-सा दल भी था जो एक दृष्टि से जापानियों के पक्ष में था। उसका अनुमान था कि जापानी हमले का हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के लिए लाभ उठाया जा सकता है। उन पर सुभाषचंद्र बोस के प्रसारित भाषणों का असर था। बोस पिछले साल गुप्त रूप से हिंदुस्तान से बाहर निकल गए थे। हां, ज़्यादातर आदमी तो केवल निष्क्रिय थे और चुपाचाप घटनाओं को देख रहे थे। अगर दुर्भाग्य से हालत ऐसी बदलती कि

हिंदुस्तान के किसी हिस्से पर आक्रमणकारी का अधिकार हो जाता, तो उसको ऐसे आदमी, विशेषकर बड़ी आमदनी वाले आदमी मिलते जो उसका साथ देते। उनकी सब से बड़ी इच्छा अपनी जायदाद को और अपने को बचाने की थी। इस नस्ल के और इस मनोवृत्ति के साथ देनेवालों को, हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बहुत चाहती थी, और पिछले समयों में अपना काम लेने के लिए उसने उनको बहुत बढ़ावा दिया था। फ़्रांस, बेलजियम, नार्वे और यूरोप के और बहुत से अधिकृत देशों में, विरोध के जोरदार आंदोलनों के होते हुए भी, आक्रमणकारी का साथ देने वालों की भी बाढ़ हमने देखी थी। हमने देखा था कि किस तरह (पार्टीनैक्स के शब्दों में) विची के आदमियों ने, "अपने दिमाग़ को धोखा देकर, शर्म को इज़्ज़त बताया, कायरता को हिम्मत बताया, खोखलेपन और बेख़बरी को अक़्लमंदी बताया, अपमान को गुण बताया और जर्मनी की जीत को दिल से स्वीकार कर लेने को, नैतिक पुनर्जन्म बताया।" अगर यह चीज़ क्रांतिकारी, देशभक्ति से प्रज्वलित फ़्रांस में हुई, तो उसी क़िस्म के लोगों में हिंदुस्तान में ऐसा होना नामुमकिन नहीं था, क्योंकि यहां ऐसा साथ देने की मनोवृत्ति बहुत काल से फल-फूल रही थी। वास्तव में इस बात की ही ज़्यादा संभावना थी कि वैरी का साथ देने वाले लोग अधिकतर वही होंगे जो ब्रिटिश राज्य का साथ दे रहे थे, और उस राज्य के प्रति अपनी निष्ठा की गला फाड़-फाड़ कर घोषणा कर रहे थे।

चारों ओर काफ़ी हद तक यह ख़याल था कि अगर हमला हुआ और देश के पूर्वी हिस्सों पर दुश्मन का अधिकार हुआ, तो दूसरी जगहों में अधिकतर हिस्सों में सिविल शासन टूट जायगा और उसकी सबब से अराजकता फैल जायगी। मलाया और बर्मा में जो कुछ हुआ था हमारे सामने था। इस बात का शायद ही किसी को ख़याल था कि देश के बहुत बड़े हिस्से पर वैरी अधिकार करेगा, चाहे लड़ाई उसके पक्ष में ही क्यों न हो। हिंदुस्तान बहुत बड़ा देश था और हम चीन में देख चुके थे कि विस्तार से एक लाभ है। लेकिन विस्तार से लाभ उसी समय होता है. जब उसका लाभ उठाने के लिए पक्का इरादा हो, और दबने या सिर झुकाने की जगह पूरी तरह रोकने की कोशिश हो। स्पष्टतः विश्वसनीय ख़बरें यह थीं कि मित्र राष्ट्रों की हथियारबंद फ़ौजें शायद पीछे हट कर दूसरे रक्षा के मोर्चों पर रुकेंगी। बड़े-बड़े हिस्से वैरी के अधिकार के लिए खुले छोड़ दिए जायँगे हालाँकि अधिक संभव यह था कि चीन की तरह वैरी शायद यहां भी अधिकार न करे। इस

२७

तरह यह सवाल उठे कि सिविल शासन के समाप्त होने के बाद इन हिस्सों में और दूसरे हिस्सों में, इस हालत का कैसे सामना किया जाय। जहाँतक संभव था हमने विचार फैला कर या और दूसरे प्रकार से इस संकट का सामना करने का प्रयत्न किया। हमने ऐसी स्थानीय संस्थाओं को बनाया और बढ़ावा दिया जो काम कर सकती थीं, शांति रख सकती थीं और साथ ही आक्रमणकारी को हर संभव ढंग से रोकने के लिए जोर दे सकती थीं।

जिस समय हिंदुस्तान के मस्तिष्क में द्वंद्व चल रहा था और निराशा की भावना बढ़ रही थी, गांधीजी ने कितने ही लेख लिखे; जिनसे अचानक जनता के विचारों को एक नई दिशा मिली, या जैसा कि प्रायः होता है जनता के अस्पष्ट विचारों को उन्होंने एक रूप दे दिया। उस नाज़ुक स्थिति में निष्क्रियता या उस वक़्त की घटनाओं के सामने चुपचाप सिर झुकाने की बात उन्हें सहन नहीं हुई। इस स्थिति का सामना करने के लिए केवल यही रास्ता था कि हिंदुस्तान की स्वतंत्रता को मान लिया जाय। तब मित्रराष्ट्रों के सहयोग के साथ स्वतंत्र हिंदुस्तान, हमले का सामना करता। अगर यह स्वीकृति नहीं मिलती, तो मौजूदा ढाँचे को चुनौती देने के लिए कुछ कार्रवाई करनी चाहिए, और जनता को उस काहिली से जो उन्हें पंगु बना रही है, और उन्हें हर तरह के हमले का शिकार बना रही है, जगाना चाहिए।

इस माँग में कोई नई बात नहीं थी, क्योंकि इसमें केवल इसी बात को दुहराया गया था जो हम बराबर कहते आए थे, लेकिन उनके लेखों और व्याख्यानों में एक नया जोश था, और एक नई स्फूर्ति थी। और उसमें काम करने के लिए संकेत था। इसमें संदेह नहीं था कि उस समय हिंदुस्तान में जो भावना चारों तरफ़ छाई हुई थी, उसे वह प्रकट करते थे। दोनों की आपसी लड़ाई में राष्ट्रीयता ने अंतर्राष्ट्रीयता पर जीत पाई, और गांधीजी के नए लेखों ने सारे हिंदुस्तान में हलचल मचा दी। फिर भी इस राष्ट्रीयता का अंतर्राष्ट्रीयता से कभी भी विरोध नहीं था, और वह भरसक कोशिश कर रही थी कि व्यापक हितों से मेल खाने का कोई रास्ता निकल आए। लेकिन यह तभी संभव था जब उसको, इसके लिए एक सम्मानपूर्ण और प्रभावपूर्ण अवसर मिले।

इस नए परिवर्तन से, हममें से कुछ लोग परेशान हुए और विचलित हुए, क्योंकि कोई भी कार्रवाई व्यर्थ थी अगर वह कारगर न हो। ऐसी कोई भी कार्रवाई लड़ाई की तैयारियों के रास्ते में अनिवार्य रूप से अड़चन होती, क्योंकि इस समय

स्वयं हिंदुस्तान पर हमले का भय था। गांधीजी के आम दृष्टिकोण में कुछ महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय बातोंको छोड़ दिया गया था, और ऐसा मालूम होता था कि उसकी बुनियाद राष्ट्रीयता के सँकरे घेरे में है। लड़ाई के तीन साल के दौरान में हमने जान-बूझ कर परेशान न करने की नीति को अपनाया था, और जो कुछ भी कार्रवाई हमने की थी वह विरोध जता देने भर के लिए थी। जब १९४०-४१ में हमारे यहां के तीस हज़ार, प्रमुख नर-नारी जेल भेज दिए गए, तो प्रतीक-रूप विरोध का पैमाना बहुत बढ़ गया। लेकिन यह जेल जाना भी एक निजी मामला था, जिसको चुने हुए व्यक्ति कर रहे थे। इसमें जनता को उभारने और सरकारी मशीन के काम में खुली छेड़-छाड़ का कोई इरादा न था। हम उसको दुहरा नहीं सकते थे। अगर हमें कुछ और करना था तो वह कार्रवाई दूसरे ढंग की होती और अधिक कारगर पैमाने पर होती। क्या इससे लड़ाई के काम में, जो हिंदुस्तानी सरहद पर ही थी, कोई बाधा न पड़ती और क्या इससे दुश्मन को बढ़ावा न मिलता?

स्पष्ट-रूप से कठिनाइयां थीं, और इस संबंध में हमने गांधीजी से विस्तारपूर्वक बहस की। लेकिन हम एक-दूसरे की राय न बदल सके। कठिनाइयां थीं और सक्रियता और निष्क्रियता दोनों में ही भय था, जोखिम थी। अब सवाल उनमें समतौल लाने का था और उनमें से कम बुरी चीज़ को चुनना था। हमारी आपसी बहस से, बहुत-सी चीज़ें जो पहले धुंधली थीं, अनिश्चित थीं, अब साफ़ हो गईं, और हमारे ध्यान दिलाने पर गांधीजी ने कई अंतर्राष्ट्रीय पेचों को मान लिया। उनके बाद के लेख बदले, और उन्होंने स्वयं उन अंतर्राष्ट्रीय पेचों पर ज़ोर दिया, और हिंदुस्तान के सवाल पर, अधिक व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए सोचा। लेकिन उनका बुनियादी रुख़ बराबर बना रहा; हिंदुस्तान में ब्रिटिश स्वेच्छाचारी और कुचलने वाले शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाना उन्हें स्वीकार नहीं था, और उसको चुनौती देने के लिए उनकी बहुत प्रबल इच्छा थी। उनके विचार से उस समय सिर झुकाने के मानी यह थे कि हिंदुस्तान की आत्मा टूट जायगी, और लड़ाई का चाहे जो रूप हो, और उसका चाहे जो नतीजा हो, उसकी जनता गुलामों की तरह काम करेगी, और बहुत काल तक उसे स्वतंत्रता हासिल नहीं होगी।

गांधीजी की अवस्था सत्तर से ऊपर थी। एक लंबी और बराबर काम-काजी, मेहनत-भरी ज़िंदगी, शारीरिक और मानसिक काम-काज से भरी हुई ज़िंदगी ने, उनके शरीर को दुर्बल कर दिया था। लेकिन अब भी वे काफ़ी दृढ़ थे और ऐसा

अनुभव करते थे कि अगर उस समय की हालतों के सामने उन्होंने सिर झुका दिया और अगर अपनी अधिक-से-अधिक मूल्यवान् वस्तु की रक्षा के लिए उन्होंने कोई कार्रवाई नहीं की तो उनकी सारी ज़िंदगी की कमाई मिट्टी में मिल जायगी। हिंदुस्तान की और दूसरे सताये हुए राष्ट्रों और समुदायों की स्वतंत्रता के लिए उनके प्रेम ने उनकी अहिंसा की दृढ़ निष्ठा को जीता। एक पहले अवसर पर वहुत हिचकिचाते हुए, विलकुल वे-मन से उन्होंने कांग्रेस को इस वात की स्वीकृति दी थी कि रक्षा के मामले में या राज-सत्ता के लिए किसी विकट परिस्थिति में अहिंसा की नीति को छोड़ा जा सकता था। लेकिन वह स्वयं उससे अलग थे। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि इस मामले में हिचकिचाहट से ब्रिटेन या संयुक्त राष्ट्रों के साथ समझौते में भी वाधा पड़ सकती है। इसलिए वे आगे वढ़े और अपने-आप उन्होंने कांग्रेस का एक प्रस्ताव तैयार किया। इसमें घोषणा की गई कि स्थायी स्वतंत्र हिंद सरकार का सव से पहला काम यह होगा कि वह स्वतंत्रता की लड़ाई के लिए और आक्रमण के विरुद्ध, अपने सारे साधनों का लाभ उठाए, और हथियारवंद फ़ौज या हर मुमकिन संगठन से हिंदुस्तान की रक्षा के लिए संयुक्त राष्ट्रों का पूरा-पूरा साथ दे। उनके लिए अपने-आपको इस तरह सौंप देना कोई आसान चीज़ नहीं थी; लेकिन फिर भी उन्होंने इस कड़वी गोली को निगला। उसकी वजह यह थी कि किसी तरह समझौते पर पहुँच कर हिंदुस्तान को एक स्वतंत्र राष्ट्र की तरह हमले का सामना करने के लिए तैयार करने की उनकी प्रवल इच्छा में अव सव-कुछ समा गया था।

वहुत से आपसी तार्किक मतभेद जो हममें से कुछ को गांधीजी से अलग किए हुए थे अव मिट गए। फिर भी सव से वड़ी मुश्किल अभी वाक़ी थी। हमारी किसी भी कार्रवाई से लड़ाई की तैयारियों में गड़वड़ होती। हमें आश्चर्य होता था कि गांधीजी अव भी इस विश्वास से चिपटे हुए थे कि ब्रिटिश सरकार से समझौता संभव था और उन्होंने कहा कि इसके लिए वे अपना भरसक प्रयत्न करेंगे। और इस तरह, यद्यपि वह काम के वारे में वहुत वातें कह रहे थे, फिर भी न तो उस काम की उन्होंने कोई रूप-रेखा ही वताई, और न यही वताया कि वह क्या करना चाहते हैं।

जिस समय हम इन वातों पर वहस कर रहे थे और संदेह कर रहे थे, देश का मिज़ाज वदला। काहिली से भरी निष्क्रियता की जगह उसमें उत्तेजना और आशा

आ गई। घटनाएं कांग्रेस के निर्णय और प्रस्ताव की प्रतीक्षा नहीं कर रही थीं। गांधीजी की बातों से वह आगे बढ़ गई थीं और अब उनका अपना बहाव उन्हें आगे बढ़ाए ले जा रहा था। यह बात स्पष्ट थी कि चाहे गांधीजी सही हों या ग़लत उन्होंने जनता के उस समय के मिज़ाज को एक रूप-रेखा दे दी। उसमें एक लाचारी भरी हुई थी, और उसमें एक ऐसी भावुकता का ज़ोर था कि तर्क, दलील, ठंडे दिमाग़ से सोच-विचार, या काम के नतीजे का विशेष ध्यान नहीं था। उन नतीजों को आँखों से ओझल नहीं किया गया था। यह अनुभव किया जाता था कि चाहे कुछ हासिल हो या न हो, मानवी कष्ट के रूप में बहुत भारी क़ीमत चुकानी होगी। लेकिन नित्य, मन की हद दर्जे की परेशानी की शक्ल में जो क़ीमत देनी पड़ रही थी वह भी बहुत अधिक थी और उससे छुटकारे की कोई उम्मीद नहीं थी। दुर्भाग्य के सामने चुपचाप सिर झुकाने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा था कि सक्रियता के विशाल समुद्र में कूद पड़ा जाय। यह कोई राजनीतिज्ञों का निर्णय नहीं था, यह तो उस जनता का निर्णय था जो लाचार हो चुकी थी और अब जिसे परिणामों की परवाह नहीं थी।

यदि एक ओर जनता का मिज़ाज बिगड़ रहा था तो दूसरी ओर सरकार का भी मिज़ाज बिगड़ रहा था। उसके लिए किसी भावुकता की या किसी मजबूरी की ज़रूरत नहीं थी। यह तो उसकी आदत थी, और इसी ढंग से सरकार काम करती थी। किसी ग़ुलाम देश पर अधिकार करने के बाद विदेशी शासन का यही ढंग होता है। ऐसा अनुभव होता था कि हृदय से वह एक ऐसा अवसर चाहती थी कि हमेशा के लिए देश में विरोध की हिम्मत करनेवालों को कुचल दिया जाय। और इसके लिए उसने पूरी पूरी तैयारी की।

घटनाएं होती रहीं। फिर भी, अजीब-सी बात थी कि गांधीजी ने, जो हिंदुस्तान के मान को बचाने के लिए और उसकी स्वतंत्रता के अधिकार पर बल देने के लिए (जिससे वह एक स्वतंत्र राष्ट्र की तरह लड़ाई में हमले के विरुद्ध पूरा सहयोग दे सके), किसी-न-किसी कार्रवाई के लिए कह रहे थे, यह बात नहीं बताई कि वह कार्रवाई किस ढंग की हो। शांतिपूर्ण तो वह होती ही, लेकिन उसके आगे? उन्होंने ब्रिटिश सरकार से समझौते की संभावना पर अधिक बल दिया। उन्होंने अपना यह इरादा प्रकट किया कि वह फिर सरकार से इस मामले पर बातचीत शुरू करेंगे और कोई-न-कोई रास्ता निकालने की भरसक कोशिश करेंगे। आल-

इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक में उनके अंतिम भाषण में समझौते के लिए हार्दिक अनुरोध था, और इस मामले में वाइसराय से मिलने का उनका पक्का इरादा प्रकट किया गया था। न तो सार्वजनिक रूप में और न आपसी वातचीत में ही उन्होंने कांग्रेस-कार्यसमिति को यह बताया कि उनके मन में किस ढंग की कार्रवाई का विचार था। केवल एक वात अवश्य प्रकट थी। वातचीत में उन्होंने संकेत किया था कि समझौते के असफल होने पर किसी ढंग के असहयोग की, विरोध में एक दिन की हड़ताल की, देश में सारे काम-काज को रोकने की प्रार्थना करेंगे। एक ढंग से वह एक दिन के लिए आम हड़ताल होगी और राष्ट्र के विरोध का प्रतीक होती। यह भी एक धुँधला-सा इशारा था, और इस पर उन्होंने विस्तार से कुछ नहीं कहा। जवतक समझौते की पूरी-पूरी कोशिश न कर ली जाय वह आगे कोई योजना भी नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए न तो उन्होंने, और न कांग्रेस कार्यसमिति ने ही कोई हिदायतें जारी कीं—न सार्वजनिक रूप में और न आपसी तौर पर। हां, यह अवश्य कहा गया कि जनता को हर नई परिस्थिति के लिए तैयार रहना चाहिए, और हर हालत में उसका काम शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक होना चाहिए।

यद्यपि इस विकट उलझन से निकलने की गांधीजी को अब भी आशा थी, लेकिन उनके अलावा और बहुत थोड़े से ही लोग थे जिन्हें अब आशा शेष थी। घटनाओं के बहाव से और सारे चढ़ाव-उतारों से यह बात अनिवार्य मालूम होती थी कि झगड़ा होगा। जब ऐसी हालत आ जाती है तो बीच की जगह का कोई महत्व नहीं रहता, और हर आदमी को यह तै कर लेना पड़ता है कि उसे किस ओर रहना है। कांग्रेसियों के लिए या उन लोगों के लिए, जो इसी ढंग से सोचते थे, तै करने का कोई सवाल ही न था। यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी कि जब सरकार अपनी पूरी शक्ति से जनता को कुचलने की कोशिश करे तब हममें से कुछ लोग अलग खड़े हुए तमाशा देखते रहें। यह तो ऐसी लड़ाई थी जिसमें हिंदुस्तान की स्वतंत्रता का प्रश्न मिला हुआ था। हां, बहुत से ऐसे लोग हैं, जो सहानुभूति के होते हुए भी एक ओर खड़े रहते हैं। अपनी पिछली कार्रवाइयों के नतीजे से अपने-आपको बचाने की ऐसी कोई भी कोशिश, किसी भी प्रसिद्ध कांग्रेसी के लिए लज्जा और अपमान की बात होती। लेकिन इसके अतिरिक्त भी उनके सामने रास्ता तै करने का कोई प्रश्न नहीं था। हिंदुस्तान के सारे पुराने इतिहास ने, उसके वर्तमान संकट ने, भविष्य की आशा ने उनको आगे बढ़ाया और उनके लिए एक ही रास्ता रह गया।

बंबई में ७ और ८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस कमेटी ने खुली सभा में उस प्रस्ताव पर, जो अब 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से प्रसिद्ध है, बहस की, और सोच-विचार किया। वह प्रस्ताव लंबा था, और उसमें बहुत-सी बातें थी। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता की तुरंत स्वीकृति और ब्रिटिश राज्य के हिंदुस्तान में अंत के लिए यह एक तर्क-संगत बहस के रूप में था, जो समूचे हिंदुस्तान के हितों और स्वयं संयुक्त-राष्ट्रों की सफलता की दृष्टि से पेश किया गया था। उस राज्य को क़ायम रखने की वजह से हिंदुस्तान दिन-ब-दिन निःशक्त होता जा रहा था और गिरता जा रहा था। अपनी रक्षा के लिए दिन-ब-दिन उसका सामर्थ्य घटता जा रहा थी। इस तरह वह दुनिया की आज़ादी के उद्देश्य में साथ दे सकने के लिए भी असमर्थ होता जा रहा था। "साम्राज्य पर अधिकार से, शासन की शक्ति नहीं बढ़ी बल्कि वह उसके लिए एक बोझ और एक अभिशाप हो गया है। हिंदुस्तान जो आधुनिक साम्राज्य का मुख्य शिकार है, अब इस सवाल की कसौटी बन गया है। हिंदुस्तान की स्वतंत्रता से ही ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों की जाँच होगी। इसी से एशिया और अफ़्रीका के मनुष्यों में आशा और उत्साह आ सकते हैं।" प्रस्ताव में यह सलाह दी गई कि अस्थायी सरकार की स्थापना हो, जो मिली-जुली होगी और जिसमें जनता के सभी मुख्य दलों और वर्गों के प्रतिनिधि होंगे। इस सरकार का, "सब से पहला काम यह होगा कि संयुक्त शक्तियों से मिलकर, अपनी सारी हथियारबंद फ़ौजों और ग़ैर-हथियारबंद सब संस्थाओं का लाभ उठा कर हिंदुस्तान की रक्षा की जाय और हमले को रोका जाय।" यह सरकार विधान बनाने वाली सभा की योजना तैयार करेगी और यह सभा हिंदुस्तान की जनता के सभी समुदायों को मान्य, एक विधान बनाएगी। विधान संघीय होगा और संघ में शामिल होनेवाले हिस्सों को अधिक से अधिक स्वतंत्रता होगी और कुछ मुख्य बातों को छोड़ कर सारे अधिकार उन हिस्सों की सरकारों को होंगे। "स्वतंत्रता हिंदुस्तान को इस योग्य बनाएगी कि जनता के दृढ़ निश्चय और उसकी शक्ति के साथ वह हमले का प्रभावपूर्ण ढंग से सामना कर सके।"

हिंदुस्तान की स्वतंत्रता, दूसरे एशियाई राष्ट्रों की स्वतंत्रता का प्रतीक और अग्रगामी होगी। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र राष्ट्रों के एक दुनिया भर के संघ का प्रस्ताव था, जिसका आरंभ संयुक्त राष्ट्रों से हो सकता था।

समिति ने कहा कि वह "चीन और रूस की रक्षा के हक़ में किसी तरह परेशानी न पैदा करने के लिए उत्सुक थी। उनकी स्वतंत्रता बहुमूल्य है, और उसे बनाए रखना है। और समिति संयुक्त राष्ट्रों की रक्षा की शक्ति को छिन्न-भिन्न न करने के लिए भी उत्सुक थी।" (उस समय चीन और रूस के लिए सब से अधिक भय था)। "लेकिन हिंदुस्तान के लिए और इन राष्ट्रों के लिए भय बढ़ता जा रहा है। इस अवसर पर निष्क्रियता और विदेशी शासन के सामने सिर झुकाना हिंदुस्तान के लिए केवल अपमान-जनक ही नहीं है बल्कि उससे अपनी रक्षा के लिए उसका सामर्थ्य घट रहा है, और न तो यह दब्बूपन उस संकट का ही जवाब है और न इससे संयुक्त राष्ट्रों की जनता की ही सेवा हो सकती है।"

समिति ने, "संसार की स्वतंत्रता के हित में" फिर ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से अपील की। लेकिन (और यहां प्रस्ताव की खास चोट थी) "अब, समिति साम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी सरकार के विरुद्ध, अपने अधिकार के लिए दबाव डालने की राष्ट्र की प्रवृत्ति को रोकना, न्याय-संगत नहीं समझती। यह सरकार उस पर अधिकार किए हुए है, और उसको अपने और सारी दुनिया के हित में काम करने से रोकता है। इसलिए हिंदुस्तान की स्वतंत्रता के निर्विवाद अधिकार की पुष्टि के लिए, समिति इस बात की आज्ञा देना निश्चय करती है कि गांधीजी के अनिवार्य नेतृत्व में अहिंसात्मक ढंग से एक व्यापक संघर्ष आरंभ किया जाय।" यह आज्ञा उसी समय लागू होगी जब गांधीजी ऐसा निर्णय करें। अंत में समिति ने कहा कि "वह कांग्रेस के लिए शक्ति नहीं प्राप्त करना चाहती थी। जब शक्ति आएगी तो वह हिंदुस्तान की सारी जनता की होगी।"

अपने अंतिम व्याख्यानों में कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, और गांधीजी ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनका अगला क़दम वाइसराय से, जो ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि है, मिलना है। इसके अलावा मुख्य-मुख्य संयुक्त राष्ट्रों के सब-से बड़े पदाधिकारियों से अपील की जायगी कि एक सम्मानपूर्ण समझौता हो। इसमें हिंदुस्तान की स्वतंत्रता को स्वीकार करने के साथ ही, आक्रमणकारी धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रों की लड़ाई का उद्देश्य भी आगे बढ़ेगा। ८ अगस्त १९४२ की रात में काफ़ी देर बाद यह प्रस्ताव अंतिम रूप में स्वीकार किया गया। चंद घंटों बाद, ९ अगस्त को सवेरे बंबई में और देश में और दूसरी जगहों से बहुत-सी गिरफ़्तारियां हुई। और तब हम अहमदनगर के क़िले में आए।